सूर साहित्य : नव मूल्यांकन



डा० चन्द्रभान रावत, एम० ए०, पी- एच० डी०, डी० लिट०

रीडर : हिन्दी विभाग

श्री वैंकटेश्वर विश्व विद्यालय, तिरुपति. (आ० प्र०)



प्रकाशक :

जवाहर पुस्तकालय,

मथुरा

प्रकाशक ■ जवाहर पुस्तकालय, सदर, बाजार, मथुरा,

लेखक ■ डा० चन्द्रभान रावत,

द्वितीय संस्करण ■ सूर पंचशती १६[illegible]७

मूल्य ■ पचास रुपये

विद्यार्थी संस्करण ■ तीस रुपये

मुद्रक ■ पचौरी प्रिंटिंग प्रेस, मथुरा,–२८१००२

गुरु पंचमी

के

पर्व पर

गुरु की पवित्र स्मृति

में ही यह द्वितीय संस्करण

समर्पित

—चन्द्रभान

कुछ कहना है, इसलिए—

मैं कुछ उतना भावुक नहीं हूँ। न जाने क्यों 'सूर' पर सोचते समय कुछ भावुकता आ जाती है! बौद्धिकता के पैरों के नीचे से ठोस धरती खिसकने लगती है और एक तरलता का अनुभव होता है।

'सूर' पर सोचना मेरे लिए सरल और सुहावना रहता है। न जाने क्या-क्या सोचने लगता हूँ: व्रज, राधा, कृष्ण, गोपियाँ, श्रीदामा, यशोदा, न जाने कब, इनमें से कौन आकर विरमा लेता है! 'सूर' पर सोचने के क्षण मेरे लिए सृजन के क्षण होते हैं या समीक्षा के—कहना कठिन है। जब इस विषय पर बोलना पड़ता है, तो इतनी तरलता तो नहीं रह पाती, फिर भी शैली पूरी तरह में गद्य के अनुशासन में भी नहीं रहती। लिखते समय बात बदल जाती है। परम्परा-शोधन, यथ्याकलन, प्रामाण्य, आदि न जाने कितनी शोधपरक औपचारिकताएँ आकर घेर लेती हैं। आश्चर्य यह देखकर होता है कि मानव-मन का यह पारदर्शक कवि कितनी लम्बी परम्परा रखता है। भाव और मूल्यों की कितनी जटिल ऊहापोह सूर-साहित्य में व्याप्त है? इस प्रकार बुद्धि को भी एक बहाना मिल जाता है। बौद्धिक प्रक्रियाओं को 'सूर' पर समर्पित हो जाने का अवसर मिल जाता है। 'सूर' की भावधारा का बौद्धिक मूल्यांकन भी अपने आप में एक उपलब्धि बन जाता है।

पुस्तक का नाम सोचते समय 'नया मूल्यांकन' शीर्षक भी ध्यान में आया था 'नया' के स्थान पर ' नव' आ जाने का एक कारण है। 'नया' शब्द चाहे 'वाद' न बना पाया हो, पर एक पारिभाकिता इसके साथ अवश्य संलग्न हो गई है। इसमें परम्परा को नकारने का भी एक भाव है। सूर का मूल्यांकन अधिक से अधिक परम्परा का नवीन बोध कहा जा सकता है। 'नव लेखन' शब्द भी ध्यान में आया: मैं डर गया: कहीं 'नव' भी पारिभाषिक न हो गया हो! फिर भी साहस करके 'नव-मूल्यांकन' को मैंने स्वीकार कर लिया। इस पुस्तक में नव-मूल्यांकन की ही प्रक्रिया मिलेगी।

ऐसा अनुभव होता है कि सूर-साहित्य नव-मूल्यांकन की संभावना से युक्त है। मानव-मन के इतने सहज और सरल स्पन्दन मध्यकालीन साहित्य में

कहाँ मिलेंगे ? अभिव्यंजना की प्रविधि और प्रक्रिया के इतने प्रयोग कौन कवि कर सका है ? वस्तु-स्थापन की विधि में वस्तुतः प्राप्य सामग्री का पुनर्नियोजन इस प्रकार किया जाता है कि नये निष्कर्ष निकल सकें। निष्कर्ष ऐसे, जो आरोपित से न लगें, और नवीन संदर्भों के साथ उनकी संगति बैठ जाये। यदि एक शब्द में कहूँ, तो आधुनिक संदर्भ में केन्द्रीय स्थिति 'मानव' की है—लघु मानव, खंड मानव, समग्र मानव ही इस संदर्भ में प्रतिष्ठित है। सूर-साहित्य के मानवीय उपकरणों को खोजने और उभारने का प्रयत्न ही—जैसा बन पड़ा है—सामने है।

पुस्तक के कुछ भाग में शोध से समीक्षा चाहे मुक्त न हो पाई हो, पर शेष भाग में शोध के तत्वों से समीक्षा को स्वतंत्र करने का प्रयत्न किया है। परम्परा-शोध कुछ शोधपरक हो गया है : साहित्य पर सीधे विचार करते समय शोध अपने आप ही छिटक गई है।

होली, १९६३ ई०] —चन्द्रभान रावत

यह द्वितीय संस्करण !

सूर पंचशती का महापर्व और 'सूर साहित्य : नव मूल्यांकन' का यह द्वितीय संस्करण ! दोनों के बीच एक संबन्ध स्थापित हो, यह मेरी भी कामना है और प्रकाशक की भी। अच्छा होता यदि कोई नवीन चिंतन और तत्प्रेरित कोई नवीन व्यक्तित्व इस संबंध का आधार बनता। इस द्वितीय संस्करण की पीठिका में पाठकों की सूर के नव-मूल्यांकन के प्रति अभिरुचि और विद्वान पाठकों के द्वारा प्रस्तुत पुस्तक का स्वागत है। यही तत्त्व सूर पंच शती और प्रस्तुत पुस्तक के संबन्ध का आधार है। यह वस्तुतः एक सघन सन्तोष की बात है।

इस द्वितीय संस्करण में जहाँ-तहाँ संशोधन तो किया गया है किन्तु परिवर्तन-परिवर्द्धन विशेष नहीं किया गया। यह भी उचित प्रतीत हुआ कि इस पुस्तक में सन्निविष्ट सामग्री को ज्यों का त्यों ही रहने दिया जाये। जो नवीन उद्‌भावनाएँ और प्रतिक्रियाएँ सूर-साहित्य के प्रति उगी हैं उनको किसी भावी क्षण में प्रति फलित होने के लिए छोड़ दिया गया है। यदि प्रस्तुत लेखक और प्रकाशक का परस्पर कुछ कम व्यावसायिक सहयोग रहा, तो वह भावी क्षण जल्दी ही वर्तमान बन सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम संस्करण १९६७ में प्रकाशित हुआ था। लगभग १० वर्ष हो गये। इसके द्वितीय संस्करण की आवश्यकता का अनुभव ४-५ वर्ष पहले ही होने लगा था। परिस्थितियाँ इस कार्य में आड़े आती रहीं और द्वितीय संस्करण का संकल्प इस वर्ष ही क्रियान्वित हो सका। संभवतः सूर पंचशती के संदर्भ में ही यह सब होना था।

जब इस संस्करण में विशेष परिवर्तन-परिवर्द्धन नहीं ही किया गया है तब इसके सम्बन्ध में विशेष कुछ कहना भी नहीं है। केवल उन सुधी पाठकों और ग्राहकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना शेष रह जाता है, जिनके कारण प्रथम संस्करण को नव कलेवर के साथ प्रस्तुत करना सम्भव और अनिवार्य हुआ। लेखक पाठक और

प्रकाशक की त्रयी में पाठक का आयाम कितना प्रेरक और महत्वपूर्ण होता है, यह इससे सिद्ध होता है।

मुझे विश्वास है कि प्रथम संस्करण की ही भाँति इस द्वितीय संस्करण को भी सहृदय पाठकों के द्वारा ग्रहण किया जायेगा। मैं यह भी विश्वास दिलाता हूँ कि लेखक कुछ नवीन देने की साधना में निरत रहेगा।

हस्त नक्षत्र, १९७७। —चन्द्रभान रावत

प्रकाशकीय—

'सूर-साहित्य : नव-मूल्यांकन' प्रकाशित करते हुए हमें उल्लास तो हो ही रहा है, कर्तव्य के निर्वाह का भी सुख मिल रहा है। ब्रज के प्रकाशकों का ब्रज की साहित्यिक विभूतियों के प्रति एक कर्तव्य भी है। आशा है सूर के मूल्यांकन के साहित्यिक अनुष्ठान में इस प्रयास को स्थान मिलेगा।

डा० चन्द्रभान रावत ने अपने सतत अध्यवसाय के इस फल को हमें प्रकाशित करने का अवसर दिया, इसके लिए उनके हम आभारी हैं। प्रस्तुत प्रयास पर हमें गर्व है : डा० रावत बधाई के पात्र हैं।

डा० रावत ब्रज के सांस्कृतिक संदर्भों से सुपरिचित हैं। सूर-साहित्य के नव-मूल्याँकन से इन संदर्भों की निजी अनुभूति का संस्पर्श है। यही इस मूल्यांकन का वैशिष्ट्य है। जितनी निष्ठा और सुरुचि का परिचय उनके लेखन से मिलता है, संभवतः उतनी सुरुचि हम मुद्रण आदि में नहीं ला सके हैं। यह हमारी निजी सीमा है। फिर भी भरसक प्रयत्न हमने इसके मुद्रण और इसकी सज्जा को उचित स्तर प्रदान करने का किया है।

इन शब्दों के साथ पुस्तक सूर स्मृति में समर्पित है। विज्ञ पाठकों से प्राप्त प्रोत्साहन ही प्रकाशक की भावी प्रेरणा है।

—कुंजविहारीलाल पचौरी

क्रमणिका



पृष्ठाधार

भक्ति आन्दोलन ने समस्त भक्ति साहित्य के लिए एक भावभूमि प्रस्तुत की। जीवन के मूल्यों का संक्रमण अत्यन्त द्रुत गति से हुआ। निगम-धारा में पहले कर्मकांडीय मूल्यों की मान्यता थी। उपनिषदों ने कर्मकांड के स्थान पर ज्ञानकांड की स्थापना की और इस प्रकार प्रथम मूल्यगत संक्रमण हुआ। गीता ने उपनिषद् के जीवन-मूल्यों को एक भावात्मक मोड़ दिया। आगम-धारा भी इतनी ही प्रबल थी। उसके विविध स्तर वेद-विरुद्ध स्वर ऊँचा करते रहे। क्रमशः उनका मूल्यगत संक्रमण भी भावात्मक रूप धारण करने लगे। बौद्ध और जैन धर्मों ने भी वेद को स्वीकार नहीं किया। एक ओर तो करुण और अहिंसा के मूल्यों ने स्थान पाया, दूसरी ओर देवालय, चर्या आदि में क्रियात्मक साधना का विधान हुआ। यह साधना योग मूलक भावना से भिन्न थी। इस प्रकार सारे देश में आगमीय तथा अन्य वेद विरोधी संप्रदायों का एक जाल सा बिछ गया। जन-मानस वैदिक या वेदान्तों के मूल्यों से कट सा गया। शंकर ने प्रस्थानत्रयी (—उपनिषद्, ब्रह्म सूत्र एवं गीता) की ज्ञानात्मक व्याख्या करके, बौद्धिक धरातल पर विगत मूल्यों की पुनर्स्थापना की। यों शंकराचार्य जी के व्यक्तित्व में भी कहीं-न-कहीं भावात्मक मूल्यों की स्वीकृति थी, पर आगमीय कुहासे को चीरने के लिए उन्हें ज्ञानवादी जीवन मूल्यों की किरणें आवश्यक प्रतीत हुईं। इसी रूप में उनका व्यक्तित्व समग्र तेजस्विता से मंडित होकर प्रकट हुआ। 'गीता' की भावात्मक क्रान्ति को भी उन्होंने ज्ञानात्मक बना दिया। इस आघात से वेद विरोधी स्वर कुछ मन्द हुआ—चाहे समाप्त न हुआ हो। एक तीव्र प्रवाह में पड़ी हुई जनता कुछ रुकी—चाहे ज्ञानवादी मूल्यों के साथ तादात्म्य न कर पाई हो। प्रस्थानत्रयी पर आधारित जीवन-मूल्य नवीन संस्कारों से

प्रोद्भासित हो उठे—चाहे अभी उनका जनानुकूल भावात्मक संस्कार होना शेष हों। आगमीय या बौद्ध भावात्मक क्रियाओं और चर्याओं की स्थिति अछूती रही। भक्ति के आचार्यों और संप्रदायों ने प्रस्थानत्रयी की भावमूलक व्याख्या करके एक ओर शंकर द्वारा प्रचारित अद्वैतवादी मूल्यों को 'विशिष्ट' या 'शुद्ध' किया। दूसरी ओर आगमाश्रित, तंत्राश्रित या बौद्ध भावात्मक मूल्यों के स्थान पर निगमाश्रयी भावात्मक संस्कारों की स्थापना की। प्रस्थानश्रयी के अतिरिक्त इस प्रकिया में वैखानस, पांचरात्र संहिताओं, विविध पुराणों और विशेष रूप से भागवत और लोकभाषागत भावाकुल साहित्य को प्रामाण्य प्रदान किया गया। इस प्रकार एक महान् सांस्कृतिक आन्दोलन हो उठा।

जाने-अनजाने तंत्रागमों, सहज साधना, रहस्यात्मक शृंगार ने भी इस भावात्मक क्रान्ति को कुछ तत्त्व प्रदान किये : एक तीव्र उत्तेजना दी। धीरे-धीरे भावात्मक मूल्य इतने तीव्र हो गये कि दार्शनिक पीठिका शिथिल पड़ने लगी। भावों की सारणियों से संबंधित नवीन शास्त्र विकसित होने लगा। प्रस्थानश्रयी की छाया से एकदिन यह भावशास्त्र मुक्त हो गया। इस शास्त्र की भूमिका में तंत्रात्मक रस, काव्यशास्त्र, कामशास्त्र तथा लोक-साहित्य की प्रेरणाएँ स्वीकृत की जाती है। इन सबने मिलकर एक-एक भाव-पद्धति और एक ऐसा माध्यम प्रस्तुत किया कि आन्दोलन जनव्यापी हो गया। लोकसाहित्य में नवोदित भावात्मक मूल्य गूंजने लगे। जनजीवन को जैसे एक खोया हुआ उत्साह वापस मिल गया हो। विभिन्न अवतारों की लीलाएँ उसे अपनी निजी प्रतीत होने लगी। लौकिक और शिष्ट कलाएँ नवीन अभिप्राय पाकर धन्य हो उठी। जीवन की दिग्भ्रमित धारा को नवीन दिशा मिली।

इसी समय देवालयों का संगठन हुआ। सेवा-चर्या इन देवलायों में मूर्तिमान हो उठीं। ऐसा प्रतीत होने लगा कि पांचों ललित-कलाओं का सह-योग देवालय के संगठनों को प्राप्त हो गया। जीवन और धर्म, कला और अध्यात्म, बुद्धिवादी और भाववादी मूल्य जैसे नवीन संबधों में बँध गये : समन्वय और सामंजस्य की शक्तियां जैसे इतिहास में दीर्घकाल के पश्चात् संघर्ष और द्वन्द्व की शक्तियों पर विजय प्राप्त कर सकी हों। इतिहास के पृष्ठों पर इस उल्लास-समारोह की झंकृतियां अंकित है।

सबसे बड़ी बात यह कि यह सब कुछ भारतव्यापी हुआ। भारत के तर में प्रवाहित सभी ज्ञात-अज्ञात भाव धाराओं ने इस आन्दोलन को

योगदान दिया। इस आन्दोलन की सृजनात्मक शक्तियों ने अनेकों को प्रातिभ साधना की प्रेरणा दी। सर्वत्र विपुल साहित्य रचा गया। अन्ततः यह हुआ कि वेद-विधि, शास्त्र मर्यादा आदि के मूल्यों की एक बार फिर उपेक्षा हुई और शुद्ध प्रेम का मूल्य जीवन में सर्व मान्य हुआ। यही भावात्मक संक्रमणता सभी भक्त कवियों को प्राप्त हुई। भक्ति साहित्य में 'विधि' और 'राग' में क्रिया-प्रतिक्रिया बनी रही। इन सूत्रों को कुछ और विस्तार से देख लेना उपयुक्त होगा।

१–वैदिक मूल्यों का ह्रास

मध्यकाल में एक विशेष मनोवृत्ति मिलती है। एक वर्ग अपने से विरोध रखने वाले मतों को 'अवैदिक' कहकर तिरस्कृत करता था। अवैदिक कहे जाने वाले मत वैदिक मत का खंडन करते थे। इन दोनों मत-धाराओं की परम्परा नवीन नहीं एक दीर्घ समय से चली आ रही थी। 'निगम' और 'आगम' विचार धारायें क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में इतिहास का एक सत्य बन चुकी थीं।

स्वयं उपनिषद् 'वेदान्त' बन गये। ब्रह्मर्षि मेधा के प्रति राजर्षि मेधा की एक हलकी सी विकास-मूलक प्रतिक्रिया उपनिषदों में परिलक्षित है। वेदोक्त स्थूल एवं शुष्क कर्मकांड के स्थान पर ब्रह्मांड व्यापक, सूक्ष्म, चिन्तन परक 'यज्ञ' की स्थापना की गई। मूल शक्ति के अन्वेषण की प्राकृतिक शक्तियों के माध्यम वाली पद्धति का निराकरण करके एक शुद्ध ज्ञानात्मक पद्धति का आविष्कार किया गया। एक ऐसा महान् दर्शन जन्म लेने लगा, जिस पर आज भी भारत गर्व कर सकता है। पर, इनमें वेद का स्पष्ट और तीव्र विरोध भी नहीं था और न उसका खंडन ही किया गया। एक प्रकार से वेद का पूरक साहित्य प्रकाश में आया : वैदिक पद्धति जैसे आत्मोन्मुख होकर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर चिन्तन-साधना से परमात्म तत्त्व का संधान और निरूपण करने लगी हो। कर्मकांड मूलक ब्रह्म ज्ञान या ब्रह्म विद्या. शुद्ध ज्ञान का परिवेश प्राप्त करने लगी। इस प्रकार ब्रह्म-ज्ञान का विकसित रूप प्रकट हुआ। इस प्रकार वेदान्त दर्शन किसी न किसी रूप में श्रुति को आधार रूप में ग्रहण किए रहे।

उपनिषद्-साहित्य के नवनीत को ग्रहण करते हुए 'गीता' का अवतार हुआ। इसमें वेद को त्रैगुण्यमय घोषित कर दिया गया : अर्जुन से 'निस्त्रैगुण्य' होने के लिए कहा गया। इस प्रकार 'वेद' की दृष्टि से गीता का सामंजस्य नहीं था। वास्तव में ज्ञानात्मक उपनिषद् का भावात्मक अवतार ही गीता है। गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य 'भक्ति' है। ज्ञानमय भक्ति या निष्काम-भक्ति के

सूत्र ही आगे विकसित हुए। इसी की प्रेरणा से आगे के भावमूलक भक्ति संप्रदायों में 'वेद' का खंडन चाहे नहीं मिलता हो, पर उसे अनावश्यक अवश्य बतलाया गया है।

जिस प्रस्थानत्रयी को शुद्ध ज्ञानात्मक धरातल पर शंकराचार्य जी ने उतार दिया था, उसी की शुद्ध भावात्मक व्याख्या भक्ति के आचार्यों ने की। इसी व्याख्या ने भक्ति को सर्वोच्च मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया और 'वेद' के मूल्य और यज्ञ-यागादि से युक्त साधना को उपेक्षित कर दिया। 'यज्ञ' का स्थान पूजा ने ले लिया। पूजा-कर्म 'पत्रं-पुष्पं फलं तोयं' से सम्पन्न हो सकता था।

वैदिक साहित्य में ही कुछ वेद-विरोधी जातियों और गणों की सूचना मिलती है। जिस आंगिरस परम्परा से कृष्ण का संबंध जोड़ा गया है वह भी वैदिक नहीं थी। अथर्ववेद में एक ऐसी शासन व्यवस्था की चर्चा है, जिसके निवासी वेद और ब्राह्मण का विरोध करते थे : दोनों का उच्छेद ही उन्हें अभीप्सित था। इस प्रकार के 'वितहव्य' के १००० निवासियों का उल्लेख है।[१] आगे के इतिहास काल में यह स्थिति अधिक स्पष्ट हो जाती है। इन गणों में शासन व्यवस्था ही भिन्न नहीं थी, इनके निवासी वैदिक संस्कृति और आचार के भी कट्टर विरोधी थे। महाभारत के समय भी ऐसा विरोध मिलता है। कृष्ण दोनों में मैत्री भी चाहते थे। आभीर एवं यादवों में भी ऐसे आचार थे, जिनका समर्थन वैदिक परम्परा नहीं करती थी। इस प्रकार कृष्ण में ये संस्कार आये। एक ओर तो उनका संबंध आंगिरस परम्परा से हुआ। दूसरी ओर आभीर और यादव गणों से।

वेद-विरोधी स्वर की एक और परम्परा है। यह बौद्ध और जैन धर्म के रूप में प्रकट हुई। कालांतर में बौद्ध धर्म के विकसित रूपों के साथ समस्त आगम परम्परा संबद्ध होती गई। तत्कालीन बौद्ध संप्रदायों के संबंध में देशी-विदेशी स्रोतों से प्रचुर साहित्य प्रकाश में आया है। वैदिक परम्परा बौद्ध संप्रदायों में अभाववाद या शून्यवाद की स्थिति मानकर उनका खंडन करती रही। बौद्ध संप्रदाय वैदिक-मत के विरोधी बने रहे। बौद्ध-धर्म के ऐसे ही संप्रदायों के अतिवाद को देखकर ही एक घोर प्रक्रिया हुई। शंकराचार्यजी

---

१. ये सहस्रमराजन्नासन दश शता उत ते ब्राह्मणस्य गां जग्धा वैतहव्या पराभवन।

[अथर्व, ५।१८।१०]

ने शून्यवाद को 'सर्वप्रमाण विप्रनिषिद्ध' कहा । उसके उच्छेद का इन आचार्य प्रवर ने संकल्प लिया । कुमारियल भट्ट बुद्ध जी के आदर्श सिद्धान्तों को भी अग्राह्य बतलाया । बौद्ध धर्म का प्रकट रूप तो इन थपेड़ों को न सह सका, पर उसके प्रच्छन्न रूप अवशिष्ट हो गए । स्थविरवाद, वज्रयान, सहजयान आदि रूपान्तरण प्रस्तुत हो गये । इनका पोषण शाक्त, शैव, तंत्र, रसायन आदि के तत्वों से होता रहा । पुराने साहित्य में बौद्धों के माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक संप्रदायों का भी उल्लेख मिलता है । जैनमत और चार्वाक दर्शन को जोड़कर उन संप्रदायों की संख्या छः करदी गई है, जो वेद का विरोध करते थे । इनको 'नास्तिक' कहा जाता था । इनके अतिरिक्त अन्य अनेक छोटे संप्रदाय भी रहे होंगे, जिनमें वेद-विरोधी स्वर गूँजता रहा होगा ।

पौराणिक साक्ष के अनुसार कापाल, लाकुल वाम, भैरव, पाँचरात्र, पाशुपत आदि को अवैदिक घोषित किया गया । शङ्कराचार्यजी ने पाशुपतों और माहेश्वरों को वेद-बाह्य बतलाया ।[1] प्रवृत्ति शैव, शाक्त और तांत्रिक मतों को अवैदिक कहने की प्रतीत होती है । यदि यह कहा गया कि विष्णु ने ही कापाल, भैरव आदि संप्रदायों से संबन्धित मोह शास्त्रों को उत्पन्न किया,[2] तो विरोधी स्वर ने यह योजना की : शिवजी ने कहा कि मायावाद एक भ्रामक दर्शन है । इससे अधिक असत्य दर्शन नहीं मिल सकता । वेद-विरोधी मतों ने वेद-विरोधी स्वर को और ऊँचा और स्पष्ट किया ।

आगे चलकर तांत्रिक साधना और योगमार्ग ने प्रबल रूप धारण किया । तन्त्र के सम्बन्ध में साहित्य भी विकसित होता रहा । जहाँ वैष्णव संहिताएँ जन्म ले रही थीं, वहां शैवागमों और शजाक्त तंत्रों का विकास भी साथ साथ हो रहा था । 'आगम' साहित्य का संबन्ध भी शैव परम्परा से है । पर, कुछ आगमों को वैदिक कहा गया । इन आगमों के प्रामाण्य को स्वीकार करने वाले कई शैव और शाक्त संप्रदाय चले । शाक्तों के चार संप्रदाय केरल, काश्मीर, गौड़ और विलास माने जाते हैं । बंगाल और आसाम इनके मुख्य केन्द्र हो गये । एक प्रकार से इन दोनों की अखिल भारतीय स्थिति हो गई । पर आगमों में ऐसे सूत्रों का सन्निवेश है, जिनसे समन्वय की भूमि तैयार हो सके । दार्शनिक दृष्टि से कुछ समान सूत्र ये हैं : उपास्यदेव परम तत्व है । यह

१. शारीरिक भाष्य, २।२।३७

२. कूर्मपुराण, अध्याय १६

प्रकृति से परे है। परम तत्व में इच्छा, क्रिया आदि शक्तियों का निवास है। जगत् परमतत्त्व का परिणाम है। सृष्टि क्रम में प्रकृति भी स्वीकृत है। त्रिगुण को भी स्वीकार किया गया है। भक्ति पर सभी बल देते हैं। भक्ति के क्षेत्र में सभी वर्ण, स्त्री, पुरुष समान अधिकार रखते हैं। चर्या (धार्मिक) और क्रिया (मन्दिर आदि का निर्माण) को भी सभी ने स्वीकार किया।[1] पारिभाषिक शब्दों में भी साम्य है। बीज, मन्त्र, मुद्रा, न्यास आदि भी हैं। योग की सभी में चर्चा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भक्ति-संप्रदायों के दर्शन में भी ये तत्त्व या इनके संस्कृत रूप स्वीकृत रहे।

शैवागमों पर आधारित अनेक संप्रदाय थे। शंकराचार्य जी ने इनका भी खंडन किया। लिंगपुराण में पाशुपतों की एक वैदिक शाखा का भी उल्लेख है : ये लिंग, रुद्राक्ष और भस्म धारण करते थे। यहीं मिश्र पाशुपातों की भी चर्चा मिलती है, जो पंचदेवोपासक थे। साधना और प्रतीकों की दृष्टि से तांत्रिकों की शाखा इन दोनों से भिन्न थी। इनके अतिरिक्त भी अनेक पाशुपत शाखाएँ थीं जो देश भर में फैली थीं। दक्षिण में शैव-भक्त भी प्रमुख थे। इनमें से कुछ महाभारत और पुराणों से भी प्रभावित थे। कश्मीर में शैव मत और पूर्वी भारत में शाक्त मत का विशेष प्रचार था। यों भारत के प्रत्येक गाँव में शिव और शक्ति के छोटे-बड़े मन्दिर अनिवार्य रूप से मिल जाते हैं।

२–वेदों को प्रमाण मानने वाले संप्रदाय और वैदिक मूल्य

जिस प्रकार वेद-विरोधी नास्तिक संप्रदायों की वृद्धि हो रही थी, उसी प्रकार आस्तिक संप्रदायों की संख्या भी बढ़ रही थी। वेद को प्रमाण मानने वाले सिद्धान्तों में चाहे परस्पर मतैक्य न हो उनमें वेद-प्रामाण्य समान रूप से स्वीकृत था। समस्त भक्ति संप्रदायों की भी यही स्थिति है। अनेक शैव, शाक्त, पाशुपत, गणपत्य, सौर आदि नामधारी संप्रदाय अपनी प्रतिष्ठा के लिए अपने को श्रुति-सम्मत कहने लये।

दार्शनिक दृष्टि से वेद-वेदान्त के अनेक भाष्य प्रस्तुत किये गये। इनके द्वारा मूल दर्शन का प्रचार भी होता था और मूल दर्शन विकसित भी होता था। अनेक नवीन तत्त्वों का समावेश भाष्यों के द्वारा मूल दर्शन में हो जाता था। साथ ही परिस्थितियों के अनुकूल कुछ विशिष्ट तत्त्वों का पुनराख्यान भी हो जाता था। इससे दर्शन जीवन्त बना रहता था। 'पुराण' एक दूसरी ही पद्धति से वेद-वेदान्त-सूत्र-धर्मशास्त्र को प्रस्तुत करते थे। वे सूक्ष्म को स्थूल

१. सर जान उडरफ, शक्ति एण्ड शाक्त, पृ० ८३।

माध्यम प्रदान करके नवीन साधना-पद्धतियों का विधान करते थे। इन साधना पद्धतियों में लौकिक, कलात्मक और सांस्कृतिक तत्त्वों का समावेश करके पुराण-साहित्य वेद-प्रामाण्य वाले दर्शन को एक व्यावहारिक धर्म के रूप में परिणत कर रहा था। किसी न किसी प्रकार मूल आर्ष ग्रन्थों को आकर रूप में प्रस्तुत और स्वीकार करने की प्रवृत्ति बढ़ती है। भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओं को भी भाष्य आदि के द्वारा व्यवस्थित रूप प्रदान किया जाने लगा। पर जन-मानस को पुराण साहित्य ही सबसे अधिक प्रभावित कर रहा था। जिस प्रकार तन्त्र-मन्त्र किसी-न-किसी रूप में प्रायः सभी संप्रदायों को प्रभावित कर रहे थे, उसी प्रकार पुराण-विद्या भी सभी धर्म संप्रदायों को प्रभावित कर रहे थे, उसी प्रकार पुराण-विद्या भी संप्रदायों में लोकप्रिय होती जा रही थी। इस साहित्य की एक बड़ी विशेषता इसकी विकासशीलता है : सभी पुराण एक समय में या एक ही लेखक के द्वारा नहीं रचे गये और न किसी पुराण का समग्र रूप ही एक साथ प्रस्तुत हुआ। इन दोनों ही दृष्टियों से यह विकास-शील साहित्य था। धर्म सूत्रों और महाभारत में भी पुराणों की चर्चा आती है, और बहुत पीछे तक पुराण-रचना होती रही। पर, मध्यकाल के आरंभ तक ये वर्तमान रूप में उपस्थित हो चुके थे। पौराणिक साहित्य ने उपास्य देव, गुरु-आचार्य और उपासना-विधान आदि सभी की रूप कल्पना को बदल दिया।

इसी परम्परा में वैष्णव संहिताओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैसे 'तंत्र' शब्द भी सात्वत और पांचरात्र संहिताओं के लिए प्रयुक्त मिलता है। 'आगम' साहित्य में से भी कुछ को वैदिक कहा जाता है और कुछ को अवैदिक। कुछ के संबंध में अस्पष्टता बनी रही। शंकराचार्यजी ने पांचरात्र मत को वेद-बाह्य घोषित किया : चतुर्व्यूह-कल्पना को अवैदिक कहा। पर रामानुजाचार्यजी ने 'श्रीभाष्य' में शंकर का खण्डन किया और पांचरात्र मत को स्वीकृति दी। "वास्तविक तथ्य यह है कि इस काल की कोई भी कृति सर्वांशतः वेद की प्रतिध्वनि नहीं है, यद्यपि वेदों में उसका मूल खोज लिया गया है। धार्मिक साधना जीवन्त वस्तु है। वह आस पास से अपने विकास के लिए पोषक द्रव्य संग्रह करती है। आगमों में भी ऐसा ही हुआ है।"[1] वैदिक कोटि में आने वाले वैष्णव आगम के दो रूप हैं : पांचरात्र और वैखानस। इनमें से वैखानस संहिताओं का संबंध वेदों से अधिक है। इसीलिए इसको वेद-प्रामाण्य वाली परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। पांचरात्र संहिताओं के विषय में कुछ काल

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ३६

तक विवाद चलता रहा। अन्ततः पांचरात्र उपासक ही भागवत कहे गए। पांचरात्र संहिताओं की परम्परा प्राचीन है। इनकी रचना उत्तर में भी हुई और दक्षिण में भी। आश्चर्य की बात यह है कि शैवागमों से इनका विशेष साम्य है। इनका विषय-विभाग इस प्रकार है :[1] ज्ञान–ब्रह्म, जीव, जगत का निरूपण; योग–मोक्ष के लिए योग प्रक्रियाएँ; चर्चा-नित्य नैमित्तिक कृत्य, मूर्ति, यंत्र और इनकी पूजा विधि; क्रिया देवालय-निर्माण, मूर्ति स्थापना, पूजा आदि। आगे के विकसिक भक्ति संप्रदायों में भी दर्शन का विषय-विभाजन इसी प्रकार रहा। 'सूर' के संप्रदाय को भी अपवाद नहीं कहा जा सकता। इन विषयों में से चर्या और क्रियाएँ अधिक लोकप्रिय होती गई। तत्त्वदर्शन क्रमशः न्यून से न्यूनतर होता गया। संहिताओं में भी चर्या क्रिया निरूपण में ही विशेष रुचि ली गई है।

पंचरात्र-मत में चतुर्व्यूह-कल्पना प्रमुख है : विकास-क्रम इस प्रकार है : वासुदेव [परमतत्त्व] से संकर्षण [जीव]; संकर्षण से प्रद्युम्न [मन]; और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध [अहंकार]। इस प्रकार एक पौराणिक इतिवृत्ति के क्रम में तत्त्व-विकास को रखने का उपक्रम है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में पांचरात्र पूजा-विधान वैदिक परम्परा के मन्दिरों में प्रचलित नहीं था : वहां वैखानस संहिताएँ ही मान्य थीं। रामानुजाचार्यजी ने वैखानस संहिताओं के पूजा-विधान का विरोध करके दक्षिण के अधिकांश मन्दिरों में पांचरात्र विधि की स्थापना की। इस प्रकार जिस पांचरात्र परम्परा को अवैदिक कहा जाता था, वह भक्ति-संप्रदायों में स्वीकृत हुई। एक प्रकार से वेद-विरोध का यह एक मृदु और व्यावहारिक रूप था। वेद-प्रामाण्य सिद्धान्त रूप में स्वीकृत रहा। इनमें भक्ति पर बल दिया गया है। इनके अनुसार जीवोद्धार का मार्ग भगवान का अनुग्रह है।[2] इस भवजाल से यदि मुक्ति पानी है तो भगवान की शरण में जाना (न्यास) ही एक मात्र उपाय है। सभी भक्ति संप्रदायों के ये प्रमुख सूत्र रहे। वल्लभ संप्रदाय का तो नाम ही 'पुष्टि मार्ग' [अनुग्रह-मार्ग] है। तमिल प्रान्त में कई पांचरात्र संहिताएँ प्राप्त हुई हैं। दक्षिण के आलवार भक्त पांचरात्र संहिताओं के सिद्धान्तों से बहुत अधिक प्रभावित थे। वैसे रामायण, महाभारत और पुराणों का प्रभाव भी अत्यधिक है। आलवारों की दृष्टि से अस्पृश्य-स्पृश्य का

---

१. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ४६०

२. जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काप्युपजायते। [अहिर्बुध्न्य संहिता १४।२६]

भेद नहीं था। पुराण और संहिता दोनों ही मिली-जुली पद्धति पर आधारित आल्वार-साहित्य को श्री संप्रदाय में प्रामाण्य प्राप्त हुआ : इनके साहित्य को परम प्रमाण माना गया : इस साहित्य का गायन होता था : आल्वार भक्तों की भी पूजा देव-मन्दिरों के पूजा-विधान का अङ्ग बन गई। आल्वारों को वैष्णव संप्रदाय का आदि गुरु माना गया। पीछे वैष्णव संप्रदाय में प्रस्थान-त्रयी और आल्वार साहित्य के प्रामाण्य और सापेक्षिक महत्व को लेकर कुछ विवाद भी हुआ : मत-विभाजन भी हुआ। एक वर्ग प्रथम को, दूसरा वर्ग द्वितीय को अधिक महत्व देने लगा। वेदांत देशिकाचार्य प्रस्थानत्रयी को विशेष महत्त्व देने के पक्ष में थे। नारायण या विष्णु के अन्य रूपों की प्रतिष्ठा हुई। नृसिंह, वराह, राम आदि की पूजा भी प्रचलित हुई। दक्षिण के व्यक्तिवाचक नामों और मन्दिरों की दृष्टि से इनकी पूजा का सह अस्तित्व मिलता है। सूर्य और गणेश की पूजा भी प्रचलित थी।

पुराण-परम्परा में आने वाले ग्रन्थ 'भागवत' ने आगे के विकसित भक्ति संप्रदायों को अत्यधिक प्रभावित किया। प्रस्थानत्रयी में भागवत को जोड़कर वल्लभाचार्य जी ने प्रस्थान-चतुष्ट की स्थापना की। चैतन्य संप्रदाय में भागवत को सर्वाधिक महत्व दिया गया। "...पांचरात्र संहिताओं, विष्णु पुराण, और 'श्रीभाष्य' का आश्रय लेकर एक वैध मार्गी वैष्णव साधना विकसित हुई और दूसरी रामानुजा मार्गी या आवेश और उल्लासमय भक्ति मार्गी साधना 'भागवत' का आश्रय लेकर विकसित हुई। उत्तरकाल के वल्लभ और चैतन्य संप्रदाय भागवत को परम प्रमाण के रूप में स्वीकार करते है। भागवत पुराण श्रीकृष्ण के प्रेम मूलक भक्ति धर्म का प्रतिपादक है।[१]" श्रीकृष्ण को पूर्ण और साक्षात् अवतार कहा गया और शेष अवतार अंशावतार है। इस प्रकार नारायण, राम. आदि अवतारों के स्थान पर इन संप्रदायों में कृष्ण का सर्वाधिक महत्व हुआ। आगे चलकर भागवत और संहिताओं के उत्सों से प्रसिद्ध चार संप्रदाय उत्पन्न हुए।[२] चैतन्यमत को मध्व-मत के साथ संबद्ध करके देखा जाता है, पर उसका अस्तित्व भी स्वतन्त्र है। मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में समस्त धार्मिक और दार्शनिक चिंतन की परम्पराएँ इन संप्रदायों के रूप में

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ४७।

२. श्री वैष्णव = रामानुजाचार्य (विशिष्टाद्वैत). ब्रह्म=मध्व (द्वैत). रुद्र = विष्णु स्वामी. वल्लभ (शुद्धाद्वैत) तथा सनक — निम्बार्क (द्वैताद्वैत)।

ढ़ल गईं। योगमार्ग भी इस काल में साथ-साथ चलता रहा। धीरे-धीरे वैष्णव तत्त्वों से उत्तर भारत का योगमार्ग भी प्रभावित होने लगा और तांत्रिक भाव और रस के प्रतीक 'माधुर्य' के अनुयायी भक्ति-संप्रदायों को प्रभावित करने लगे।

साहित्य की एक और प्रवृत्ति की ओर यहाँ संकेत कर देना आवश्यक है। हिन्दू धर्म के आचार और व्यवहार को नियंत्रित और सुरक्षित करने के लिये स्मृतियां लिखी गई थीं। स्मृतियों की मध्य युग में टीकाएँ लिखी गईं : निवन्धों की रचना हुई। पुराणों को इनके साथ संवद्ध करके 'धर्म शास्त्र' नाम से इस समुच्चय को द्योतित किया जाता था। धर्म शास्त्र सामाजिक जीवन के आचारों और संवंधों को नियंत्रित करता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था का नियमन भी इसी से होता है। इसी प्रकार कुछ साहित्य धर्म साधना के नियमों का भी अनुकथन करने वाला था। 'स्मार्त' शब्द स्मृति से उत्पन्न है। स्मार्तो में आचार-व्यवहार और देवोपासना, धर्मशास्त्र और धर्म-साधना परक साहित्य माना जाता था। पंचदेवोपासना की स्वीकृति के द्वारा इनके द्वारा समन्वय की भी एक भूमिका प्रस्तुत हुई। साधना मुख्यतः 'सूर' से पूर्व योगमूलक और भक्ति-मूलक थीं।

भक्तिमूलक साधना को उक्त धर्म-शास्त्र, धर्म-साधना-साहित्य के आधार पर दो भेदों में विभक्त किया जा सकता है। पहला मत धर्म शास्त्रीय आचार-व्यवहार, नीति-विधि को स्वीकार करके चलता था। दूसरे मार्ग में वेदादि प्रामाण्य की अस्वीकृति तो नहीं है, पर सघन रागात्मक साधना में इस लोक, वेद, स्मृति आदि के नियंत्रण को अनावश्यक अवश्य कहा गया। भगवत्प्रेम के घनीभूत क्षणों में धर्मशास्त्रीय आचार को वाधक भी समझा जाता था। इस प्रकार रागात्मक साधना में वेदों की उपेक्षा का स्वर जाने-अनजाने आ गया। योगी और संतों में वेद, लोक, या पुस्तकीय विधान का खंडन बौद्धिक आधार पर था। भक्ति के रसाश्रयी रूपों में भक्ति और प्रेम का मूल्य ही सर्वोच्च था। अतः भावना के आधार पर अन्य वौद्धिक या ज्ञानात्मक, अथवा कर्मकाण्डीय मूल्यों के लिए कोई स्थान नहीं रहा। कुछ भक्ति संप्रदायों की दार्शनिक पीठिका में प्रस्थान-त्रयी और धर्मशास्त्र अथवा उनका विशेष रूप से किया गया भाष्य व्याप्त था पर कुछ संप्रदायों ने इस पीठिका को भी छोड़ सा ही दिया और भक्तिमूलक भावोन्नयन की साधना को दूसरी ही भूमिका में देखा गया। जिन संप्रदायों में यह पीठिका मान्य भी थी, उनमें भी पीछे प्रेम भक्ति का मूल्य ही प्रवल होता गया और वेद-विधि, स्मृति-आचार शिथिल। जहाँ इन

संप्रदायों में भावात्मक सेवा का विधान किया गया है। वहाँ वेद की उपेक्षा के स्वर भी स्पष्ट है। इस पक्ष पर गोपी भाव और माधुर्य भाव पर विचार करते समय और भी स्पष्टीकरण किया गया है।

गोपी भाव को पुष्ट और मांसल करने में, और गुर्जर जाति के भाव-प्रवण लोकसाहित्य और विश्वासों का भी महत्त्वपूर्ण हाथ माना गया है।[1] इस भावना को लेकर जो शृङ्गार-मुक्तक साहित्य के क्षेत्र में प्रचलित हुए, उनका श्रेय भी इस जाति को दिया जा सकता है।[2] इस जाति की भाव साधना ने भी वैदिक रीति को ठेस पहुँचाई। इस 'भागवत' परम्परा को शक, यवन, पल्हव आदि जातियों ने भी स्वीकार किया। इन्होंने अपने को 'भागवत' कहा भी है। इनके लिए वेद-प्रामाण्य का महत्व नहीं था। 'भागवत' मूल्यों का ही विस्तार और ग्रहण इनके द्वारा हुआ। संक्षेप में कहा जा सकता है कि चाहे वेद को अमान्य न ठहराया गया हो, पर अन्य भावात्मक जीवन मूल्यों के प्रबल हो जाने पर वैदिक मूल्यों का ह्रास स्वाभाविक था। तरल भावना से ओत प्रोत लीला साहित्य विकसित होने लगा। इसके प्रमाण ये हैं 'क्षेमेन्द्र का 'दशावतार चरित' जयदेव का 'गीत गोविंद' चंद का 'दसम'। इनमें शास्त्रीय मर्यादा, वेद की अनुज्ञा, तथा लोकमर्यादा विचलित सी खड़ी हैं। 'सूर' की गोपियाँ अनेक स्थानों पर प्रेम के सामने वेद या लोक की मर्यादा की अवज्ञा करती मिलती हैं। जब गोपियाँ रास में सम्मिलित होने गईं, तब कृष्ण ने 'ईहि विधि वेद मारग सुनो।[3] कह कर वेद की मर्यादाओं का संकेत किया। इस पर गोपियों ने गीता के स्वर में उत्तर दिया—

हम जानें केवल तुम्हीं कौं, और वृथा संसार।[4]

इस प्रकार गोपीभाव वैदिक मूल्यों का खंडन चाहे न करे, पर इसने वैदिक मूल्यों की अपेक्षा भावात्मक जीवन मूल्य ही मान्य हैं।

३—अवतार-कल्पना

अवतार कल्पना मनुष्य की अमूर्त के मूर्तिकरण की साधना का ही एक अंग है। यह भावना साहित्य के क्षेत्र में भी चलती है और दर्शन के क्षेत्र

१. भंडारकर, वैष्णविज्म, शैविज्म, एण्ड अदर माइनर रिलिजन्स आफ इण्डिया, पृ० ५३
२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ११३, ११४
३. सू० सा० १६३४
४. वही, १६३६

में भी। कभी साहित्य-क्षेत्रीय मूर्तीकरण संबंधी रूपक दार्शनिक चिन्तन की मूर्त गाथा प्रस्तुत करते हैं, कभी दार्शनिक क्षेत्र का रूपक-परक-चिंतन साहित्य में उतर आता है। लोकोत्तर धरातल पर यह प्रक्रिया दुहरी रहती है। पहले प्राकृतिक शक्तियों में दिव्यत्व का आरोप करके उनको लोकोत्तर किया जाता है। फिर मनुष्य अपने ही भाव-विचार, रूप-आकार और क्रिया-व्यापार का आरोप करके अलौकिक प्रस्तुत को लौकिक अप्रस्तुत के माध्यम से मूर्त कर दिया जाता है। उसकी उच्चतर कल्पना इस प्रकार की शक्तियाँ अनेकत्व में एकत्व के संधान के लिए विकल हो उठती है : अन्ततः दृश्य शक्तियों के पीछे अन्तर्निहित एक अदृश्य मूल शक्ति का आभास मिलने लगता है। चिन्तन और कल्पना की यह क्रिया-प्रतिक्रिया वैदिक वेदवाद में मिलती है। इस कल्पना की प्रक्रिया को पूर्ण न समझने के कारण ही विद्वानों ने वेदों में अद्वैतवाद, ऐकेश्वरवाद, या वहुदेववाद का अनुसंधान किया है। वास्तव में ये तीनों ही कल्पना की एक प्रक्रिया की विकास की स्थितियाँ उसके परस्पर पूरक पक्ष है। वैदिक देववाद की कल्पना में वहुदेववाद के स्थल अधिक हैं। पर, इसके चरम विकास को प्रकट करने वाले स्थल भी है जहां कहा गया है कि एक ही महा देवता को विभिन्न नामों और रूपों से कहा गया है।[1] हिरण्यगर्भ समस्त भूतों का अधिपति है। उसी ने द्युलोक और भूलोक को धारण किया है। उसी को हविस् अर्पित करनी है।[2] यह कल्पना का उच्चतम स्वरूप है।

इस महद्देवता को मूलशक्ति स्वीकार कर लेने के पश्चात् कल्पना का स्थान चिंतन ने लिया। इस मूल सत्ता से जीव, जगत आदि के विकास और इन तत्त्वों के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये औपनिषदिक-जटिल चिंतन की ऊहापोह सामने आई। मूर्त कल्पनाओं का आधार भी छूट गया और उस अनन्त के साथ कल्पित संबंध भी शिथिल होने लगे। उपनिषदों ने निषेधात्मक विशेषणों और अनिवर्चनीयता के आधार पर ब्रह्म-निरूपण का प्रयत्न किया पर, 'नेति' के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला। वैसे कहीं-कहीं कुछ रूपक और भावात्मक क्षण मिल जाते है। उनमें भावी भावात्मक विकास की सम्भावनाओं का निवास माना जा सकता है।

आगे 'नाम' और रूप के आधार पर अमूर्त ब्रह्म-चिंतन को फिर से मूर्त बनाने का दार्शनिक उपक्रम हुआ। 'नाम' स्वरूप-विधायक या गुणात्मक

---

१. ऋग्० १।१६४।४६

२. ऋग्० १०।१२१

बने। मानव के उदात्त गुणों की मूल-सत्ता में एक साथ स्थापना की गई। कुछ अलौकिक गुणों की कल्पना भी मानवीय जीवन के आधार पर करके उनसे परब्रह्म को विभूषित कर दिया गया। पौराणिक प्रवृत्ति ने अवतार कल्पना को और आगे बढ़ाया। कुछ वैदिक रूपकों को गाथा का रूप प्रदान किया गया। इन वैदिक रूपकों में 'विष्णु' बीज रूप में विद्यमान मिलता है। विष्णु सम्बन्धी रचनाएँ चाहे वैदिक साहित्य में संख्या की दृष्टि से कम हों, परन्तु उन ऋचाओं में ऐसी ऋचाएँ अवश्य हैं जिनमें विष्णु को इन्द्र से या अन्य देवताओं से श्रेष्ठ कहा गया है।[१] विष्णु का वैशिष्ट्य इस बात में है कि इन पर मानवीय गुणों का आरोप सर्वाधिक है। पीछे के ब्राह्मण साहित्य,[२] उपनिषद् साहित्य[३] आदि में विष्णु के गुणों और रूपों का विकास हुआ। पौराणिक साहित्य तो जैसे विष्णु और उसके अवतारों की प्रशस्ति को ही मूल रूप से लेकर चले। पुराणों में ब्रह्म के सगुण रूप का ही विविध प्रकार से निरूपण और गायन हुआ है।

इस प्रकार पुराणों ने विष्णुपरक रूपकों के आधार पर अवतारों की कल्पना और भावना की। इन रूपकों की नराकार कल्पना हुई। अभिप्राय तो मानवीय रहे, पर माहात्म्य का संयोग अधिक रहा। 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदं' के आधार पर 'वामन' का रूप घटित हुआ। वेद में अनेकत्व विष्णु को त्रिविक्रम कहा गया है। विष्णु की कल्पना यज्ञ-पुरुष के भी रूप में मिलती है।[४] वैखानस संहिताओं में यज्ञ-वराह का उल्लेख है। इस प्रकार वामन, वराह, नृसिंह आदि के मूल वैदिक उत्स कुछ विष्णु परक रूपकों में मिल जाते हैं। कृष्ण के सूचक उपकरण भी अस्फुट रूप से प्राप्त होते हैं। पुराणों ने विविध गुणों, विष्णु के प्रति दृष्टि, सृष्टि के क्रम, तथा अनेक जीवन मूल्यों के आधार पर विष्णु की कल्पना की। कल्पना और उसकी अवतार भावना को पुष्ट किया।

अवतारों की संख्या में भी विकास हुआ और नामों में भी विकास हुआ। कुछ स्थानों पर इनकी संख्या छः है।[५] अधिक प्रचलित संख्या १०

---

१. ऋग० १।१५४।१-६
२. ऐतरेय, १।१
३. मैत्रेयी उपनिषद् ६।१३, ४३०-३।७
४. विष्णु पुराण १७।५।१५; महाभारत-शान्तिपर्व, ३३६।६-१०
५. महाभारत, नारायणीयोपाख्यान; हरिवंश; आदि।

है।[1] दस अवतारों की सर्वमान्य सूची यह है। मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि। भागवत में संख्या बाईस[2] तेईस[3] और चौबीस तक विकसित हुई है। वैसे अवतारों की सख्या असंख्य भी बतलाई गई है। इसका तात्पर्य है कि किसी में एक विशेष गुण, प्रतिभा या अलौकिक विकास को देखकर यह कल्पना करली जाती थी कि विष्णु का एक अंश इस रूप में अवतरित हुआ है।[4] यह अंशावतार की भावना अनेक रूपों में विकसित हुई। इसी आधार पर नारद [वैष्कर्म्य आधार पर सात्वत मार्ग के उपदेष्टा] कपिल [सांख्याचार्य], दत्तात्रेय [आन्वीक्षिकी विद्या के प्रवर्तक], ऋषभ जैसे ऋषियों-मुनियों को अवतारों में सम्मिलित कर लिया गया 'शंकर' की भी अवतार के रूप में कल्पना मिलती है। आगे चलकर भक्ति के संस्थापक आचार्यो या प्रर्वतकों को भी अवतार कहा गया इस प्रकार अवतारों की संख्या असंख्य भी हो जाती है।

दश अवतारों की कल्पना में एक बात और दृष्टिगत होती है : पशुरूप में कल्पना [मत्स्य, कूर्म और वराह], नरपशु रूप में कल्पना [नृसिंह] लघु मानव [वामन], तथा महापुरुषों के रूप में कल्पना [राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि [मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य के जीवन संबन्धी मूल्यों का ही रूप में विकास हुआ। आरंभ में शुद्ध उपयोगितावादी जीवन-मूल्यों से अवतार कल्पना अनुप्राणित थी। पीछे इनका प्रतीक 'शिवत्व' हो गया। इसके पश्चात् सत्य-शिव की कल्पना का उदय हुआ और सौन्दर्य यांत्रिक रूप से इस संयोग से इस उत्पन्न होने लगा [राम]। अन्तत. सत्य शिव सौन्दर्य कल्पना की पूर्ति हुई। इस कल्पना में सौन्दर्यगत मूल्य सर्वोच्च होगया और शेष मूल्य उसमें अन्तर्हित हुए। इस प्रकार -कृष्ण-कल्पना जीवन मूल्यों की दृष्टि से पूर्ण है। बुद्ध मे 'शिवत्व' करुणा भाव के रूप में अवतरित हुआ; इस प्रकार जीवन-मूल्य एक सामाजिक भावना का मृदुल रूप लेने लगा।

यही अवतारों के विकास को भी देखा जा सकता है। सबसे पहले धर्म संस्थापना साधुओं के उद्धार और दुष्कृत्यों के विनाश के लिए भगवान का

---

१. महाभारत, प्रायः सभी पुराणों में संख्या १० मिलती है।

२. भागवत प्रथम स्कंध तृतीय अध्याय।

३. भागवत द्वितीय स्कंध, अध्याय ७।

४. भागवत के अनुसार इन्हें आवेशावतार कहना चाहिये।

अवतार माना गया।[1] एक प्रकार से इस घोषणा में उपयोगितावाद या शिवत्व-मूलक मूल्यों की स्वीकृति है। यदि अवतारों की मूल इकाई विष्णु को न मानकर परब्रह्म को माना जाय, तो सृष्टि के मूल उपादानों के मूर्तिकरण का कारण मिलता है। अर्थात् सृष्टि के विधान में व्याप्त तीन गुण ही त्रिदेव के रूप में अवतरित हुए : सत्व—विष्णु, रज—ब्रह्मा तथा तम—शिव। आगे विष्णु के अवतारों की कल्पना में शिवत्व कारण भूत माना गया। फिर लीलागत कारणों का विकास हुआ। २४ अवतारों की कल्पना में 'लीला' का तत्व विद्यमान है। लीलाओं का भी विभाजन किया गया : कुछ लीलाएँ शिव परक हैं और कुछ अनुग्रह एवं भाव परक। इन दोनों ही कारणों से भगवान स्वेच्छा पूर्वक लीला-वपु धारण करते हैं।[2] इस प्रकार कारण भी अन्त: भावात्मक या सौन्दर्य-मूलक होते गये। किसी भक्त ने कामना की—भगवान को जन्म देने का श्रेय मिले, किसी की भावना थी—भगवान मेरे वात्सल्य का आलंबन बने, किसी ने पतिरूप में चाहा, किसी ने प्रेमी के रूप में। इस प्रकार की भावनाओं की पूर्ति के लिए तपस्या की गई : भगवान को 'तथास्तु' कहना पड़ा। इन सभी की पूर्ति के लिए भगवान ने अवतार लिया। स्वयं भी अपने समग्र रूप का स्वयं आस्वादन करने की इच्छा भगवान की हुई। इसी कारण अपने नित्य लोक, नित्य शक्तियों और परिवेश के साथ अवतरित होकर भगवान ने स्वयं अपनी ही भावात्मक लीलाओं का आस्वादन किया। इस प्रकार के भावात्मक कारण ही प्रमुख होते गये। कारण-कल्पना यहीं नहीं रुकी। भगवान के प्रति भक्त के मनमें उठते हुए भाव अवतार-अल्पना के दूसरे पक्ष को पुष्ट करने लगे। अन्तस्थ, अमूर्त भावों के अवतार की भावना भी मिलती है। राधा 'महाभाव' का अवतरित रूप है। गोपी, सखी सहचरी आदि सभी अन्य भावों के अवतरित रूप है। 'जाकी रही भावना जैसी' की उक्ति अनेक रूपों में चरितार्थ होने लगी। 'भावों' का प्राधान्य ज्यों-ज्यों होता गया, कृष्ण, राधा गोपियों का प्राधान्य भी भक्ति साधना में होता गया। इसी कारण से राम को आलंबन मानकर प्रवल रसिक-संप्रदायों का उदय हुआ। इन संप्रदायों ने तुलसी के द्वारा स्थापित शिव, मर्यादा, आचार आदि मूल्यों के स्थान पर शुद्ध भावात्मक मूल्यों की स्थापना कर दी। समस्त क्रम

---

१. परित्राणाय साधूनां, विनाशाय चदुष्कृताम्॥ [गीता]

२. स्वलीला कीर्ति विस्ताराद् भक्तेष्वनुजिघृक्षया।
अस्य जन्मादिलीलानां प्राकट्ये हेतुरुत्तमः॥ [लघुभागवतामृत]

कृष्णाश्रयी रसिक-संप्रदाय से लिया गया। भक्तिकाल तक आते आते अवतारवाद का मूल विकास इसी क्रम से होता गया। इसी क्रम में दुष्ट-दलन भगवान के अवतार का कारण नहीं रह गया। भक्तों पर अनुग्रह करके भगवान अपनी लीला का विस्तार करते हैं।

अवतारों के भावनानुसार प्रकार भी निश्चित किए गये। भावना की स्थिति तीन रूपों में मानी गई : स्वयं रूप, तदेकात्म रूप, और आवेश रूप। इस विधान में स्वयं रूप तो कृष्ण हैं। दूसरे प्रकार में मत्स्य, वराहादि लीलावतार आते हैं जो तत्त्वतः तो भगवद्रूप हैं, पर आकार में भिन्न हैं। इसी प्रकार भगवान कुछ महत्तम जीवों में आविष्ट भी रहते हैं। नारद, सनक, सनंदन आदि आवेशावतार कहे जा सकते हैं। इसी आधार पर संभवतः भक्ति के परवर्ती आचार्यों में भी भगवान के आवेश का अवतरण माना गया। 'स्वामिनी' रूप वल्लभाचार्य जी में एक आवेश का अवतार ही है। इसी प्रकार चैतन्य महाप्रभु के रूप में कल्पना की गई।

पांचरात्र दर्शन में चतुर्व्यूह कल्पना भी एक प्रकार से अवतारवाद का ही एक रूप है। इसके अनुसार निर्गुणात्मक ही वासदेव हैं। जब वे जीव रूप में अवतार लेते हैं तो संकर्षण का अवतार प्रद्युम्न के रूप में होता है जो वास्तव में 'मन' का प्रतीक है। प्रद्युम्न से अनिरुद्ध का अवतार होता है, जो अहंकार है : श्री मद्भागवत में इस अनुक्रम का कुछ सामंजस्य किया गया प्रतीत होता है : भागवत पुराण के अनुसार भगवान के अवतार तीन प्रकार के होते हैं : पुरुषावतार, गुणावतार और लीलावतार। पुरुषावतार ये हैं : महत्तत्व के सृष्टिकर्त्ता संकर्षण (प्रथम पुरुष).निखिल ब्रह्मांड के अन्तर्यामी,प्रद्युम्न (द्वितीय पुरुष)एवं व्यष्टि जगत के अंतर्यामी अनिरुद्ध (अहंकार. तृतीय पुरुष)। वासुदेव स्वयं रूप है। गुणावतार ब्रह्मा-विष्णु-महेश हैं ही। लीलावतार चौबीस हैं। सूर ने 'पुरुष अवतार' का उल्लेख किया हैं : 'अपने आप करि प्रगट कियौ है हरि : पुरुष अवतार।" गुणावतारों के लिए "सूर' के उल्लेख ये हैं—

१. हरि सौ ठाकुर और न जन कौं।

× × ×

ब्रह्मा 'राजस' कौ अधिकारी. सिव 'तामस' अधिकारी।

२. विष्णु-विधि-रुद्र मम रूप एतीनि हू.

दक्ष सौं वचन यह कहि सुनियौ।

३. बिष्णु रुद्र ब्रह्मा हरि सब प्रेरक अंतरजामी सोई।

महत्त-त्त्व, मन, अहंकार आदि के संबंध में भी सूर ने जो कथन किये है, उनमें चतुर्व्यूह कल्पना का आभास मिलता है—

'आदि निरंजन निराकार' कोउ हतौ न दूसर।
रचौं सृष्टि विस्तार 'भई इच्छा' इह औसर॥
निर्गुण तत्त्व तें 'महत्त-त्त्व', महत्तत्व तें 'अहंकार।'
'मन' इन्द्रिय शब्दादि पंचौ तातें कियौ विस्तार॥

इस प्रकार पांचरात्र और भागवत पुराण की चतुर्व्यूह कल्पना, सृष्टि विस्तार, तथा अन्य लीलावतारों की गाथाएँ 'सूर' साहित्य में मिल जाती हैं।

४. देव-मन्दिर—

यज्ञ-यागादिकों के स्थान पर देव-मन्दिरों की भी स्थापना होती मिलती है। कुछसंप्रदायों में मठ और गुहाएँ संगठन के केन्द्रों के रूप में मिलते हैं। देवालयों की कल्पना भी दिव्य रूप में की गई। दक्षिण में देवालयों के निर्माण में वैकुण्ठ, स्वर्ग आदि के प्रतीकों की योजना होने लगी। 'देवालय' भगवान के नित्यधाम के प्रतीक माने गए : इसमें भगवान का विग्रह विराजमान है। इसी में भगवान की लीलाओं का क्रम चलता है। पुराणों में यह भी कल्पना मिलती है कि मन्दिर भगवान का शरीर है। वास्तव में स्वयं भगवान ही मन्दिर के रूप में अवस्थित हैं।[1] शैव, सौर, वैष्णव मन्दिरों का प्रतीक विधान अलग अलग भावनाओं का प्रतिनिबित्व करता था। मन्दिर की विश्व रूपता का परिचय इस उद्धरण से प्राप्त हो सकता है: "इस विश्वात्मक प्रासाद में 'जगती' आधार चत्वर से लेकर 'आमलक' के ऊपर स्थित चक्र, त्रिशूल, आदि प्रतीकों तक जीवन का उत्तरोत्तर विकास-क्रम प्रदर्शित होता है। इसकी तीन भूमिकाएँ हैं, जिनकी सूचना के लिए तीन 'आवरण' रहते हैं। सबसे नीचे के आवरण में भगवान तथा उनके पार्श्व देवों की 'भोग मूर्तियाँ' अंकित रहती हैं। मध्यम आवरण में संहार मूर्तियाँ होती हैं। इनमें भगवान आसुरी प्रवृत्तियों के प्रतीकों का संहार करते हुए दिखाए जाते हैं। सर्वोच्च आवरण में भगवान की 'योग मूर्तियाँ' होती हैं। इन आवरणों के नीचे तथा इधर-उधर सिद्ध, गंधर्व और अप्सराओं की भक्ति एवं उत्साह पतित पुरुष की मूर्तियाँ उत्कीर्ण रहती हैं।[2] इस प्रकार सभी संप्रदायों के मन्दिर-निर्माण का शास्त्र विकसित हुआ।

---

१. अग्नि पुराण ६१।२६-२७।

२. डा० रामरेश वर्मा, हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० ८८-८९

भवन-निर्माण कला तथा मूर्ति कला का मिला-जुला रूप चलता रहा। दक्षिण में विधि-विधान से बने मन्दिर मिलते है। वे एक प्रकार से समस्त सृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं। इष्ट-विग्रह के अतिरिक्त स्तंभों और भित्तियों पर अनेक मूर्तियाँ बनी होती हैं। 'गोपुर' भी विविध मूर्तियों से भरा रहता है। इस प्रकार वास्तुकला और मूर्तिकला ने वैष्णव भक्ति को विशद सज्जा प्रदान की और भक्ति-भावना ने इन कलाओं को नव जीवन दिया।

पूर्वी भारत के मन्दिरों में इतना जटिल कला-विधान प्राप्त नहीं होता। उनमें कमल आदि के प्रतीकों का विधान तो मिलता है। ब्रज के मन्दिरों की कला में भी निकुंज-भावना की प्रतिच्छाया मिलती है। स्तंभों और भित्तियों पर मूर्ति के स्थान पर फूल, पत्ते और लताओं की योजना मिलती है। वल्लभ संप्रदाय के मन्दिरों में भी कलागत सरलता ही अधिक है। राजस्थानी चित्रण कला का योगदान अवश्य मिलता है। जिस प्रकार अजन्ता की चित्र-कला वास्तुकला का शृङ्गार कर रही है, इसी प्रकार वल्लभ संप्रदाय के मंदिरों में भगवान की मधुर या मंगलमयी लीलाओं के भित्ति चित्र मिलते है। साथ ही लीला गान की गूँज भी मन्दिर के वातावरण को कलात्मक बना देती है। दक्षिण के मन्दिरों में वेद, सांप्रदायिक साहित्य, प्रबंधम आदि अनुगूँज मन्दिर के वातावरण को गंभीर दार्शनिकता से भर देती है। बंगाल या ब्रज के मन्दिरों में नाम संकीर्तन या लीलागान मिलेगा। इससे वातावरण अधिक भावात्मक और कलात्मक रहता है।

'सूरदासजी' की काव्य साधना 'गिरिराज' जी पर स्थित श्रीनाथ जी के मन्दिर आश्रय में चलती रही। श्रीनाथजी वल्लभ संप्रदाय के सेव्य थे। आज कल यह मंदिर रिक्त पड़ा है। श्रीनाथजी का विग्रह अब नाथद्वारे में प्रतिष्ठित है। मुस्लिम असहिष्णुता के समय में श्रीविग्रह को वहाँ ले जाया गया। इस प्रकार के न जाने कितने मंदिर भक्त कवियों के लिए प्रातिभ साधना के केन्द्र बन गए।

५. लोकभाष्य साहित्य का प्रामाण्य—

दक्षिण भारत में लोक भाषाओं में रचित ऐसा प्रचुर साहित्य है, जो भक्ति संप्रदायों में मान्य रहा : संप्रदाय की यदि एक आधार शिला प्रस्थानत्रयी की थी, तो दूसरी भाव प्रवण लोकभाषा साहित्य की। भक्ति संप्रदायों के अतिरिक्त अन्य शैव, शाक्त आदि संप्रदायों में भी लोकभाषा-साहित्य की प्रतिष्ठा थी। इसका वहुत सा भाग जव भी प्रकाशित है। इन लोक भापाओं में से प्रायः सभी आर्य-भापा के विकसित रूप ही थे। पर इन रूपों के वोलने

वाले सभी आवश्यक रूप से आर्य आचार-विचार से सम्बद्ध नहीं थे : उनके संस्कारों में अनेक आर्यपूर्व या आदिम तत्त्व बने हुए थे। इनकी अभिव्यक्ति इनके द्वारा गृहीत आर्य भाषाओं के माध्यम से भी होती रही। जहां संस्कृत धर्म सिद्धान्तों की बौद्धिक पीठिका प्रस्तुत करती रही, वहां लोक भाषाएँ निश्छल आर्य एवं आर्येत्तर भाव धाराओं को सँजोए रहीं। आर्येतर भाषाओं में भी ये भाव परम्पराएँ अक्षुण्ण रूप से चलती रहीं। यही कारण है कि जहाँ भक्ति संप्रदायों ने दार्शनिक या बौद्धिक पीठिका 'प्रस्थानों' के संस्कृत-बद्ध सिद्धान्तों से बनाई, वहाँ भावात्मक संरचना लोकभाषा-साहित्य से की गई।

देश के अन्तराल में प्रवाहित आर्य और आर्येतर भाव धाराओं को संस्कृत के एक काव्य रूप ने प्रश्रय दिया :-यह काव्य रूप 'पुराण' है। इनमें दार्शनिक सिद्धान्तों की रूपकात्मक या प्रतीकात्मक परिणतियाँ, लोक मानस में प्रतिबिंबित इतिहास-धाराएँ, आर्य और आर्येत्तर संस्कृतियों के वाचक आख्यान-उपाख्यान और विविध जातियों का उत्थान-पतन 'पुराण' नामक साहित्य-विधा के विषय बने ; संस्कृत में होते हुए भी इनकी शैली जनोनुकूल रही। इस दृष्टि से दार्शनिक साहित्य या शास्त्रीय साहित्य दोनों की शैली से यह विशिष्ट रही। पर इनमें आये हुये आर्येत्तर तत्त्वों का भी आर्य संस्कार या उनका आर्य तत्त्वों में विलयन ही किया गया है। केन्द्र वेद-वेदान्त की विचार-धारा का ही है। इस केन्द्र का वृत्त-विकास ही पुराण साहित्य है। बहुत से मौखिक भाव-विचार इस काव्यरूप में संगृहीत हो गये। इस प्रकार संस्कृत के अन्तर्गत ही एक लोकाभिमुख भाषा शैली 'पुराणों' को जन्म दे रही थी। 'पुराणों' के अन्तर्गत और स्वतन्त्र रूप में भी 'स्तोत्र' काव्य रूप प्रगट होने लगा।

वेद विरोधी विचारधारा भी लोकभाषा में अपना स्थान बना रही थी। अनेक वेद विरोधी साधनाओं और संप्रदायों का प्रचार साहित्य लोकभाषा और लोकगत काव्य-रूपों में बद्ध है।

'पुराण' काव्यरूप इतना लोकप्रिय हुआ कि विष्णु, शिव, दुर्गा, जैन-धर्म, बौद्ध धर्म सभी में पुराण-साहित्य रचित होने लगा। इस विधा ने परस्पर विरोधी मतों में सामंजस्य के सूत्रों का भी संगठन किया। स्मार्तों में समन्वय की पहली झाँकी मिलती है। ये पंचदेवोपासक थे। इन पंचदेवों में शिव का भी स्थान था। अधिकांश पुराण पंचदेवोपासना को लेकर चले हैं। चाहे वैष्णव उपादान अनुपाततः इनमें अधिक हों, पर गरुड़ पुराण, अग्निपुराण जैसे

पुराण पंचदेवोपासना के समर्थक है। वैसे पुराणों का विभाजन भी देवों के अनुसार मिलता है।[1] इस विभाजन के अनुसार सबसे अधिक संख्या शैव पुराणों की है। विष्णु पुराण, भागवत, नारदीय और गरुड़ को वैष्णव पुराण कहा जाता है। अग्नि पुराण में अग्नि की और ब्रह्मवैवर्त में सूर्य की महिमा का ज्ञान है।

'लीलागान' का माध्यम होने से लोकभाषा साहित्य का प्रामाण्य और भी वढ़ गया। लीलागान की प्रेरणा और उसके लिए विषय अधिकांश भागवत से प्राप्त हुए। भागवत भावुक कवियों के लिए बाइविल वन गई। 'सूर' के शब्दों में भागवत यह है—

निगम कल्पतरु सीतल छाया।
द्वादस पेड़, पुष्टि घन पल्लव, त्रिगुन तत्त्व व्यापै नहि माया॥
फल अति मधुर, सरस पुष्पयुत, अध्याय तीन सत पैंतीस शाखा।
सुन्दर श्लोक सहस्त्र अष्टादस, श्रीमद्भागवत उत्तम भाषा॥
पाँच लाख पुनः सहस्त्र छहत्तार, अक्षर प्रांत है जु पत्रा।
अघ अरु अज्ञान दूर करन कौं, एक एक अक्षर है जु मंत्रा॥
नवधा भक्ति, चारु मुक्ति-फल, ज्ञान-बीज अरु ब्रह्म रस मीता[2]।
'सूरदास' श्रीमद्भागवत भक्ति, गद् गद् कंठ कोउ प्रेमीजन पीता॥

६. लीला विधान : लीलागान—

देवालयों में प्रायः दो प्रकार की मूर्तियाँ मिलती है : अचल और चल। स्थिर मूर्ति भगवान के स्वयं रूप का प्रतीक है। लीला भावना चल-मूर्तियों के माध्यम से सिद्ध होती है। विविध लीलाओं के लिए ये मूर्तियाँ इधर-उधर ले जायी जा सकती है। देवालयों में सभी प्रकार की क्रियात्मक लीलाओं का विधान मिलता है। गर्भग्रह होता है। इसमें अंधकार और प्रकाश का मिश्रण होता है। इसका उद्देश्य एक रहस्यमय वातावरण उत्पन्न करना है जिसमें भगवान के कूटस्थ रूप की रहस्य लीलाएँ सम्पन्न हो सकें। इसी प्रकार व्रज के रसवादी मंदिरों में रास मंडल या मंडपों का विधान है : यहाँ भगवान की रसमयी रासलीला संपन्न होती है। मन्दिरों में लीला-रूप को विविध प्रकार से संपन्न किया जाता है।

---

१. १० शैव पुराण + ४ ब्राह्म पुराण + २ शाक्त पुराण + २ वैष्णव पुराण = १८ [स्कंद पुराण, केदार खंड]
२. प्रभुदयाल मीतल द्वारा, 'सूर निर्णय', पृ० २७१ पर उद्धृत।

इसके अतिरिक्त भगवान की लीलाओं का गायन देवालयों में प्रमुख स्थान रखता है। इस गायन में काव्य और संगीत का योगदान रहता है। वल्लभ संप्रदाय के मन्दिरों में रागात्मक लीलागान का महत्वपूर्ण स्थान है। 'सूर' का साहित्य एक प्रकार से लीलागान के रूप में ही प्रस्तुत हुआ है। लीलागान एक विशिष्ट काव्य रूप ही बन गया। इसे 'कीर्तन काव्य' भी कहा जाता है।

लीलागान संस्कृत में भी होता था और लोक भाषा में भी। श्री संप्रदाय के मन्दिरों में 'प्रबन्धम' लोक भाषा में रचित साहित्य है। इसके द्वारा लीलागान संपन्न होता है। साथ ही त्यागराज. अन्नमाचार्य जैसे भक्त कवियों के संगीत का गायन भी दक्षिण के मन्दिरों में लोक भाषागत लीला-गान की परम्परा को सजीव करता हुआ मिलता है। क्षेमेन्द्र का दशावतार चरित. जयदेव का गीत गोविन्द. और लीलाशुक का 'कृष्ण-कर्णामृत' लीलागान के संस्कृत रूपों के परिचायक हैं। गुजरात के एक कवि रामकृष्ण ने 'गोपाल केलि चन्द्रिका' लिखी। विद्यापति के एक पूर्ववर्ती कवि ने 'पारिजात हरण' की रचना की। इसमें मैथिली के लोक गीतों का भी समावेश है। इस प्रकार लौकिक गीतों का भी योगदान होने लगा। 'गीत गोविन्द' की शैली में लोकगत संस्कार भी मिलते हैं। मात्रिक छन्दों का प्रयोग. ध्रुवक टेक का व्यवहार. अंत्यानुप्रास-तुक आदि का प्रयोग संस्कृत शैली को एक विशेष भावात्मक मनःस्थिति के अनुकूल बनाने के प्रयत्न का ही परिचय देते हैं। ये विशेषताएँ इस शैली को संस्कृत के सामान्य साहित्य से पृथक करती हैं। इसके अतिरिक्त विद्यापति. सूर. परमानन्द दास. हरिव्यास जैसे कवियों ने लोक भाषा के माध्यम से लीलामृत प्रवाहित किया। अनेक लोक गीतों के रूप भी ग्रहण किए गए। वैष्णव भक्ति का प्रवाह लोक काव्य के रूपों में भी भर गया। हिमाचल की तराई में गाये जाने वाले कृष्णाभ्रमाली. शुक्लबमाली. तथा ब्रज में गाए जाने वाले होली-गीत, रसिया और कन्हैया-ख्याल जैसे गीतों में भी लीलारस उच्छलित हो गया। वल्लभ आदि आचार्यों ने इन गीतों को कुछ शास्त्रीय संस्कार के साथ ग्रहण किया।[1] इन्हीं का एक रूप 'सूर' की कल्पना में जगा। इसी पद्धति पर अष्टछापी कवियों ने अनेक पदों की रचना की। इस प्रकार लोकगीत और शास्त्रीयता संयुक्त रूप कला की नवीन

१. डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी. सूरदास, पृ० ६१-६६. हिन्दी साहित्य पृ० १६७-१७२।

संभावनाओं का उद्‌घाटन करने लगा। 'लीलागान' ने नवीन काव्य रूपों को जन्म दिया : राग-रागिनियों का प्रयोग हुआ।

लीलागान की परम्परा प्राचीन है। देवालयीय अगाम परम्परा में आरंभ से ही इस कला का विलास मिलता है। गायन और वाद्य के साथ-चरित्र के गायन की परम्परा का उल्लेख पतंजलि ने भी किया है। इस सगीत विधान के साथ अभिनय भी चलता था। नृत्य भी होता था।[1] महाभाष्य-कार ने इन रूपों को 'ग्रंथिक' नाम से उद्‌धृत किया है। इनके अनुसार संपूर्ण कृष्ण-कथा का सस्वर अभिनय होता था। 'समाज' और 'यात्रा' के समय इस प्रकार के संगीतात्मक अभिनय का विधान विशेष रूप से होता था। वात्स्यायन ने 'समाज' के समय सरस्वती के मन्दिर में इस प्रकार के देव-चरित के अभिनय का उल्लेख किया है।[2] शैव उत्सवों में मद्यपान, गान, वादन आदि के विधान का परिचय महाभारत से मिलता है।[3] कौटिल्य ने यात्राओं के समय इसी प्रकार की योजनाओं का वर्णन किया है।[4] आज भी बंगाल में तथा अन्य मन्दिरों में इस प्रकार की 'यात्राएँ' प्रचलित हैं। वल्लभ संप्रदाय में प्रति वर्ष 'चौरासी कोस' की यात्रा करने का नियम है। इस यात्रा का नेतृत्व वल्लभ संप्रदाय के कोई-न-कोई गोस्वामी ही करते हैं। जहाँ यात्रा रात्रि को विश्राम करती है, वहाँ उस स्थल से सम्बंधित लीला का गायन अभिनय रास मंडली करती है। 'रास लीला' का ब्रज के सभी संप्रदायों में प्रचलन है। इन अभिनयों के साथ सूरदास, परमानंद दास आदि कवियों के पदों का गायन रहता है। 'रास लीला' की परम्परा भी इसी प्रकार की है।

७—लोक भाषा

एक महान् सांस्कृतिक और धार्मिक आन्दोलन भाषा संबन्धी दृष्टिकोण में भी परिवर्तन कर देता है। इस प्रकार का आन्दोलन भाषा की स्वाभाविक विकास-प्रवृत्ति को गति देता है। पालि और प्राकृत भाषाएँ वैसे स्वाभाविक भाषा-क्रम की ही स्थितियों का द्योतन करती है, पर वैदिक धर्म या ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध हुई धार्मिक क्रान्तियों ने इस क्रम में अधिक योगदान दिया।

---

१. कृष्णमाचरियर, हिस्ट्री आफ क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचरः पृ० ५३५

२. काम त्र. १।४।२६।

३. हाप्किन्स. एपिक माइयालाजी. पृ० ६५—२२०।

४: अर्थशास्त्र. १३।५।

इनको आश्रय देकर इनका मान्य-मूल्य बढ़ाया। बुद्ध के उपदेश पालि में ही लिखे गए। अशोक ने अपने शिला लेखों में इसी भाषा का प्रयोग करके धर्म-प्रचार किया। धर्माश्रय के साथ राजाश्रय भी मिला।[1] साहित्य में भी मान्यता हुई। संस्कृत की अपेक्षा इस भाषा को कोमल और काव्योपयोगी घोषित किया गया।[2] धर्म में बौद्धों ने पालि को, जैनों ने अर्द्धमागधी को प्रश्रय दिया। जैन महाराष्ट्री और जैन शौरसेनी रूप भी विकसित हुए। इसका तात्पर्य है जैन-धर्म की व्याख्या, उसका आचार-निरूपण आदि तो अर्द्धमागधी के माध्यम से हुए, पर धार्मिक साहित्य तत्कालीन साहित्यिक भाषाओं—शौरसेनी और महाराष्ट्री में हुआ। मराराष्ट्री मुख्यत: काव्य के लिए, शौरसेनी नाटकों के लिए विशेष रूप से मान्य थीं। मागधी और पैशाची में भी साहित्य-रचना हुई। अन्य प्राकृत विभाषाओं का भी नाटकों में प्रयोग मिलता है। बौद्धों की अपेक्षा जैनों का सिद्धान्तेतर साहित्य अधिक समृद्ध है। जैन धर्म के अनुयायी कवियों ने अनेक काव्य रूपों को अपनाया और प्राकृतों को प्रचुर साहित्य दिया। जैन महाराष्ट्री में विमल सूरि ने 'पउमचरिय' जैसी रचना प्रस्तुत की। यह जैन पुराणों की शैली में लिखा हुआ महाकाव्य है। जैन शौरसेनी में दिगंबर संप्रदाय का साहित्य विशेष रूप से मिलता है।

साहित्य की परिनिष्ठित प्राकृतें दो हैं। महाराष्ट्री तथा शौरसेनी। अधिकांश विद्वान इन्हें पृथक स्वीकार नहीं करते : एक प्राकृत के पद्य-काव्य तथा गद्य-नाटक में प्रयुक्त होने वाले ये दो रूप थे। दंडी ने महाराष्ट्री को प्रकृष्ट प्राकृत कहा है। शौरसेनी की कोई प्रमुख स्वतंत्र रचना तो नहीं हैं, पर नाटकों में इसके उदाहरण मिलते हैं। यही दशा मागधी की है। पैशाची में गुणाढ्‌य ने 'वड्‌ढकहा' की रचना की थी।

संस्कृत नाटकों में पात्र एवं परिवेश के अनुसार लोक भाषा प्रयुक्त होती थी। पद्य प्राय: महाराष्ट्री प्राकृत के इन नाटकों में रहते थे। मध्य वर्ग के पात्र, स्त्रियाँ और बच्चे शौरसेनी में बोलते थे एवं निम्न वर्गों के लिये मागधी

---

१. कलिंग के जैन राजाओं, आंध्रवंशी राजाओं, कश्मीरराज प्रवरसेन, तथा यशोवर्मन ने प्राकृतों को राजाश्रय दिया या इनके कवियों को सम्मानित किया।

२. परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो।
पुरुस महिलाणं जेत्तिअ मिहंतरं तेत्तिअ मिमाणं॥ [राजशेखर, कर्पूर-मंजरी, १।८]

का प्रयोग स्वीकृत था।[१] शकारी का प्रयोग भी यत्र-तत्र मिलता है।[२] अश्वघोष के नाटकों में भी पात्रों की भाषा वर्गों और सामाजिक स्तर के अनुसार नियोजित है।[३] भास के नाटकों में प्राय: शौरसेनी का ही प्रयोग है। वैसे मागधी और अर्धमागधी का प्रयोग भी भास के कुछ नाटकों में है।[४] कालिदास के नाटकों के गीत महाराष्ट्री में हैं, तथा शौरसेनी और मागधी पात्रानुकूल प्रयुक्त हैं। शौरसेनी की विभाषाओं-प्राच्य तथा आवंती आदि का भी प्रयोग संस्कृत नाटकों में मिलता है। शकारी और ढक्की भी मिलती हैं। विक्रमोर्वशीय में अपभ्रंश भी प्रयुक्त है। नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत प्रचलित रूप में नहीं कृतिम रूप में ही मिलती है।

प्राकृत का परिनिष्ठित रूप जन-जीवन से दूर होता गया। 'देशी भाषा' इस भाषा से दूर पड़ने लगी। देशी भाषा को कई नामों से पुकारा जाता था : अपभ्रंश, अवहंस, अवब्भंस,अवहट्ठ, अवहत्थ आदि। इन शब्दों से'देशी भाषा' और वैयाकरणों की अनादर भावना का द्योतन होता है। भरत में एक उकार बहुला विभाषा का संकेत मिलता है।[५] सम्भवत: यह आभीर-गिरा थी। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि इस भाषा के विकास में विदेशी जातियों का भी योगदान था। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा देशी विदेशी तत्त्वों और सौन्दर्य से युक्त होने लगी। .

मध्ययुग में अपभ्रंश की परम्परा ब्रजभाषा के रूप में विकसित हुई। 'ऐसा जँचता है कि अपनी बेटी ब्रजभाषा में शौरसेनी अपभ्रंश को नवीन कलेवर मिला, नये आयुकाल को उसने प्राप्त किया।[६]' इसकी व्यापकता सभी ने स्वीकार की है। सूर-पूर्व युग से भारतेन्दु युग तक यह काव्य के रूप में

---

१. शाकुंतल में मछुआ तथा राजसेवक मागधी का प्रयोग करते हैं। मृच्छकटिक में मागधी का प्रयोग स्थावरक, कुंभीलक, वर्धमानक. रोहसेन तथा चांडाल करते मिलते हैं।
२. मृच्छकटिक में राजश्याल संस्थानक शकारी में ही बोलता है।
३. खलपात्र प्राचीन मागधी का, गणिका तथा विदूषक प्राचीन शौरसेनी का, तथा तापस प्राचीन अर्द्धमागधी का प्रयोग करते मिलते हैं। सं० ड्रा० पृ० ८६—८७।
४. वही. पृ० १२२।
५. ना० शा० १८।४८।
६. डा० सुनीतिकुमार चटर्जी—पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ. पृ० ८०।

एक व्यापक क्षेत्र में समादृत रही। 'व्रज की वंशी ध्वनि के साथ अपने पदों की अनुपम झंकार मिलाकर नाचने वाली मीरा राजस्थान की थीं, नामदेव महाराष्ट्र के थे, नरसी गुजरात के थे, भारतेन्दु भोजपुरी भाषा क्षेत्र के थे। व्रजभाषा को अपनाकर एक से एक कवियों की रससिद्ध वाणी से उसे इतना समृद्ध बना देने वाले पुष्टिमार्ग के आचार्य भी दाक्षिणात्य थे। बिहार में भोजपुरी, मगही और मैथिली भाषा क्षेत्रों में भी व्रजभाषा के कई प्रतिभाशाली कवि हुए हैं।[१]' इस प्रकार सारे उत्तरी भारत की काव्यभाषा व्रजभाषा बनी। व्रजभाषा कच्छ तक समादृत थी। वहाँ के महाराव लखपत बड़े विद्या-प्रेमी थे। व्रजभाषा के प्रचार के लिए उन्होंने एक विद्यालय खोला था।[२] बंगाल के कवियों ने भी व्रजभाषा में कविताएँ लिखीं। मराठा पोवाड़ा या युद्ध-गीत के लेखक भी कभी-कभी व्रजभाषा का प्रयोग करते थे।[३] इस प्रकार एक व्यापक लोक भाषा भक्ति आन्दोलन के साथ संबद्ध हो गई। सूर का संबंध इसी भाषा से है।

सूर की मातृभाषा व्रजभाषा थी। दिल्ली और आगरे के बीच व्रजभाषा ही प्रचलित थी।[४] सूर संभवतः अपने जीवन में इस क्षेत्र से बाहर गए नहीं। सूर के पूर्व भी व्रजभाषा काव्य और संगीत के क्षेत्र में लोकप्रिय हो चुकी थी। 'सूर' ने अपनी प्रतिभा से इस भाषा का विशेष संस्कार किया। 'उनके पदों की भाषा व्रजजनपदीय होते हुए भी साहित्यिक है और साहित्यक होते हुए भी व्रजजनपदीय।[५]' इस प्रकार सूर को भाषा की भी एक सुदृढ़ पृष्ठभूमि मिली।

---

१. डा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र—नई धारा – वर्ष ४-अंक ११-पृ० ६

२. अगरचन्द नाहटा - सुन्दर शृंगार की भाषा - 'भारती' - (ग्वालियर) अप्रैल १९५५—पृ० ३१२—१४

३. डा० सुनीतिकुमार चटर्जी पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ—पृ० ८०

४. पूर दिल्ली और ग्वालियर बीच व्रजादिक देस।
पिंगल उपनायक गिरा तिनकी मधुर बिसेस।।।। (वंशभास्कर: सूरजमल)

५. डा० प्रेमनारायण टंडन—सुर की भाषा पृ० ४७।

दो

सूर का व्यक्तित्व

- '[अकबर से] जो आजु पाछें हमको कबहूँ फेरि मति बुलाइयो और मोसों कबहूँ मिलियो मत।'
- 'तब श्री महाप्रभून जी ने कह्यो जो अब तो सूरदास तुममें कछू अविद्या रही नाहीं।...'
- '...और सूरदास को जब श्री आचार्य जी देखते तब कहते जो—आवो 'सूरसागर—सो ताको आशय यह है, जो—समुद्र में सगरो पदार्थ होत है, तैसे ही सूरदास नें सहस्त्रावधि पद किये।'
- 'श्री आचार्य जी आप तो 'सूर' कहते। जैसे—सूर होय सो रण में सों पाछो पांव नांहि देय, जो सबसों आगे चलै। तैसेंई सूरदास जी की भक्ति दिन-दिन चढ़ती दिशा भई।'
- 'पुष्टि मार्ग को जहाज जाता है, जाकों कछू लेनी होय तो लेउ।'

वार्ता

सूर का व्यक्तित्व

२

व्यक्तित्व का विश्लेषण कभी आन्तरिक चेतना-केन्द्रों और स्नायविक संकायों के विकलन के आधार पर किया जाता है और कभी बाह्य परिस्थितियों के विश्लेषण को आधार बनाया जाता है। आन्तरिक केन्द्रों की खोज में कभी विकल राग-तंत्रियों की छटपटाहट सामने आती है, कभी चेतना के स्वाभाविक विकास को जटिल 'ग्रन्थियाँ' जकड़ती हुई मिलती है। और कभी इस आन्तरिक विक्षोभ के कारणों को बाह्य परिस्थितियों में खोजा जाता है। कभी कृतित्व या अन्य अभिव्यक्तियों का अध्ययन व्यक्ति के रहस्यों को प्रकट करता है।

'सूर' के व्यक्तित्व-विश्लेषण में सबसे आकर्षक आधार उनका अन्धत्व[1] प्रतीत होता है। विकलांगता हीनता-ग्रन्थि को जन्म देती है। नेत्र जैसी इन्द्रिय की हीनता से उत्पन्न ग्रन्थि और भी जटिल और कटु होगी। 'सूर' की हीनता, ग्रस्त चेतना सूर-साहित्य में यत्र-तत्र रो पड़ी है।[2] सूर के विनय-साहित्य का स्वर अन्धत्व-जन्य हीनता से विचलित हो उठा है।[3] इस बात को लेकर वह

---

१. सूर का अन्धत्व असन्दिग्ध है। केवल जन्मान्धत्व विवादास्पद है।

२. क–यहै जिय जानिकें अंध भाव त्रासतें, 'सूर' कामी-कुटिल सरन आयौ।
(सूरसागर १।५)
ख–'सूर' कहा कहै द्विविध आँधरौ, बिना मोल कौ चेरौ।
ग–'सूर' कूर आँधरौ हौं द्वार पर्यौ गाऊँ। (सूरसागर ६।१६६)

३. क–कर जोरि 'सूर' बिनती करै, सुनहुन हो रुकुमिनी रवन।
कटौ न फंद मो अंध के, अब बिलब कारन कवन॥
(सूरसागर, १।११८०)
ख–सूरदास अंध अपराधी, सो काहे बिसरायो (सूरसागर, १।१६२)

अपने इष्ट से झगड़ा भी है।[1] अनुभूतियों के वाह्य संदर्भ से चाक्षुप सम्पर्क न हो सकने पर सूर ने एक व्यंग्यपूर्ण विक्षोभ का भी अनुभव किया है। वात्सल्य और शृङ्गार दोनों ही भाव-स्थितियों में नेत्र-हीनता वाधा वनी है।[2] उसकी यही विनय है कि उसे आगे भी नर-देह प्राप्त हो और उसे दो आँखें भी मिलें। अन्धत्व निश्चित ही हीनता-ग्रन्थि का जनक है। यह हीनता–ग्रन्थि जन्मान्ध होने पर एक प्रकार की परिणति प्राप्त करती है, और पीछे अन्धा होना एक अन्य प्रकार से दिशा निश्चित करता है। अन्तर्साक्ष में जन्मान्धत्व स्पष्ट नहीं प्रतीत होता। 'सूर निर्णय' में कुछ नवीन पदों की सूचना दी गई है, जिनसे सूर का जन्मांध होना सिद्ध होता है।[3] यद्यपि इस प्रकार से प्राप्त कीर्तन-पदों की प्रामाणिकता अभी पूर्णतः स्वीकृत नहीं है, फिर भी इन पदों की भाषा और भावभूमि सूर के प्रामाणिक पदों से साम्य अवश्य रखती है। वहिर्साक्ष में तो 'सूर' को प्रायः जन्मांध माना गया है। रघुराजसिंह कृत 'रामरसिकावली' तथा मियाँसिंह कृत 'भक्त-विनोद' इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। इन दोनों ही ग्रन्थों में सूर को जन्मांध कहा गया है।[4] सांप्रदायिक वहिर्साक्ष अधिक विश्वसनीय हो सकता है। सांप्रदायिक लेखकों का सूर अथवा सूर सम्बन्धी अनुश्रुतियों के निकट का संबंध था :

---

१. 'सूरदास' सौं कहा निहोरौं नैननि हू की हानि। (सूरसागर, ६।१६६)

२. क–द्वै लोचन सावित नहिं तेऊ।
   विनु देखें कल परति नहीं छिनु, एते पर कीन्हीं यह टेऊ।
   ख–रास-रस-रीति नहिं वरनि आवै।
   इहै निज मंत्र, यह ज्ञान, यह ध्यान है, दरस दंपति भजन सार गाऊँ।
   इहै माँगौं वार-वार, प्रभु 'सूर' के नयन द्वै रहौ, नर-देह पाऊँ।

३ क–सूर की विरियां निठुर होइ वैठे, जन्म अंध कर्‌यो। सूर निर्णय, सम्पादक, प्रभुदयाल मीतल, पृ० ७४
   ख–रह्यो जात एक पतित जनम को आँधरो सूर सदा को।
   (वही, पृ० ७५)
   ग–करमहीन जनम को अंधो मोतें कौन न कारो। (वही, पृ० ७६)

४. क–जन्मत तें हैं नैन-विहीना। दिव्य दृष्टि देखहिं सुख भीना।
   (राम रसिकावली)
   ख–जनम अंध दृग ज्योति विहीना। जननि-जनक-कछु हरष न कीना।
   (भक्त विनोद)

श्री गोकुलनाथ जी रचित मूल चौरासी वार्ता सांप्रदायिक वहिर्साक्ष में सबसे प्रमुख है। इसमें अन्धत्व की सूचना तो मिलती है।[१] पर जन्मांधता का स्पष्ट संकेत नहीं है। इस वार्ता का भावात्मक विस्तार और अतिरिक्त सूचनाओं के आधार पर विशदीकरण हरिराय जी ने किया। हरिराय जी ने स्पष्ट रूप से सूर को जन्मांध कहा है। उन्होंने 'सूर' और 'अंध' में भेद किया : 'सूर' वह जो जन्म से नेत्र विहीन हो; 'अंध' वह जो पीछे अंधा हो।[२] फिर उन्हें स्पष्ट रूप से जन्मांध कहा गया—'सो सूरदास जी के जन्मत ही सों नेत्र नाहीं हैं।' हरिराय जी के इन स्पष्ट कथनों को अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता : उन्हें सम्प्रदाय की समस्त परम्परा का ज्ञान था। सूरदास जी का एक चित्र भी किशनगढ़ से प्राप्त हुआ है। इसका चितेरा सूर का समकालीन था। इस चित्र में सूर की आँखें नहीं हैं। इन सभी प्रमाणों के आधारों पर सूर को जन्मांध मानना ही समीचीन प्रतीत होता है।[३] सूर के समकालीन श्रीनाथ भट्ट ने 'संस्कृत मणिमाला' में सूर को जन्मांध कहा है—'जन्मांधो सूरदासोऽभूत्....।' प्राणनाथ कवि ने भी इसी प्रकार की उक्ति की है।[४] सूर की प्रतिभा को देखकर भी ऐसा विश्वास होता है कि उनकी शक्तियों की अन्तर्मुख साधना ही इतना पूर्ण विस्फोट कर सकी। जन्म से ही एक प्रमुख इन्द्रिय के हीन होने पर उसकी संचित शक्ति प्रातिभ-साधना को दिगंत-व्यापिनी बना सकती है।

'मूकं करोति वाचालं' वाली उक्ति अन्य कवियों में प्रभु के ऐश्वर्य निरूपण की औपचारिकता का अंग हो सकती है। 'सूर' के हीनता-ग्रस्त व्यक्तित्व के लिए यह एक मार्मिक पुकार बन गई। उनकी आशा और उनके विश्वास को इस विरुद से समुचित संबल प्राप्त हुआ होगा। उनके विनय-

---

१. यह सूचना अकबर सूरदास भेंट प्रसंग में तथा सूर के अन्तिम समय के विवरण में प्राप्त होती है।

२. "जन्में पाछे नेत्र जाँय, तिनको आँधरा कहियै, सूर न कहियै, और ये तो सूर हैं।"

३. श्री प्रभूदयाल मीतल, 'सूर निर्णय', (मथुरा, २००८), पृ० ७६; डा० सत्येन्द्र 'सूर की झांकी', (आगरा, १९५६) पृ० ९६।

४. बाहर नैन विहीन सो, भीतर नैन बिसाल।
जिन्हें न जग कछु देखिवो, लखि हरि रूप निहाल॥

साहित्य में यही विश्वास उच्छलित है ।[1] सर्व-समर्थ प्रभु क्या नहीं कर सकते । उनकी कृपा से सब कुछ संभव है ।[2] यह विश्वास भौतिक परिणति के अभाव में एक वैज्ञानिक को तो संतुष्ट नहीं कर सकता : वह पिंड में आँखों को उदित होता नहीं देख सकता । पर अन्तर्ज्ञान की क्षतिपूरक प्रखरता, या अन्य किसी इन्द्रिय की शक्ति में वृद्धि हो जाना, एक स्तर पर मनोविज्ञानी को स्वीकृत है । दार्शनिकों के मतानुसार यही अन्तर्ज्ञान या स्वयं प्रकाश ज्ञान का विकास है । इसी का नाम दिव्यदृष्टि या अन्तर्दृष्टि है । 'सूर' में इस दिव्यदृष्टि का प्रकाश, प्रायः समस्त बहिर्साक्ष में बतलाया गया है ।

नाभादास जी ने 'भक्तमाल' में लिखा है कि ये अपनी दिव्यदृष्टि से भगवान की लीलाओं का अभ्यास पा सके ।[3] 'रामरसिकावलीकार' ने भगवान की दिव्य लीलाओं का आस्वाद इसी दिव्य दृष्टि के माध्यम से माना है—'दिव्य दृष्टि देखहिं सुख भीना ।' सामान्य रूप से 'सूर' के सम्बन्ध में ये बातें प्रचलित नहीं । प्राणनाथ ने भी अन्तर्चक्षुओं की विशालता का उल्लेख किया है : बाहर नैन विहीन सो भीतर नैन विसाल ।' कहा जाता है कि संप्रदाय में इनकी दिव्यदृष्टि की परीक्षा भी की जाती थी : श्रीनाथ जी के शृङ्गार का आंखों देखा जैसा वर्णन सूर करते थे । एक दिन परीक्षा के लिये श्रीनाथ जी का नग्न शृङ्गार किया गया और सूर ने गा दिया—'आज बने हरि नंगम नंगा ।' चौरासी वार्ता में दिव्य दृष्टि की परीक्षा के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख है—

"सो इनके हृदय में स्वरूपानन्द को अनुभव है । तासों जैसो तुम सिंगार करोगे सो तैसो ही पद सूरदास जी वर्णन करिकें गावेंगे । तासों भगवदीय की परीक्षा नाहीं करनी ।···सो सूरदास जी जगमोहन में बैठे हते । सो इनके हृदय में अनुभव भयो ।[4]" इस प्रकार संप्रदाय में अन्तर्प्रकाश ज्ञान और तज्जन्य अनुभूतियों के धनी सूरदास की प्रतिष्ठा थी ।

---

१. चरन-कमल बंदौं हरिराइ ।
   जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अन्धे को सब कछु दरसाई ।
२. हर जू तुमतें कहा न होइ ।
   × × × ×
   बोलै गूंग, पंगु गिरि लंघै, अरु आवै अंधा जग जोइ ।
३. 'प्रतिबिंबित दिवि दिष्ट, हृदय हरि-लीला भासी ।' (भक्तमाल)
४. 'अष्ट छाप की वार्ता', मथुरा, पृ० १७, १८ ।

जन्मांध सूरदास के जन्म से माँ-बाप खिन्न हुए।[१] सूर के प्रारम्भिक जीवन का कुछ आभास हरिराय जी के भाव प्रकाश से होता है। भाव प्रकाश के अनुसार सूर का जन्म एक अत्यन्त दरिद्र ब्राह्मण परिवार में हुआ।[२] जन्मांधत्व का संयोग सूर के वंश के दारिद्र्य से हुआ। कटुता बढ़ती गई। वंश वालों को सूर भार स्वरूप प्रतीत होने लगे। बाल्यकाल से ही जन्माँधत्व-जन्य हीनता से जिस बालक का अन्तर्मन एक कड़वी घुटन से भर गया हो, वह दरिद्रता और उपेक्षा की चोट से अवश्य ही तिलमिला गया होगा। घर का समस्त वातावरण जैसे सूर को धकेल रहा हो : वहां रहना कठिन होगया। छोटी अवस्था में ही सूर को गृह-त्याग करना पड़ा।[३] गृहत्याग का कोई कारण भाव-प्रकाश में नही दिया गया है। उपेक्षा और तिरस्कार से बड़ा और कौन सा कारण हो सकता है ? यह दारुण कारण किसी भी छोटी घटना से मिलकर निष्क्रमण की भूमिका तैयार कर सकता था। अपनी हीनता और सूर की अन्धता से सूर के माँ-बाप पीड़ित रहते थे। सूर के अपने अस्तित्व में एक व्यंग की पीड़ा घुलमिल गई। वे गृह-त्याग कर, सीही से चार कोस पर स्थित एक गांव में पेड़ के नीचे, तालाब के किनारे रहने लगे। मियाँसिंह ने एक और वार्ता दी है : ८ वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीत के अनन्तर सूर ने अपने माँ-बाप के साथ ब्रजयात्रा की और मथुरा से उन्होंने लौटना स्वीकार नहीं किया। पर, इस वार्ता को संदिग्ध माना जाता है।[४] तात्पर्य यह है कि उपेक्षा, हीनता और तिरस्कार से प्रताड़ित बाल सूर अधिक समय तक घर में न रह सका।

सूर का स्थान : एक पीपल के पेड़ के नीचे, तालाव के किनारे। वैराग्य-भावना की अस्फुट छाया उनके मुख पर। छोटी अवस्था ! इन सबका

---

१. जनम अंध दृग ज्योति विहीना। जननि जनक कछु हरष न कीना।
(भक्त विनोद)

२. कुछ विद्वानों ने सूर को भाट, ढाढ़ी या जाट भी कहा है। गो० यदुनाथ, श्रीनाथ भट्ट, प्राणनाथ तथा हरिराय जी के साक्ष आधार पर 'सूर' को ब्राह्मण ही माना जाता है।

३. हरिराय जी कृत 'भाव प्रकाश' के अनुसार गृह-त्याग छः वर्ष की अवस्था में हुआ और 'भक्त विनोद' के अनुसार आठ वर्ष की अवस्था में।

४. डा० दीनदयाल गुप्त—अष्ट छाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० १२४; प्रभुदयाल मीतल—सूर निर्णय, पृ० ७८।

एक आकर्षण ! सूर को एक बाल योगी की सी स्थिति प्राप्त हुई। गाँव का जन किसी आन्तरिक चमत्कार का दर्शन इस स्थिति में करता है। उपेक्षित और उत्पीड़ित सूर को अपने आस-पास एक मृदुल वातावरण का अनुभव हुआ। यहीं एक आकस्मिक चमत्कार घटित हुआ : 'सूर' ने स्थानीय जमीदार की कुछ खोई हुई गायों का पता बतलाया और वे मिल भी गईं। बस, प्रसिद्धि हो गई—सूर शकुन बतलाते हैं, 'सूर' की वाणी सिद्ध-वाणी है। जमींदार ने उनके खाने-रहने का प्रबन्ध कर दिया। चारों ओर से लोग शकुन पूछने या चमत्कार की आशा में आने लगे। इस प्रकार सूर पुज गये : अन्न, वस्त्र और द्रव्य की कमी न रह गई : सूर के विकल-विक्षुब्ध अहं ने एक शीतलता का अनुभव किया : तिरस्कार के प्रति मूक प्रतिहिंसा की चीख कुछ-कुछ शान्त हुई। सरदास 'स्वामी जी' बन गये। कुछ लोगों ने उनसे दीक्षा ली : कुछ उनके सेवक हो गये। प्रातः-सायं संगीत-कीर्तन भी जमने लगा। सूर का काव्य और संगीत उनके सिद्ध व्यक्तित्व का अतिरिक्त-आकर्षण बन गया। दरिद्रता की आरंभिक कटुता ऐश्वर्य की हलकी लहरों से घुलने लगी। उखड़े हुए व्यक्तित्व को पैर रखने के लिये धरती मिली। अब हीनता-ग्रस्त व्यक्तित्व के लिये दो मार्ग हुए : सिद्ध वाणी के चमत्कार के द्वारा अपनी क्षति पूर्ति करे या काव्य और गायन की प्रतिभा साधना से उच्चतर क्षतिपूर्ति का मार्ग पकड़े। सिद्धि और भक्ति में भी एक द्वन्द्व चलने लगा। भक्ति का संकेत प्रातिभ साधना की ओर था—लोकरंजन की ओर। सिद्धि की सफलता कृच्छ्र साधना पर आश्रित थी—संदिग्ध भी थी। सूर के अन्तर्द्वन्द्व का यही स्वरूप क्षतिपूर्ति के आरम्भिक क्षणों में घटित हुआ। इसी संघर्षपूर्ण स्थिति में सूर की अवस्था अठारह वर्ष की हो गई। सूर में वैराग्य भावना का जन्म तो हुआ, पर सिद्ध-जन्म मायाजाल में फँसी रही। इसकी सूचना उनके कुछ पदों में मिलती है। सत्य स्वरूप की खोज इस सबसे विलंबित हो गई।[1] 'वे एक दिन गये अलेखैं' जैसी उक्तियाँ पश्चाताप से विकल है। जब इस द्विविधा की मनःस्थिति को

---

१. जौ लौं सत्य सरूप न सूझत।

तौ लौं मन मनि कंठ बिसारें, फिरत सकल बन बूझत।

× × × ×

'सूरदास' जब यह मति आई, वे दिन गये अलेखैं।

कह जाने दिनकर की महिमा, अंध नैन बिनु देखैं॥

उचित मार्ग मिल गया, तब 'देर आये दुरुस्त आये' वाली कहावत चरितार्थ हुई। 'सूर' की वाणी—

चल्यौ सबेरौ आयौ अबेरौ, लैकर अपने साजा।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे मिलि हैं, देखत जम दल भाजा।।

इस प्रकार सूर ने अन्ततः द्विधा-ग्रस्त मनःस्थिति से छुटकारा पाया : इस स्थिति की चर्चा संभवतः सूर सम्प्रदाय में कभी-कभी करते रहे होंगे। इसीलिये यह अनुश्रुति प्रचलित होकर, हरिराय जी के 'भाव विलास' में अवतरित हुई।

"या प्रकार सूरदास तालाब पै, पीपर के वृक्ष नीचै, बरस अठारह के भये। सो एक दिन रात्रि को सोवत हते, ता समय सूरदास कौं वैराग्य आयौ। तव सूरदास जी जो अपने मन में बिचारे जो देखो मैं श्री भगवान के मिलन के अर्थ वैराग्य करिकें घर सों निकस्यौ हतौ सो यहाँ माया नें ग्रसि लियौ।... पाछें सूरदास एक पहरिकें लाठी लैकें उहाँ ते कूँच किये।....कितनेक सेवक संसार सों रहित हते सो सूरदास जी के संग चले।"

और सूरदास अपने कुछ सच्चे त्यागी सेवकों सहित मथुरा होते हुए गऊघाट पहुँचे।

उस गाँव के तालाब के किनारे पर रहने वाला सूर अब यमुना किनारे गऊघाट पर आ गया। 'सिद्धि' की ओर चलने वाला व्यक्तित्व भक्ति की भावना में डूबने-उतराने लगा। काव्य-साधना के लिए अधिक अवकाश मिलने लगा। स्वरचित पदों के संगीत में भक्ति की भावनाएँ झंकृत होने लगीं। इन झंकृतियों ने सूर की उपासना के क्षणों को आप्लावित कर दिया : 'सूर' के अन्तराल का 'अभाव', घनीभूत भाव-संचार की चोटें खाकर खिसकने लगा। विनय और दैन्य अब व्यक्तित्व के बोझ नहीं थे : उनको काव्य का उदात्त माध्यम प्राप्त हुआ : यह काव्य 'हरि' को निवेदित होने लगा। 'दैन्य के उदात्तीकरण का क्षण अधिक से अधिक भाव-विह्वल होता गया। अपनी हीनता अब विस्तृत होकर जीव-मात्र की पीड़ा प्रतीत होने लगी : प्रभु की ऐश्वर्य कल्पना विभिन्न स्रोतों में पुष्ट होने लगी। विनय-विह्वलता के क्षणों में कुछ ऐसी अनूठी उक्तियाँ भी निःसृत होने लगीं जिनमें इष्ट के साथ अधिक सामीप्य प्रकट हुआ है। उसने अपनी मूलभूत अंधत्व-जन्य-हीनता की झुँझलाहट को विशिष्ट विनयोक्तियों में ढाल दिया है। एक दिन वह झगड़ पड़ा : 'किन तेरौ गोविंद नाम धर्‌यौ' ? 'गोविंद' तो वह है जो इन्द्रियों का दाता है। और तुम

इतने निष्ठुर हो गये कि 'जन्म अंध कर्‌यौ'; एक दिन उसने कह दिया, 'तुमने औरों को कुछ भी दिया होगा, पर मेरे ऊपर आपका कुछ भी अहसान नहीं है। मुझे तो आपसे नेत्र भी नहीं मिले—

कहावत ऐसे त्यागी दानि।
चार पदारथ दिए सुदामहिं, अरु गुरु के सुत आनि।
रावन के दस मस्तक छेदे, सर गहि सारंग पानि॥
लंका दई विभीषन जन कों, पूरबली पहँचानि।
विप्र सुदामा कियौ अजाची, प्रीति पुरातन जानि॥
'सूरदास' सों कहा निहोरौ, नैनन हू की हानि॥

इस प्रकार की निर्भय, झुँझलाहट से भरी उक्तियों के कारण ही तुलसी की 'विनय' से सूर की विनय विशिष्ट हो जाती है। इनमें प्रभु के साथ समीप का सम्बन्ध व्यंजित है। अन्धत्व-जन्य-हीनता ने सूर की वाणी को खरा कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अन्तर्मुख व्यक्तित्व इष्ट के साथ और भी घनिष्ठ संबंधों की स्थापना करने को व्याकुल है। इसी व्याकुलता के कारण दैन्य और विनय की उक्तियों को सखा-भाव का संदर्भ प्राप्त होता सा प्रतीत होता है। इन घनिष्ठ संबन्धों की 'भावना' के लिए समुचित उपादान अभी नहीं जुड़ पा रहे थे: लीला पुरुष की लीलाओं का रहस्य जानना इस भावना की परिणति के लिए आवश्यक है।

इस समय तक सूर संगीत-कला में कुशल हो चुके थे। सूर की संगीत कुशलता को देखकर कुछ विद्वान यह मानने लगे कि वे पहले हरिदासी संप्रदाय में दीक्षित थे। व्रज के सभी संप्रदायों में संगीत साधना का एक प्रमुख अंग बन चुका था। संगीत में रुचि रखने वाले सभी भक्त हरिदास जी से सम्पर्क रखते थे। यह आश्चर्य की बात नहीं, यदि सूर के संगीत का परिष्कार इसी सम्पर्क का परिणाम हो। इस प्रभाव-सम्पर्क के प्रमाण में सूर की राधा, यमुना और वृन्दावन के प्रति भक्ति-आसक्ति की बात भी कही जाती है। 'सूर' को स्वामी भी कहा जाता था और यह उपाधि हरिदासी सम्प्रदाय में अधिक प्रचलित थी। इन दृष्टियों से सूर का हरिदासी संप्रदाय से कुछ संपर्क प्रतीत तो होता है, पर इसका कोई पुष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं है। इतना अवश्य माना जा सकता है कि 'सूर' का किसी माधुर्याश्रित संप्रदाय से कुछ संपर्क अवश्य था। उनके व्यक्तित्व में माधुर्य की एक अन्तर्धारा अवश्य प्रवाहित थी।

वल्लभाचार्य जी से यह धारा सीधे-सीधे सूर को नहीं मिली। इस अन्तर्धारा में तीव्रता तब आई, जब गो० बिट्ठलनाथ जी ने माधुर्य का समावेश सांप्रदायिक साधना में किया। संगीत और माधुर्य का स्रोत हरिदासी संप्रदाय को ही मानना आवश्यक और प्रामाणिक नहीं है "ब्रज उस समय अवश्य ही संगीत का गढ़ रहा होगा। इस युग में ब्रज के जिस व्यक्ति से भी परिचय प्राप्त करते हैं, वही संगीतज्ञ है।[१]" जिस समय गौघाट पर उनकी वल्लभाचार्य जी से भेंट हुई, सूर संगीत कला का अर्जन कर चुके थे।

गऊघाट के पास श्री वल्लभाचार्य जी की बैठक है। अड़ैल से ब्रज जाते हुए महाप्रभू यहाँ ठहरे। सूरदास जी को उनके एक सेवक ने सूचना दी : दक्षिण और काशी में मायावाद का खंडन करने वाले महाप्रभु वल्लभाचार्य जी गऊघाट पर पधारे हैं। उन्होने मायावाद का खंडन करके भक्तिमार्ग की स्थापना की है। सूर ने अपनी हीनता से निरन्तर संघर्ष करते हुए व्यक्तित्व को एक अत्यन्त महिमामय व्यक्तित्व से संपर्क करने की इच्छा हुई। जब आचार्य महाप्रभु भोजनादि से निश्चिन्त होकर बैठे, तब "सूरदास' जी उनके दर्शन के लिए गए। वार्ताकार ने इस प्रसंग को इस प्रकार लिखा है—

"तब सूरदास जी अपने स्थल तें आय कें श्री आचार्य जी महाप्रभु के दरसन कों आये। तब श्री आचार्य जी महाप्रभु ने कह्यौ जो 'सूर' आओ, बैठो। तब सूरदास जी श्री आचार्य जी महाप्रभून कौं दरसन करिकें आगै आय बैठे।"

सूर के क्षत-विक्षत और निरंतर संघर्षशील व्यक्तित्व को एक महान् व्यक्तित्व से जैसे मृदुल आह्वान मिला हो। यहां 'दरसन' शब्द के प्रयोग को देखकर कुछ विद्वान उनके सूरत्व में संदेह करते हैं। वास्तव में यह दर्शन चाक्षुष नहीं था, मानसिक था। आचार्य जी के सामने उपस्थित होना ही उनके दर्शन करना था। सूर के मन में आचार्य जी के व्यक्तित्व का एक बिम्ब अवश्य बन गया था : एक भावना मूर्त हो उठी थी। वही दर्शन है। आचार्य जी के आह्वान-शब्द एक ध्वन्यात्मक बिंब सूर के मन में प्रस्तुत कर रहे थे। यह बिम्ब आत्मीयता से सजल था। जहां 'सूर' सम्बोधन में बाह्य रूप से एक व्यंग्य प्रतीत होता है, वहाँ यह ध्वनि भी निकलती है कि महाप्रभु जी ने कहा हो : सूर होना अभिशाप नहीं; यह वरदान भी बन सकता है। इन भावनाओं की मूक झंकृतियाँ सूर के अन्तराल में हो ही रही थीं, कि सूर को सुनाई

१. डा० सत्येन्द्र, सूर की झाँकी, पृ० १०५।

स्वर मिले। सूर का समग्र व्यक्तित्व-हीनता के भार से मुक्त होकर आभार-नत हो गया। [१]

आचार्य जी ने 'सूर' को अपनी शरण में लिया। सांप्रदायिक विधि के अनुसार सूर दीक्षित हुए। 'सूर' के कानों में गुरुमुख से निर्गत अष्टाक्षर मंत्र 'नाम' गूँज उठा—'श्रीकृष्णः शरणं मम।' 'नाम' की ध्वनि और गुरु के उष्ण श्वास का अनुभव 'सूर' ने साथ-साथ किया।[२] दूसरी सांप्रदायिक औपचारिकता 'समर्पण-दीक्षा' है : वह भी सम्पन्न हुई।[३] तदनंतर लीला-अनुक्रम का कथन किया। 'दशम स्कंध की अनुक्रमणिका', भागवत की स्वचरित टीका सुवोधिनी' और भागवत-सार-समुच्चय रूप 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' के रूप में आचार्य जी ने निज प्रसाद दिया। सूर के सम्मुख समस्त गेय विषय की सीमाएँ निश्चित हो गईं। 'सूर' को लीला-रहस्य अवगत हुआ। 'सूर' का चेतन-अचेतन कृष्ण-लीलाओं से भर उठा। उनके अन्तर्चक्षुओं को सब कुछ दृश्य हो गया। वार्ता के अनुसार 'आचार्य जी ने तब पुरुषोत्तम सहस्रनाम सुनायौ। तब सूर को सम्पूर्ण भागवत की स्फुरना भई।' यह सब आचार्य जी के त्रिदिवसीय गौघाट-निवास काल में सम्पन्न हुआ।

---

१. श्री वल्लभ अबकी बेर उबारौ।
'सूर' अधम कौं कहूँ ठौर नहीं बिनु एक सरन तुम्हारौ।
× × × ×
मन रे तू भूल्यौ जनम गँवावै।
'सूरदास' वल्लभ डर अपने चरन-कमल चित लावै।
× × × ×
मन रे तैं आयुष वृथा गँवाई।
अजहूँ चेत कृपाल सदा हरि श्री वल्लभ सुखदाई।
'सूरदास' सरनागत हरि की और न कछू उपाई॥

२. अजहू सावधान किन होहि।
कृष्ण नाम सो मंत्र संजीवनि, जिन जग भरत जिवायौ।
वार बार ह्वै स्त्रवन निकट, तोहि गुरु-गारुड़ी सुनायौ॥

३. या में कहा घटैगौ तेरौ।
नंदनंदन कर घर कौ ठाकुर, आपुन ह्वै रहै चेरौ।
सर्व समर्पन 'सूर' स्याम कौं, यह साँचौ मत मेरौ॥

वहाँ से महाप्रभु वल्लभाचार्य जी गोकुल की ओर चले । 'सूर' गुरु के अनुवर्ती हुए। अब और कोई दिशा नहीं रही । 'सूर' आचार्य जी के साथ गोकुल गये । वार्ता में इस प्रसंग का कथन इस प्रकार है :—

"अब जो श्री आचार्य जी महाप्रभु ब्रज कौ पाँव धारे, सो प्रथम श्री गोकुल पधारे। तब श्री आचार्य जी महाप्रभून के साथ सूरदास जी हू आये । तब श्री महाप्रभुजी अपने श्रीमुख सौं कह्यौ जो सूरदास जी श्री गोकुल कौ दरसन करौ, सो सूरदास ने श्री गोकुल कौं दण्डवत करी । श्री गोकुल की बाल-लीला सूरदास जी के हृदय में फुरी । तब सूरदास जी ने विचार कियौ मन में, जो श्री गोकुल की बाललीला को वर्णन करिकैं श्री आचार्य जी महाप्रभून के आगे सुनाइये ।"

आचार्य जी कृष्ण की लीलाओं का रहस्य तो उद्घाटित कर ही चुके थे । गोकुल में आकर सूर के व्यक्तित्व ने बाललीलाओं की स्थली के साथ भावात्मक तादात्म्य किया । उनकी कल्पना में गुरु-निर्दिष्ट लीलाएँ सजग हो उठीं । श्री नवनीत प्रिया के सान्निध्य से यह पद बरबस निकल पड़ा ।

सोभित कर नवनीत लिऐ ।
घुटुरन चलत, रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किऐ ।
× × × ×
धन्य 'सूर' ऐकौ पल यह सुख, कहा भयौ सत कल्प जिऐं ।

इस प्रकार ब्रज में प्रविष्ट होते ही भावनाओं से अभिभूत मन में लीलाएँ मूर्त होकर प्रकट होने लगीं । लीलासक्ति के क्षणों की कल्प-व्यापी स्फीति का उन्हें अनुभव होने लगा । मूर्त-लीलाएँ काव्य की ध्वनि और संगीत के नाद से युक्त होकर दृश्य चित्रों की रेखाओं में आकर ग्रहण करने लगीं । 'अन्धत्व' ने पहली बार हार मानी । प्रत्येक पद दृश्य चित्र का आकार लिए है । लीला-विग्रह की भावना मात्र ने सूर की बन्द आँखों को खोल दिया । सूर को सारे रहस्य प्रकट दिखलाई देने लगे । गोकुल ने सूर को बाललीला-साहित्य की प्रथम प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान की । अनजानी किरणों ने भावना-बिंबों को जगमगा दिया । अनेक पद सूर की वीणा-लता से अनायास झर पड़े ।

और यह है 'श्रीनाथ जी द्वार' गिरि गोवर्धन का एक सुरम्य कक्ष ! आज भी वल्लभ संप्रदाय का यह ग्राम-जतीपुरा प्रमुख केन्द्र बना हुआ है । पर्वत पर आचार्य महाप्रभु जी का इष्ट-विग्रह प्रतिष्ठित था । यही 'सूर' का भौतिक और आध्यात्मिक गन्तव्य बना । सूर के लिए यह स्थल लीलासक्तिमयी

'सेवा' का स्थल बना। उनके शेष जीवन का अधिकांश भाग यहीं व्यतीत हुआ। यहीं सूर की मुक्त चेतना अनुभूति की इच्छा से उच्चतर तरंगियों का आरोहण करती गई। वार्ताकार ने इस क्षण का यह विवरण दिया है —

"श्रीनाथजी द्वार। तब सूरदास जी सों कह्यौ जो सूरदास....स्नान करिके श्री नाथ जी कौ दर्शन करि। तब सूरदास जी पर्वत ऊपर जाय के श्रीनाथ जी को दर्शन कीयो। तब आपने कह्यौ जो सूरदास कछु श्री नाथ जी को सुनावौ.... ।"

सूर के भ्रमित व्यक्तित्व ने अपनी विकलता अन्तिम बार व्यक्त की और अनुभव किया कि धृति और मुक्ति का क्षण आ पहुँचा। उन्होंने अपने भावात्मक यथार्थ को इस प्रकार व्यक्त किया—

अब हौं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम-क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल।

× × ×

कोटिक कला काछि दिखराई, जल-थल सुधि नहिं काल।
'सूरदास' की सबै अविद्या, दूरि करौ नँदलाल॥

पद की अन्तिम पंक्ति में सूर की आत्मा ही उबल पड़ी। उनके मन में अविद्या का अन्धकार अब नवीन आभा की चोटें खाकर तिलमिलाने लगा। वह बाहर भागने का रास्ता खोजने लगा। नवोदित प्रकाश और घनीभूत अन्धकार के इस द्वन्द्व में सूर एक क्षण रहे। इसके पश्चात् गुरुमुख से एक संकेत (Suggestion) प्राप्त हुआ।

'तब श्री महाप्रभु जी ने कह्यौ जो अब तो सूरदास तुम में कछू अविद्या रही नाँही। तातें कछू भगवद्यश वर्णन करौ।"

और इस शक्तिशाली संकेत ने सूर के मन को द्वन्द्वमुक्त कर दिया। यह 'द्विविध आँधरे' का जैसे ज्योति-संस्कार हुआ: चेतना को अन्तर्बाह्य अन्धत्व से छुटकारा मिला। गिरि गोवर्धन पर स्थित श्रीनाथ जी का मन्दिर सूर की भावित साधना का केन्द्र बन गया। सूर-काव्य की अनिद्य स्रोतस्विनी इसी स्रोत से प्रवाहित होकर, रसिकों के अँधेरे गह्वरों में प्रविष्ट होकर, ज्योति-निर्झरों की स्फूर्ति भरने लगी। श्रीनाथ जी को एक दिव्यदृष्टियुक्त अन्धा कीर्तनियां मिला: व्रजभाषा को एक अमर गायक मिला: वल्लभ संप्रदाय को एक 'जहाज' मिला: वल्लभाचार्य जी को अपनी भाव-साधना के एकान्त क्षणों का एक साथी मिला। इस प्रकार सूर के व्यक्तित्व का परिष्कार और पुनर्जन्म हुआ,

श्रीनाथ जी सूर के भ्रमित व्यक्तित्व के लिये आकर्षण केन्द्र बन गये। अनेक पदों में सूर ने अपनी भक्तिभावना उनको निवेदित की।[1]—या यों कहिये सभी पद उनको संबोधित किये गये। सूर के व्यक्तित्व का वाह्य परिवेश श्री वल्लभाचार्य जी के प्रेरक शब्दों से गूँज रहा था। 'सूर' का अन्तराल श्रीनाथ जी की छाया से आच्छादित था। उन्हें अन्तर्ध्वनि भी सुनाई देती थी। सूर को अपने आन्तरिक क्षणों में श्रीनाथ जी का साक्षात्कार जैसा होता था। उन्हें उनकी वरदान-वाणी भी सुन पड़ती थी—'स्याम कह्यौ 'सूरदास' सौं मेरी लीला सरस बनाय' अथवा 'तब बोले जगदीस जगत गुरु सुनहु 'सूर' मम गाथ।' ये स्वर सूर को भाव समाधि की स्थिति में सुनाई पड़ते थे। सूर संभवत: अष्टयाम भाव समाधि में लीन रहते थे। समस्त रस-कोष उमड़ कर समाधि और समाधि भाषा को स्नात कर देता था। अब उनका व्यक्तित्व अथाह-अकूल रसाम्बुधि का जीव था।

यह रस सागर श्री गिरि गोवर्धन की उपत्यका में उमड़ा था। यहाँ से लगभग एक मील की दूरी पर परासौली में सूर की कुटी थी। वहीं श्री आचार्य जी की बैठक है। आचार्य जी भाव साधना के अत्यन्त एकान्त क्षणों में सम्भवत: सूर का प्रवेश था। महाप्रभु सूर को 'सागर' नाम से भी पुकारते थे। भगवतोक्त लीलाओं के माध्यम से सूर ने जिस रस-सागर का उद्घाटन किया था, वह वस्तुत: उनके व्यक्तित्व से भिन्न नहीं था—सूर का व्यक्तित्व, एक लहराता हुआ चलता-फिरता रस-सागर। महाप्रभुजी भगवान की लीलाओं को 'क्षीर सागर' से उपमित करते थे। जिस व्यक्तित्व में यह लीला-क्षीराब्धि अशेष रूप से अवतरित हो गया हो—वही है 'सागर', सूर सागर, रस सागर इसकी आरभचुंबी वीचियों की कल्कल् से साहित्य भर उठा। इस संबोधन को पाकर उनका व्यक्तित्व अज्ञात क्षितिजों तक विस्तृत हो गया।

भौतिक रूप से यह 'समुद्र' मथुरा' वृन्दावन और गोकुल तक ही जाता था। यही उस व्यक्तित्व-वृत्त की भौतिक परिधि थी। आध्यात्मिक रूप से इस सागर की लहरें सभी सहृदयों के अन्तस् को प्रक्षालित करती है। या तो वे

---

१. क—अनाथ के नाथ प्रभु कृष्ण स्वामी।
श्रीनाथ सारंगधर कृपा करि मोहि सकल अघ हरन हरि गरुड़गामी।
ख—श्री गोवर्धनधर प्रभु, परम मंगलकारी।
उधरे जा 'सूरदास' ताकी बलिहारी।

श्रीनाथ जी के विग्रह के साथ चलते थे अथवा गोकुल के नवनीत प्रिय जी के प्रति कीर्तन-निवेदन करने जाते थे।[१] सूर को रासस्थली वृन्दावन से विशेष अनुराग प्रतीत होता है।[२] सूर का अल्पकालीन प्रवास भी वहाँ होता था। वार्ताओ मे सूर से सम्बंधित इन स्थानो की सूचना मिलती है—गऊघाट, श्री गोकुल, श्रीनाथ जी द्वार और परासौली। अन्तर्साक्ष से गोकुल, मथुरा वृन्दावन के नाम भी मिलते है। 'सूर' सागर होगये : समस्त ब्रजभूमि से रसानुभूति सचित करके उन्होने रस सागर को साहित्य बना दिया।

श्रीनाथ जी के मन्दिर मे आचार्य जी के कीर्तन-मडान की स्थापना की। इस कीर्तन-सस्थान के केन्द्र मे 'सूर' की स्थिति थी। वे नियमित गायक थे। दूसरे नियमित कीर्तनियाँ परमानन्द दास थे। कुम्भनदास गृहस्थ होने के कारण कभी-कभी श्रीनाथ जी का संकीर्तन करते थे। गो० बिठ्ठलनाथ जी ने कीर्तन-परिकर की पुनर्योजना की। आठो समय की झाकियो के लिए वे एक-एक कीर्तनियाँ रखना चाहते थे। अष्टछाप की स्थापना हुई : महाप्रभुजी के चार सेवक इसमे थे।[३] गो० बिठ्ठलनाथ जी के चार सेवको[४] ने इस परिकर मे प्रविष्ट होकर अष्टछाप को पूर्ण किया। अष्टछाप कवियो ने सेवा के रागात्मक अग 'कीर्तन' का विस्तार किया। अनेक राग-रागिनियाँ और वाद्ययंत्रो का साहाय्य इस सेवा-विभाग को सगीतात्मक विस्तार दे रहा था। इस सस्थान मे सूरदास के व्यक्तित्व को प्रमुख स्थान प्राप्त था। इस सस्थान मे दो सागर थे—सूर, और परमानन्द दास। इनमे 'सूरसागर' की सीमाएँ क्षितिजों से होड लगाती रही। रस और भावना की अद्भुत छाया-छबियाँ अवतरित होकर सागर की तरंगो का चुम्बन करने लगी। यो तो सभी अष्टछापी कवियो मे परस्पर सौहार्द्र था, तथापि सूर का सम्बन्ध नन्ददास से अधिक घनिष्ट था।

'सूर' की ख्याति गायक के रूप मे दूर-दूर तक हो गई। अकबर संगीत प्रेमी था। उसने तानसेन जैसे सगीतज्ञ को प्रश्रय दिया था। तानसेन, हरिदास, सूरदास जैसे भक्त गायको से बड़ा प्रभावित था।

---

१. अष्ट सखान की वार्ता पृ० १६।

२. वृन्दावन एक पलक जो रहियै।
'सूरदास' वैकुण्ठ मधुपुरी भाग्य विना कहाँ ते पैयै।

३. सूरदास, परमानंददास, कुंभनदास, और कृष्णदास।

४. छीतस्वामी, चतुर्भुजदास, गोविंदस्वामी, नन्ददास।

अकबर ने तानसेन से सूर का एक पद सुना। उसने सूर को आमंत्रित भी किया, पर सूर व्रज से कहाँ जाने वाले थे। मथुरा में अकबर ने स्वयं आकर सूर से भेंट की।[1] आईने-अकबरी में भी एक सूरदास से अकबर की भेंट का उल्लेख है। किन्तु ये सूरदास हमारे 'सूर' नहीं थे। अकबर के विशेष आग्रह पर सूर ने पद गाया : 'मना रे कर माधौ सों प्रीत।' अकबर सूर की वाणी में विभोर हो गया। कहा जाता है कि प्रसन्न होकर अकबर उन्हें एक मनसब देना चाहता था, पर सूर ने स्वीकृत नहीं किया।[2] वार्ताओं में एक उल्लेख है : अकबर ने सूर से कहा—'कछु तो मो कौं आज्ञा करिये।' इस पर सूरदास जी का उन्मुक्त व्यक्तित्व उठा, जो सांसारिक वैभव को 'छीलर' बनाकर छोड़ चुका था। सूर ने निर्भर होकर कहा : "जो आज पीछे हमको कबहूँ फेरि मति बुलाइयो और मो सों कबहूँ मिलियो मत।" सूर के व्यक्तित्व की महानता से यह प्रसंग भरा हुआ है। अकबर ने जब सूर से अपने यश गायन के लिए प्रार्थना की तब सूर ने यह पद गाया—

> नाहिन रह्यो मन में ठौर।
> नंदनंदन अछत कैसे आनिए उर और॥
> स्याम गात सरोज आनन, ललित अति मृदु हास।
> 'सूर' ऐसे रूप कारन, मरत लोचन प्यास॥

सूर के व्यक्तित्व की अनन्यता इस पद से प्रकट है। अकबर इस रहस्य को समझ गया। पर इस पद की अन्तिम पंक्ति को लक्ष करके सूर के विस्मृत अन्धत्व पर अकबर ने व्यंग्य किया; सूरदास जी तुम्हारे नेत्र कहाँ हैं कि रूप की प्यास उन्हें लग सके ? अकबर के इस प्रश्न पर 'सूर' मूक ही रहे। अकबर क्या जानता था कि सूर अन्धत्व से मुक्त हो चुके हैं ? उसे क्या पता था कि अंधा सूर अब नहीं रहा ? उसका पुनर्जन्म हो चुका है। पर सूर ने यह सब बतलाना आवश्यक ही समझा। इस प्रकार लौकिक वैभव और सम्मान की ऊँची लहरें सूर के अटल व्यक्तित्व से टकरा कर लौट गईं।

सूरदास का व्यक्तित्व संपूर्णतः भक्ति-भावना के लिये समर्पित था। समस्त दिन सख्य भावाकुल लीला-भावनाओं में व्यतीत होता था। अष्टछाप

---

१. कुछ विद्वानों के अनुसार यह भेंट इलाहाबाद में हुई, पर यह मत प्रामाणिक नहीं है।

२. वार्ताओं में यह सूचना नहीं है कि सूरदास जी ने अकबर का कोई दान स्वीकार किया।

के कवियों की अष्टसखाओं के रूप में साम्प्रदायिक कल्पना की गई। सूरदास जी 'कृष्ण सखा' के रूप में भावित थे।[१] कृष्ण सखा के रूप में सूर दिन भर सख्य भावाश्रित समाधि में लीन रहते थे। अष्ट सखाओं की सख्य भावना इतनी घनी और अनन्य हो जाती थी कि उन्हें अपने बीच श्रीनाथ जी की उपस्थिति की भावना यथार्थ रूप में होने लगती थी।

शेष समय में सूर 'सखीभावापन्न' रहते थे। सूर का सखी भावाश्रित नाम चम्पक लता था।[२] भावना को सजीव और यथार्थ रूप देने के लिए भावना का विस्तार किया : रंग, रूप, वस्त्र आदि की 'भावना' भी की गई। सखा और सखी भाव से आकुल अहर्निश लीलागत समाधि का विवरण हरिराय जी ने 'भाव प्रकाश' में इस प्रकार दिया है—

"तहाँ कहत हैं जो श्री भागवत में कहे है जो—अब श्री ठाकुर जी आप वन में गोचारन लीलान में सखान के संग पधारत हैं सो सगरी गोपीजन लीला कौ अनुभव करत हैं। सो घर में सगरी वन की लीला गान करत हैं। ता पाछें जब श्री ठाकुरजी संध्या समय बन ते घर कूँ आवत है, सो तब रात्रि कों गोपीजन सों निकुंज में लीला करत है। सो तब अंतरंगी सखान को विरह होत है। तब वे निकुंज लीला कौ गान करत है, अनुभव करत हैं। सो काहे तें ? कुंज में सखीजन है सो तिन के दोय स्वरूप है, सो कहत है। पुंभाव के सखा और स्त्री भाव की सखी। सो दिन में सखा द्वारा अनुभव तथा रात्रि में सखि द्वारा अनुभव है।"

---

१. 'सो ये सूरदास जी लीला में श्री ठाकुर जी के अष्ट सखा हैं सो तिनमें ये कृष्ण सखा कौ प्राकट्य है।' [हरिराय कृत 'भाव प्रकाश']

२. अन्य कवियों की सखी और सखा भावना नीचे की तालिका से स्पष्ट हैं—

१. सूर	कृष्ण सखा	चम्पकलता
२. परमानंददास	लोक सखा	चन्द्रमाला
३. कुंभनदास	अर्जुन सखा	विशाखा
४. कृष्णदास	ऋषभ	ललिता
५. छीतस्वामी	सुवल	पद्मा
६. गोविन्दस्वामी	श्रीदामा	भामा
७. चतुर्भुजदास	विशाल	विमला
८. नन्ददास जी	भोज	चन्द्ररेखा

इसी प्रकार की भाव समाधियाँ अन्य संप्रदायों में भी प्रचलित थीं।[1] श्री वल्लभाचार्य में भी कृष्ण या ठाकुर जी एवं स्वामिनी जी दोनों भावों का समन्वय था। इस दृष्टि से 'सूर' जैसा अहर्निश भाव-समर्पित कवि समस्त हिन्दी साहित्य में नहीं, संसार भर के साहित्य में नहीं मिल सकता। सूर की एक-एक अनुभूति और कल्पना इसीलिए अनायास रसभीनी है कि इनका जन्म समाधि के गहरे स्तरों से प्रसूत हैं। इस भाव-समाधि में गहरे, और गहरे उतरने में सूर का अन्धत्व भी सहायक रहा। अन्धत्व-जन्य हीनता तिरोहित हो चुकी थी: इसका वरदान प्रकट होने लगा। सूर में भावात्मक एकाग्रता और अनन्यता प्रकट हो गई।

रसिक जनों के सौभाग्य से सूर को दीर्घायु प्राप्त हुई।[2] पर अन्तिम क्षण आ ही पहुँचा—रससागर नित्य निकुंज लीला में लीन होना चाहता है। सूर को अज्ञात देश से आह्वान मिला। सूर के मन में एक ही पीड़ा शेष थी—काव्य-रचना का संकल्प पूरा नहीं हो सका: सवा लाख पद नहीं बनाए जा सके। केवल एक लाख पदों की ही रचना हो सकी। इस पीड़ा को देख कर स्वयं श्री गोवर्द्धननाथ जी प्रकट हुए और शेषांश को पूर्ण कर दिया। इस अलौकिक घटना पर आज का वैज्ञानिक मस्तिष्क विचार नहीं कर सकता। प्राप्त काव्य-परिमाण से भी इस प्रसंग की पुष्टि नहीं होती पर आश्चर्य नहीं कि सूर के गाये हुए सभी पदों का संग्रह नहीं हो सका हो। उस दिन 'सूर' श्रीनाथ जी की मंगला आरती के पश्चात् परासौली लौट गये। अपनी कुटी के पास पहुँच कर वे एक चबूतरे पर लेट गये। वहां से श्रीनाथ जी की ध्वजा का दर्शन हो सकता था। उन्होंने ध्वज को प्रणाम किया। अपनी समस्त वृत्तियों को श्रीनाथजी में केन्द्रित करके 'सूर' अन्तर में ही लीन हो गए। राज-भोग आरती के उपरान्त श्री गो० विट्ठलनाथ जी, रामदास, कुंभनदास, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास आदि मिलकर सूर के समीप आये। उस समय कुछ मार्मिक वार्तालाप चला। इस वार्तालाप से 'सूर' के व्यक्तित्व के मूलाधार स्पष्ट होते हैं।

---

१. चैतन्य सम्प्रदाय की इसी प्रकार की भावना के लिए द्रष्टव्य मेरा लेख 'चैतन्यमत में सखी और मंजरी'—व्रजभारती।

२. सूर का उपस्थिति-काल सं० १५३५ से संवत् १६४० तक माना जाता है।

गोसाईं जी ने आदेश दिया : 'पुष्टिमार्ग को जहाज जात है, जाको कछु लेनो होय तो लेउ और जो भगवदिच्छा तैं राजभोग पीछे रहत हैं तो मैं हूँ आवत हौं।' पीछे गोसाईं जी भी आ गये। चतुर्भुजदास ने जब सूरदास जी से पूछा कि उन्होंने इतने पद बनाये, पर श्री वल्लभाचार्य जी की प्रशस्ति में कोई पद नहीं लिखा। इसका क्या कारण है ? तब सूरदास जी ने कहा कि मेरी दृष्टि में महाप्रभू जी और भगवान में कोई अन्तर नहीं है। मैंने जितने पद भगवान के लिखे हैं, वे सब महाप्रभु के लिए भी नवोदित समझने चाहिये। फिर आचार्य जी की प्रशस्ति में एक पद गाया :

भरोसौ दृढ़ इन चरनन केरौ।
श्री वल्लभ नख-चन्द्र-छटा बिनु, सब जग माँझ अँधेरौ।
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निबेरौ।
'सूर' कहा कहै द्विविध आँधरौ, बिना मोल कौ चेरौ॥

इससे सूर की गुरु-निष्ठा प्रकट होती है। सूर के लिये वल्लभाचार्य जी एक प्रकाश स्तंभ थे जिससे 'द्विविध आँधरौ' व्यक्तित्व, हीनता-ग्रस्त चेतना 'सागर' बन सका। इस पद को गाते-गाते सूर विह्वल हो गये : गला रुँध गया। 'सूर' भावात्मक मूर्च्छा की स्थिति में हो गये और उनका चित्त "श्री ठाकुर जी को श्रीमुख तामें करुणा रस के भरे नेत्र देखे।" 'सूर' की यह स्थिति देखकर गोसाईजी के नेत्र भी वाष्पाकुल हो उठे। उन्होंने पूछा : तुम्हारे नेत्र की वृत्ति इस समय कहाँ है ? अंधे सूर से इनकी नेत्र-वृत्ति की स्थिति पूछी गई। 'सूर' ने वृन्दावनेश्वरी श्री राधा में अपनी चित्तवृत्ति बतलाने के लिए एक पद गाया : "बलि बलि हौं कुमर राधिका नंदसुवन जासौं रति मानी।" सूर के व्यक्तित्व का यह दूसरा आधार स्तंभ था। सौन्दर्य, माधुर्य संबन्धी समस्त भावनाओं की अधिष्ठात्री देवी उनके लिए राधा ही थी। पर उक्त पद से सूर की चित्त-वृत्ति ही प्रकट हुई, नेत्र-वृत्ति नहीं। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सूर' ने एक और पद गाया :

खंजन नैन रूप-रस माते।
अतिसै चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते।
चलि चलि जात निकट स्रवनन के, उलटि-उलटि ताटंक फँदाते।
'सूरदास' अंजन गुन अटके, नतरु अबहिं उड़ि जाते॥

और यह संगीत लहरी सदा के लिए सो गई।

अन्तिम क्षण में सूर के व्यक्तित्व का यह रूप प्रकट हुआ : एक सच्चे शब्द-साधक की भाँति काव्य-सृजन की अपूर्ण प्यास : आचार्य जी के आलोक के प्रसार का अपने चारों ओर अनुभव : चित्तवृत्ति का राधा में केन्द्रीकरण : और नेत्रों में राधा के रूप-रस का चित्र। संक्षेप में यही सूर के आन्तरिक व्यक्तित्व की झाँकी है।

हो सकता है सूर के जीवन का तथ्याकलन वैज्ञानिक की अपेक्षा भावात्मक अधिक हो, पर आन्तरिक सत्य स्पष्टतः इनसे ध्वनित है। सूर का व्यक्तित्व शत प्रतिशत भावमय था। उनके व्यक्तित्व के आसपास जो अलौकिक तंत्र उपस्थित हो गया है, वह भाव-जनित ही है। 'सूर' काव्य का आलोचक सूर के अति भावात्मक व्यक्तित्व में अविश्वास नहीं कर सकता है। सामान्य व्यक्ति के लिए जो भाव स्थितियाँ आरोपित लगती हैं, वे स्थितियाँ विश्वास और अनन्य भावना के परिवेश में 'सूर' के लिए यथार्थ थीं। अन्धत्व-जन्य हीनता की पीड़ा से दमित व्यक्तित्व अन्ततः उत्कर्ष की चरम कोटि का स्पर्श कर सका। सूर के व्यक्तित्व के विकास का अनुक्रम कितना मार्मिक है।

सूर का व्यक्तित्व सतत संघर्ष का परिणाम है। संघर्ष ने उसे गत्यात्मक बनाया। गति—सीमा से असीम की ओर। संघर्ष—आबद्धता से उन्मुक्त होने के लिए। प्रथम बद्धता ऐन्द्रिय क्षति और पारिवारिक हीनता के कारण बनी। बाह्य जीवन भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के अभाव से ग्रस्त था : अन्तर्मन क्षतिपूर्ति की साधना को न जाने कितनीं ऊँचाइयों तक ले जाना चाहता था। 'स्वामी' बने : भौतिक अभावों से मुक्ति मिली : लौकिक सम्मान ने क्षत-विक्षत अस्तित्व को सहलाया। 'अस्तित्व' के प्रति आस्था जमी। अस्तित्व से व्यक्तित्व की ओर विकास करने के लिए एक दुर्दम पीड़ा सिर उठाने लगी। इसने कलात्मक शक्तियों को उकसाया : नादात्मक या श्रव्य कला की मैत्री से, घुटन के क्षण तिलमिलाने लगे। संगीत कला का अर्जन हुआ। यह आंशिक मुक्ति तो थी क्योंकि व्यक्तित्व के उन्नयन के लिए नादात्मक माध्यम प्राप्त हो गया था, फिर भी कुंठा गेय विषय को आबद्ध किए रही। विनय और दैन्य व्यक्तित्व से उतर कर काव्य-परिवेश में तो आ गये थे, उनका उन्नयन भी होने लगा था, पर वाणी पूर्णतः मुक्त नहीं हो सकी। विनय के पदों में संग्रथित उपालंभ, व्याज, व्यंग्य, वक्रोक्ति से युक्त उक्तियाँ उन्नयन की दूसरी ही दिशा की सूचना देने लगीं थीं। इन क्षणों में 'स्वामी' जीवन एक बोझिल बद्धता के रूप में अनुभव किया जाने लगा। उच्चतर

वैराग्य भावना का उदय हुआ। यह वैराग्य भावना राग के उच्चतर स्तरों की प्राप्ति के लिये थी। भागने की वृत्ति नहीं, एक दृढ़ आधार की खोज थी। उनकी चेतना व्यापक संबंधों की खोज में थी। इष्ट की महत्त्व-स्वीकृति की स्थिति बराबरी की या अति मधुर स्थिति में संक्रमित होने को मचल रही थी।

वल्लभाचार्य जी ने अस्तित्व को व्यक्तित्व की ओर ले जाने में सहयोग दिया। व्यक्तित्व की बद्धता को उन्होंने पहचाना— घिघियाते क्यों हो ?' और सूर की भावना के निस्तार के लिए उदात्त लीला-संदर्भ प्रदान किया—'भगवल्लीला बरनन कर।' विस्मृत शक्तियों को उत्तेजित किया—'सूर है कै' तुम्हारी यह स्थिति ? यहाँ 'सूर' का अर्थ है साहसी, शूर। और जैसे सूर का अस्तित्व व्यक्तित्व के रूप में अवतरित होने लगा। पर, एक आरोपण भी होने लगा। 'दीक्षा' और 'समर्पण' की विधि ने उनके नवोदित व्यक्तित्व को एक सांप्रदायिक बद्धता प्रदान की। किन्तु वह संदर्भ इतना उदार और उदात्त था, कि बद्धता संबंध बन गई। फिर भी सूर का नवोदित व्यक्तित्व कुछ क्षणों में इस रागात्मक बद्धता से भी मुक्त रह कर विशुद्ध रूप में मुक्त रहना चाहता था। इन स्वच्छन्दता के क्षणों ने स्वयं संप्रदाय में एक उलझन उत्पन्न कर दी थी। अन्तिम क्षणों में जो सम्वाद चला उससे 'सूर' के प्रति एक संदिग्ध दृष्टि की सूचना मिलती है। क्यों इन्होंने महाप्रभु आचार्य जी का यश-गान नहीं किया ? देखें, इनकी चित्तवृत्ति कहाँ है ? साथ ही वल्लभाचार्य जी और पुष्टिमार्ग में समर्पित उनका व्यक्तित्व इतना तेजस्वी था, कि संदेह कभी प्रकट नहीं किया जा सका—'पुष्टि मार्ग का जहाज' नामकरण कितना सटीक था। फिर भी सूर के व्यक्तित्व और कृतित्व में कुछ ऐसा मिल ही जाता है, जो सांप्रदायिक वृत्त से बाहर का था।

वल्लभाचार्य जी सूर के व्यक्तित्व को स्वच्छन्दता को पहचानते थे। यह स्वच्छन्दता चाहे संप्रदाय की बाह्य आचार-प्रणाली की तुलना में स्पष्ट दिखलाई पड़ती हो, पर संप्रदाय की चरम आध्यात्मिक परिणति से यह स्वच्छन्दता कोई विरोध नहीं रखती थी। इस दृष्टि से आचार्य जी ने उन्हें 'सागर' नाम से विभूषित किया। 'पुष्टिमार्ग के जहाज' को जो 'सागर' चाहिए था, वह आचार्य जी को 'सूर' के व्यक्तित्व में मिला। पुष्टिमार्गीय सेवाचार सूर के व्यक्तित्व के चरम भावोन्नयन पर ही तैरता रहा। 'सागर' सूर के व्यक्तित्व की अतुल गहराइयों और अकूल विस्तृति का प्रतीक है। वल्लभाचार्य

जी संप्रदाय की भाव विस्तृति को महत्त्व और मूल्य देते थे। पीछे सांप्रदायिक आचार प्रमुख होता गया। अतः सूर का व्यक्तित्व संप्रदाय के जहाज के रूप में तो उनके लिए दृश्य रहा : 'सागर' की विधु-चुम्बी लहरों का साक्षात्कार परवर्ती कर्णधार पूर्ण रूप से नहीं कर पाये। संप्रदाय' के जहाज के रूप में सूर का कृतित्व है, पर उनके सागरीय कृतित्व के अनुपात में वह कितना बौना है। सांप्रदायिक दायित्व की औपचारिकता का निर्वाह 'सार' रूप में सूर ने कर दिया—'सूर सारावली'। लीलारस का सागरीय विस्तार नवीन क्षितिजों का स्पर्श करता गया। आचार्य जी ने संप्रदाय-बोध के रूप में सूर का जो बौद्धिक संस्कार किया था, उसका संस्पर्श तो सूर के साहित्य में किसी न किसी रूप में मिलता है, पर उनके द्वारा भावोन्नयन का जो रागात्मक अनुष्ठान संपन्न हुआ था, उसकी छाया इतनी विस्तृत हो गई कि संभवतः आचार्य जी भी चकित रह गये और सूर को 'सागर' कह उठे।

आचार्य जी ने 'सूर' को शूरवीर के रूप में भी देखा। हरिराय जी ने भावप्रकाश में लिखा : "श्री आचार्य जी आप तो 'सूर' कहते। जैसे—सूर होय सो रण में सो पाछो पाँव नाहिं देय, जो सबपों आगे चलै। तैसेंई सूरदास जी की भक्ति दिन-दिन चढ़ती दिसा भई। तासों श्री आचार्य जी आप सूर कहते।" इस प्रकार भक्ति भाव के संग्राम में 'सूर' के व्यक्तित्व ने कभी पीछे पैर नहीं रखा। इस 'शूर' के 'सूर' का अनुभव तानसेन ने भी किया था—"किधौं सूर कौ सर लग्यौ...।" इस व्यक्तित्व में उन्नत कृतित्व की संभावनाएँ निहित हैं।

तीन

सिद्धान्त : सम्प्रदाय

□ हरि मैं तुम सों कहा दुराऊँ ।

जानत को 'पुष्टिपथ' मोसों, कहि कहि जस प्रगटाऊँ ।

मारग रीति उदर के काजें, सीख सकल भरमाऊँ ।

अति आचार, चारु सेवा करि, नीके करि करि पंच रिझाऊँ ।

□ भाव, भक्ति, सेवा सुमिरन करि 'पुष्टि पंथ' में धावै ।

सिद्धान्त सम्प्रदाय

३

प्रास्ताविक—

सूर का लघु व्यक्तित्व जहाँ अपनी निजी शक्तियों से उदात्तीकरण की छोटी-मोटी भूमियाँ खोज रहा था, वहाँ एक महान् सांस्कृतिक आन्दोलन से संबद्ध होने का सुयोग भी उसे प्राप्त हुआ। सूर का सीमित साधनों वाला व्यक्तित्व चाहे एक बौद्धिक उत्क्रान्ति का साथ न दे पाता, पर भक्ति आन्दोलन की भावात्मक भूमिका के साथ वह पूर्ण तादात्म्य कर सका। पहले ही वह भावात्मक गहराइयों में उतरने लगा था : अब एक भक्ति-संप्रदाय से संबद्ध होकर एक निश्चित संरचना में घटित होने लगा : उसे विस्तृति और ऊँचाई मिलने लगी। सूर का सम्बन्ध शुद्धाद्वैत दर्शन और पुष्टि-मार्गीय भक्ति-पद्धति से हुआ। इस दर्शन के प्रवर्तक, आचार्य वल्लभाचार्य जी ने स्वयं उन्हें दीक्षित किया।

भक्ति आन्दोलन शंकर अद्वैतवाद के प्रति एक उत्कट भावमूलक प्रतिक्रिया थी। ज्ञानवाद के प्रचार से देश की उच्चतर मेधा संतुष्ट हो सकी। सामान्य जन नीषिता की इस ऊँचाई तक पहुँचने में असमर्थ था। उसे जो भावात्मक संबल बौद्धधर्म जैसे लोकोन्मुख विधान से प्राप्त था, वह क्रमशः छूट रहा था : बौद्धधर्म की अपनी निजी दुर्बलताएँ सतह पर आ चुकी थीं। अद्वैतवाद के थपेड़े ने उसे भूमिसात कर दिया। जनमानस का संबल छूट गया। यह शुद्ध बुद्धिवादी अभियान एकपक्षीय रहा : जनता के लिए एक लोकधर्म को जन्म न दे सका। जनता एक धार्मिक विघटन की स्थिति का अनुभव करने लगी। भक्ति आन्दोलन ने इस स्थिति को समाप्त किया। यह आन्दोलन देश में ओर-छोर व्यापी हो गया।

इस सांस्कृतिक आन्दोलन का एक व्यवस्थित स्वरूप दक्षिण के आचार्यों द्वारा घटित हुआ। इसकी दक्षिणात्य संरचना में बौद्धिक या दर्शन पक्ष भी रहा और भावात्मक पक्ष भी। दार्शनिक पक्ष में शंकर मुख्यत: प्रस्थानत्रयी—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता—को स्वीकृत कर चुके थे। इस त्रयी का एक विशेष भाष्य प्रस्तुत करके शंकर ने एक विस्मृत दार्शनिक परम्परा को नवीन संस्कार और जीवन प्रदान किया। भक्ति के आचार्यों ने शांकर-सिद्धान्त का खंडन इसी बौद्धिक पीठिका पर, इसी भाष्य-पद्धति सें किया। भक्ति के प्राय: सभी भक्त्याचार्यों ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखा। श्री रामानुजाचार्य जी ने तीनों पर विधिवत भाष्य लिखकर विशिष्टाद्वैत दर्शन को प्रवर्तित किया। इस संप्रदाय के सिद्धान्त 'श्री भाष्य' पर ही आधारित हैं। मध्वाचार्य जी ने भी प्रस्थानत्रयी पर भाष्य प्रस्तुत करके द्वैत-दर्शन का सूत्रपात किया। श्रीनिम्बार्काचार्य जी ने केवल ब्रह्मसूत्र पर एक स्वल्पकाय भाष्य 'पारिजात सौरभ' लिखा। 'गीता वाक्यार्थ' एक संदिग्ध रचना है। पर 'विष्णुस्वामी' के नाम से कोई भाष्य नहीं मिलता : इनकी एक 'सर्वज्ञ सूक्त' नामक रचना को ही प्रमाण माना जाता है। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखना अनिवार्य नहीं था। श्री वल्लभाचार्य जी ने अवश्य ब्रह्मसूत्रों पर 'अणुभाष्य' लिखा और शुद्धाद्वैत दर्शन की स्थापना की। इस प्रकार मुख्यत: प्रस्थान-त्रयी पर अथवा ब्रह्मसूत्रों पर जो भाष्य प्रस्तुत किये गये उन्होंने भक्ति आन्दोलन की बौद्धिक और दार्शनिक पीठिका को सुदृढ़ किया। आगे के विकसित कुछ संप्रदायों ने इस पीठिका को या तो आवश्यक नहीं समझा अथवा एक सामान्य दार्शनिक पीठिका को स्वीकार कर लिया। श्री चैतन्य ने प्रस्थान त्रयी पर कोई भाष्य नहीं लिखा। उनके एक अनुयायी श्री विद्याभूषण ने 'गोविन्दभाष्य' की रचना करके शास्त्रीय पद्धति से अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया। राधावल्लभ संप्रदाय, रामानन्द जी के रामावत संप्रदाय, हरिदासी संप्रदाय जैसे संगठनों में आचार्य के शब्द को ही प्रमाण माना गया : कोई भाष्य नहीं हुआ। इन संप्रदायों ने आन्दोलन के भाव पक्ष को ही पुष्ट किया : एक भक्ति पद्धति को स्वीकार और पालन किया।

चाहे बौद्धिक पीठिका को लेकर चलने वाले आचार्य हों, चाहे अन्य, सभी ने जन-मानस और जनवाणी के माध्यम से प्रस्तुत भावात्मक स्रोतों की खोज और इनके आधार पर भक्ति-व्यवस्था को आवश्यक माना। श्री संप्रदाय में 'प्रबन्धम्' की भावाकुल अभिव्यक्तियों को भक्ति प्रेम के आधार के रूप में

स्वीकृत किया गया । श्री चैतन्य ने सहजिया वैष्णव तंत्रों, या काव्य में प्रस्तुत भाव-भूमि को संप्रदाय में स्थान दिया । कुछ संप्रदायों में लोकभाषान्तर्गत भाषात्मक साहित्य का योजना-बद्ध सृजन हुआ और संप्रदाय की भाव-भूमि संपन्न हुई । वल्लभाचार्य जी ने प्रस्थान-त्रयी के साथ भागवत जोड़ कर प्रस्थान-चतुष्टय स्वीकार किया । इस प्रस्थान-विस्तार के पीछे भागवतोक्त भाव-सरणियों की खोज निहित थी । आचार्य जी ने 'सुबोधिनी' टीका लिखकर भागवत का भावान्वेषण किया । तत्त्वदीप, निबंध और षोडश ग्रन्थों की रचना करके भाव-दर्शन और भाव साधना के तत्त्वों को सुदृढ़ किया । पर जिस प्रकार श्री रामानुजाचार्य जी को 'तमिल-प्रबन्धम्' और श्री चैतन्य को सहजिया-वैष्णव साहित्य, या अन्य काव्य रूप प्राप्त थे, जो इन संप्रदायों को लोक मानस से जोड़ सके या दर्शन की लोक मानसोनुकूल परिणति कर सके, उस प्रकार के साहित्य-रूप के अभाव का अनुभव वल्लभाचार्य जी कर रहे थे । इस कार्य-सम्पादन के लिए शुद्धाद्वैत दर्शन और पुष्टिमार्गीय भक्ति को लोकभाषा-काव्य का माध्यम प्रदान करने के लिए आचार्य जी को जिस प्रकार के स्वच्छ प्रतिभा और जैसे समर्पित व्यक्तित्व की खोज थी, वे उन्हें 'सूरदास' में मिले । पुष्टिमार्ग की भावात्मक निर्मित और ब्रजभाषा के माध्यम के परिष्कार में सूर का योगदान महत्त्वपूर्ण है । सांप्रदायिक भावभूमि को साहित्यिक 'सागर' में उन्होंने परिणत किया । संप्रदाय का कण-कण 'सूर' की वाणी से झंकृत हो उठा । पीछे सांप्रदायिक साहित्य की योजना ने 'अष्टछाप' का रूप ग्रहण किया । शुद्धाद्वैत दर्शन से भी सूर की वाणी प्रभावित है और पुष्टिमार्गीय भक्ति, सेवा और साधना से भी । आगे श्री वल्लभाचार्य जी, 'शुद्धाद्वैत दर्शन और पुष्टि-मार्गीय भावासक्ति का संक्षिप्त विश्लेषण 'सूर' के संदर्भ में प्रस्तुत है ।

१. वल्लभाचार्य जी

१.१ सामान्य-परिचय--भारत के बड़े दार्शनिकों में इनका स्थान है । एक ओर वेदान्त के शुद्धाद्वैत संप्रदाय की उन्होंने प्रतिष्ठा की और दूसरी ओर पुष्टिमार्गीय भक्ति का प्रवर्तन किया । सन् १६३५ में, रायचूर के समीप चम्पारन में इस आचार्य का उदय हुआ । इनके पिता लक्ष्मण भट्ट एक तेलुगु ब्राह्मण थे । ये सम्भवतः कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के अनुयायी थे ।

वल्लभाचार्य जी की स्थिति दर्शन के क्षेत्र में बड़ी विशिष्ट होगई । एक ओर उन्होंने शांकर मायावाद से निरपेक्ष 'शुद्ध अद्वैत' को ग्रहण किया । इसी कारण से मध्वाचार्य जी के अद्वैत-विरोधी तर्क स्वमेव निरस्त हो गये ।

भूमिका में भी ये ही व्यापक उद्देश्य थे। अपने आपको ही जैसे उन्होंने चौरासी रूपों में विभक्त किया। विविध रूपों में इन वैष्णवों ने आचार्य जी के महत्कार्य सम्पादन में योगदान दिया। हरिराय जी ने अपनी शैली में यह निरूपण किया है : 'चौरासी वैष्णव को कारण यह है जो दैवी जीव चौरासी लक्ष योनि में परे हैं। तिनमें ते निकासवे के अर्थ चौरासी वैष्णव कीए।...और रस शास्त्र में रसादिक विहार के आसन चौरासी वैष्णव किए हैं, सो वर्णन किए हैं।....शास्त्र रीति सों आसन चौरासी या भाव सों अलौकिक हैं।...और साक्षात पूर्ण पुरुषोत्तम की लीला चौरासी कोस ब्रज में है....।[१]' इस प्रकार चौरासी वैष्णव आचार्य जी के ही अंगभूत हैं। दार्शनिक सिद्धान्त की पुर्नस्थापना, लीलासक्तिमय भक्ति-पथ का का प्रवर्तन लीलास्थलियों की खोज, तथा जीवोद्धार के सम्मलित उद्देश्य की सफलता के लिए इन चौरासी वैष्णवों का प्राकट्य किया गया। इस विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि वल्लभाचार्य जी की प्रकृति समन्वयवादिनी थी। उनका दर्शन भी सारसंग्रही प्रतीत होता है।

सांप्रदायिक साहित्य (संप्रदाय प्रदीप) में वल्लभाचार्य जी की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर विचार किया गया है। इसके विश्लेषण में पहले शंकराचार्य जी की स्थिति को स्पष्ट किया है। सभी अधिकारी-अविनकारी जीव भगवत्तत्वज्ञ होकर भक्ति में सम्मिलित होने लगे। भगवान ने दैवी और आसुरी सृष्टि में भेद करने के लिए एक योजना की। भगवान ने शंकर से कहा : ऐसे शास्त्रों का प्रणयन और प्रचार करो जिससे मेरे माहात्म्य का तिरोधान्न हो और तुम्हारे माहात्म्य की वृद्धि हो। वे ऐसे शास्त्र हों जो आपाततः सत्य और सारतः असत्य हों। शंकर ने शंकराचार्य जी के रूप में अवतरित होकर यही किया। शंकराचार्य जी ने आसुर-सृष्टि को मोहने के लिए श्रुति के यथार्थ अर्थ को प्रच्छन्न कर उपनिषद्, गीता एवं व्यास सूत्र (प्रस्थान त्रयी) पर भाष्य किया।[२] इससे जगत में केवलाद्वैत मत का प्रचार हुआ। इसी को 'मायावाद'

१. प्राचीन वार्ता रहस्य, प्रथम भाग पृ० १५–१६।

२. शंकराचार्य जी के सम्बन्ध में यह कल्पना अन्यत्र भी मिलती है। सांख्य प्रवचन भाष्य में पद्मपुराण के कुछ श्लोक उद्धृत हैं। उनका भाव यह है : शिवजी ने पार्वती से कहा कि मायावाद बड़ा असत् शास्त्र है। कलियुग में इसकी रचना मैंने ही ब्राह्मण रूप से की है। इनमें मैंने श्रुतियों का भ्रान्त अर्थ किया है। सभी कर्मों का इसमें परिभ्रंश बतलाया गया है। इस प्रकार इसमें नैष्कर्म्य भावना समर्पित है।

भी कहा जाता है। इसे भक्ति संप्रदायों में आसुर मत भी कहा जाता है। इस विधि से दैवी और आसुरी सृष्टि का पृथक्करण हो गया। दैवी सृष्टि के कल्याण के लिए चार भक्ति सम्प्रदायों का जन्म हुआ—रामानुजाचार्य : श्री सम्प्रदाय; श्री मध्वाचार्य : द्वैत सम्प्रदाय; श्री निम्बार्काचार्य : द्वैताद्वैत सम्प्रदाय (अचिंत्य भेदाभेद) तथा विष्णुस्वामी : का संप्रदाय जिसका संशोधित रूप वल्लभाचार्य जी ने सुस्थिर किया।

वल्लभाचार्य जी ने सबसे पहले मायावादियों का खंडन किया। विद्यानगर में मायावादियों को उन्होंने शास्त्रार्थ में पराजित किया और शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा की। इस शास्त्रार्थ की अध्यक्षता माध्व संप्रदाय के यतिराज व्यासतीर्थ कर रहे थे। व्यासतीर्थ श्री वल्लभाचार्य जी की प्रतिभा और विद्वता से प्रभावित हुए और उन्हें माध्व सम्प्रदाय को सम्हालने के लिए आमंत्रित किया। वल्लभाचार्य जी तत्क्षण कोई निर्णय न कर सके। उसी रात विष्णुस्वामी संप्रदाय के प्रमुख मनीषी विल्वमंगल ने स्वप्न में आचार्य जी को दर्शन देकर आदेश दिया : व्यासतीर्थ के शिष्य मत हो। विष्णु स्वामी सम्प्रदाय का आचार्य पद रिक्त है। उसे ही सम्हालो। मुझे भगवान ने ही ऐसा कहने की प्रेरणा दी है। भगवान के मुखस्वरूप अग्नि के तुम अवतार हो। अतः इस संप्रदाय का दायित्व तुम सम्हाल सकते हो। इसी स्वप्न में अन्य सम्प्रदायों ने इस विष्णु सम्प्रदाय का वैशिष्ट्य भी बतलाया गया। इनकी तुलना इस प्रकार की गई—

१. रामानुज संप्रदाय —	पाद्म कल्पीय सृष्टि —	पद्मपुराणोक्त सिद्धान्त —	आचार्य लक्ष्मी, गरुड़ —	उपास्य लक्ष्मी-नारायण
२. माध्व संप्रदाय —	श्वेतवाराह कल्पीय सृष्टि —	भारत रामायणोक्त सिद्धांत —	आचार्य वायु, हनुमान भीमसेन आदि —	उपास्य रामचंद्र
३. निम्बार्क सम्प्रदाय —	सौर कल्पीय सृष्टि —	सूर्य मंडलस्थ हिरण्मय पुरुष प्रोक्त सिद्धान्त —	आचार्य हिरण्मय —	उपास्य हिरण्मय
४. विष्णुस्वामी संप्रदाय —	सारस्वत कल्पीय सृष्टि —	वेद, गीता, व्यास सूत्र-सिद्धान्त —	आचार्य भगवन्मुख स्वरूप वैश्वानर —	उपास्य गोपी वल्लभ भगवान कृष्ण

इस तुलनात्मक दृष्टि के पश्चात् विष्णु स्वामी सम्प्रदाय की भावात्मक संक्षिप्ति प्रस्तुत की गई। पहले इस संप्रदाय में आत्मनिवेदनात्मक भक्ति की स्थापना की गई थी। फिर भी वह मर्यादा मार्गीय है। वल्लभाचार्य जी को इसमें आत्मनिवेदन द्वारा प्रेम स्वरूप निर्गुण भक्ति का प्रकाश करने का आदेश दिया गया।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि वल्लभाचार्य जी ने पहले मायावाद का खंडन किया। पीछे विष्णु स्वामी संप्रदाय का भावात्मक नव-संस्कार प्रस्तुत किया। सबसे पहले इस संप्रदाय को उन्होंने मर्यादावाद के बन्धन से मुक्त किया। दूसरे इसके आत्मनिवेदन को सुरक्षित करते हुए 'पुष्टि' तत्त्व का संप्रदाय में प्रवेश कराया। उपास्य—गोपी वल्लभ कृष्ण—की भावना के अनुसार इस संप्रदाय में गोपीभाव के प्रवेश की संभावना हुई। सिद्धान्त की दृष्टि से भागवत को जोड़कर प्रस्थान चतुष्टय की स्थापना की। आचार्य रूप में गोपियों की प्रतिष्ठा की गई। उपरोक्त तीनों संप्रदाय मर्यादावादी हैं, केवल विष्णु स्वामी संप्रदाय को आचार्य जी ने अमर्यादित किया। इस दृष्टि से इनका विचार अन्य राधावादी संप्रदायों के समकक्ष होगा। जिन संप्रदायों में राधा इष्ट और गोपी आचार्य हैं, उनका मर्यादा से सम्बन्ध नहीं हो सकता। साथ ही राधा-गोपी-भाव ब्रज में ही अनिवार्यतः घटित हो सकते है, अन्यत्र नही, अतः ऐसे संप्रदाय ब्रजोन्मुख हो गये। वल्लभ भी अन्ततः ब्रज में ही अपने प्रमुख पीठ की स्थापना करने लगे। अन्ततः विष्णु स्वामी संप्रदाय की सगुण भक्ति के स्थान पर निर्गुण (त्रैगुण्यातीत, अहैतुकी, निष्काम) भक्ति की स्थापना वल्लभाचार्य जी ने की। विष्णुस्वामी संप्रदाय को पाँच सिद्धान्तों से विभूषित करके आचार्य जी ने पुनर्प्रतिष्ठित किया। ये सिद्धान्त हैं—गुरुसेवा, सुबोधिनी (भागवतार्थ), भगवत्स्वरूप निर्णय, भगवत्सेवा तथा निरपेक्षता—(भावनामय निष्कामता)।

१·२ **वल्लभ और सूर**—हमारे सूरदास जी का संबंध इस समन्वयशील संप्रदाय से हुआ। इसी समन्वयशीलता के कारण संप्रदाय का व्यापक प्रचार भी हुआ। 'सूर' ने संप्रदाय में दीक्षित होकर सभी तत्त्वों का आत्मसाक्षात्कार किया और सांप्रदायिक सिद्धान्तों को गलाकर भावानुभूतियों के रूप में ढाला और एक ऐसे काव्य की सृष्टि की, जिसमें सांप्रदायिक रूढ़ियाँ और आचार-सरणियाँ भी भाव चकित हैं। काव्य और सिद्धान्तोक्तियाँ इस प्रकार घुलमिल गये हैं कि उनका विभाजन संभव नहीं है।

यदि आचार्य जी के व्यक्तित्व पर सांप्रदायिक दृष्टि से विचार किया जाय तो, संप्रदाय में उनकी सात रूपों में प्रतिष्ठा मिलती है। १. मुख्य पुरुषाकार सुधा, २. आनन्दस्वरूप : भगवद्‍भावरूप कृष्णस्वरूप, ३. परमानन्द स्वरूप : गूढ़ स्त्री-भाव रूप स्वामिनी स्वरूप ४. कृष्णस्वरूप : धर्मी विप्रयोगात्मक स्वरूप, ५. वैश्वानरस्वरूप : तात्पात्मक, ६. वल्लभस्वरूप : लीला मध्यपाती दास्यरूप तथा आचार्य स्वरूप—सन्मनुष्याकृति, भक्तिमार्ग मार्तण्ड और वाक्पतिस्वरूप। इस प्रकार गुरु-आचार्य रूप तो उनके वाह्य कर्तृत्व से संबद्ध था और उनका आध्यात्मिक व्यक्तित्व उपास्य से एकाकार हो जाता है। सूरदास जी का व्यक्तित्व प्रकटतः आचार्य रूप के संबन्ध में मौन है। पर आचार्य जी के आध्यात्मिक व्यक्तित्व के साथ उनके भावात्मक व्यक्तित्व का उच्चतर सामंजस्य स्थापित हो चुका था। अन्तिम क्षणों में सूर ने वल्लभाचार्य जी के आध्यात्मिक व्यक्तित्व की स्वीकृति और मान्यता प्रकट की—'मेरी दृष्टि में आचार्य जी और श्रीकृष्ण में कोई भेद नहीं। आचार्य जी के आध्यात्मिक व्यक्तित्व के विश्लेषण से उसमें दो विभाग मिलते हैं : कृष्णरूप और गोपीरूप। पहला विभाग आनन्द स्वरूप है और दूसरा परमानन्द स्वरूप। 'सूर' की भक्ति साधना भी आनन्दस्वरूप कृष्ण से आरम्भ होकर परमानन्द स्वरूप गोपीभाव में विश्राम लेती है। आचार्य जी के 'स्वामिनी' रूप का प्राकट्य व्रज में हुआ। 'वार्ता' साक्ष्य के अनुसार—

"तहां आधिदैविक भक्ति तौ श्री स्वामिनी जी, सो सदा व्रज में लीला करत हैं। सो भक्ति तो श्री गोकुल में प्रकट भई। ताही तें आचार्य जी, श्री स्वामिनी जी रूप को प्राकट्य व्रज में अलौकिक रीति सों है।"

इस प्रकार वल्लभाचार्य जी के सांप्रदायिक व्यक्तित्व का विकास और निर्माण, बौद्धिक आधार पर दक्षिण में हुआ और काशी के शास्त्रार्थ से इस बौद्धिक व्यक्तित्व का चरम उपलब्ध हुआ। पर आचार्य जी के भावात्मक व्यक्तित्व का उद्‍घाटन, विकास और चरम व्रज में प्राप्त हुआ। सूरदास जी का संबंध यद्यपि आचार्य जी के बौद्धिक व्यक्तित्व से यत्किञ्चित् था, पर उसका पूर्ण तादात्म्य आचार्य जी के भावात्मक व्यक्तित्व से था। यही तादात्म्य गोपी भाव का प्रतिष्ठापक है। इस पर आगे कुछ और विचार किया गया है। यहाँ केवल यही कहा जा सकता है कि आचार्य जी के आधिदैविक भावात्मक परिकर में 'सूरदास' जी का स्थान प्रमुख हो गया। सम्भवतः सूर का प्रवेश आचार्य जी के नितांत एकांत साधना-क्षणों में भी था। 'सूर' की भावात्मक

परिणति इतनी पूर्ण हो गई थी कि आचार्य जी के और सूर के व्यक्तित्व में अन्तर ही नहीं रहा। इसकी स्वीकृति आचार्य जी ने प्रकारान्तर से अनेक स्थानों पर की है।

ऊपर के विवेचन में यह बात आई हैं कि वल्लाभाचार्य जी के संप्रदाय का संबंध विष्णु स्वामी संप्रदाय से था। पर कुछ विद्वान् इस मत को मानने के पक्ष में नहीं हैं। फर्कुहर ने बिष्णु स्वामी के दो मठों की चर्चा की है : एक कामबन में है और दूसरा कांकरौली में।[१] ये दोनों स्थान आज वल्लभ संप्रदाय की प्रमुख गद्दियों के लिए प्रसिद्ध हैं। कामबन ब्रज में हैं। पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह वही कामबन है। पर है यह सांप्रदायिक तीर्थ। विष्णु स्वामी के मत का प्रचार महाराष्ट्र में माना जाता है।[२] पीछे यही मत 'बारकरी' मत में परिणत हुआ।[३] पर इस जनश्रुति का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं प्रतीत होता। विष्णु स्वामी कृत प्रस्थानत्रयी पर कोई भाष्य नहीं मिलता। कहा जाता है कि वल्लभाचार्य जी इन्हीं की उच्छिन्न गद्दी पर विराजे। पर वल्लभाचार्य जी के विचारों पर इस संप्रदाय का कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। आचार्य जी का मत नितांत नवीन है। ईश्वर, जीव एवं प्रकृति के संबंध में बिल्कुल नवीन विचार आचार्य जी ने रखे। विष्णुस्वामी के प्रत्यक्ष शिष्य तो आचार्य जी नहीं हो सकते : इन दोनों के समय में लगभग तीन सौ वर्ष का अन्तर है। ऐसा कहा जाता है कि उनके पिता लक्ष्मण भट्ट विष्णु स्वामी संप्रदाय के अनुयायी थे और अपनी बाल्यावस्था में आचार्य जी भी इसके अनुयायी थे। पीछे स्वतन्त्र मत के वे प्रवर्तक बने।[४] विष्णु संप्रदाय के प्राप्त सिद्धान्तों और भक्ति पद्धति से वल्लभ संप्रदाय का कोई साम्य नहीं है। 'माधुर्य भाव' का प्रवेश विष्णुस्वामी संप्रदाय में उस समय नहीं हो सकता था। यह इस पुष्टिमार्ग की विशिष्ट देन है।

---

१. Farquher, An Out line of the Religious Leterature of India, P. 304.

२. जनश्रुति के अनुसार श्री ज्ञानदेव, नामदेव केशव, त्रिलोचन, हीरालाल, और श्रीराम जैसे महाराष्ट्री संत विष्णुस्वामी मत के अनुयायी थे।

३. डा० दीनदयालु गुप्त, अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० ४२।

४. दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री, वैष्णव धर्म नो संक्षिप्त इतिहास, पृ० २४०-२४२।

२. शुद्धाद्वैत दर्शन—

सूर का काव्य वस्तुतः पुष्टिमार्गीय भक्ति और भावात्मक सेवा-भावना से छलका पड़ रहा है। पर सूर के सांप्रदायिक साहित्य में शुद्धाद्वैत दर्शन की छाया भी स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। ब्रह्म, जगत, माया, जीव, संसार आदि के संबंध में जो सांप्रदायिक चिन्तन प्रचलित था, उससे भी सूर अनभिज्ञ नहीं हैं। उन सिद्धान्तों का कथन करने वाली स्पष्ट उक्तियाँ मिल जाती हैं। उन पर आगे संक्षेप में विचार किया गया है।

२.१ ब्रह्म—

सबसे पहले तो शुद्धाद्वैत दर्शन में मान्य ब्रह्म माया से नितान्त अलिप्त होने के कारण 'शुद्ध' है।[1] ब्रह्म की शुद्धता सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदों से रहित होने के कारण भी है।[2] इस प्रकार ब्रह्म एक, अखंड, आदि-अनादि अद्वैत है। सूर के सिद्धान्त कथन में इस शुद्धता की प्रतिध्वनि मिलती है—

क–पहले हौं ही हौं एक।
'अमल, सकल, अज भेद विवर्जित' सुति विधि विमल विवेक।
ख–ब्रह्म पूरन एक, द्वितीय न कोऊ। राधिका सबै हरि सबै एऊ।
दीप तें दीप जैसे उजारी। तैसे ही ब्रह्म घर घर बिहारी॥

शुद्धाद्वैत दर्शन में ब्रह्म के तीन प्रकार हैं—(१) आधिदैविक=परब्रह्म (२) आध्यात्मिक=अक्षर ब्रह्म। तथा आधिभौतिक=जगत।[3] इस प्रकार जगत ब्रह्म का आधिभौतिक रूप है। इन तीनों के विषय में यहाँ विचार किया जा सकता है।

२.११ परब्रह्म आधिदैविक—

वेद-वेदान्त में जिस निर्गुण का कथन किया गया है वही इस मत के अनुसार परब्रह्म है। इसका निर्गुणत्व प्राकृतिक धर्मों के अभाव के अर्थ में ही है। पर परब्रह्म में आनंदात्मक दिव्य गुणों का आश्रय है। इस अर्थ में वह सगुण भी है। परब्रह्म के तीन धर्म हैं : सत्, चित् और आनंद(=सच्चिदानंद) इसके लिए दूसरा शब्द सदानंद भी प्रयुक्त होता है। सदानंद का पर्याय

१. डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ५१५ (भारतीय दर्शन)
२. सजातीय विजातीय स्वगत द्वैतवर्जितम् (निबन्ध)
३. बल्देव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ५१६।

'कृष्ण' है।[1] शुद्धाद्वैत दर्शन के अनुसार परब्रह्म और कृष्ण एक ही हैं—'परब्रह्म तु कृष्ण हि'। परब्रह्म अपनी आत्ममाया से सदा आवृत रहता है।[2] इसीलिए उन्हें श्रीकृष्ण' कहा जाता है। (श्री=आत्ममाया)। सूर ने ब्रह्म का निर्गुण-सगुण होना लिखा है—

वेद उपनिषद जस कहैं 'निर्गुण' हि बतावैं।
सोई 'सगुण' होइ नंद कें दाँवरी बँधावैं।।

तुलसी ने इसी सिद्धान्त को 'अगुनहि सगुनहि नहि कछु भेदा' कह कर व्यक्त किया है। उन्होंने भी परब्रह्म और कृष्ण में भेद नहीं माना—

कृष्णभक्ति कर कृष्णहि पावैं।
'कृष्णहि तें यह जगत प्रगट हैं, 'हरि' में लय ह्वै जावैं।
यह दृढ़ ज्ञान होय जासों ही, हरिलीला जग देखैं।
तौ तिहि सुख-दुख निकट न आवैं, 'ब्रह्म रूप करि लेखैं।

परब्रह्म 'धर्मी' है। 'धर्मी' वह है जिसमें विरुद्ध धर्म एक साथ रह सकें। इस दृष्टि से परब्रह्म अणु से अणु, महान् से महान्, करस्थ और चल, अकर्तृ और कर्तृ आदि है। इसी प्रकार के अन्य विषमान्वयों से ब्रह्म को युक्त बतलाया जाता है। कृष्ण (=परब्रह्म) 'कर्तुम् अकर्तुम्, अन्यथा कर्तुम् सर्व-भवन-समर्थ' हैं।[3] वे अविकृत होते हुए भी कृपा द्वारा परिणाम बनते है। यही अविकृत परिणामवाद का रहस्य है। इसी 'परिणाम' का।

२.१२ पुरुषोत्तम—

शुद्धाद्वैत या ब्रह्मवाद दर्शन के अनुसार यह जगत समस्त देवों सहित पुरुषोत्तम से प्रकट होता है। संसार में ऐसे भी जीव हैं जो पुरुषोत्तम के स्वरूप से अनभिज्ञ है और इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि देवों को ही सर्वशक्तिमान मानकर उनकी उपासना करते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे हैं, ब्रह्मा, विष्णु या महेश की पूजा करते है। पुष्टिमार्ग में उच्चतम तत्त्व पुरुषोत्तम ही मान्य है। वेद और गीता के अनुसार यही तत्त्व ध्येय है।[4] यही तत्व सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सर्व-

१. कृषिर्भू सत्तावाचकःशश्च निवृत्तिदवाचकः।
तयोरैक्यं परंब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते।।
२. माययावृत (पुरुषोत्तम सहस्रनाम)
३. विरुद्ध सर्वधर्माणामाश्रयो युक्त्यगोचर.। (निबंध)
४. यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम.।। गीता १५।१८।

शक्तिमान है। सामान्य देव तथा प्राकृतिक सभी विभाग त्रिगुण से प्रभावित हैं, पर इनके सभी प्रभावों से परे पुरुषोत्तम हैं। इसी दृष्टि से पुरुषोत्तम को निर्गुण कहा जाता है।

वल्लभाचार्य जी के अनुसार निर्गुण का अर्थ गुण-रहित नहीं है। निर्गुण—गुण रहित अर्थ उपनिषदों में मिलता है। पुष्टिमार्गीय व्युत्पत्ति के अनुसार निर्गुण का तात्पर्य है वह तत्त्व जो त्रिगुण-प्रभाव से परे हैं। ये त्रिगुण माया अथवा प्रकृतिजन्य है। यदि गुण-रहित अर्थ किया जाय तो मूलतत्त्व की कुछ भी उपयोगिता विश्व के संदर्भ में नहीं हो सकती। धार्मिक साहित्य में पुरुषोत्तम के जिन अलौकिक गुणों की चर्चा है, गुण-रहित अर्थ, करने पर, वे निरर्थक हो जाते हैं। इसीलिए त्रिगुण-प्रभाव से निरपेक्ष सत्ता जैसा अर्थ ही निर्गुण से लेना चाहिए। निम्नतर दिव्य तत्त्वों की उपासना में कुछ भी पाप नहीं है : यह निरर्थक भी नहीं है। जो इनका भजन करते हैं, वे इन्हीं को प्राप्त होते हैं : जो सर्वशक्तिमान की पूजा करते हैं, वे उन्हीं को प्राप्त होते हैं। निम्नतर देव विभूतियों की पूजा से जिन फलों की प्राप्ति होती है, वे सीमित और अस्थायी होते हैं। पुरुषोत्तम की पूजा से मिलने वाले फल शाश्वत और असीम होते हैं।[१] सभी देव ब्रह्म के अंशभूत हैं। अतएव देवों को निवेदित सच्ची पूजा प्रकारान्तर से पुरुषोत्तम को ही निवेदित हो जाती हैं।[२] चाहे यह सत्य हो पर पुष्टिमार्ग में भक्ति अन्तर्यामी, सर्वव्यापी आदि विशेषणों से विशेष्य पुरुषोत्तम को ही निवेदित की जाती है।

निर्गुण परब्रह्म अपनी आंतर-शक्तियों के साथ आत्मारमण करता है। इसीलिए वह आत्माराम है। स्वेच्छा से यही 'आत्माराम' आधिदैविक रूप से वाह्यरमण में निरत होता है। आनन्दात्मक धर्मो से विभूपित परब्रह्म का वाह्य प्रकट रूप ही 'पुरुपोत्तम' है। यह श्रुतियों द्वारा निरूपित परब्रह्म से भिन्न नहीं : उसका स्वेच्छा से रूपांतरण मात्र है। यह परब्रह्म का सगुण लीलारूप ही है : यह आनन्दमय और अगणितानंद है। इस पुरुपोत्तम का निरूपण 'सूर' ने इस प्रकार किया है—

अविगत आदि अनंत अनूपम अलख पुरूष अविनासी।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरूषोत्तम नित निज लोक विलासी॥

× × ×

---

१. गीता, ७।२३
२. वही ६।२३

सोभा अमित अपार अखंडित आप आतमाराम।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम, सब बिधि पूरन काम ।।

पुरुषोत्तम की बाह्य लीलाओं के लिए उसकी आंतरिक शक्तियाँ भी बहिर्भूत होती हैं। ये शक्तियाँ विविध रूप, नाम और गुण से उनमें विलसित होती हैं। श्रिया, पुष्टि, गिरा, कांत्या आदि द्वादश शक्तियाँ हैं। ये ही शक्तियाँ श्री स्वामिनी, चंद्रावली, राधा और यमुना आदि के रूप में पुरुषोत्तम की बहिर्लीलाओं में स्थित होती हैं। इनके सम्पर्क से उत्पन्न विविध भाव सखी-सहरी के अनेक रूपों को निष्पन्न करते हैं। वृन्दावन भी परब्रह्म की आन्तर लीलास्थली का ही लाला के लिए अवतरित रूप है। पुरुषोत्तम की लीलाएँ भी नित्य हैं। ये लीलाएँ श्रुतियों की प्रार्थना पर सारस्वत कल्प में ब्रजभूमि में अवतरित हुईं। 'सूरदास' ने पुरुषोत्तम की नित्य लीलाओं का तत्त्व अनेक प्रकार से वतलाया है—

जहाँ वृन्दाबन आदि अजर जहाँ कुंज लता विस्तार।
तहाँ बिहरत प्रिय-प्रितम दोऊ निगम भृंग गुंजार।
× × ×
'सहस रूप बहु रूप रूप पुनि एक रूप पुनि दोय'।
कुमुद कली बिगसित अंबुज मिलि मधुकर भागी सोय ।।

गोपियाँ श्रुति की ऋचाएँ हैं।[1] इसकी प्रार्थना पर पुरुषोत्तम लीलाओंका प्राकट्य हुआ।[2] वृन्दावन भी ब्रह्म के निज धाम का ही अवतरित रूप है।[3] इस प्रकार पुरुषोत्तम ने श्रुतिरूपा गोपियों के साथ लीला-विस्तार किया।[4]

२·१३ अक्षर ब्रह्म—(आध्यात्मिक रूप)

यह परब्रह्म का आध्यात्मिक स्वरूप है। तत्त्वतः यह रूप परब्रह्म-पुरुषोत्तम से भिन्न नहीं है। यह भी सच्चिदानन्द स्वरूप है। इसे पुरुषोत्तम

---

१. गोपी पद-रज-महिमा विधि सों कही।
ब्रज सुंदरि नहिं नारि, रिचा श्रुति की आहीं ।।
२. श्रुतिन कह्यौ ह्वै गोपिका केलि करें तुव संग।
३. वृन्दावन निज धाम कृपा करि तहाँ दिखरायौ।
४. सो श्रुति रूप होय ब्रज मंडल कीनों रास-विहार।
नवल कुंज में अंस बाहु धरि कीन्हीं केलि अपार ।।

'चरणस्थान' भी कहा गया है। ओंकार ज्योतिस्वरूप होने से परब्रह्म का धाम रूप भी है। परब्रह्म के समान आदि, सनातन, अनुपम, अविगत होते हुए भी अक्षरब्रह्म में आनंद की न्यूनता मानी गई है। इसीलिए इसे गणितानंद भी कहा गया है। इसी न्यूनता के कारण यह अपने में से जीव-जगत आदि का निर्माण करता है। यह काल-कर्म-स्वभाव वाला और अक्षर है। प्रकृति, जीव और अनेक देवादि रूप से अक्षरब्रह्म सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और संहार कर्ता है।[1] प्रकृति, पुरुष, नारायण ब्रह्म की इसी स्थिति के अंशरूप हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी इनसे भिन्न नहीं हैं : इसके सत् से जगत् का, चित् से जीव का और आनंद से अन्तर्यामी का आविर्भाव होता है। इसके अन्तर्यामीरूप का कथन 'सूर' ने इस प्रकार किया है :—

१. हरि स्वरूप सब घट पुनि जानो।
ईख माँहि ज्यौं रस है सानो॥

× × × ×

२. अपने आप करि प्रकट कियौ है हरि "पुरुष अवतार।"
माया कियौ क्षौभ बहु विधि करि "काल पुरुष" के अंग।
राजस-तामस-सात्त्विक बहु करि 'प्रकृति-पुरुष' कौ संग।

३. प्रभु तुम मर्म समुझि नहीं पर्यौ।
जग सिरजत, पालत, संहारत पुनि क्यों बहुरि कर्यौ।

इस प्रकार सूर की अनेक उक्तियाँ अक्षरब्रह्म का कथन करती हैं।

२. २ जगत (आधिभौतिक रूप)—

२.२१ तत्त्व दर्शन—'जगत' तत्त्व का निरूपण करने के लिए आचार्य जी ने 'अविकृत परिणामवाद' स्वीकार किया है। जिस प्रकार कुण्डलादि में परिणत होने पर भी स्वर्ण अविकृत रहता है, उसी प्रकार जगत के रूप में परिणत होकर ब्रह्म भी विकृत नहीं होता। भक्ति संप्रदायों का जगत को सत्य मानना अद्वैतवादी 'जगन्मिथ्या' वाले सिद्धान्त का खंडन करता है। आचार्य जी के अनुसार जगत सत्य हैं : ब्रह्म और जगत में तात्त्विक अन्तर नहीं, मात्र रूपांतर है। जगत की उत्पत्ति भी नहीं होती, और इसका विनाश भी नहीं होता। वास्तव में उसका आविर्भाव-तिरोभाव ही होता है। जगत के प्रति यही भावना श्रेयस्कर है।

---

१. उत्पत्तिस्थितिनाशानां जगतः कर्तृ वै बृहत्। (अणुभाष्य)

जग प्रपंच हरि रूप लहै जब दोष भाव मिटि जाहीं।
'सूरदास'-तब कृष्ण रूप ह्वै, हरि हिय में रहे आहीं।।

इस जगत-प्रपंच की सृष्टि का विकास ब्रह्म के सत्-तत्त्व से निर्गत अट्ठा-ईस तत्त्वों से हुई है।[१] सूर ने जगत के इस तात्त्विक विकास के संबंध मे लिखा है—

खेलत खेलत चित में आई सृष्टि करन विस्तार।
अपुन आपु करि प्रगट कियौ है हरि पुरष-अवतार।।
कीने तत्त्व प्रगट तेही क्षन सबै 'अष्ट अरु बीस'।

आगे इस तात्त्विक विवेचन का और भी विस्तार किया गया है।[२] आगे प्रश्न यह रह जाता है कि पुराणादि में जगत को मिथ्या क्यों कहा गया? वस्तुतः इसको मिथ्या कहने का कारण वैराग्य-सिद्धि के लिये ही है।[३] यही तथ्य सूर ने स्पष्ट किया है—

हरि इच्छा करि जग प्रगटायौ।
अरु यह जगत जदपि हरि रूप है 'तउ मायाकृत जानि।'
तातें मन निकारि सब ठाँ तें 'एक कृष्ण मन आनि।'

साम्प्रदायिक मान्यता भी इसी प्रकार की है।[४] जगत् के संबंध में दार्शनिक दृष्टि से यह एक क्रान्तिकारिणी धारण है। जगत को सत्य कहा गया; उसे हरि-रूप माना गया। फिर भी हरि के इस रूप को भक्त अन्तिम लक्ष्य नहीं मानता। अतः इससे आगे चलने के लिए वैराग्य भावना आवश्यक है।

---

१. अष्टविंशति तत्त्वानां स्वरूप यत्र वै हरिः। (निबंध)
२. आदि निरंजन निराकार कोउ हतौ न इसर।
रचौं सृष्टि विस्तार 'भई इच्छा' इक औसर।
निर्गुण तत्त्व में महत्तत्त्व, महत्तत्त्व तें अहंकार।
मन-इन्द्रिय शब्दादि पंची तातें कियौ विस्तार।
शब्दादिक तें पंचभूत सुंदर प्रगटाये।
पुनि सबकों रचि अंड, आप में आप समाये।
तीन लोक निज देह में, राखे करि विस्तार।
आदि पुरुष सोई भयौ जो प्रभु अगम-अपार।
३. मायाकित्वं पुराणेषु वैराग्यार्थमुदीर्यते। निबन्ध)
४. प्रपंचो भगवत्कार्य स्वरूपोमायकाऽभवत्। (निबन्ध)

भेद-बुद्धि अविद्या के कारण ही है। जगत की उत्पत्ति के संबन्ध में कुछ विद्वान सूर पर प्रतिबिंबवाद का आरोप करते हैं, पर यह मान्य नहीं।[१]

विरुद्ध धर्माश्रयात्त्व सूर ने बड़ी भावुकता के साथ चित्रित किया है। कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

एक एक रोम वैराट कूप सम अखिल लोक ब्रह्मंड।
ताहि उछंग लिऐं मात जसोदा अपने निज भुज दंड॥
रवि-ससि कोटि कला बिंब लोचन त्रिविध तिमिर भजि जात।
अंजन देति हेत सुत के, चक्षु लै कर काजर मात॥

सघन भावात्मक लीला-कथन में भी सूर इस विरुद्ध धर्माश्रयत्त्व की पद्धति को अपनाए रहे। इससे भाव की अभिव्यक्ति में एक वैचित्र्य आ जाता है।

२.३ जीव–

अक्षरब्रह्म के चिदंश से जीवों का आविर्भाव हुआ। कारण भगवान की रमणेच्छा ही है।[२] भगवान और जीव के संबन्ध को स्पष्ट करने के लिये अग्नि-विस्फुलिंग न्याय का प्रयोग किया गया है। जीव ब्रह्म का ही अंश है।[३] यह अंश-अंशी भाव प्रायः भक्ति संप्रदायों में स्वीकृत हुआ। इस न्याय से दोनों की तात्त्विक एकता तो सिद्ध हो जाती है पर सीमा-असीमा के भेद हो जाते है। ऐश्वर्यादि धर्म जो भगवान में रहते हैं, वे जीव में से तिरोहित हो जाते है। इनके तिरोधान से जीव दीन हीन होकर संसारी वन जाता है। इस तिरो-धान का क्रम इस प्रकार है : ऐश्वर्य के तिरोधान से दीनता, यश के तिरोधान से हीनता, श्री के तिरोधान से समस्त विपत्तियों का स्थल; ज्ञान के तिरोधान से आत्मरूप देहादिकों में आत्मबुद्धि और आनन्द के तिरोधान से दुःख को जीव प्राप्त होता है। पर इस क्रम में जीव की नित्यता सुरक्षित रहती है। जीव का भगवान से उसी प्रकार व्युच्चरण होता है जिस प्रकार स्फुलिंग का अग्नि से। इससे नित्यता का ह्रास नहीं होता। भगवान के अविकृत चिदंश से जीव का निर्गमन होता है। निर्गमन में आनंदादि गुणों का तिरोभाव रहता है।

---

१. पारीख और मीतल, 'सूर निर्णय' पृ० १६७-१६८।

२. तदिच्छामात्रतस्तस्माद् ब्रह्मपूतांश चेतनाः।
सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारस्तदिच्छया। (निवंध)

३. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (गीता)

पंचपर्वा विद्या और भक्ति आदि साधनाओं से जीव अपने खोए हुए गुणों को प्राप्त करने लगता है और अविद्या के वन्धन से निर्मुक्त हो जाता है। इस प्रकार क्रमशः वह अपने मूल रूप में स्थित होने लगता है। इस प्रकार वद्धजीव मुक्त हो जाता है।

मूलरूप से मुक्तावस्था की प्राप्ति तक जीव की अवस्थाएँ घटित होती हैं। उसकी तीन अवस्थाओं की स्वीकृति इस संप्रदाय में है: शुद्ध, मुक्त, संसारी। केवल आनन्द के तिरोधान होने से पूर्व वह शुद्ध अवस्था में रहता है। अविद्या से सम्पृक्त हो जाने पर जीव संसारी हो जाता है। मुक्त अवस्था में आनन्दादि की प्राप्ति कर जीव सच्चिदानन्द हो जाता है। संसारी जीवों के भी दो भेद माने गए हैं: आसुरी और दैवी। दैवी जीव अपनी मुक्ति-साधना के प्रकार की दृष्टि से मर्यादामार्गीय कहे जाते हैं। 'सूर' से जीवों के संबंध की ये सांप्रदायिक मान्यताएँ प्राप्त हो जाती हैं। भगवान की लीलाओं में सम्मिलित होने वाले गोपीजन शुद्ध जीवों की कोटि में आते है।[१] माया से ग्रस्त होने पर जीव अपने संसारी रूप में मोहित हो जाता है और अपने सत्य रूप से अनभिज्ञ हो जाता है।[२] इस वद्धता का कारण स्वयं जीव की अविद्या है। अन्यथा जीव नित्य और ब्रह्मांश है।[३] अपनी साधना से जीव अपने विस्मृत रूप की पुनर्प्राप्ति भी कर लेता है। इसमें साधना के साथ गुरु-कृपा भी कारण वनती है और सत्य प्रकाश प्रस्फुटित हो जाता है।[४] इस प्रकार जीवन का उद्धार होता है।

२. ४ माया—

शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार माया भी दो प्रकार की है: आत्म या विद्यामाया और अविद्यामाया। आत्मयाया ब्रह्म की 'सर्वभवन समर्थ' शक्ति

---

१. गोपिन मंडल मध्य बिराजत निसदिन करत विहार।
'सहस रूप बहुरूप पुनि एक रूप पुनि दोय ॥
२. अपुनपौ आपुनहिं बिसर्यौ।
जैसे स्वान काँच मंदिर में, भ्रमि-भ्रमि भूसि मर्‌यौ।
ज्यों सपने में रंक भूप भयौ तस्कर अरि पकर्‌यौ ॥
× × × ×
'सूरदास' नलिना को सुअटा कहि कौने जकर्‌यौ ॥
३. तनु मिथ्या छन-भंगुर जानो। चेतन जीव सदा थिर मानो।
४. अपुनपौ आपुन में ही पायौ।
सब्द ही सब्द भयौ उजियारौ, सतगुरु भेद बतायौ।

ही है। जो संबन्ध सूर्य और उसकी दाहक शक्ति में है, वही संबन्ध ब्रह्म और उसकी आत्ममाया में है। इसी दृष्टि से भिन्न आभासित होने पर भी मूलतः माया ब्रह्म से अभिन्न है। तुलसी ने भी 'कहियत भिन्न न भिन्न' से इसी तत्त्व की स्वीकृति की है। वैसे माया ब्रह्म के आधीन है : इसका विपर्यय सत्य नहीं है। वल्लभाचार्य जी ने इस माया के भी दो रूप माने है : व्यामोहिका और करण। इनमें से प्रथम भगवान के चरणों की दासी है।[1] अतः वह भगवान के अनुचर के पास जाने में लज्जा करती है।[2] इस रूपक का तात्पर्य यह है कि भगवान की इस शक्ति की स्थिति मात्र है। इसमें चेष्टा या गति नहीं है। यह निरंतर ब्रह्मस्थ रहती है। दूसरी माया 'करण' है। इस शब्द से ही ज्ञात होता है कि यह क्रियात्मिका है। इसी शक्ति को प्रकट करके भगवान इस समग्र जगत की उत्पत्ति और उसका पालन एवं नाश करते हैं।[3] इसी माया को सर्वसमर्थ कहा गया है। इसी का प्रतिनिधित्व ब्रह्मा, विष्णु, महेश करते हैं। व्यामोहिका माया की झलक सूर की इन पंक्तियों में मिल जाती है—

सबतें परे कृष्ण भगवान।
सो माया है हरि की दासी निसदिन आज्ञाकारी।

इस प्रकार करणरूप माया का आभास निम्नलिखित पंक्तियों से मिल जाता है

पालन सृजन प्रलय के कर्ता माया के गुन जानो।
मो में रजगुन, सिव में तम गुन, विष्णु हि सतगुन मानो॥

करण माया भगवान की इच्छानुवर्तिनी है। उन्हीं की इच्छा का संकेत पाकर माया इस प्रपंच का विस्तार करती है।[4] इस प्रकार 'सूर' की दार्शनिक धारणाएँ सम्प्रदाय से बाहर नही जातीं।

---

१. इयं चरणदासी.. इयं व्यामोहिका। (सुबोधिनी, २।७।४७)

२. ये वाऽभिमुखश्चकारादनुचराश्च ज्ञानिनो भक्ताश्च तत्र सर्वत्रैव विलज्जमाना। (सुबोधिनी, वही)

३. माया सर्वभवन सामर्थ्यम्, शक्तिर्वा काचित्, अप्रयोजिका, तामपि करणत्वेन स्वीकृत्य इदं सर्वमेव जगदुत्पादयति पालयति नाशयति च। (सुबोधिनी, १०।५४।१५)

४. हरि इच्छा करि जग प्रगटायो।
अरु यह जगत जदपि हरि रूप है, तऊ 'मायाकृत' जानि।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि सूर ने संप्रदाय के बौद्धिक या तत्त्वदर्शन का कथन अलग से 'सूरसारावली' में कर दिया है। उनके भावात्मक साहित्य को यह दर्शन कहीं-कहीं ही स्पर्श कर पाया है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि शेष साहित्य में इस दर्शन की उपेक्षा की गई है, अथवा इसके विरुद्ध कुछ बातें आई हैं। समस्त साहित्य में शुद्धाद्वैत सिद्धान्त की आत्मा का निवास है। पर, इसके संबन्ध के स्पष्ट या अभिधामूलक कथन समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार के कथनों से काव्य का रूप विकृत ही होता है। अतः 'सूर' ने इन सबका तत्त्व निरूपण अलग से 'सूरसारावली' में करके लक्ष्यकाव्य को सुरक्षित कर लिया है।

जहाँ तक पुष्टिमार्गीय भक्ति-भावना या सेवासक्ति संबन्ध है, वह तो शुद्ध भावात्मक है। उसका सूर की काव्यधारा से आत्मीय संबन्ध है। एक प्रकार से सूर के काव्य का रस इस भक्तिरस से मिलकर इतना उत्कट और व्यापक हुआ है। इस दर्शन का भक्ति संबन्धी व्यावहारिक दर्शन सूर-साहित्य में अधिक मुखर है। इस पक्ष पर आगे विचार किया गया है।

३. भक्ति निरूपण—निर्गुण भक्ति

३.१ निर्गुण भक्ति—वल्लभाचार्य जी के सिद्धान्त के अनुसार भगवत्प्राप्ति उसी को होती है, जिसे वह चाहे। भगवान के द्वारा जन का चुनाव ही 'पुष्टि' है। पुष्टि की प्राप्ति भक्ति के विविध प्रकारों के निर्वहण से होती है। यह भक्ति सिद्धान्त ही 'पुष्टिमार्ग' का प्राण है। पुष्टिमार्ग दया या कृपा है। पुष्टिमार्ग का अर्थ है भगवदनुकम्पा की प्राप्ति का मार्ग। इसे निर्गुण भक्ति का मार्ग भी कहा जाता है। इस मार्ग में भक्ति की यह परिभाषा की गई है: भगवान के प्रति सुदृढ़, माहात्म्य ज्ञानयुक्त, सर्वाधिक प्रेम ही भक्ति है। इसी से मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है, अन्य किसी भी मार्ग से नहीं। माया या प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। सत, रज, तम ये तीन शक्तियाँ जागतिक विचार और जीवन के प्रवाह को प्रभावित करती हैं। इन गुणों के आधार पर विचार करने से भक्ति के चार प्रकार निश्चित होते हैं: तामसिक, राजसिक, सात्विक और निर्गुण : 'निर्गुण, भक्ति त्रैगुण्यातीत है। क्रोध, हिंसा आदि विकारों से ग्रस्त प्रकृति में पलने वाली भक्ति तामसिक है। सांसारिक विषयों या यश की प्राप्ति से उद्दिष्ट भक्ति राजसिक कही जायगी। पाप-विनाश, भगवान की

प्रसन्नता, भगवान के लिए कर्म-समर्पण तथा निष्कामता वाला प्रेम सात्विक भक्ति है।[१]

निर्गुण भक्ति का स्थान सर्वोच्च है। पुष्टिमार्ग के आचार्य को भक्ति का यही रूप मान्य था। इसका स्पष्टीकरण आचार्य जी ने इस प्रकार किया है ; मन की गति भगवान की ओर इस प्रकार की होनी चाहिए जैसी गंगा की सागर की ओर है। यह गति प्रतिबन्ध रहित, अविच्छिन्न, वेद, स्मृति, लोक आदि के प्रतिबन्धों की उपेक्षा करने वाली भगवतोन्मुख हृद्‌गति ही भक्ति है।[२] भक्ति फलानुसंधान से रहित तथा अहैतुकी होनी चाहिए।[३] केवल सेवा-भाव की उपस्थिति इसमें मान्य है। इसकी गति पुरुषोत्तम या उनके अवतारों की ओर होनी चाहिए।[४] इसी निर्गुण भक्ति की प्रतिष्ठा महाप्रभु वल्लभाचार्य ने की।[५]

इस निर्गुण भक्ति का साम्य शंकर द्वारा प्रतिपादित अन्तिम कोटि की भक्ति से है। शंकराचार्य जी ने भक्त के निविड़ प्रेम की पाँच कोटियाँ पाँच रूपकों के द्वारा प्रस्तुत की हैं :

१. अंकोला फल की भांति : यह फल भूमि पर गिरता है। उसके बीज बिखर जाते हैं। पर वे तत्काल ही मूल की ओर बलात् आकर्षित होने

---

१. माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यया। (तत्त्वार्थ दीप १।४२)

२. अभिसंधाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात् स तामस ॥
विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा।
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः।
कर्मणिहरिमुद्दिश्य परस्मिन्वा मदर्पणम्।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्विकः ॥ (भागवत ३।२९।८-१०)

३ सर्वगुहाशये मयि भवगति प्रतिबन्ध रहिता अविच्छिन्ना या मनोगतिः पर्वतादिभेदनमपि कृत्वा यथा गंगाम्भः अम्बुधौ गच्छति तथा लौकिक-वैदिकप्रतिबन्धान् दूरी कृत्य या भगवति मनसो गतिः। (सुबोधिनी)

४. प्रेमपूर्विका सेवाहेतुः फलाभिसन्धानं तद्रहिता अहैतुकी अनिमित्तावा। (वही)

५. पुरुषोत्तम एव भक्तिर्नतु पुरुषेष्ववतारेषु। (भागवत, ३।२९।१२)

लगते हैं। इस प्रकार तने की ओर आकर्षित होकर वे अपने उद्गम से चिपक जाते हैं।

२. अयसकान्त (चुम्बक) की ओर सुई विवश आकर्षित हो जाती है।

३. पतिव्रता, साध्वी स्त्री अपने पति की भावना और सेवा में संलग्न रहती है।

४. एक बेल या लता अपने अवलम्बन के लिए एक वृक्ष की खोज करती है। एक बार वृक्ष के मिल जाने पर यह उससे लिपट जाती है, जैसे इसका उससे अनुराग हो। यदि इसको वृक्ष से बलात् अलग भी कर दिया जाय तो भी यह वृक्ष की ओर चल कर ही लिपटना चाहती है।

५; मार्ग की बाधाओं को तिरस्कृत करती हुई सरिता अनवरत रूप से समुद्र की ओर प्रवाहित रहती है। इसी प्रकार का भगवत्प्रेम होना चाहिए—शाश्वत, तीव्र और बलवान।

संभवतः श्री वल्लभाचार्य जी ने भी अन्तिम रूपक को लेकर निर्गुण भक्ति की स्थापना की।

जो पुष्टिमार्गावलम्बी बनना चाहते हैं उनके लिये निम्नलिखित नियम पालन करने चाहिए :—

१. शक्त्यानुसार स्वधर्माचरण (संभवतः वर्णाश्रमधर्म परिपालन)।

२. विधर्मी कार्यों से बचना; तथा

३. इन्द्रिय विनिग्रह।[1]

इस प्रकार सामान्य, परम्परागत मूल्यों की स्वीकृति वल्लभ संप्रदाय में मिलती है। इन मूल्यों के प्रति क्रान्तिभावना इस मार्ग में नहीं है। यद्यपि गोपीभाव में इन सभी मूल्यों का विलय हो जाता है, तथापि सामान्य जन के लिए इन नियमों का परिपालन श्रेयस्कर माना जाता है।

३.२ सरणियाँ—

पुष्टिमार्ग में सर्वोच्च मूल्य आत्म-निवेदन है। अपने आपको अशेष रूप से समर्पित कर देना आवश्यक तत्त्व है : उपनिषद् में कहा गया है : ब्रह्म सर्व भूताधिपति है और सभी जीवों का राजा है। जिस प्रकार रथ चक्र में सभी

---

५. अस्मत्प्रतिपादितश्च नैर्गुण्यः। (सुबोधिनी) (देखो पृष्ठ ८०)

१. स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्।
इन्द्रियाश्च विनिग्राह्य सर्वथा त्यजेत् त्रयम्। (तत्त्वार्थदीप, २।२३८)

तीलियाँ चक्र की धुरी और उसके वृत्त से संबद्ध होती हैं उसी प्रकार रथ नाभि चक्र न्यास से सभी जीवों, देवताओं और ब्रह्माण्डों से ब्रह्म का सम्बन्ध होता है। सभी ब्रह्म से आबद्ध हैं।[१] सभी जीवों का उद्गम ब्रह्म से है। अतः सभी का धर्म है कि अपना सर्वस्व ब्रह्म को समर्पित कर दें। आत्म-निवेदन अपने अहं को ब्रह्म को समर्पित कर देना है। भक्त भगवान को सर्वस्व समर्पित कर देता है—शरीर, मन, आत्मा सब कुछ। अपने निमित्त वह कुछ नहीं रखता। दुःख-सुख आदि को भक्त भगवान के उपहार के रूप में ग्रहण करता है और अपने को इन दोनों से ही निर्द्वन्द्व रखता है। उसकी समस्त ऐन्द्रिय ऐषणाओं का शमन हो जाता है। शत्रु-मित्र भाव से भी भक्त निरपेक्ष हो जाता है। यहाँ तक कि वह मोक्ष की भी कामना नहीं करता। वह भगवान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहता। वह भक्ति से ही तुष्ट रहता है: भक्ति से कुछ भी असाध्य नहीं है। 'पुष्टि' की प्राप्ति ही सर्वोच्च है: वह भी भक्ति से संभव है। इस प्रकार संप्रदाय में पूर्ण आत्मसमर्पण को ही सर्वोच्च मूल्य स्वीकार किया गया है। पूर्ण आत्मसमर्पण के समर्थन में गीता और भागवत एक मत हैं। इसी से 'ब्रह्म' संबन्ध की स्थापना होती है। इस मूल्य की मान्यता प्रायः सभी धर्मों और दर्शनों में हैं। पुष्टि और आत्म-निवेदन के मूल्यों की स्वीकृति सार्वदेशिक है।[२]

आत्म-निवेदन और पुष्टि अन्योन्याश्रित हैं। आत्म-निवेदन से पुष्टि की प्राप्ति होती है और पुष्टि से आत्म-निवेदन पूर्ण होता है। आत्म-निवेदन हृदय

१. बृहदारण्यकोपनिषद्, २।५।१५

२. बाइबिल के अनुसार, 'Sin shall not have domain over you, for you are not under the Law (मर्यादा) but under Grace (पुष्टि). Being then made free from sin, be become the servants of righteousness (The Epistle of Paul to the Romans, 6) John Stuard Mill says : "Better religions, not to drive sinners to despair, dwell so much on the divine Mercy, that hardly any one is compelled to think himself irrevocably condemned." [Three Essays on Religions, P. 90] Butler says : "For we have daily instances of such mercy in the general conduct of Nature, compassian provided for misery, medicine for deceases, friends against enemies."

[Analogy of Religions]

को शुद्ध करता है। इस प्रक्रिया की पूर्ण पुष्टि करती है। इसी से संयोग संभव होता है।

आत्मनिवेदन के पश्चात् 'सेवा' का तत्त्व आता है। वल्लभाचार्य जी के अनुसार 'सेवा' का अर्थ है मानसिक रूप से भगवान में लीन रहना। भगवान के द्वारा भक्त की चेतना अभिभूत हो जाती है: उसकी चेतना में भगवान के अतिरिक्त किसी का प्रवेश नहीं हो सकता। सेवा के तीन प्रकार हैं: तनुजा, वित्तजा, तथा मानसी।[1] आरम्भ में प्रथम दो प्रकार की सेवाएँ संपन्न की जाती हैं। उच्चतर अवस्था में मानसी सेवा संपन्न होने लगती है। वास्तव में ये सेवा-भावनाएँ साधना के ही क्रमशः उच्च से उच्चतर रूप हैं। तनुजा और वित्तजा सेवा के फलस्वरूप सांसारिक दुःख की निवृत्ति हो जाती है और ब्रह्मज्ञान होता है। ये दो सेवा-रूप मानसी-सेवा की क्षमता प्रदान करते हैं।

सेवा का लक्ष्य है—मन को भगवान में पूर्णतः तन्मय करना। अतः पूजा भगवान के विग्रह के संदर्भ में सम्पन्न होती है। मूर्त विग्रह में भक्त भगवान की भावना करता है। उसकी यह भावना उसमें यह आस्था दृढ़ कर देती है कि मूर्ति के प्रति निवेदित सेवा भगवान को ही समर्पित हो रही है।[2] निरंतर सेवा एकनिष्ठ ध्यान को जन्म देती है और मन पूर्णतः लीन रहने लगता है। भगवान की सेवा से अखिल विश्व की सेवा हो जाती है। वृक्ष के मूल को सींचने से वृक्ष के तने, पत्तों और उसकी शाखाओं का पोषण भी हो जाता है। श्रीमद्भागवत में यही बात कही गई है।[3] इस प्रकार सेवा भावना के संपूर्ण होने पर सर्वस्व समर्पण की स्थिति आती है। इस आत्मत्याग से, आत्मनिवेदन से पूर्व किये हुए समस्त पाप ज्वलित हो जाते हैं। शिष्य के द्वारा जिन वस्तुओं का उपभोग होता है, उनका समर्पण भगवान के लिए, उपयोग

---

१. कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।
ततः संसार दुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्। [सिद्धान्त मुक्तावली, कारिका १. २]

२. यन्मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति। [तत्त्वार्थदीप]

३. यथा तरोर्मूल निषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥
[भागवत, ४।३१।१४]

करने से पहले होना चाहिए।[1] भोग की शुद्धि से प्रकृति की शुद्धि होती है, प्रकृति की शुद्धि से स्मृति की उपलब्धि होती है। स्मृति की उपलब्धि से उसके समस्त शारीरिक मोह-बन्धन स्वयं छूट जाते हैं।[2] शुद्धिकरण का सर्वोच्च तत्त्व स्वयं भगवान हैं। अतः उनको समर्पित सभी वस्तुएँ निर्दोष और शुद्ध हो जाती हैं। चाहे ये समर्पित वस्तुएँ भौतिक भोज्य, विचार, कार्य, किसी भी रूप में हों, उपभोग से पूर्व समर्पित होकर विशुद्ध हो जाती हैं। इससे अहं से भी मुक्ति मिलती है। भगवान की माहात्म्य भावना का जन्म होता है। सर्व-कर्म समर्पण का सिद्धान्त गीता में भी कहा गया है। इससे निष्कामता जन्म लेती है और कर्त्ता तद्‌गत पापों से मुक्त हो जाता है।[3] पाप हमारे जीवन-केन्द्र को ही विचलित कर देते हैं। जीवन के केन्द्र में भगवान की स्थिति होनी चाहिए। पापों के द्वारा उस केन्द्र पर हमारा अहं प्रतिष्ठित हो जाता है: जीवन की हर वस्तु अहं केन्द्र के चतुर्दिक चक्कर काटती रहती है। भगवान को जीवन के केन्द्र में प्रतिष्ठित करने के लिए सेवा, आत्मनिवेदन और समर्पण का त्रिसूत्री मार्ग है। इससे अहं पिघल कर भगवान में लय हो जाता है।

भक्ति का बीज पहले आत्मनिवेदन में मूल-प्रसार करता है। फल-निरपेक्षता की भूमिका में इसकी वृद्धि होती है। भगवान के माहात्म्य का श्रवण-कीर्तन इसकी पुष्टि करता है। गृह में स्थित होकर, स्वधर्म पालन करके, कृष्ण के प्रति प्रेम-भावना को जगाकर, उसकी सेवा आदि करके ही भक्ति के वृक्ष को सुदृढ़ किया जा सकता है।[4] यही श्री वल्लभाचार्य जी का मत है। इसके अनुसार गृहत्याग अनिवार्य नहीं। अपनी स्थिति के अनुसार भगवान कृष्ण में प्रेम दृढ़ किया जा सकता है।

---

१. असमर्पित वस्तूनां तस्मात् आचरेत्। [सिद्धान्त रहस्य, कारिका ४]

२. आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः [छान्दोग्योपनिषद् ७।२६]

३. गीता, ५।१०; ६।२७, २८

४. बीजभावे दृढ़े तुस्या-त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात्।
बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः॥
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः॥
[भक्तिवर्द्धनी, कारिका १, २]

'श्रवण' का तात्पर्य है भगवान के गुणों, उनकी लीलाओं और उनके वृत्तों को सुनना, जिससे मस्तिष्क सांसारिक आकर्षणों से छूट कर भगवान में लगे। भगवान के गुण श्रवणेन्द्रिय द्वारा हृदय में प्रविष्ट होकर, पापों का मंथन करते हैं और उन्हें वहाँ से निष्काषित कर देते हैं। इस प्रकार हृदय की शुद्धि होती है।[१] श्रवण का उद्देश्य भगवान का कथन करने वाले शब्दों और वाक्यों के अर्थ की प्रतीति है।[२] भगवत्कथा में छः गुणों का निवास रहता है: ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य। इन षड्गुण-युक्त भगवत्कथाओं से मोक्ष लाभ होता है: आनन्दावस्था की उपलब्धि होती है।[३] इसी दृष्टि से इसे 'कथामृत' कहा गया है। कथामृत ही वास्तविक अमृत है। जिस प्रकार भगवान की लीलाएँ समस्त विश्व में व्याप्त है, उसी प्रकार भगवत्कथा भी सर्वत्र व्याप्त है। भगवान अवतरित रूप में प्रकट होता है और फिर अन्तर्धान हो जाता है पर कथामृत तो सदैव प्रकट ही रहता हैं।[४] इसका तिरोभाव नहीं होता।

श्रवण कथा का ग्रहण है। कीर्तन उस कथा का 'गायन'। कीर्तन का तात्पर्य है भगवान से संबन्धित अर्थ-बोध और उस अर्थ का प्रेषण। केवल अर्थ ही नहीं, उस शब्द की आन्तरिक 'शक्ति' का बोध और प्रेषण भी कीर्तन से अभिप्रेत है।[५] 'गायन' से पूर्व भगवान का माहात्म्य-बोध नितांत आवश्यक होता है। एक विशेष प्रकार से संस्कृत, परिष्कृत और सांसारिकता से मुक्त मस्तिष्क ही भगवान की लीला और गुण का संकीर्तन करने योग्य होता है। जिस प्रकार जल-प्लावन में कूड़े-करकट का ढेर बह जाता है, उसी प्रकार सभी

---

१. श्रवणे प्रविशति कथा पुरो हृदये ततः सर्वमेव दोषमालोढ्य मुखतो निस्सरति एवं कियत्काल पर्यावृत्या सर्वथैव शुद्धो भवति। [सुबोधिनी]

२. श्रवणे भगवद्वाचकाकनां परवाक्यानां भगवति शक्तितात्पर्यायधारणम् [सुबोधिनी]

३. यथा तव सामर्थ्या तथा सापि षड्गुणात्मिका मोक्षदायिनि परमानन्दरूपा च तदाह - तव कथा अमृतमिव अमृतं भगवद्रसात्मकं सर्वेषां मरणादि निवर्तकं यद्रूपं तदमृतशब्देनोच्यते अतो मोक्षदातृत्वं, परमानन्द रूपताच सिद्धाः [सुबोधिनी]

४. कथा तु समागत न तिरोभवति [सुबोधिनी]

५. शक्तितात्पर्य बोधनं कीर्तनम् [सुबोधिनी]

पाप-पुंज भगवान के लीला-गुण गायन और श्रवण से बह जाते हैं।[1] जो इन गुण और लीला रूपों का गायन करता है वह महान् हो सकता है। भगवान के गुण शक्ति-स्वरूप हैं। वे क्रिया के अभाव में भी आन्तरिक दृष्टि से सक्रिय रहते हैं।[2]

श्रवण और गायन के पश्चात् 'स्मरण' है। इसका तात्पर्य है भगवान के नामों का स्मरण। शुद्धाद्वैत दर्शन के अनुसार भगवान के 'नाम' और 'रूप' यथार्थ हैं क्योंकि वे स्वयं भगवान के द्वारा रचित हैं। भगवान के नाम और रूप वेद-स्वरूप हैं, वे सबकी शुद्धि करते हैं। 'नाम' भगवान के स्वरूप से विछिन्न नहीं है। इसीलिए नामोच्चारण के साथ-साथ रूप भावना भी होती रहती है। इसी दृष्टि से ध्यान-गत सभी प्रक्रियाओं से नाम-स्मरण की क्रिया श्रेष्ठ है।[3] श्री [लक्ष्मी] का प्रयोग भगवान के सभी नामों के साथ पूर्वप्रत्यय या उपसर्ग के रूप में होना चाहिए। इसी नाम का सौन्दर्य बढ़ता है।[4] अर्थात् नाम का सौन्दर्यपक्ष 'श्री' में निहित है। इससे नाम अलंकृत होकर रूप-कल्पना में सहायक होता है। भगवान के माहात्म्य-ज्ञान, रूपकल्पना, और लीलाबोध के अभाव में सक्षम नामस्मरण का यही महत्त्व है। हृदय इन प्रभाव-बिंबों से परिपूर्ण हो जाता है :

सेवा, श्रवण, कीर्तन और स्मरण का लक्ष्य 'निरोध' की सिद्धि है। इस शब्द का प्रयोग योग-शास्त्र में भी मिलता है। संप्रदाय से इस शब्द का यह अर्थ मान्य था : प्रपंच की स्मृति से विरहित भगवदासक्ति ही 'निरोध' है।[5] निरोध की तीन स्थितियाँ हैं : प्रेम, आसक्ति और व्यसन। भगवान के प्रति प्रेम उनके माहात्म्य-ज्ञान से पुष्ट होता है। जब तीव्रता और विस्तृति की दृष्टि से इस प्रेम का विकास होता है, तो इसका निषेधात्मक पक्ष भी विकसित होता है—अर्थात् सांसारिक वस्तुओं से प्रेम क्रमशः कम होता जाता है। भगवान के साथ प्रेम-सम्बन्ध दृढ़ और अविच्छेद होता जाता है। जगत-प्रपंच की विस्मृति होती जाती है। इसी स्थिति का नाम 'आसक्ति' है। अन्तिम

---

१. पुण्ये श्रवण कीर्तने अस्य अनेन पापं जलपूरणेव नाश्यते। [सुबोधिनी]
२. गुणास्त्वनुभावरूपाः क्रियां नापेक्षते। [वही : कृष्णलीला]
३. वेदवेदार्थरूपत्वान्नामैवाखिल शोधकम्।
तादध्येत् ध्यानसिद्धं प्रायश्चित्तं तु दुर्बलम्। [तात्त्वार्थदीप]
४. साकारत्वात् सौन्दर्यं श्री शब्देनाभिधीयते। [सुबोधिनी]
५. प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिः निरोधः।

स्थिति व्यसन की है। इस स्थिति में भक्त का मन अशेष रूप से भगवान के विचार-चिन्तन से भर उठता है : उसमें सांसारिक विचारों के लिए स्थान ही नहीं रहता। सूर ने स्पष्ट किया है—'नाँहिन रह्यौ मन में ठौर।' व्यसन की स्थिति राधा-भक्ति से प्रतीकायित है : भक्ति का चरम रूप 'व्यसन' राधा-भक्ति के रूप मे प्रकट होता है। निर्गुणियों ने 'अजपाजप' की जो बात कही है, वह नामोच्चारण संबन्धी व्यसन ही है। 'सूर' ने अपने अन्तिम क्षणों में अपनी चित्त-वृत्ति और नेत्र-वृत्ति राधा में ही केन्द्रित बतलाई थी। इस प्रकार 'सूर' सदा ही व्यसन के क्षणों में जीने लगे थे। इसी व्यसन की स्थिति में अमर्यादित भक्ति या निर्गुण भक्ति उदित होती है। मर्यादा अनावश्यक होकर स्वयमेव छूट जाती है और भावना त्रैगुण्य के संस्पर्श से विरहित हो जाती है। चेतना एक अलौकिक भूमि का अनुभव करने लगती है। जब भक्त का मन भगवान के गुणों से पूर्णतः अभिभूत हो जाता है सांसारिक दुख-सुख के स्तर भी तिरोहित हो जाते हैं। चित्त भगवदानन्द में मग्न रहता है।[1] इस प्रकार जब भगवान के गुण भक्त के शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं, तो सांसारिक विषयों के प्रति एक स्थायी विराग जगने लगता है। एक ऐसा अविच्छिन्न आनन्द-स्रोत उमड़ पड़ता है कि किसी भी काल-खंड में दुःख का अनुभव नहीं होता।[2] पारिभाषिक रूप से यही जीवन-मुक्ति की अवस्था है।

'निरोध' के आगे की अवस्थाएँ मुक्ति और आश्रय हैं। जब पूर्ण निरोध की सिद्धि हो जाती है तो भक्त ब्रह्म में ही निवास करता है। यही मुक्ति है। उपनिषद् के अनुसार जो ब्रह्म में निवास करता है वह अमृत हो जाता है।[3] यदि ऐसा भक्त भगवान में घुलमिल कर एक नहीं हो गया है तो वह ब्रह्म का अनन्यभावेन 'आश्रित' हो जाता है। इस स्थिति में महाप्रलय भी उसे स्पर्श नहीं कर सकता : नाश की शक्तियों से वह अतीत हो जाता है। यही स्थिति 'आश्रय' कहलाती है।

---

१. गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम्।
[निरोध लक्षण, कारिका १३]

२. भगवद्धर्मसामर्थ्यात् विरागो विषये स्थिरः।
गुणैः हरेः सुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित्। (वही, कारिका १५)

३. ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति। —छान्दोग्योपनिषद्, २।२३।१

सेवा, श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण—सभी का लक्ष्य एक है—भक्त के मन को भगवान में निरत रखना। इसीलिए श्रवण, कीर्तन, एवं स्मरण 'सेवा' के ही विभाग हैं। भक्ति का लक्ष्य भगवत्प्रेम है। इस दृष्टि से और भक्ति का प्रयोग समानार्थक रूप में होता है। भिज्--धातु का प्रयोग 'सेवा' के अर्थ में किया जाता है। इसलिए इसका प्रवृद्ध प्रयोग भक्त्यर्थक भी हो जाता है। सेवा भक्ति का महान् साधन है।[1] सेवा का फल त्रिविध है : इससे अलौकिक सामर्थ्य की प्राप्ति होती है, सायुज्य की प्राप्ति होती है 'तथा वैकुंठ की प्राप्ति होती है।[2] अलौकिक सामर्थ्य में सिद्धियों का समावेश हो जाता है। सायुज्य का तात्पर्य है ब्रह्म-संयोग या उससे अविच्छेद्य संबन्ध। 'वैकुण्ठ' का तात्पर्य है कि भक्त को दिव्य शरीर की प्राप्ति होती है और वह वैकुण्ठ लोक में तथा अन्यत्र भगवान के आदेशों के पालन की शक्ति से विभूपित हो जाता है। इसी तत्त्व का निरूपण सूरदास जी ने अपनी 'सेवाफल' नामक रचना में किया है। अधिक विस्तार तृतीय फल 'वैकुण्ठ' का किया गया है।

संक्षेप में पुष्टिमार्गीय 'सेवा' का यही स्वरूप है। इस मार्ग की अपनी विशेषताएँ हैं। इस संप्रदाय के अनुसार केवल एक भगवान—कृष्ण, परब्रह्म, परमात्मा, पुरुषोत्तम से प्रेम, उसकी सेवा या उसकी उपासना की जाती है। आचार अनुष्ठान को इस संप्रदाय में प्राथमिकता नहीं दी गई है। भगवत्प्रेम ही इसमें सर्वोच्च मूल्य के रूप में स्वीकृत है। इसमें सर्व-शक्तिमान और उसकी पुष्टि (=कृपा) में अटल विश्वास की अनिवार्यता है। किसी फलेच्छा से भक्ति करना निषिद्ध है। मर्यादा मार्गीय पद्धति से दुःख ही मिलता है। पुष्टिमार्ग में 'प्रेम' का मूल्य केन्द्रीय है। इसकी प्राप्ति ऐसे साधनों से हो जाती है जो सरलता से उपलब्ध हो सकते हैं। इसका परिणाम सुख ही होता है।[3] पुष्टि-मार्गीय भक्ति आरम्भ होती है : क्रमशः गतिशील रहती है : अन्तः इसकी परिणति चरम प्रेम में हो जाती है। एक प्रकार से यही भक्ति का स्वरूप है। मर्यादा मार्ग में, भगवान श्रुति के फल-विधान का अनुसरण करके फल-प्रदान करता है। पुष्टिमार्गीय भक्ति के अनुसर्ता को फल प्रदान में वेदोक्त फल-विधान

---

१. भज इत्येष वै धातुः सेवायं परिकीर्तितः।
तस्मात्सेवा बुधैः प्रोक्ताः साधनभूयसी ॥ (उपदेश मीमांसा)

२. सेवायां फलत्रयम्। अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं...वैकुण्ठादिषु।

३. श्रीकृष्णं भजयेद्भक्त्या यथालब्धोऽपचारकैः। तत्त्वार्थदीप, २।२२९

का ध्यान किए विना ही भगवान भक्त की आन्तरिक इच्छा का ध्यान करके फल प्रदान करता है। दामोदर लीला इसका प्रमाण है।[1]

भक्त के पक्ष में सेवा का निरूपण किया गया है और इस संदर्भ में भगवान की पुष्टि में अटल विश्वास रखना अनिवार्य बतलाया गया है। भक्त की सेवा और 'पुष्टि' मिलकर ही एक आध्यात्मिक पूर्ण इकाई को जन्म देती हैं। भगवान का अनुग्रह ही 'पुष्टि' है। भागवत से ही यह शब्द लिया गया है: 'पोषणं तदनुग्रहः।' उपनिषद् में भी अनुग्रह तत्त्व का समावेश है।[2] इसी शब्द के आधार पर पुष्टिमार्ग को मर्यादा मार्ग से भिन्न सिद्ध किया गया है।[3] मर्यादा मार्ग की मान्यता है—'जो जस करे सो तस फल चाखा।' पुष्टि मार्ग में कहा गया है कि फल-दान में भक्त की इच्छा का आधार रहता है। वल्लभाचार्य जी ने अणुभाष्य में कहा है: "कृति साध्यं साधनं ज्ञान भक्ति रूपं शास्त्रेण वोध्यते। ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्ति मर्यादा। तद्रहिता नामापिस्व-स्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टिरित्युच्यते। यथा च यं।" जो मुक्ति भगवान अपनी ही शक्ति से प्रदान करते हैं,वह पुष्टि है। इसमें फल कर्मानुसार नहीं मिलता। उसकी प्राप्ति भगवान की कृपा, अनुग्रह या पुष्टि से होती है—मुक्ति कर्म का फल न होकर भगवान की 'पुष्टि' का फल है। 'पुष्टि' के फलस्वरूप काल, कर्म और स्वभाव (अंतर्प्रकृति) आदि की बाधाओं का निराकरण हो जाता है।[4] इसमें विश्वास हो जाने पर भक्त अपने को भगवान के हाथों में सर्व-सुरक्षित समझता है।

पुष्टिमार्ग की श्रेष्ठता भी सिद्ध की गई है। इसके लिए इस पद्धति की तुलना अन्य मार्गों से की गई है। सबसे पहले वेदमार्ग को लिया गया है। इस

---

१. यत्र च भक्तस्य स्वातंत्र्यं तदिच्छानुसारेण भगवत्कृतिर्यथा दामोदर-लीलायां सा पुष्टिः। (तत्त्वार्थदीप)

२. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्। मुण्डकोपनिषद् ३, २, ३। और भी द्रष्टव्य कठोपनिषद् १–२–२२।

३. 'फलदाने कर्मापेक्षः। कर्मकरणे प्रयत्नापेक्षः। प्रयत्ने कामापेक्षः। कामे प्रवाहापेक्ष इति मर्यादा रक्षार्थं वेदं चकार। ततोन ब्रह्मणि दोष गन्धोऽपि। न चानीश्वरत्वम्। मर्यादा मार्गस्य तथैव निर्माणात्। यात्रान्यथा स पुष्टि मव्य इति। ब्रह्मसूत्र, २।३।४२ पर अणुभाष्य।

४. कृष्णनुग्रहरूपा हि पुष्टि कालादिबाधिका। (तत्त्वार्थदीप)

मार्ग में यज्ञानुष्ठान की मान्यता है। यज्ञानुष्ठान की सफल परिणति के लिए देश, काल, द्रव्य, मंत्र, कर्त्ता तथा कर्म—इन छः तत्त्वों का सामंजस्य या ऐक्य आवश्यक होता है। कलिकाल में यह सामंजस्य दुर्लभ है। इसके अभाव में इच्छित फल अप्राप्त रहता है। दूसरा ज्ञान मार्ग है। इस मार्ग की साधना दीर्घ, शुष्क और अव्यावहारिक है। यह अत्यन्त दुष्कर पथ है। इस मार्ग की सिद्धि अनेक जन्मों के पश्चात् होती है।[१] वैराग्य के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और वैराग्य दुष्कर है। साथ ही इस साधना में 'अहंभाव' का संकट भी रहता है। तुलसी ने भी 'ज्ञान को पंथ कृपान की धारा' कह कर इसकी दुरूहता को प्रकट किया है। ज्ञानमार्ग के साथ किसी भी भक्तिमार्ग का समझौता नहीं है। कर्म और ज्ञान के मार्गों का अनुसरण करने पर साधक अपनी शक्तियों के आधार पर ही चलता है। भक्तिमार्ग का आत्म-निवेदन, भगवान की शक्तियों पर भक्त को निर्भर कर देता है।

धर्म दो प्रकार का है : निवृत्तिमूलक और प्रवृत्तिमूलक। प्रवृत्ति मार्ग में यज्ञादि कर्मों की स्वीकृति है। निवृत्ति में ज्ञान और तपस्या का ही विधान है। जिन कर्मों के संपादन में द्रव्यादि की आवश्यकता होती है उनमें दूसरों की हानि की संभावना निहित रहती है। ज्ञान और तपस्या की आवश्यकता होने पर स्वयं की हानि संभावित है।[२] भगवान सर्वजीवात्मा है। जो धर्म सभी पर दया रखने को कहता है और जो स्व और पर की हानि से रहित है, और जिसमें भगवत्प्रेम का विधान है, वही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। इसी प्रकार का पुष्टिमार्ग या निर्गुणभक्ति मार्ग है। वल्लभाचार्य जी के अनुसार भगवान का सर्वभावेन भजन या उसके प्रति हार्दिक प्रेम ही सबका एकमात्र धर्म है।[३] इस दृष्टि से पुष्टिमार्ग वह धर्म है जो नैसर्गिक है : सभी जीव इसका परिपालन कर सकते हैं। ज्ञान और कर्म से यह पृथक है। उपासना भी इससे निम्न है, निर्गुणभक्ति (—उत्कट भगवत्प्रेम) का समर्थन वेद, (उपनिषद् भी) गीता, ब्रह्मसूत्र और भागवत जैसे ग्रन्थ करते हैं : स्थान चतुष्टय से समर्पित यह धर्म सभी जीवों के लिए श्रेयस्कर है। जहाँ मर्यादा मार्ग व्यवहारतः त्रिवर्ग रूपांतर है। जगत की उत्पत्ति भी नहीं होती, और इसका विनाश भी नहीं

१. बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते। (गीता ७।१९)

२. द्रव्यमयश्चेत् परोपद्रवकारी, क्रियामयश्चेदात्मोपद्रवकारी, ज्ञानमयश्च तथापनेवापरितोषः तपसि। (सुबोधिनी)

३. सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपाः।
स्वस्यायमेव धर्मोहि नान्यः क्वापि कदाचन।

के पुरुषों के लिए ही निहित माना गया है, वहां पुष्टिमार्ग बिना भेद-भाव के सभी के लिए खुला है। यही इसका व्यापक रूप है। गीता में पुष्टि का स्पष्ट समर्थन है। गीता के अनुसार, सभी कर्म करते हुए, भगवान का आश्रय लेते हुए, भगवान की कृपा से ही शाश्वत् पद की प्राप्ति होती है।[१] भगवान का चिन्तन करने से सभी बाधाएँ निराकृत हो जाती हैं—उन्हीं की कृपा इसका कारण है।[२] कलिकाल में कर्म-ज्ञानादि की शक्ति का ह्रास हो गया है। अतः कृष्ण की सेवा उसके प्रति प्रेम ही फलदायक है।[३] पुष्टिमार्ग इसलिए सर्वश्रेष्ठ है कि भगवान के रक्षण के कारण इसमें पतन-भय नहीं है।[४] यही इस मार्ग का वैशिष्ट्य है। 'सूर' ने भी इस मार्ग की श्रेष्ठता का कथन किया है।

३.३ सूर और पुष्टि भक्ति—सूर साहित्य में यही भक्तिभावना उच्छलित है। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि शुद्धाद्वैत दर्शन की पीठिका में प्रेम का तत्त्व ही निरूपित किया गया है। 'पुष्टि' और विशुद्ध प्रेम एक ही है: एक ही तत्त्व के दो पक्ष ये कहे जा सकते हैं। विशुद्ध प्रेम के अविकल प्रतीक गोपीजन हैं। अतः वे ही प्रेम के गुरु हैं। सूर ने गोपियों की चरण-रज की महिमा गाई है। भृगु भी इस रज की कामना करते हैं—

तिनकी पद-रज जो कोउ वृन्दावन भुव माँही।
परसै सोउ गोपिका-गति लहै संशय नाँहीं॥
भृगु तातें मैं चरन रज गोपिन की चाहत।
श्रुति-मत बारंबार हृदय अपने अवगाहत॥

इन गोपियों के तीन भेद हैं: गोपांगनाएँ, गोपी (कुमारिकाएँ) तथा ब्रजाङ्गनाएँ। गोपाङ्गनाओं ने 'सर्व धर्म परित्यज्य,' तथा लोक-वेद के भय से मुक्त होकर, साक्षात् रूप से पुरुषोत्तम का भजन किया है। अतः इनकी स्थिति परकीय भावासिक्त व्यसन की है। गोपाङ्गनाओं के अनेक चित्र सूर-साहित्य में मिलते हैं—

पलक ओट नहीं होत कन्हाई।
घर गुरुजन बहुतै विधि त्रासत, लाज करावत लाज न आई॥

---

१. गीता १८।५६
२. मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यति। गीता १८।५८
३. कृष्णश्चेत्सेव्यते भक्त्या कलिस्तस्य फलाय हि। (तत्त्वार्थदीप, १।१९)
४. मार्गोऽयं सर्वमार्गाणामुत्तमः परिकीर्तितः।
यस्मिन् पातभयं नास्ति मोचकः सर्वथा यतः॥ (वही, २।२२२)

नैंन जहाँ दरसन हरि अटके, स्रवन थके सुनि वचन सुहाई ।
रसना और कछू नहि भाषत, स्याम-स्याम रट यहै लगाई ॥
चित चंचल संगहि सँग डोलत, लोक-लाज मरजाद मिटाई ।
मन हरि लियौ 'सूर' प्रभु तव ही, तन बपुरे की कहा वसाई ॥

दूसरी श्रेणी 'गोपी' की है । इन कुमारिकाओं ने कात्यायनी व्रत आदि से पुरुषोत्तम का परोक्ष भजन किया है । ये 'पुष्टिमर्यादा' का प्रतिनिधित्व करती है । 'पुष्टिपुष्ट' गोपाङ्गनाओं से इनका यही भेद है । इनमें स्वकीय स्त्री-भावना रहती है । माहात्म्यज्ञान की पीठिका पर यह आसक्ति सजीव होती है । इनको अभीष्ट सुख रासलीला द्वारा प्राप्त हुआ । चीरहरण लीला के समय इनका परोक्ष भजन कृष्ण के प्रति प्रकट हुआ । सूर ने इसी भावना के लिए कहा है—

भजि सखि भाव-भाविक देव ।
कोटि सावन करौ कोऊ, तौऊ न मानै सेव ॥
× × × ×
व्रज वधू बस किये मोहन 'सूर' चतुर सुजान ॥

तीसरी कोटि व्रजाङ्गनाओं की है । ये लोकवत् बालभावना से भगवान का भजन करती हैं । इनका पारिभाषिक नाम 'पुष्टि प्रवाह' है । वात्सल्य भावना इसी की पुष्टि में है । इस भावना के विस्तार में सूर की वृत्ति विशेष रमी है । बाललीला के सभी पद इसी भावना के प्रतीक हैं—

कोऊ कहै 'ललन' पकराव मोहि पाँवरी', कोऊ कहै लाल बलि लाओ पीढ़ी ।'
कोऊ कहै 'ललन' गहाव मोहि सोहनी,' कोऊ कहै 'लाल चढ़ि जाउ सीढ़ी ॥'
कोऊ कहै 'ललन' देखो मोर कैसे नँचै,' कोऊ कहै 'भ्रमर कैसे गुंजारै ।'
कोऊ कहै 'पौरि लगि दौरि आवहु लाल', रीझि मोतिन के हार वारै ॥

कहने की आवश्यकता नहीं समस्त सूर साहित्य इन्हीं गोपी-भावनाओं की विस्तार कथा कहता है । इसी विस्तार में पुष्टिमार्गीय भक्ति का सार्वजनिक रूप है शेष दो कोटियाँ परिष्कृत भावुकों के लिए भावना-मार्ग हैं । इनका क्रमशः विकास एकान्त सेवा के रूप मे होता है । तीसरी अवस्था उत्कट माधुर्य भावना का उदय होता है । इस प्रकार वल्लभ संप्रदाय में बाल, दाम्पत्य और परकीय कांताभाव, तीनों की स्वीकृति है । स्वयं आचार्य जी ने 'मधुराष्टक', 'परिवृढाष्टक' तथा सुबोधिनी में मधुर भावना का विशद चित्रण किया है । यह भावना भ्रम ही होगा कि इस संप्रदाय में मात्र बाल-भाव की भक्ति

को प्रश्रय मिला। बालभाव का संबन्ध प्राय: मन्दिरों से रहा। इसका कारण यह हो सकता है कि सामाजिक रूप से यही भाव अधिक निरापद और स्वच्छ है। इसके पतनोन्मुख होने की संभावना नहीं है। माधुर्यभाव का प्रवेश तो आचार्य जी के समय में ही हो गया था, इसकी पुष्टि गो० विट्ठलनाथ जी ने की। एक सीमा तक उन्होंने चैतन्य- संप्रदाय की पद्धति का भी अनुकरण किया। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप सूर की माधुर्याश्रित काव्यलता भी नवीन स्फूर्तियों से युक्त हो गई। सूर के प्रगाढ़ माधुर्य को देखकर उन पर गोड़ीय, हरिदासी या राधावल्लभीय प्रभाव का आरोपण अनावश्यक है। वैसे ये सभी सप्रदाय माधुर्यवादी हैं। माधुर्य की अन्तिम परिणति समान भी होती है। इससे अन्य संप्रदायों का प्रभाव सिद्ध नहीं हो सकता। सूर के अनेक पदों में माधुर्य की जो मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है, वह पुष्टिमार्गीय ही है।

४. विग्रह (स्वरूप) सेवा—पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त का तीसरा स्तर सेवा का है। सभी आचार्यों ने इष्ट के विग्रह को ध्यान केन्द्रित करने और भावनाओं को प्रेरित करने के लिए आवश्यक माना है। 'मन्दिर' इसी सेवा भावना के लिए उचित परिवेश देते हैं : इष्ट-विग्रह भावनात्मक सेवा का ध्येय बनता है : भौतिक पूजा-विधान से तन और मन सभी वृत्तियों का निरोध होता है और प्रतिक्षण भक्त की चेतना उसी विधान में संलग्न रहती है। पांचरात्र संहिताओं में इस विपय का पर्याप्त विस्तार किया गया है। इन संहिताओं में जहाँ ज्ञान [ब्रह्म, जीव, जगत आदि का निरूपण], योग का निरूपण है, वहाँ देवालय का निर्माण, मूर्तिस्थापन, पूजा, नित्य नैमित्तिक कृत्य, मूर्तियों तथा यंत्रों की पूजा पद्धति, पर्व विशेष के उत्सव आदि का विस्तार भी मिलता है। एक प्रकार से इस विपय का विस्तार ही अन्य विभागों से अधिक हुआ है। 'क्रिया' और 'चर्या' ही संहिताओं के प्रधान विषय हैं। यह विधान वैष्णव मन्दिरों में चरितार्थ हुआ। इसको अपनी-अपनी भावनाओं के अनुसार सभी भक्ति संप्रदायों ने ग्रहण किया। 'पुष्टिमार्ग' भी इसका अपवाद नहीं है। दक्षिण के मन्दिरों में इस विधि-विधान का परिपालन अधिक होता है। व्रज में इस विधान मे भी क्रिया की अपेक्षा भावना प्रधान हो गई। पहले दक्षिण के मन्दिरों में वैखानस संहिताओं में विहित पूजा-पद्धति प्रचलित थी। रामानुजाचार्य जी ने इसका विरोध करके पांचरात्र पूजा-विधि चलाई। तिरुपति के श्री वेंकटेश्वर के तथा कांजीवरम् के मन्दिरों में वैखानस पूजा विधान के कुछ चिह्न अब भी मिल सकते हैं। व्रज में भावना ही मन्दिर-चर्या को अधिक से

अधिक प्रभावित करती गई। वल्लभाचार्य जी का इष्टविग्रह श्रीनाथ जी का है। यह विग्रह आजकल श्रीनाथ द्वारा (राजस्थान) में है। उस समय इसकी प्रतिष्ठा श्री गिरि गोवर्धन पर हुई थी। इसी प्रकार के अन्य विग्रहों की स्थापना गोकुल आदि स्थानों पर भी हुई। श्री वल्लभाचार्य जी ने गिरिराज जी के 'मुखारविन्द' (जतीपुरा : ब्रज) की भावना का प्राकट्य किया। इस प्रकार एक प्रकार से समस्त गिरि गोवर्धन की भावना भी इष्ट-विग्रह के रूप में की गई। यहीं पुष्टिमार्गीय भौतिक सेवा-विधि का विस्तार हुआ। 'सूरदास' जी यहाँ त्रिविध सेवा-भोग, राग, शृङ्गार—के 'राग' भाग से विशेष रूप से संबद्ध थे।

सैद्धान्तिक दृष्टि से सेवा दो प्रकार की होती है : क्रियात्मक और भावनात्मक। क्रियात्मक सेवा के भी दो रूप हैं : तनुजा और वित्तजा। पहले प्रकार में शरीर, उसकी इन्द्रियों तथा कुटुम्बी जनों द्वारा होने वाली सेवा आती है। द्रव्य या अन्य सामग्री के दान आदि से की जाने वाली सेवा वित्तजा है। भावात्मक सेवा 'मानसी' होती है। इस 'मानसी' सेवा की सिद्धि के लिए भी तनुजा और/या वित्तजा सेवा आवश्यक है। 'मानसी' सेवा में इन्हीं के माध्यम से क्रमशः प्रवेश होता है। इस दृष्टि से क्रियात्मक सेवा सभी स्थितियों में अनिवार्य है। इन सभी सेवाओं में ब्रह्मभावना-युक्त बाल-भावना, स्वकीय भावना और परकीय भावनाओं का संचरण होता रहता है। 'मानसी' सेवा के द्वारा जीव चरमगति को प्राप्त होता है। क्रियात्मक सेवा के अनेक तत्त्व निर्धारित किए गए।

सबसे पहला तत्त्व गुरु के आशय का है। 'सेवा' की पूर्ण सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि श्री कृष्ण के माहात्म्य और स्वरूप का निर्भ्रान्तिज्ञान होना चाहिए। भगवत्तत्त्ववेत्ता आचार्य ही ऐसा ज्ञान करा सकता है। इस ज्ञान की उपलब्धि के लिए श्रद्धा और जिज्ञासा से प्रेरित भक्त को 'सर्वात्मभाव' से गुरु की शरण में जाना आवश्यक है। इसकी अन्तिम भावना में गुरु और ईश्वर में अभेद स्थापित हो जाता है। गुरु शरण का महत्व सभी संप्रदायों में मान्य है। सूर में गुरु के प्रति सर्वात्मभाव मिलता है—

> भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
> श्री वल्लभ नख-चंद्र छटा बिनु, सब जग माँझ अँधेरो।

ऐसे भी पद हैं, जिनमें 'वल्लभ' शब्द गुरु और हरि दोनों का अर्थ प्रकट करता है। ऐसे स्थलों पर सूर की वृत्ति गुरु-हरि के अभेद में रमी हुई प्रतीत होती है—

१. श्री वल्लभ अबकी बेर उबारो ।।
सब पतितन में विख्यात पतित हौं, पावन नाम तिहारो ।

२. श्री वल्लभ भले बुरे तोऊ तेरे ।
तुमहिं हमारी लाज बड़ाई, बिनती सुन प्रभु मेरे ।

यह गुरु के लिए एक प्रकार से आत्म-समर्पण है, जो प्रभु के लिए आत्मनिवेदन की भूमिका बनाता है ।

दूसरा तत्त्व नित्यसेवाविधि है । इस सेवा का अष्टयाम विधान है और वर्षोत्सव विधान भी है । प्रातःकाल से शयन-पर्यन्त इस संप्रदाय के मन्दिरों में झाँकियों और सेवा का विधान किया गया है । [illegible]-पूजक की वृत्तियाँ अनवरत रूप से कृष्णार्पित रहती हैं । उपर्युक्त ब्रजांगनाओं, गोपियों और गोपाङ्गनाओं की भावनाओं का समावेश करते हुए नित्य लीलाओं का विधान किया गया है : मंगला, शृङ्गार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या-आरती और शयन ।

मंगला में गुरु-स्मरण के पश्चात् श्री कृष्ण के विग्रह को जगाया जाता है । जगाकर उनको कलेऊ कराया जाता है : मंगलभोग । तत्पश्चात् मंगला आरती होती है । इस समस्त प्रक्रिया में बाल-भाव भावित रहता है । ऋतु के अनुसार वस्त्र और सामग्री आदि की योजना इसमें रहती है । सूर के पदों में जागरण[1], कलेऊ[2], तथा आरती[3] आदि की भावना मिलती है । 'सूर' अनेक प्रकार की भावनाओं और संदर्भों के साथ इन सामयिक पदों का गायन करते थे । 'शृङ्गार' की भावना यह है : गरम पानी से स्नान, अंग रागादि का लेपन और वस्त्रालंकरण ।[4] शृङ्गार के अनन्तर शृङ्गार भोग आता है ।

---

१. लाल नाहिं जगाय सकत, सुन सुबात सजनी ।
अपने जान अजहू कान्ह, मानत सुख रजनी ।।
जब जब हौं निकट जाऊँ, रहत लागि लोभा ।
तन की सुधि बिसरि गई, देखत मुख सोभा ।।

२. दोउ भैया माँगत मैया पै, दै मैया दधि माखन रोटी ।

३. व्रजमंगल की आरती ।

४. क–जसोमति जबही कह्यौ न्हावावन, रोय गये हरि लोटत री ।
तेल उबटनौ लै आगैं धरि, लाल ही चोटी पोटत री ।।
ख–करति सिंगार मैया मन भावत ।
× × × ×
पहिरो लाल झगा अति सुन्दर, आँख आँजि कै तिलक बनावति ।

तीसरी झाँकी 'ग्वाल' की है। इसमें 'धैया' (दूध के फेन का पदार्थ) आरोगाई जाती है।[1] चौथा दरशन राजभोग का है। शीतकाल में राजभोग घर में ही होता है[2] और ग्रीष्मकाल में धूप के भय से कृष्ण वन-गमन जल्दी करते है और राजभोग की 'छाक' वहीं भेजी जाती है।[3] छः घड़ी जब दिन रहता है तब कृष्ण को जगाया जाता है। यह जागरण 'राजभोग' के अनंतर 'अनोसर' (—शयन) के पश्चात् होता है। इसे 'उत्थापन' का दर्शन कहा जाता है। 'उत्थान' के पश्चात् 'भोग' के दर्शन होते हैं। जगने के पश्चात् लाल जी फल-फूल का भोग करते हैं। सातवीं झाँकी 'संध्या आरती' है : वन से गायों को लेकर कृष्ण व्रज की ओर आते है। उस समय घर में आरती होती है।[4] अन्तिम झांकी 'शयन' की है। 'ब्यारू' (रात का भोजन) करायी जाती है। तत्पश्चात् दर्शन आरती होती है और कृष्ण के 'स्वरूप' को पौढ़ाया जाता है। इन सभी झाँकियों के भाव कीर्तन का गायन 'सूर' ने विविध पदों में किया है। 'सूर' की क्रियात्मक सेवा का यही रूप है।

इन दैनिक झाँकियों के अतिरिक्त संप्रदाय में वर्षोत्सव भी मनाए जाते है। इनमें धार्मिक और ऋतुसंबन्धी भी उत्सव सम्मिलित है। इन वर्षोत्सवों को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहले वर्ग में वे उत्सव आते हैं जिनमें लीला-भावना प्रधान रहती है। नित्य एवं अवतार लीलाओं से संबन्धित उत्सव ये है : संवत्सर, गनगौर, अक्षयतृतीया, रथयात्रा, पवित्रा, जन्माष्टमी, राधाष्टमी, दान, झाँकी, नवरात्रि, रास, अन्नकूट, गोराष्टमी, व्रत-चर्या। दूसरा प्रकार पट्ऋतुओं के उत्सवों का है—वसंत ऋतु (डोल),

---

१. दै मैया री दोहिनी, दुहि लाऊँ गैया।

× × ×

दुहि लाऊँ तुरतहि तव मोहि करि दै धैया।

२. जेंवत कान्ह नंद जू की कनियाँ।
कछुकि खात, कछू धरनि गिरावत, छबि निरखत नँदरनियाँ।

३. वहुत फिरी तुम काज कन्हाई।
टेरि टेरि हों भई वावरी, दोउ भैया तुम रहे लुकाई।
जे सव ग्वाल गये घर-घर कों, तिन सों कहि तुम छाक मँगाई।

४. वह देखौ नंद को नंदन आवत।
वृंदावन ते गाय चराय कै, कर धर वेनु वजावत।

ग्रीष्मऋतु (फूलमंडली), वर्षा ऋतु (हिंडोरा) शरद (रास) हेमंत (देव प्रवोधिनी का जागरण), शिशिर (होली)। अन्य अवतारों की जयन्तियाँ भी मनाई जाती हैं : रामजयन्ती, नृसिंह जयन्ती तथा वामन जयन्ती। चौथा प्रकार वैदिक पर्वों का है—मकर संक्रान्ति, ज्येष्ठाभिषेक, रक्षावन्धन, दशहरा, दिवाली और होली भी मनाए जाते हैं। सभी वर्षोत्सवों पर संगीत-कीर्तन का विशिष्ट विधान किया जाता है। सूर के अनेक पद इन वर्षोत्सवों से संवन्धित हैं।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि लीला-सम्वन्धी उत्सवों की भावना का विस्तार ही सर्वाधिक किया गया है। ऋतु सम्बन्धी उत्सवों में से सबसे अधिक पद रास, वसंत, होली और हिंडोरे के हैं। इनमें भी वसंत और होली और भी प्रमुख हैं। 'सूर' का संवन्ध मन्दिरों में चलने वाली क्रियात्मक सेवा से वहुत अधिक था।

पुष्टिमार्गीय सेवा के तीन अंग हैं : भोग, राग, शृङ्गार। भोग में भगवान के लिए खाद्य सामग्री निवेदित करने का विधान है। वाल या किशोर भावना, ऋतु और काल के अनुसार, भावपूर्वक यह सामग्री भगवान को अर्पित की जाती है। इसके अनन्तर यह सामग्री 'प्रसाद' वन जाती है। 'सूर' का इस सेवांग से अधिक घनिष्ट संवन्ध तो नहीं था, पर कुछ पदों में भोज्य सामग्री का विवरण और विधि विधान अवश्य मिलता है।

'राग' सेवा का प्रमुख अंग है। भगवान की लीलाओं के कीर्तन में सभी रागनियों का प्रयोग किया जाना चाहिए। 'सूरसारावली' के एक पद में राग-रागनियों की लम्बी सूची भी दी गई है। राग और लय के साथ कीर्तन करने से मन अधिक तन्मय और एकाग्र होता है। 'निरोध' की प्रक्रिया में भी राग-कीर्तन का विशेष महत्त्व है।

सेवा में विविध वस्त्राभरणों से इष्ट विग्रह को विभूषित करना 'शृङ्गार' सेवा के अन्तर्गत आता है। अष्ट-दर्शनों में भोग और शृङ्गार के दर्शनों की व्यवस्था तो है ही, राग-सेवा सभी प्रकार की सेवाओं और सेवांगों के साथ संवद्ध तत्त्व है। इसलिये राग की व्याप्ति अधिक है। 'सूर' ने शृङ्गार सेवा के लिए उपयुक्त वस्त्र और आभूषणों की सूचियाँ भी दी हैं।

मानसी सेवा की अन्तिम परिणति तो गोपी भाव की सिद्धि है। तनुजा, वित्तजा, क्रियात्मक सेवा का आदर्श 'शरण' है। गीता में शरण के भी दो

---

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य सूरनिर्णय, पृ० २२७-२४४।

स्तर हैं : 'सर्व कर्माण्यपि सदा' तथा 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'। पहले में भक्ति-भावना पूर्वक सभी कर्मो को कृष्णार्पण किया जाता है और द्वितीय में सभी धर्मो का परित्याग करके भगवान की शरण में जाने का विधान है। प्रथम साधन रूप है, दूसरा फल रूप। क्रियात्मक सेवा इसी शरण के लिए भूमिका तैयार करती है। इसका मूल तत्त्व 'अनन्यता' है। सेवा में गृहीत शरण के भी इस प्रकार दो तत्त्व हो जाते हैं : सर्व समर्पण और अनन्य भाव। ये दोनों पतिव्रत धर्मरूप हैं। इस देह का उसके पति कृष्ण में इसी प्रकार विनियोग हो जाना चाहिए, जिस प्रकार एक नवेली—नववधू का अपने पति में।[1] अतः इस क्रियात्मक सेवा का चरम आदर्श पतिव्रत के रूप में स्वीकार किया गया है। जो इस सेवा भावना से विमुख करने वाले तत्त्व हैं, वे त्याज्य हैं।[2] 'जाके प्रिय न राम वैदेही' वाले पद में तुलसी ने भी यही वर्णन किया है। 'सूर' ने सर्व-समर्पण के मूल्य को इस प्रकार कहा—

या में कहा घटैगौ तेरौ।

× × ×

सबै समर्पण 'सूर' स्याम कों, यह साँचौ मत मेरौ।

अनन्य भाव की स्वीकृति इन पंक्तियों में हैं—

यह विधि स्याम लग्यौ मन मोर।

× × ×

ज्यों पतिव्रता नारि अपने मन, पिय कों सर्वसु दे है।

कृष्ण विमुखों का परित्याग भी अनिवार्य है—

तजो मन हरि बिमुखन को संग।
जाके संग कुबुधि उपजित हैं, परत भजत में भंग।

अन्त में शरणागति के आदर्श का कथन है—

राखौ तैसें रहौं जैसें, तुम राखौ तैसें रहों।

५—उपसंहार

इस प्रकार 'सूरदास' जी ने शुद्धाद्वैत दर्शन और पुष्टिमार्गीय भक्ति के तत्त्वों का पूर्ण परिपालन करते हुए, प्रत्येक भावना या भक्तिमार्गीय, रागात्मक और काव्यात्मक विस्तार किया है। औपचारिकता के स्थान पर निजी अनुभवों के संयोग से सजीव संदर्भ की योजना के कारण संप्रदायाश्रित काव्य

१. प्रौढ़ापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे।
तथा देहे न कर्तव्यं वर स्तुष्यति नान्यथा। (अंतःकरण बोध)

२. 'तत्त्यागे दूषणं नास्ति यतः कृष्ण वहिर्मुखा।' (पंचश्लोकी)

भी विशुद्ध मानवीय भावभूमि पर उतर आया है। धर्म-संप्रदाय की आत्मा को तो ग्रहण किया गया हैं, पर इस प्रकार उसकी योजना है कि काव्य की आत्मा अक्षत रह सके। यही 'सूर' के भक्ति साहित्य का वैशिष्ट्य है। इसमें संदेह नहीं कि सूर संप्रदाय के जहाज के रूप में सांप्रदायिक भावना का तिरस्कार नहीं कर सके। उन्होंने पुष्टिमार्ग का स्पष्ट उल्लेख किया है।[1] संप्रदाय के आराध्यदेव 'श्रीनाथ' जी का स्मरण अनेकत्र किया गया है।[2] 'नवनीत प्रिया' जी तथा 'मथुरेश' जी भी प्रमुख स्वरूप हैं। सूर ने इनको भी अनेक पदों में गाया है। संप्रदाय में सबसे अधिक महिमा यमुना जी और गिरिराज जी की है। यमुना जी का महिमा गान 'सूर' ने मुक्त कंठ से किया है।[3] संप्रदाय की मान्यता के अनुसार भक्ति का केन्द्रीय तत्त्व 'प्रेम' है। प्रेम की परम सिद्धि विरह में होती है। 'सूर' ने विरह का महत्त्व कई स्थानों पर निरूपित किया है।[4] पुष्टिभक्ति की तीन अवस्थाएँ हैं : स्वरूपासक्ति (मिलिबौ नैनन ही को नीकौ) लीलासक्ति (जहाँ श्री सहस्र सहित नित क्रीड़त सोभित 'सूरदास') तथा भावासक्ति (भाव बिनु माल नफा नहिं पावै)। सूर ने इन तीनों ही आसक्तियों का पूर्ण भाव-विस्तार किया है। संप्रदाय की भक्ति का निरूपण प्रमुखतः भागवत की 'सुबोधिनी' टीका पर आधारित है। इसी में भावनाओं की भक्ति-मूलक परिणतियों का कथन किया गया है। 'सूर' ने भी इसे प्रमाण ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत किया है।[5] वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र और भागवत की समाधि भाषा के 'प्रस्थान चतुष्टय' का भी अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। इन सभी तत्त्वों के आधार पर कहा जा सकता है कि 'सूर' का सांप्रदायिक व्यक्तित्व भी पूर्ण था। यही सांप्रदायिक व्यक्तित्व उनके भावात्मक व्यक्तित्व की पीठिका है। संप्रदाय में भावों का प्रचुर वैविध्य मिलता है। अतः सूर के भावात्मक व्यक्तित्व ने कभी अभावन और घुटन का अनुभव नहीं किया।

संप्रदाय का दर्शन पक्ष या बौद्धिक पक्ष एक एक सीमा तक ही सूर को प्रभावित कर पाये।

---

१. 'भावभक्ति सेवा सुमिरन करि 'पुष्टि पंथ' में धावै।'
२. श्रीनाथ सकौ तौ मोहि उधारौ।
३. 'श्री यमुनाजी अपनौ दरस मोहि दीजै' और 'श्री जमुने पतित पावन करेउ' जैसे अनेक पद उद्धरणीय हैं।
४. विरह बिनु नाहिन प्रीति की खोज।
५. श्री सुकदेव के वचन आश्रय 'सुनौ सुबोधिनी' टीका जिनकी।

चार

साहित्य सृजन : रचनाएँ

- श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायौ, लीला भेद बतायौ ।

  × × ×

  ता दिन तें हरि लीला गाई, एक लक्ष पद बंद ॥

- 'सूरदास' नें सहस्रावधि पद किये ।'

- 'सो तब सूरदास जी मन में विचारे तो—मैं तौ अपने मन में सवा लाख कीर्तन प्रकट करिबे को संकल्प कियो है, सो तामें ते लाख कीर्तन तौ प्रकट भये हैं ।...वाही समय श्री गोवर्द्धननाथजी आपु प्रकट होय के दरशन दैकें कह्यौ जो—सूरदास जी ! तुमने जो सवा लाख कीर्तन को मन में मनोरथ कियो है, सो तौ पूरन होय चुक्यौ है, जो पचीस हजार कीर्तन मैंने पूरन करि दिये हैं ।"

—वार्ता

साहित्य-सृजन : रचनाएँ

४

सृजन के लिए जैसे उन्मुक्त व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है, वैसा सूर को मिला था। वह अत्यन्त केन्द्रित, समर्पित और गतिशील था। दीर्घायु सूर को साधना की जहाँ आन्तरिक शक्तियाँ उपलब्ध थीं, वहाँ कालगत अवकाश भी अधिक मिला। 'सूर' की साहित्य साधना भाव विकास की दृष्टि से उत्कट और परिमाण की दृष्टि से विस्तृत होती गई। इस साधना के मार्ग में जो भी बाधाएँ आईं, उनका निरसन भी उनका जाग्रत व्यक्तित्व करता गया। उनकी गतिशीलता जहाँ आन्तरिक शक्तियों से पुष्ट हुई थी, वहाँ उन्हें बाह्य परिस्थितियों के कारण भी भाव-विकास करना पड़ा : हीनताजन्य दैन्य—वल्लभोक्त वात्सल्य—साधनात्मक मधुराभक्ति—विट्ठलोक्त श्रृङ्गार-सेवा : इस प्रकार साधना के आयासों को नवीन उत्तेजना मिलती गई। किसी स्थिति में सूर ने स्थैर्य या बासीपन का अनुभव नहीं किया। साधना में नवीनता और ताजगी बनी रही। साहित्य-साधना के इस पूर्ण समर्पित रूप ने हमको जो दिया, वह किसी भी देश या युग के लिए गर्व की वस्तु हो सकती है। सूर की दृष्टिहीनता के कारण बहुत कुछ लिपिबद्ध न हो सका : बहुत कुछ संगृहीत न हो सका : बहुत कुछ सांप्रदायिक दृष्टि से काट कर अलग कर लिया : बहुत कुछ अभी भी कहीं बंद पड़ा है। जो कुछ प्राप्त है, वह भी कम नहीं है। उसका सामान्य परिचय आगे दिया गया है।

रचना-तालिका—

सूरदास के नाम से कई रचनाएँ प्रचलित हैं। इनमें से कुछ प्रकाशित हैं और कुछ अप्रकाशित। इनमें से कुछ की सूचना खोज रिपोर्टों से प्राप्त होती है और कुछ का परिचय प्राचीन ग्रन्थागारों के संग्रहों से मिलता है। अब तक प्राप्त सूचनाओं के आधार पर उनकी २५ कृतियाँ बतलाई जाती हैं। उनकी सूची इस प्रकार है :

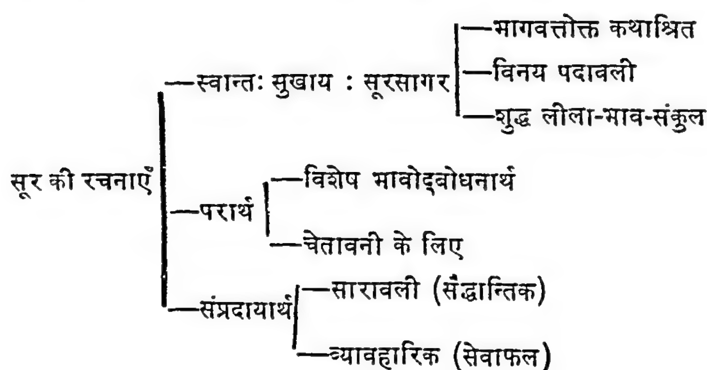
१. सूर सारावली	१०. गोवर्धनलीला	१९. सूरपच्चीसी
२. साहित्य लहरी	११. दानलीला	२०. सेवाफल
३. सूरसागर	१२. भँवरगीत	२१. विनय के पद
४. भागवत भाषा	१३. नागलीला	२२. हरिवंश टीका (संस्कृत)
५. दशम स्कंध भाषा	१४. व्याहलो	२३ एकादशी माहात्म्य
६. सूरसागर सार	१५. प्राणप्यारी	२४. नल दमयंती
७. सूर रामायण	१६. दृष्टि कूट के पद	२५. रामजन्म।
८. मानलीला	१७. सूर शतक	
९. राधा रसकेलि कौतूहल	१८. सूर-साठी	

इनमें से अन्तिम चार (२२-२५) अप्रामाणिक मानी जाती हैं।[१] इनमें से 'सूरसागर' सर्वस्वीकृत प्रामाणिक रचना है। अतः इसके अंशभूत अन्य संग्रह जो उक्त सूची में सम्मिलित हैं, स्वतः प्रामाणिक सिद्ध हो जाते हैं। सूरसागर से संग्रहीत पद संकलन ये हैं : भागवत भाषा, दशम स्कंध भाषा, सूरसागर सार, सूर रामायण, मानलीला, राधारस केलि कौतूहल, गोवर्धन लीला (सरसलीला) दानलीला, भँवरगीत, नागलीला, व्याहलो, प्राणप्यारी, दृष्टिकूट पद और सूरशतक, सूरसागर के ही अंश-संस्करण हैं। सूर सारावली और साहित्य लहरी को मिश्रबन्धु, रामचन्द्र शुक्ल, डा० दीनदयालु गुप्त, पं० नंददुलारे वाजपेयी, श्री प्रभुदयाल मीतल तथा डा० वेनीप्रसाद प्रामाणिक मानते हैं। केवल डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने इन्हें सूर-कृत नहीं माना है। इस मत पर अन्यत्र विचार किया गया है। इन तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त चार और स्वतन्त्र रचनाएँ प्रामाणिक रूप से सूर कृत हैं : सूरसाठी, सूर पचीसी, सेवा-फल और सूरदास के विनय आदि के स्फुट पद। सूर के यश का प्रमुख स्तंभ 'सूरसागर' है। 'साहित्य-लहरी' काव्यरूप और शैली की दृष्टि से अपना स्थान रखती है। 'सूर सारावली' का महत्व सूर के सैद्धान्तिक पक्ष और सांप्रदायिक परिवेश को स्पष्ट करने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शेष चार रचनाएँ छोटी हैं। इस प्रकार सूर की सात प्रामाणिक रचनाएँ हुईं। यद्यपि इन रच-नाओं के संपादन के संबन्ध में प्रयत्न हुए हैं, फिर भी पूर्ण वैज्ञानिक संस्करणों की आवश्यकता बनी हुई है।

---

१. डा० दीनदयालु गुप्त, अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, प्रथम भाग, पृ० २९८ तथा पारीख-मीतल, 'सूरनिर्णय' पृ० १०५।

सूर की उक्त प्रामाणिक रचनाओं को संदर्भ की दृष्टि से तीन भागों में रखा जा सकता है : स्वान्तःसुखाय कृतियाँ, दूसरों के लिए लिखी कृतियाँ तथा संप्रदाय के लिये प्रस्तुत रचना। 'सूरसागर' और स्फुट पद, पहले विभाग में आने वाली रचनाएँ हैं। इनमें संप्रदाय के तत्त्वों का सायास या सचेष्ट समावेश नहीं है। पूर्णतः भाव-समर्पित होकर सूर ने कृष्ण-लीलाओं की भावात्मक स्फीतियों का उद्घाटन किया है। जहाँ स्रोत—भागवत—के कथा-प्रसंग बन्धन बने हैं, वहाँ विवरणात्मक या इतिवृत्तात्मक पदों की रचना करके सूर ने मुक्तिलाभ किया है और फिर भावार्पित व्यक्तित्व स्वतन्त्र साधना में लगा है। 'सूर' का व्यक्तित्व दूसरों के प्रति उदासीन नहीं था। दूसरों के प्रति सहानुभूति, उनकी जिज्ञासा और आतुरता ने भी 'सूर' को कुछ करने के लिए उत्तेजित किया। दूसरों के लिए जो साहित्य-रचना की गई, उसके भी दो विभाग हैं : चेतावनी पूर्ण रचनाएँ और एक विशिष्ट पद्धति के भावोद्बोधन के लिए की गई रचनाएँ : चेतावनी पूर्ण रचनाओं में 'सूरपचीसी' 'सूरसाठी' आती हैं। सूर के ऐसे पद जो किसी ज्वारी के लिए या अन्य किसी भ्रमित व्यक्ति के उद्धार के लिए लिखे गये, इसी श्रेणी की रचनाएँ कही जायँगी। 'साहित्यलहरी' काव्य पद्धति से भक्ति रसोद्-बोध के लिए रची गई। 'सूरसारावली' और 'सेवाफल' सांप्रदायिक दृष्टि के स्पष्टीकरण और उसकी प्रतिष्ठा के लिए लिखी गई। संक्षेप में—



सूर सारावलि—

सूरसागर की कुछ मुद्रित प्रतियों के आरम्भ में यह ग्रन्थ संग्रथित है। इसमें ११०७ तुकें हैं। इसके संबन्ध में यह मान्यता रही है कि इसमें 'सूर-

सागर' का सार दिया गया है अथवा सूर के सवालाख पदों का यह सूचीपत्र है। इसमें स्वयं इस प्रकार का संकेत है :

श्रीवल्लभ गुरु तत्त्व सुनायौ, लीला-भेद बतायौ।
ता दिन तें हरि लीला गाई एक लक्ष पद बंद।
ताकौ सार 'सूर' सारावलि गावत अति आनंद।[1]

डा० व्रजेश्वर वर्मा ने इस ग्रन्थ को अप्रामाणिक माना है :[2] "... यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि कथावस्तु, भाव, भाषा, शैली और रचना के दृष्टिकोण के विचार से 'सूरसागर-सारावली' सूरदास की प्रामाणिक रचना नहीं जान पड़ती।" डा० वर्मा ने अपने अभिमत के समर्थन में सूरसागर और सारावली के बीच २७ अन्तर दिखलाए हैं। साथ ही डा० वर्मा ने यह भी लिखा है कि 'सारावली' सूरसागर के पदों का सूचीपत्र नहीं है। यह एक स्वतंत्र रचना है, जिसकी कथावस्तु में सूरसागर की कथावस्तु से घनिष्ट साम्य होते हुए भी उसे निश्चित सूरसागर का संक्षेप नहीं कह सकते।[3]" श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल ने इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता का परीक्षण अन्तर्साक्ष और सांप्रदायिक साक्ष के आधार पर किया है।[4] पहले तो उन्होंने यह सिद्ध किया है कि यह सवालाख पदों की सूची नहीं है। वास्तव में यह एक स्वतन्त्र रचना है। इसकी विषयवस्तु और सूरसागर के कीर्तन भाग की विषयवस्तु में इतना साम्य है, जो सूरसागर और सारावली के एक ही कर्त्ता को सिद्ध करता है। अन्त में उन्होंने इसे पूर्ण प्रामाणिक रचना माना है।

सारावली की सूचना के अनुसार इसकी रचना कवि ने ६७ वर्ष की आयु में की थी।[5] जो लीला रहस्य शिव के लिए भी अप्राप्य था, उसका साक्षात्कार कवि ने गुरुकृपा से ६७ वर्ष की अवस्था में किया। यदि जन्म संवत् की दृष्टि से ६७ वर्ष की अवस्था देखी जाय, तो इसका रचना काल सं० १६०२ वि० ठहरता है। मीतल जी ने विषय वस्तु के साम्प्रदायिक विकास

---

१. सूर सारावलि, तुक ११०२
२. सूरदास, पृ० ८३
३. वही पृ० ७०
४. सूर-निर्णय, पृ० १०७–१४३
५. गुरु प्रसाद होत यह दरसन, सरसठ बरस प्रवीन।
सिव विधान तप करेऊ बहुत दिन, तऊ पार नहीं लीन। तुक, ११०२

की दृष्टि से इसी रचना काल को उचित कहा है।[1] साथ ही यह सूरसागर का सूचीपत्र न होकर एक स्वतन्त्र रचना सिद्ध होती है।

इसकी विषयवस्तु को भी कवि ने स्पष्ट किया है। उसने लिखा है कि आरंभ में मैंने कर्म-योग और ज्ञान-योग के मार्गों को अपनाया और भ्रमित होता रहा; अन्ततः श्रीवल्लभाचार्य जी ने लीला-रहस्य का उद्घाटन किया और मैंने भगवान की लीलाओं का गायन आरम्भ कर दिया।[2] इससे प्रकट होता है कि सूर ने भगवान की दिव्य लीलाओं का तात्त्विक स्वरूप इसमें स्पष्ट किया है। लीलाओं का सांप्रदायिक दृष्टि से तत्त्व निरूपण ही कवि की इस रचना में अभीष्ट है। वार्ता-साहित्य के साक्ष से प्रतीत होता है कि शरणागति के समय महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने 'दशम स्कंध की अनुक्रमणिका' और 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' सुनाया था। इसी प्रारम्भिक ज्ञान के आधार पर सूर को श्री वल्लभकृत 'सुबोधिनी' का बोध हुआ था।

"पाछें आप दशम स्कंध की अनुक्रमणिका करी हती सो सूरदास कों सुनाये....सो सगरी श्री सुबोधिनी कौ ज्ञान श्री आचार्य जी ने सूरदास के हृदय में स्थापना कियौ।....ता पाछें श्री आचार्य जी ने सूरदास कूँ 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम सुनायौ। तब सगरे श्री भागवत की लीला सूरदास के हृदय में स्फुरी। सो सूरदास ने प्रथम स्कंध श्री भागवत सों द्वादस स्कंध पर्यंत कीर्तन वर्णन कियौ।[3]"

इस प्रकार 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' के श्रवण के पश्चात् सूर को समग्र विषय का अंतर्ज्ञान हुआ। 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' वास्तव में श्रीमद्भागवत का 'सार समुच्चय' ही हैं। 'श्रीमद्भागवत में से ही महाप्रभु ने शुद्धाद्वैत सिद्धान्त प्रतिपादक एक हजार नामों को उद्धृत कर 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' की रचना की है।[4]" सूर ने 'तत्त्व सुनायो' और 'लीला भेद वतायो' से इन्हीं तत्त्वों की ओर संकेत किया है। 'तत्त्व' का यहाँ तात्पर्य है—शुद्धाद्वैत दर्शन की दृष्टि से भागवत का तत्त्वाख्यान। पुरुषोत्तम सहस्रनाम में महाप्रभु जी ने भागवतोक्त

१. सूर निर्णय पृ० १०६
२. करम-योग पुनि ग्यान उपासन सब ही भ्रम भरमायौ।
श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायौ लीला-भेद वतायौ॥
सू० सारावलि, तुक ११०२
३. प्राचीन वार्ता रहस्य, पृ० १४–१५
४. सूर निर्णय, पृ० १२२

सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय नामक दशविध लीलानामों का स्कंधानुसार निरूपण किया है। 'लीला-भेद बतायौ' से सूर ने इसी लीला-दर्शन के प्रबोध की ओर संकेत किया है। लीला-तत्त्व का बोध समग्र भागवत के अर्थ-बोध का सूचक है। इसी समग्र अर्थ को 'सूर' ने सारावली में अनुस्यूत किया है। श्रीमद्भागवत की लीलाओं का कथासूत्रावलंबी भाव-विस्तार सूरसागर में किया गया है और उसी का सरल भाषा में तत्वाख्यान सारावली' में। 'सारावली' में कथासूत्र और भाव विस्तार की ओर कवि का इतना ध्यान नहीं है, जितना तत्त्व के स्पष्टीकरण की ओर। 'उसके सिद्धान्तात्मक सर्गादि दशविध लीलाओं के सार-तत्त्व रूप से, जिसको उन्होंने सारावली नाम दिया है।[१]' 'सार' का तात्पर्य संक्षिप्ति या सूची नहीं है। इसका अर्थ है सिद्धान्त का सार या तत्त्व।' 'सूरसागर' यदि कीर्तन-काव्य है, तो सारावली सिद्धान्त काव्य। महाप्रभु जी ने दशधा लीलाओं का समग्र तत्त्व 'सूर' के अंतःकरण में प्रतिष्ठित कर दिया था। इसी के फल-स्वरूप 'सूर' स्वयं सागर बने थे। इसी सागर के तात्त्विक रत्नों का आकलन 'सारावली' में है। 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' और 'सारावली' के अनुक्रम और विवेचन में पूर्ण साम्य है। सारावली की रचना का उद्देश्य 'सूरसागर' के उद्देश्य से भिन्न है।

सारावली के विषय का एक दूसरा विभाग भी है—'सरस संवत्सर लीला।' डा० मुंशीराम शर्मा ने 'सरस' नामक संवत्सर की कल्पना की है।[२] वास्तव में इसका अर्थ है 'संवत्सर की सरल लीला।[३]' वर्ष भर की दान-मानादि रसात्मक लीलाओं का निरूपण भी 'सारावली' में हुआ है। रसात्मक श्रीकृष्ण ने शुद्ध आनन्दमयी लीलाएँ व्रज में की थीं। इन शुद्ध आनंदमयी लीलाओं की स्थिति व्रज में है। ये लीलाएँ भौतिक नहीं, शुद्ध भावमय हैं। इन्हीं लीलाओं का गायन पद्म, ब्रह्म, वाराह आदि पुराणों, श्रीमद्भागवत्, गर्ग संहिता, नारद पांचरात्र आदि में हुआ है। पुष्टिमार्गीय सेवा-विधान में भी इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन लीलाओं से संबद्ध वर्षोत्सवों की तथा नित्य भावनाएँ हैं। नित्य की भावनाएँ लीला-चर्या से सम्बन्वित हैं। नन्द-भवन की बालभावना और निकुंज की किशोर-भावना तक नित्य-भावना

१. वही पृ० १२४
२. सूर सौरभ, द्वितीय भाग, पृ० ३३
३. सूर निर्णय, पृ० १३३

का विस्तार है। प्रातःकाल से शयन पर्यंत नित्य-भावना के अनेक रूप घटित होते है। वर्षोत्सव की लीलाओं में प्राकट्य से लेकर, ऋतुपरक लीलाओं (हिंडोलना, होली आदि) तक का भाव-प्रसार समाविष्ट है। 'सूरदास' जी ने रसात्मक कृष्ण की इन नित्य और वर्षोत्सव की भावनाओं से आपन्न लीलाओं का क्रमबद्ध वर्णन 'सारावली' में किया है।[1] वर्षोत्सव भावनाओं का आरम्भ जन्माष्टमी से माना गया है। यदि विषय के पूर्वार्द्ध में शुद्धाद्वैत दर्शन का तत्त्वान्वेषण किया गया है, तो उत्तरार्द्ध मे पुष्टिमार्गीय सेवा भावना का स्वरूप और अनुक्रम स्पष्ट किया गया है।[2] इस प्रकार सारावली शुद्धाद्वैत दर्शन और संप्रदाय में मान्य लीला-भावनाओं का कथन करने वाला ग्रन्थ है। इसकी रचना में शुद्ध सांप्रदायिक उद्‌देश्य निहित प्रतीत होता है।

सूर की शैलीगत प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर भी 'सारावली' पर विचार किया जा सकता है। सार, सूचीपत्र या संक्षिप्ति देने की प्रवृत्ति 'सूरसागर' में मिलती है। 'सूरसागर' में प्रायः एक लीला प्रसंग को एक लम्बे पद में कह दिया गया है। यह लम्बा पद प्रसंग के आरम्भ, मध्य या अन्त, में कहीं भी हो सकता है। इसकी शैली भाव-प्रवण पदों से भिन्न होती है। बहुधा 'चौपाई' या सारावली की 'तुक शैली' का प्रयोग ऐसे पदों में हुआ है। इन लम्बे पदों में आये संभावनापूर्ण भाव-सूत्रों का विस्तार कीर्तन-पदों में किया गया है। लम्बे पदों की शैली बहुधा विवरणात्मक रही है। जिस प्रकार एक प्रसंग के सार को समेटे हुए लम्बे पद सूरसागर में मिलते है, उसी प्रकार समस्त भागवतोक्त लीला-पुंज का भी सार विवरणात्मक शैली में दिया जाना आश्चर्य की बात नहीं है। जहाँ सूरसागर के लम्बे पदों में आये भाव-सूत्रों का प्रसार कीर्तन के गेय-मुक्तकों में किया गया है, उसी प्रकार सारावली में सैद्धान्तिक विस्तृति की ओर कवि का ध्यान रहा है। जहाँ कीर्तन पदों में भावों की ज्ञात-अज्ञात छवियों की खोज और उनकी निवृत्ति 'सूरसागर' के कवि को अभीष्ट है, वहाँ सांप्रदायिक सिद्धान्तों का स्पष्ट कथन सारावली के कवि का अभिप्रेत है। इस प्रकार सारावली में कवि की एक शैलीगत प्रवृत्ति का ही सैद्धान्तिक विकास माना जाना चाहिए।

---

१. सूर सारावली, तुक ८७० से १०८९

२. इन लीलाओं और भावनाओं के विशेष परिचय के लिए द्रष्टव्य, सूर निर्णय, पृ० १३४, १४२।

'सारावली' का मनोवैज्ञानिक विश्लेपण करने पर ज्ञात होगा कि इसमें सूर के व्यक्तित्व का बौद्धिक पक्ष ही विशेप सजग है। वल्लभाचार्य जी ने सूर के व्यक्तित्व का बौद्धिक परिष्कार भी किया था और भावात्मक उन्नयन भी। बौद्धिक दृष्टि से सूर को संप्रदाय सिद्धान्त और सेवा विधियों का यथार्थ ज्ञान कराया गया। वल्लभाचार्य जी के पश्चात् यही एक ऐसा व्यक्ति था जिसने आचार्य जी के श्रीमुख से संप्रदाय के रहस्यों को सुना था और सभी का मर्मस्पर्श किया था। आचार्य जी के व्यावहारिक जीवन को जितने समीप से सूरदास जी ने देखा था, उतने समीप से सम्भवतः किसी ने नहीं देखा था। संप्रदाय के सिद्धान्तों की उलझनों को सूर विना लिखित प्रमाण और ज्ञान के अत्यन्त सरलता से सुलझा देते थे। इस दृष्टि से उन्होंने एक रचना ऐसी करना उचित समझा जो संप्रदाय के तत्वों का निरूपण कर सके। स्पष्टः इसके दो विभाग प्रतीत होते हैं : विशुद्ध सैद्धान्तिक और वर्षोत्सवों की व्यावहारिक सेवा विधियों से संबन्धित।

इस रचना ने 'सूर' को सांप्रदायिक-दायित्व से मुक्त किया। इस दायित्व को पूर्ण करना सूर के लिए इसलिए भी आवश्यक हो गया कि उन्हें भाव-साधना के लिए पर्याप्त अवकाश मिल सके। सांप्रदायिक सिद्धान्तों का ज्ञान उनके लिए गर्व की वस्तु भी वन सकती थी, पर सूर की दृष्टि विशुद्ध भावात्मक थी। उन्हें लीलासक्ति का ही विस्तार करना अभीष्ट था। उसके लिए व्यावहारिक या लौकिक जीवन से वे संदर्भ चुनने थे जो लीलासक्ति को सैद्धान्तिक जड़ता से मुक्त करके समग्र अभिव्यक्ति को सजीव कर सके। अतः 'सारावली' की रचना करके वे सांप्रदायिक दायित्व से मुक्त हो गए—एक वद्धता को समाप्त किया। इससे उन्हें अपनी निजी साधन के लिए अपेक्षित स्वच्छन्दता मिल सकी।

साहित्य लहरी—[रचनाकाल—सं० १६०७-१६२७ के वीच कहीं।]

इसमें ११८ दृष्टकूट पदों का संग्रह है :[1] डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने इस कृति को सूरकृत नहीं माना है।[2] अधिकांश विद्वानों ने इसे सूर की प्रामाणिक

---

१. इस रचना का प्रकाशन सबसे पहले बा० हरिश्चन्द्र की प्रति के आधार पर सन् १८९२ ई० में खड्गविलास प्रेस से हुआ था। पुस्तक भंडार, लहेरिया सराय ने इसका पुनर्प्रकाशन सं० १९९६ में किया।

२. सूरदास, पृ० ८७,९३।

रचना के रूप में स्वीकृत किया है।[1] इस वर्ग के विद्वान इस रचना के केवल दो पदों—१०६ तथा ११८—को प्रक्षिप्त मानते हैं। पद संख्या १०६ में साहित्य लहरी का रचना काल और ११८ में सूरदास का वंश परिचय दिया गया है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने इसे अप्रामाणिक मानने में एक यह तर्क भी दिया है : "सूरसागर जैसे वृहद् ग्रंथ में कवि अपनी रचना के विषय में मौन रहा हो, वह 'साहित्य लहरी' जैसे असफल प्रयत्न में नाम और रचनाकाल में इतना मुखर हो जाए, यह भी उसी प्रवृत्ति के प्रतिकूल जान पड़ता है"। इस तर्क का समाधान उक्त दो पदों को अमान्य ठहरा कर हो जाता है। अधिकाँश विद्वान इन दो पदों के अतिरिक्त समस्त रचना को प्रामाणिक मानते है।

डा० वर्मा का दूसरा तर्क साहित्य-लहरी की शैली और भावना को लेकर है। एक सिद्ध भक्त से यह आशा नहीं की जाती कि वह शुद्ध साहित्यिक उद्देश्य से किसी साहित्य-रचना में प्रवृत्त होगा।[2] यह एक प्रकार से नायिका-भेद का लक्षण ग्रंथ सा बन गया है। शैली में चमत्कार की सृष्टि कवि का उद्देश्य प्रतीत होता है। क्या ये दोनों प्रवृत्तियाँ 'सूर' की कही जा सकती हैं ?

संप्रदाय में रसेश्वर कृष्ण की प्रतिष्ठा थी। श्रुति ने भी उसे 'रसो वै स:' कहा और भगवान की रसात्मक लीला-भावना और कल्पना के लिए द्वार उन्मुक्त कर दिया। वाह्य जगत में जहाँ-जहाँ रस-कणों की स्थिति है, वह भगवान के रस की ही छाया है।[3] अष्टछाप के कवियों में भी इसी भावना

---

१. सूरनिर्णय, पृ० १४३।

२. "साहित्य लहरी के प्रणयन में उसके कवि की प्रेरणा साहित्यिक है, भक्ति नहीं...'।....साहित्य लहरी का रचना काल सं० १६२७ मानें तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यदि सूरदास ने इसकी रचना की है, तो अपनी मृत्यु के कुछ ही पहले उन्होंने अपनी भक्ति भावना पूर्ण मनोवृत्ति में आकस्मिक परिवर्तन कर दिया और मानो वे अपने साधन को साध्य रूप में ग्रहण करके मरते-मरते एक असफल और शिथिल लक्षण ग्रंथ रचकर अपने भावी साहित्यिक बन्धुओं का नेतृत्व करने के लिए तत्पर हो गए।" —सूरदास, पृ० ९३।

३. सुबोधिनी, तृ० स्क., १५-३६।

का अवतरण हुआ था।[1] इस प्रकार लौकिक रस-रूप भी प्रच्छन्न रूप से अलौकिक संबन्ध रखता है। लौकिक रस-रूप का, अलौकिक छाया का संकेत करते हुए, वर्णन करना भी वर्जित नहीं है। श्रीमद्भागवत में भी रास पंचाध्यायी के अन्तिम अध्याय में यही बात कही गई—

एवं शशाङ्कांशु विराजता निशाः ससत्यकामोऽनुरतावला गणः।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथा रसाश्रयाः॥

इस कथन से ध्वनित होता है कि काव्य-रस की पद्धति से भी भगवान कृष्ण ने लीला विस्तार किया था। इसका स्पष्टीकरण महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने किया : काव्योक्त रीति या 'गीति गोविन्द' की पद्धति से भी भगवान ने रमण किया।[2] भागवत और भक्ति-आचार्यों के ऐसे संकेतों को पाकर ही भक्ति-रस की काव्यशास्त्रीय व्याख्या का सूत्रपात हुआ। भक्तिकाव्य के लगभग दो दर्जन रीतिकार हुए। बंगाल में मधुसूदन सरस्वती,[3] रूपगोस्वामी,[4] कवि कर्णपूर[5] गोस्वामी और जीवगोस्वामी जैसे भक्ति-रस के काव्यशास्त्रीय आचार्य हुए। स्वयं वल्लभाचार्य जी ने भी अपना मन्तव्य इस संबंध में स्पष्ट किया।[6] सभी ने लौकिक रति के संबन्ध में कुछ न कुछ कहा है।

मधुसूदन सरस्वती ने स्वीकार किया है कि साहित्य या काव्य के भाव भगवद् आलंबन से संबद्ध होकर शुद्ध भक्तिभाव का आश्रय ग्रहण करते हैं, तो उदात्त हो जाते हैं। वे शुद्ध होकर भक्तिरस के बाधक न होकर पोषक बन जाते हैं। शुद्ध भाव (भक्तिरस) अपनी शक्ति से संकीर्ण (साहित्यभाव) भावों को भी पुष्टि करके अपना अंग बना लेता है। साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि भक्तरस में शृङ्गार (काव्यशास्त्रीय) का मिश्रण, प्रथम को बलवत्तर और तीव्रतर बना देता है। इस प्रकार काव्योक्त लौकिक शृङ्गार से समन्वित भक्ति ग्राह्य है।

---

१. रूप प्रेम आनन्द रस जो कछु जग में आहि।
सो सब गिरिधर देव कौ निधरक बरनौं ताहि॥
२. काव्यकथा अपि नीताः। काव्योक्त प्रकारेण गीतगोविन्दोक्तन्यायेनारपि रतिं कृतवान्। तत्र हेतु रसाश्रया इति। सुबोधिनी १०-३३-२६।
३. इनका ग्रन्थ 'भगवद्भक्ति रसायन' है।
४. इन्होंने 'श्री हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' नामक ग्रंथ की रचना की।
५. इस दृष्टि से इनका 'अलंकार कौस्तुभ' नामक ग्रंथ उल्लेखनीय है।
६. 'रासपंचाध्यायी' की सुबोधिनी टीका में इस प्रकार की व्याख्या की गई है।

रूपगोस्वामी की विचारणा कुछ भिन्न प्रकार की है। उनके अभिमत का सार इस प्रकार है : भक्तिकाव्य की आत्मा भक्तिरस है। यदि भक्तिकाव्य में काव्यरस की प्रधानता हो जायेगी तो श्रृङ्गार, हास्य, करुण आदि की अभिव्यक्ति होगी। यह अभिव्यक्ति भक्तिकाव्य का दूषण ही कही जायेगी। जिन काव्यों में लौकिक भावों की ध्वनि या रस-ध्वनि का संचार होगा, उनसे भक्ति का समर्थन नहीं हो सकता। यदि काव्योक्त भाव प्रधान हो जायेंगे, तो भक्ति रस अखंड नहीं रह पाता। यदि काव्य रसों की कुछ भी स्थिति है, तो गौण, अंगभूत रूप में। काव्योक्त रस भक्तिकाव्य में स्वतन्त्र न होकर भक्तिरस के आश्रित रहते हैं क्योंकि इनके आलंबन-आश्रय कृष्ण हैं तथा विषय भक्तगण। इस प्रकार अंगभूत रूप में ही सही, काव्योक्त भावों और विधान का कुछ स्थान भक्तिकाव्य में है।

इस प्रकार बंगाली वैष्णव आचार्यों ने भक्ति-साहित्य को लक्ष्य करके भक्तिमूलक रस-शास्त्र के लक्षण ग्रंथों का प्रणयन किया। आचार्य वल्लभ ने भी भागवत के आधार पर भक्तिमूलक मधुर भाव की कुछ शास्त्रीय व्याख्या की। वल्लभाचार्य जी की दृष्टि में राधाकृष्ण की श्रृङ्गारलीला 'लीलारस' के अन्तर्गत आती है। भागवत इस लीला-रस का पोषण करती है। 'लीलारस' काव्य सामान्य रस-काव्य से श्रेष्ठतर है। इस श्रेष्ठता के मूल में भक्ति में अनिवार्य रूप से व्याप्त उदात्तता, पवित्रता और अलौकिकता जैसे तत्त्व हैं। आचार्य महाप्रभु जी ने वेणुगीत की सुबोधिनी टीका में रस को दो भागों में विभक्त किया है : केवल रस तथा धर्म सहित संभोग रस। प्रथम की स्थिति केवल नाटकों में है, और धर्म सहित रस भक्तिकाव्य में संचरित रहता है। भक्तिकाव्यों में विषयवस्तु कृष्ण की रूपलीला है।[1] गोपीभक्त एवं मातृभक्त धर्म संवृत रस के उपभोक्ताओं की दो श्रेणियाँ हैं। गोपीभक्तों में परम प्रेमासक्ति की व्याकुलता, हरिचरणामृत की प्यास, ज्ञानाज्ञान से मुक्ति, नाना विलास-कला, केलि-क्रीड़ाएँ आदि रहती है। वे कामुककृष्ण के प्रति आसक्त-आकृष्ट रहती है और प्रतिक्षण कामोत्पीड़िता के रूप में स्थित रहती हैं।[2] यह भी माना गया है कि कृष्ण का रसात्मक कामभाव अत्यधिक गूढ़ है। गोपीभाव

---

१. रसो हि द्विविध: धर्मसहित: केवलश्च, केवलो नाट्ये प्रसिद्धो: धर्मसहितो सम्भोगे भागवतोवरुभयविधमप्यत:—षोडशग्रंथाणि, पृ० १७।

२. रास पंचाध्यायी : श्लोक सं. ४२ का भाष्य।

की आकुल-व्याकुल कामना से ही गूढ़ रस का आस्वादन सम्भव है।[१] इस रसास्वाद के लिए भक्त को स्त्रीभाव का आरोपण अनिवार्य होता है। यह स्त्रीभाव अत्यधिक गूढ़ भाव है।[२] इस स्त्रीभाव की स्वीकृति वल्लभ संप्रदाय में थी। सम्प्रदाय में इसीलिए गोपियों को गुरु के रूप में स्वीकार किया गया है।[३] सूर को गोपी-हृदय की सिद्धि हो चुकी थी।[४] स्त्रीभाव की अनिवार्यता का कथन सूर ने इस प्रकार किया है—

भज सखि भाव भाविक देव।
कोटि साधन करौ कोऊ, तौऊ न मानें सेव ।।
धूमकेतु कुमार मांग्यौ, कौन मारग रीत।
पुरुष तें तिय भाव उपज्यौ सबै उलटी रीत ।।
वसन भूषन पलटि पहरे भाव सों संजोय।
उलटि मुद्रा दई अंकन वरन सूधे होय ।।
वेद-विधि कौ नेम नहिं जहाँ प्रीति की पहँचान।
व्रजवधू वस किये मोहन, 'सूर' चतुर सुजान ।।

भावना के उद्रेक से पुरुष में भी स्त्रीभाव जागृत हो जाता है। इसी बात को परमानंददास जी ने भी स्वीकार किया है।[५]

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि वृन्दावन के, बंगाल के सभी राधावादी संप्रदाय में स्त्रीभाव की मान्यता थी। इसी भावना से भक्त कृष्ण की रूप-शृङ्गार लीलाओं में प्रविष्ट होता है। शुद्ध भक्तिरस यहाँ उमड़ पड़ता है। इसके साथ लौकिक काव्यरस भी संयुक्त या अंगभूत रह सकते हैं। इनसे भक्तिरस बलवत्तर और तीव्रतर होता है। यहीं मधुर रस-साधना में काव्योक्त पद्धति का समावेश होना है। इसी काव्योक्त पद्धति में नायिका भेद का प्रवेश हो जाता है। विविध नायिकाओं के रूप में भावित होकर गोपीजन कृष्ण-संभोग का रसास्वादन करती हैं। 'साहित्य-लहरी' इसी नायिका भेद के आश्रय

१. रास पंचाध्यायी : श्लोक २ की प्रथम पंक्ति की टीका।
२. रास पंचाध्यायी : ६ तथा ५ पंक्ति की टीका।
३. '...गोपिका प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत्।'
४. 'हौं चेरी महारानी तेरी' तथा 'सूर सखी कैसे मन मानैं' जैसी पंक्तियों से यही सिद्धि प्रकट होती है।
५. लगै जो वृन्दावन कौ रंग।
स्त्री भाव सहज सहज में उपजै, पुरुष भाव होय भंग।

से मधुर लीलाओं के कथन और आस्वादन की पद्धति को लेकर चली है। इस रचना में श्रीकृष्ण के नायिकाभेद की पद्धति से भक्तिरसास्वादन का स्वरूप स्पष्ट किया है। नायिका-भेद पद्धति का प्रवेश बंगाली वैष्णव साहित्य में भी हुआ था। रूप गोस्वामी का 'उज्ज्वलनीलमणि' इस दृष्टि से उल्लेखनीय ग्रन्थ है। नायिका-भेद को उन्होंने 'मधुर' भाव की संरचना में ढाल दिया। उज्ज्वल या मधुर रस रसराट् है। इसका स्थायीभाव मधुरा रति है। इसके आलंबन विभाव में रस-विग्रह कृष्ण और उनकी वल्लभाएँ आती हैं।[1] समस्त नायक-नायिका भेद को कृष्ण, राधा एवं गोपियों पर घटित करने का यह प्रथम शास्त्रीय प्रयास माना जा सकता है।

अष्टछाप के शिरोमणि सूर ने 'साहित्य-लहरी' के द्वारा इसी पद्धति का उपक्रम किया। इसका लक्ष्य पक्ष ही सूर को अभीष्ट था। लक्ष्य पक्ष पर रूप-गोस्वामी की पद्धति का प्रभाव स्पष्ट है। भक्तिकाव्य में कृपाराम ने 'हिततरंगिणी' नामक नायिका भेद का ग्रन्थ लिखा। इस रचना के नाम से सिद्ध होता है कि यह कवि श्री हित हरिवंश जी के संप्रदाय का अनुयायी था। पर इसमें भक्ति तत्त्व इतने प्रमुख नहीं है। 'सूरदास' ने साहित्य लहरी में भक्ति के तत्त्वों का समन्वय किया। इसी पद्धति पर आगे चलकर नन्ददास ने 'रसमंजरी' की रचना की। इसकी लक्षण-पद्धति भानुमिश्र के समान और लक्ष्य पद्धति रूप-गोस्वामी और सूर के समान है। केशव ने अपनी कृति 'रसिक प्रिया' में भक्त कवियों के लक्ष्य साहित्य की पद्धति का ही अवलम्बन किया : इस प्रकार भक्ति और रीति दोनों ही साहित्य-परम्पराएँ राधा की मधुर लीलाओं को लेकर चली। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि 'सूर' की साहित्य-लहरी में काव्यशास्त्रोक्त पद्धति से भक्तिरस का निरूपण हुआ है। यहाँ एक बात और हमारा ध्यान आकर्षित करती है। सूर ने लिखा है—"नंदनंदनदास हित साहित्य लहरी कीन।" अर्थात् 'साहित्य लहरी' की रचना 'नंदनंदनदास' के लिए की गई। 'नंदनंदनदास' का सामान्य अर्थ 'भक्तजन' होता है। पर इसका विशिष्ट अर्थ नंददास' भी सम्प्रदाय में मान्य है।[2] नंददास पहले रामभक्त थे।

---

१. उज्ज्वल नील मणि, १।२ तथा टीका भाग।-
वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः स्वाद्यतां मधुरा रतिः।
नीता भक्तिरसः प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभिः॥
अस्मिन्नालम्बनाः प्रोक्ताः कृष्णस्तस्य वल्लभाः।

२. सूर निर्णय, पृ० १५३।

पीछे वे पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए। प्रवेशांतर वे आरम्भ में सांप्रदायिक रहस्य-ज्ञान के लिए 'सूरदास' के पास छः मास तक चन्द्रसरोवर (परासौली) में रहे।[1] नन्ददास की वृत्ति अधिक साहित्यपरक प्रतीत होती है। इसी को दृष्टि में रखकर संभवतः सूर ने काव्योक्त पद्धति से रसोपासना का रहस्य नन्ददास जी को स्पष्ट किया। इसी की नादात्मक परिणति हमें नन्ददासकृत 'रसमंजरी' में मिलती है। नन्ददास जी पूर्णतः गोपी प्रेम से भावित हो गये।

अब प्रश्न 'साहित्य लहरी' की दृष्टिकूट शैली का रह जाता है। वैसे रहस्यवादी साहित्य में रहस्य शैली के रूप नवीन नहीं हैं। सिद्ध साहित्य में 'संध्या भाषा' और उलटवाँसियों की शैली का प्रयोग गूढ़ तत्त्वों के विवेचन के लिए किया गया है। सिद्ध-नाथ परम्परा में पारिभाषिक अर्थों की निष्पत्ति के लिए विरोधी-शब्दावली और अद्भुत रूपकों एवं प्रतीकों का योग 'गुह्य-वाणी' और 'संधा भाषा' के रूप में होता था।[2] "...उपमानों की विरोधात्मक योजना पर आधारित उलटवासियों की चमत्कारपूर्ण शैली सिद्धों के काव्य में भी व्यवहृत होती थी।...कबीर तथा उनके बाद के संतों में इस उलटवाँसी पद्धति का बहुत प्रचलन रहा है....।[3] तांत्रिक साहित्य में इस शैली का प्रयोग प्रचुर रूप से होता रहा। वैष्णव तंत्रों में भी इस शैली की थोड़ी बहुत मान्यता रही। तब तंत्रों का वैष्णवीकरण हुआ, तब किसी न किसी रूप में शैली भी स्वीकृत रही। इस शैली के प्रयोग का उद्देश्य उपयोगितावादी भी था और चमत्कारवादी भी। उपयोगितावादी दृष्टि से अलौकिक या आध्यात्मिक स्थिति का लौकिक स्थिति से वैसा दृश्य के द्वारा गूढ़ अर्थों की व्यंजना इससे की जाती थी। दूसरे गूढ़ तत्त्वों को छुपाने या अनधिकारी से इनको सुरक्षित रखने के लिए यह एक शैली तात्त्विक वर्जन के रूप में दृष्टिकूट का प्रयोग होता था। 'सूर' की अन्य रचनाओं में छिटपुट रूप से इस शैली के निदर्शन मिलते हैं। साहित्य लहरी में यह शैली पुंजीभूत हो गई है। सूर का उद्देश्य इस शैली के प्रयोग में यही उद्देश्य ज्ञात होता है कि कृष्णलीला रस का अति शृङ्गारी रूप कहीं अपात्र के हृदय में पड़कर लांछन न बन जाये : "....इन पदों में काव्योक्त (लौकिक प्रकारों वाली) कृष्ण लीलाएँ होने से उन्हें गूढ़ रखना आवश्यक था। अतः लौकिक इनमें प्राप्त नायिकाओं के

---

१. प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग, पृ० ३४०।

२. डा० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ० ४४१, ४४७।

३. वही, पृ० ४६६, ४६७।

उल्लेखों में भी कुछ गूढ़ता लायी गयी है जिसके कारण नखशिख वर्णन न होते हुए भी इसमें दृष्टिकूट शैली की नितांत आवश्यकता थी।[1]" साहित्य लहरी की विषयवस्तु और शैली का यही स्पष्टीकरण है। इसमें कुछ सामान्य शैली के पदों का भी समावेश है। अधिकांश विद्वान इसे प्रामाणिक रचना स्वीकार करते हैं।[2] इसकी प्रामाणिकता का सबसे बड़ा प्रमाण साँप्रदायिक रस-रीति-निरूपण और सेवा भावना है।

'सूरसागर'

यह सूर की सर्व स्वीकृत प्रामाणिक रचना है। इसकी अनेक हस्त-लिखित प्रतियाँ भारत के विभिन्न ग्रन्थागारों में मिलती हैं।[3] इनका विस्तार समस्त उत्तरी भारत में मिलता है। 'सूरसागर' का प्रकाशन लखनऊ[4], बम्बई[5] आदि से आरम्भ हुआ। बम्बई वाले संस्करण का कार्य भारतेन्दु जी ने आरम्भ किया था और इस कार्य को बाबू राधाकृष्णदास ने पूर्ण किया। इनके आधार पर कुछ संक्षिप्त संस्करण भी संपादित हुये। इनके संपादक डा० बेनीप्रसाद (१९२२), डा० धीरेन्द्र वर्मा (१९२६) तथा डा० रामकुमार वर्मा (१९३३) रहे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने भी वियोगी हरि द्वारा संस्करण प्रकाशित किया। नागरी प्रचारणी सभा काशी ने पं० नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा संपादित 'सूरसागर' प्रकाशित किया। अब यह कार्य पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने अपने हाथ मे लिया है। कलकत्ते से उनके द्वारा संपादित 'सूर-सागर' का वृहत् संस्करण प्रकाशित हो रहा है। इसका प्रथम भाग प्रकाशित

---

१. सूरनिर्णय, पृ० ४४६।

२. मिश्रबन्धु, (हिन्दी नवरत्न, चतुर्थ संस्करण, पृ० २३२) रामचन्द्र शुक्ल (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १९४-५) डा० दीनदयालु गुप्त (अष्ट-छाप और वल्लभ संप्रदाय, प्रथम भाग, पृ० २७८, २९८) तथा श्री पारीख और मीतल (सूर निर्णय, पृ० १४३ १५२) ने माना है।

३. डा० प्रेमनारायण टंडन ने 'सूर की भाषा' (पृ० ५९७–६०१) में इस प्रकार की २४ प्रतियों की सूची दी है। पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने प्रतियों की शोध सबसे अधिक की है। उन्होंने इनका विवरण भी प्रका-शित कराया है।

४. नवलकिशोर प्रेस, सन् १८६४।

५. वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

भी हो गया है। चतुर्वेदी जी ने अनेक अछूती प्रतियों का उपयोग भी इसमें किया है और नवीन सामग्री जोड़कर इसके आकार में वृद्धि की है।

'सूरसागर' शब्द का प्रयोग आचार्य जी ने सूरदास जी के लिए किया था।[१] सूर के व्यक्तित्व का काव्यमय संस्करण ही 'सूरसागर' हैं। व्यक्तित्व और रचना में इतना घनिष्ट साम्य एक अत्यन्त विरल साहित्यिक घटना मानी जानी चाहिए। सूर के व्यक्तित्व की सागरोपम विस्तृति की वल्लभाचार्य जी द्वारा स्वीकृत इस रचना की प्रमुख प्रेरणा कही जा सकती है। विषय का बोध या आध्यात्मिक संक्रमण भी आचार्य जी ने किया। 'दशम स्कन्ध की अनुक्रमणिका' सुबोधिनी और 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' के द्वारा वल्लभाचार्य जी ने विषय का रहस्य-बोध सूर को कराया। इससे सूर को भगवान की दशधा लीलाओं का बोध हुआ।[२] इसका स्रोत श्रीमद्‌भागवत है। द्वादश स्कन्ध पर्यंत भागवत कथा का इसमें विस्तार हुआ है।[३] किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि सूरसागर भागवत का अविकल अनुवाद है। समस्त कथा सूत्रों के निर्वाह की सूर ने चिन्ता नहीं की। केवल भागवत की संरचना को सूर लेकर चले हैं। वैसे उनकी वृत्ति दशमस्कंध में ही रमी दुई है। अन्य स्कन्धों के प्रसंग-विधान में कवि की वृत्ति नहीं रमी है। यह नीचे की स्कंधानुसार पद-सांख्यिकी से स्पष्ट होती है—

प्रथम स्कंध	....	३४३ पद	पंचम स्कंध	...	४ पद
द्वितीय स्कंध	....	३८ पद	षष्ठ स्कंध	...	८ पद
तृतीय स्कंध	....	१३ पद	सप्तम स्कंध	...	८ पद
चतुर्थ स्कंध	....	१३ षद	अष्टम स्कंध	....	१७ पद

---

१. "और सूरदास को जब श्री आचार्य जी देखते तब कहते जो—आवो सूरसागर, सो ताको आशय यह है जो—समुद्र में सगरो पदार्थ होत है। तैसे ही सूरदास ने सहस्रावधि पद किये हैं। तामें ज्ञान वैराग्य के न्यारे-न्यारे भक्ति-भेद, अनेक भगवत अवतार सो तिन सबन की लीला को बरनन कियौ है।" (प्राचीन वार्ता रहस्य, तृतीय भाग, पृ० २३)

२. श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायौ, लाला-भेद बतायौ।
(सूर सारावली, तुक ११०३)

३. व्यास कहै सुखदेव सों द्वादस स्कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहै पद भाषा करि गाय॥ (सू. सा. स्कंध १. पद २१५)

नवम स्कंध	...	१७४ पद	एकादश स्कंध	....	४ पद
दशम स्कंध	...	४३०९ पद	द्वादश स्कंध	....	५ पद

प्रथम स्कंध की पद संख्या इसलिए बढ़ी है कि - इसमें २२३ पद विनय के हैं। शेष में भागवत प्रसंग है। नवम स्कंध में रामचरित होने के कारण पद संख्या बढ़ी है। इस प्रकार 'सूर' ने केवल १२ स्कंधों की संरचना को ग्रहण किया है। उनका रागात्मक तादात्म्य केवल दशमस्कंध के साथ है। इस संख्या वैषम्य को देखते हुए डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने सूरसागर को भागवत का अनुवाद नहीं माना है।[1] भागवत और सूरसागर की परिमाणगत तुलना से यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है।

सूरसागर के पद-परिमाण के संबन्ध में विरोधी मत मिलते हैं। 'सूरदास' संबन्धी 'वार्ता' के अनुसार उन्होंने सहस्रावधि पद किये। पर हरिराय जी के 'भाव प्रकाश' के अनुसार सूर ने सवा लाख पदों की रचना का संकल्प किया था। अन्तिम समय तक वे एक लाख पदों की रचना कर सके, और शेष पच्चीस हजार कीर्तन स्वयं श्री गोवर्धननाथ जी ने पूरे किये।[2] सूर सारावली के अनुसार भी सूर के एक लाख पदों की ही सूचना मिलती है।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि सूर-काव्य की विशालता को देखते हुए संप्रदाय में सवालाख पदों की संख्या प्रचलित हो गई थी। यह संख्या भावात्मक है, या यथार्थ, यह कहना कठिन प्रतीत होता है। एक अनुश्रुति से यह भी प्रकट होता है कि सूर के नाम से अनेक पद इस 'सागर' में आ मिले थे। अनुश्रुति इस प्रकार है : "पाछें देशाविपति ने आगरे में आयकें सूरदास के पदन की तलास कीनी। जो कोऊ सूरदास जी के पद लावे तिनकूं रुपैया और मोहोर देय। सो वे पद फारसी मे लिखायकें वांचें। सो मोहर के लालच सों पंडित कवीश्वर हू सूरदास के पद बनाय कें लामें।[4]" आगे कहा गया है कि इनकी प्रामाणिकता की परीक्षा अकबर (देशाविपति) ने पदों को पानी पर तैरा कर की। सूर-कृत पद तो पानी पर तैरते रहे और प्रक्षिप्त पद पानी में डूब गये।

१. "....किसी अर्थ में सूरसागर भागवत का अनुवाद नहीं कहा जा सकता और न संपूर्ण भागवत की यथा तथ्य कथा कहना ही कवि का उद्देश्य जान पड़ता है।" (सूरदास, पृ० १०३-४)।
२. प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग, पृ० ४६।
३. ता दिन ते हरि लीला गाई एक लक्ष पद बन्द।
४. प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग, पृ० २७।

इसमें संदेह नहीं कि सूर के नाम से अन्य कवियों के पद भी चल पड़े होंगे। साथ ही 'सूर' नाम धारी व्यक्ति भी कई थे। उनके पद भी सागर में आकर मिल गये होंगे। पर, सत्य यह भी है कि सूर-रचित अनेक पद अलिखित रहने के कारण खो भी गये हों। अकबर वाली अनुश्रुति से यह भी स्पष्ट होता है कि सूर के पदों का संग्रह और परीक्षण होने लगा था। प्रसिद्ध संस्करणों में जितने पद संकलित हैं, उनके अतिरिक्त अनेक पद सांप्रदायिक कीर्तन संग्रहों में संगृहीत हैं। नागरी प्रचारिणी के 'सूरसागर' के प्रकाशन के पश्चात् भी नवीन सामग्री खोज में मिली है। खोज अभी चल रही है। इस स्थिति में निश्चय रूप से 'सूर' के पदों की संख्या बतलाना संभव नहीं है। अब तक सूर के ८-१० हजार पदों का अनुसंधान किया जा सका है। यह कहा जाता है कि 'सूर' ने कीर्तन में कभी पुराना पद नहीं गाया। गणितीय पद्धति से हिसाब लगाकर, सूर निर्णय के लेखकों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सवालाख वाली संख्या नितांत अश्विसनीय नहीं है। अन्त में यह निष्कर्ष दिया है: "हमने सूरदास के पदों की जो आनुमानिक गणना की है, वह कम से कम है और प्रामाणिक आधार पर है, अतः उसमें शंका के लिए कोई स्थान नहीं है।[1]" इस प्रकार सूर के रचे हुए सवालाख पदों की रचना को सिद्ध करने का प्रयास हुआ है। संभवतः यह अन्तिम शब्द इस संबन्ध में नहीं है, फिर भी सांप्रदायिक साक्ष पर आधारित होने के कारण पूर्णतः अविश्वसनीय भी नहीं है। जो रचना-परिमाण अब तक सिद्ध हो सका है, वह भी सूरसागर की महिमा को प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त है।

जहाँ तक सूरसागर के विषय का प्रश्न है, इसके तीन स्तर हैं। वल्लभाचार्य जी के अनुसार भागवत में त्रिविध भाषा प्रयुक्त है: लौकिकी, परमत और लौकिकी। ऐतिहासिक या पौराणिक चरित्र-कथन लौकिकी भाषा के अन्तर्गत आता है। इस भाषा का प्रयोग सूर जी ने सामान्य-जन के प्रबोधन के लिए किया है। भागवत में ऐसे स्थल भी हैं जहां विभिन्न ऋषियों-मुनियों ने सैद्धान्ति अभिमत प्रस्तुत किये हैं। इन स्थलों की भाषा 'परमत' है। व्यासजी ने जिस भाषा का प्रत्यक्ष अनुभव अपनी समाधि की अवस्था में किया, वह समाधि भाषा है।[2] यही समाधि भाषा आचार्य जी ने प्रमाण-चतुष्टय में स्वीकार की है। यही वह भाषा है जिसमें भक्तिरस उच्छलित हुआ है। भक्तिमार्ग का

---

१. सूरनिर्णय, पृ० १७४।

२. 'समाधि भाषा व्यासस्य प्रमाण तच्चतुष्टयम्' (निबंध)

यही प्राण है। सांप्रदायिक दृष्टि और अपने भाव-प्रबल व्यक्तित्व की छाया में भागवत की समाधि भाषा की अभिव्यक्ति ही सूर ने विशेष की। वैसे प्रथम दो 'भाषाएँ' भी सूरसागर में मिल जाती हैं, पर अनुपातिक दृष्टि से वे अत्यल्प हैं। 'परमत' की सूर ने और भी उपेक्षा की है। यह 'समाधि' भाषा ही साहित्य में व्यक्तिनिष्ठ प्रगीतों की आत्मा है। लीला-रस समाधि भाषा की स्फूर्तियों में आविष्ट रहता है। 'परमत' में भगवान के ऐश्वर्य और माहात्म्य का वर्णन ही विशेष रूप से हुआ है। जहाँ तक लौकिक' भाषा का प्रश्न है, सूर ने प्रथम से द्वादश सर्ग के कथा भाग को, वर्णनात्मक रीति से, लम्बे पदों के माध्यम से, भाव-स्फीति के बिना ही, वर्णन कर दिया है। जहाँ भगवदीय करुणा, महिमा आदि के प्रसंग आते हैं, वहाँ सूर की भावना कुछ विरम गई है और स्फुट पदों में भक्ति-तन्तुओं को सजीव कर दिया है। 'द्रौपदी सहाय' जैसे प्रसंग इसके उदाहरण हैं। इन स्थलों को अधिक भाव-संकुल या विशद बनाने के लिए भागवत के अतिरिक्त अन्य पुराणों से भी सूत्र संकलित किए गए हैं। फिर भी 'लौकिक' भाषा के तत्त्व ही उनमें विशेष हैं। 'समाधि' भाषा में प्रविष्ट होने पर अनुपात की दिशा बदल जाती है। प्रसंग, कथांश, या इतिवृत्त उसी प्रकार के लम्बे पदों में कह दिया जाता है। भावात्मक स्फीति का अनुपात अत्यधिक हो जाता है। समस्त दशम स्कंध में यह अनुपात ही चलता रहता है। सूर भी जैसे भाव-समाधि में तन्मय होकर अनुभूति की चरम स्थितियों के अन्वेषण और आकलन में लग जाते हैं।

दूसरे शब्दों में सूरसागर में तीन विषय हैं: पुराण कथा, वर्णन और भाव-सम्पदा। पुराण कथा कहते समय सूर सूत जी के समकक्ष रहता है। कवि शुद्ध कथा का कथन करके माहात्म्य के संकेत कर देता है। कथाओं में अवतार कथाओं का प्राधान्य है। वर्णन-वैभव में भक्ति के परिवेश, रूप-कल्पना और शृङ्गार आदि आते हैं। इस वर्णन में ही यथा स्थान भावों के संकेत मिलते हैं। भाव-सम्पदा के क्षेत्रों में सूर बड़े विश्वास के साथ चलते मिलते हैं। मनोमय कोश से लेकर आनन्दमय कोश तक की यात्रा में जितने ज्ञात-अज्ञात संदर्भ प्राप्त होते हैं, उन सबका सूर साक्षात्कार कर लेते हैं। मुख्यतः वात्सल्य और शृङ्गार के खरे और स्वच्छ चित्र भाव-संपदा के सजीव प्रमाण हैं। इसका विकास वात्सल्य से वियोग तक हुआ है। इन भाव-स्थितियों में अनेक लीलाएँ घटित होती हैं। लोक संग्रहात्मक लीलाएँ मुख्यतः 'लौकिक' और 'परमत' भाषाओं में ही कही गई हैं, और विशेष रूप से वात्सल्य-समाधि में प्रविष्ट होती रहती हैं।

भावात्मक स्थलों पर भी लीला-वृत्त संलग्न रहता है। उसका एक क्रम है। उस क्रम के निर्वाह में प्रवन्ध-क्रम मिलता है। कृष्ण-चरित्र की तात्त्विक और भावात्मक विस्तृति से पूर्व सूर ने दशावतार-कथा की योजना की है। दशावतार कथा जयदेव ने भी संक्षेप में कही। इसी ने जयदेव के गीत-साहित्य की भूमिका प्रस्तुत की है। यही स्थिति सूर की भी है। सूरसागर के मुख्य काव्य की यही कथात्मक पीठिका है। समस्त भाव-गीत मिल कर सूरसागर को एक कीर्तन-काव्य बना देते हैं। यहाँ एक और विकल्प उपस्थित होता है कि सूर का कीर्तन-काव्य या भावात्मक गीत ही अधिक प्रसिद्ध हो गये। हो सकता है कि उनके कथात्मक और वर्णनात्मक पदों की उपेक्षा हो गई हो और वे संकलित नहीं किये जा सके। अतः सूरसागर के पदों की संख्या की समस्या बनी ही रहती है।

'सूरसागर' की लोकप्रियता एक ओर तो उसकी हस्तलिखित प्रतियों की भारत व्यापी स्थिति से मिलती है, दूसरी ओर इससे भी मिलती है कि उसके छोटे-छोटे अंश भी भिन्न-भिन्न पुस्तकों के रूप में लिखे गए। पीछे इस प्रकार के १४ छोटे संग्रहों की चर्चा हो चुकी है।

'सूरसागर' सूर की निजी साधना का फल है। इसमें उनके स्वच्छन्द व्यक्तित्व का ही विलास अधिक है। 'सूर' का स्वच्छन्द व्यक्तित्व वस्तुतः गीतों की मधुरिमा से भर गया था। उन्होंने अपने व्यक्तित्व की इस साधना में बद्धता का अनुभव केवल इतिवृत्त के निर्वाह की दृष्टि से किया। उनको भागवत के ढाँचे में रंग भरना था। कृष्ण की लीलाएँ वस्तुतः अपने में पूर्ण लघु कथांश ही थे। प्रसंग-कथा बड़ी भी हो सकती है, छोटी भी। गीत में प्रसंग की प्रबन्धात्मकता का ध्यान नहीं रहता : भाव की दृष्टि से ही उसे स्वयं पूर्ण होना चाहिए। प्रवन्ध संबन्धी दायित्व का निर्वाह करके ही सूर का व्यक्तित्व भाव-व्यंजना के लिए पूर्ण स्वच्छन्द हो सकता था। अतः विविध छन्दों, प्रबन्धों की परम्परागत शैली, दीर्घ पदों की योजना करके प्रबन्धात्मक बद्धता से मुक्ति पाने की चेष्टा की गई। बौद्धिक तत्त्वों को शान्त करके विश्राम दिया। फिर केवल भाव की पूर्णता का ध्यान करके, सूर का भावाकुल व्यक्तित्व साधना में निरस्त कर दिया।

संप्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व का दैन्य और दास्य भी साधना के इन स्वच्छन्द क्षणों को कभी-कभी बाधित करता था। इस भाव-राशि का लीलारस से अभिभूत व्यक्तित्व में कोई स्थान नहीं हो सकता था। अतः इन

भाव-छायाओं को इन्होंने संप्रदाय को समर्पित करना ही श्रेयस्कर समझा। 'मंगला की आरती' से 'शयन' तक श्रीनाथ जी का मन्दिर लीला-कीर्तन की ध्वनियों से गूँजता रहता था। इस वातावरण में विनय-भाव के लिए स्थान नहीं था। अतः मंगला से पूर्व की भूमिका में तथा शयन के अनन्तर के उपसंहार में सूर की विनयोक्तियों का प्रयोग हुआ। इस प्रकार 'शान्त-रस' में उनकी परिणति करके सांप्रदायिक कीर्तन में उनका भी स्थान निश्चित किया। इत उक्तियों का व्यावहारिक उपयोग 'चेतावनी' साहित्य के रूप में भी हुआ।

संक्षेप में यही सूर के व्यक्तित्व की 'सूरसागरीय' परिणति है।

सर-साठी—

यह एक छोटी रचना है। इसकी रचना एक वनिया के लिए की गई थी। सूरसागर में इनकी असंगति ही प्रतीत होती है। वार्ता में संकेत इसप्रकार है : श्रीनाथ जी के मन्दिर के नीचे गोपालपुरा गाँव में वनिया ६० वर्ष का। कभी दर्शन न किये। वैष्णव। सूर ने सोचा इसे वैष्णव वताओ। तीन दिन फिरे—भय दिखायो कि तेरा भेद खोल दूँगा। एक भी वैष्णव समान नहीं खरीदेगा। पद बनाया—'आज काम, कलि काम परसों काम करनों।' अन्तत: वह वैष्णव हो गया और शरणागत हुआ। सूरदास जी ने एक पद उसे सिखाया—'कृष्ण सुमिरि तन पावन कीजे।'

सूर-पचीसी—

इसकी रचना अकवर वादशाह के लिए की गई। यह एक लम्वा पद है : 'मन रे तू करि माधौ सों प्रीत।' यही उपदेशात्मक पद 'सूर पचीसी के नाम से प्रसिद्ध है। यह भी अपने आप में पूर्ण और स्वतंत्र रचना है। इसका स्वर चेतावनी का है।

सेवाफल—

महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने संस्कृत में 'सेवाफल' नामक एक ग्रंथ वनाया था। इसका स्पष्ट विवरण करने के लिए सूर ने यह रचना की। इसमें 'वैकुण्ठादिषु' का अधिक स्पष्टीकरण हुआ है। यह भी एक स्वतंत्र रचना है।

सूरदास के पद—

यह स्फुट पदों का संग्रह है। मन्दिरों में की गई प्रार्थनाएँ इसमें संगृहीत है। जिस प्रकार गोपालपुरा का वनियाँ सूर की प्रेरणा से वैष्णव वना

उसी प्रकार अन्य ज्ञात-अज्ञात व्यक्ति भी सूर के संपर्क में आये। उनको वैराग्यादि का उपदेश देते हुए कुछ छोटे-छोटे पद सूर ने किये। उनका संग्रह भी इसमें है। "शयन के अनन्तर और मंगला आरती के पूर्व जो दीनता आश्रय और विनय आदि के पद मन्दिरों में गाये जाते हैं, जिनमें कई स्थानों पर आत्म-चारित्रिक उल्लेख भी आ गये हैं, वे ही पद इस रचना के अन्तर्गत हैं।[१]"

सूर की रचनाओं के उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि इनमें केन्द्रीय स्थिति 'सूरसागर' की ही है। यदि सूर के व्यक्तित्व का मर्म-स्पर्श करना है, तो इसी केन्द्रीय रचना के संदर्भ में सभी रचनाओं को देखना होगा। सूर की सुदीर्घ साधना ने काव्य का परिमाण दिया। उस साधना की सफलता परिमाण की वृद्धि से सिद्ध नहीं होती। इसका मूल्यांकन इस बात को लेकर है कि परिमाण की वृद्धि के साथ काव्य की कोटि भी उच्चतर होती गई है। परिमाण और काव्यकोटि का यह सामंजस्य संसार के बहुत कम कवियों में मिलेगा। सागर जो ठहरा : यह विस्तार और गहराई दोनों का समन्वित प्रतीक है। अन्य रचनाएँ लघु संदर्भों की देन है। रचना के परिमाण और कोटि-क्रम की दृष्टि से सूर का व्यक्तित्व मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में महान् हो जाता है।

---

१. सूरनिर्णय पृ० १६६।

पाँच

सूर के कृष्ण

गुन-गन अगम निगम नहिं पावै। ताहि जसोदा गोद खिलावै॥

× × ×

जप तप-संजम ध्यान न आवै। सोइ नंद कैं आँगन धावै॥

× × ×

बिस्वंभर जिहिं नाम कहावै। घर घर गोरस सोइ चुरावै॥

× × ×

अबरन बरन सुरति नहिं धारै। गोपिन के सो बदन निहारै॥

× × ×

ज्ञान रूप हिरदै मैं बोलै। सो बछरनि के पाछैं डोलै॥

× × ×

लोक रचै-राखै अरु मारै। सो ग्वालनि सँग लीला धारै॥

× × ×

अगम अगोचर लीला धारी। सो राधा-बस कुंजबिहारी॥

[सूरसागर १०१३]

५ | सूर के कृष्ण

प्रास्ताविक

कृष्ण का व्यक्तित्व बहुमुखी है। दर्शन, धर्म, इतिहास, पुराण और काव्य के क्षेत्रों में उसका बहुविध आख्यान और चित्रण हुआ है। वेद से लेकर भक्ति-साहित्य तक की परम्परा में यह गतिशील व्यक्तित्व अनेक रूपों में विलसित है। आंगिरस परम्परा से संवद्ध होने के नाते वे एक नवीन दर्शन के व्याख्याता के रूप में मिलते हैं। वासुदेव के रूप में उनकी पूजा का प्रमाण बहुत प्राचीन साहित्य में मिलता है। फिर व्रजकृष्ण का विकास एक दिशा की ओर और दार्शनिक कृष्ण का विकास दूसरी दिशा में होता चलता है। पहले रूप के विकास का चरम पांचरात्र और भागवत में मिलता है और दूसरे का गीता में। उनको पहले एक जातीय देवता के रूप में देखा जा सकता है: ग्वालों और कृषकों का देवता! 'सात्वतम् वरः।' यादव जाति के सात्वतों ने उसे 'सूर्य' या पूर्ण ब्रह्म घोषित किया। सूर के गोपगण भी उनको इस रूप में घोषित करते है। पहले 'सूर' का कृष्ण भी गोकुल का कुल देवता ही माना गया।[1] फिर वह तीन लोक का ठाकुर बन जाता है।[2] इस प्रकार सात्त्वतों का कृष्ण सूर-साहित्य में प्रतिष्ठित है। महाभारत में 'पार्थ-सारथि' रूप में कृष्ण की प्रतिष्ठा है। 'सूर-साहित्य' में इसकी गीता भी गूँज रही है। 'पार्थ-सारथि' भी भक्ति-वशात् इस कार्य में प्रवृत्त हुए है।[3] व्रज के सखाओं से अर्जुन सखा की स्थिति कुछ भिन्न है। मैत्री की रक्षा में गीता-कृष्ण मर्यादा

---

१. गोकुल कौ कुल देवता, श्री गिरिधर लाल। (सूरसागर, १०।८२३)

२. तीनि लोक कौ ठाकुर संगहि, तासौं कहत सखा हम जोग।
(वहीं १०।८२७)

३. देखि विचारि भक्त-हित कारन हांकत हौं रथ तेरौ। (वही १।२७२)

को तोड़ते है। वचन के विरुद्ध, भीष्म के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करते हैं।[1] वह राज्यों और राजाओं का नियामक भी है। वृष्णि, अंधक, कुकुर जैसे जाति-संघों का वह 'संघ-मुख्य' है। अखंड भारत का वह निर्माता भी है। महाभारत के पश्चात् राजसूय यज्ञ में उसने अखंड भारत की स्थापना की।[2] भीष्म ने अंतिम समय जो ध्यान किया वह मार्मिक है। महाभारत कृष्ण की समस्त शक्ति भीष्म के भाव में अवतरित हो रही है—

वा पटपीत की फहरानि।
कर धरि चक्र, चरन की धावनि, नहिं बिसरति वह बानि॥
रथ तें उतरि चलनि आतुर ह्वै, कच रज की लपटानि।
मानौं सिंह सैलतें निकस्यौ, महामत्त गज जानि॥
जिन गोपाल मेरौ प्रन राख्यौ, मेटि बेद की कानि।
सोई 'सूर' सहाइ हमारे, निकट भए हैं आनि॥[3]

यह झाँकी कितनी पूर्ण है। पीतांबरधारी ब्रजकृष्ण, चक्रधारी, अप्रतिहत वीर, वेद-मर्यादा की उपेक्षा करने वाले, भक्तवत्सल आदि सभी संकेत इस झाँकी में हैं। 'सूर-साहित्य' में सभी की न्यूनाधिक परिणति है। पर इन सभी संकेतों में से ब्रजकृष्ण का संकेत चिर विकासशील रहा। तंत्र-साहित्य में प्राप्त प्रतीक-रूपकों में भी ब्रजकृष्ण ही है। वेद-वेदांत के रूपक भी ब्रज के कृष्ण पर ही घटित होते हैं। भक्ति संप्रदायों में यही रूप इष्ट है। समस्त कला-विलास इसी रूप को लेकर हुआ है। इसी रूप ने मर्यादा के मूल्य का विरोध किया। यही रूप काव्य-रसों का आलंबन बना,। 'सूर' साहित्य भी इसी रूप की अर्चना का अनुक्रम करता है। कृष्ण के प्रतीकत्व, उसकी लीलाओं, और उसके माधुर्य का कुछ विस्तार से पर्यालोचन उपयुक्त होगा।

१. कृष्ण और वेद

वेद में जहाँ अन्य अवतारों के बीज प्राप्त हो जाते हैं, वहाँ कृष्णावतार के बीज भी मिल जाते हैं। 'गोपा' (=रक्षक), 'यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयासः'

---

१. गोविंद कोपि चक्र कर लीन्हौ।
छाँड़ि आपनौ प्रन जादव-पति, जन कौ भायौ कीन्हौ। (वही १।२७३)

२. धर्मपुत्र कौं दै हरि राज। निजपुर चलिबे कौं कियौ साज।
(वही १।२८१)

३. वही १।२७६।

तथा 'अत्राह तदुरुगायस्य कृष्णः' जैसे वाक्यों में कृष्णावतार के तत्त्व खोजे जा सकते हैं। विष्णु यजमान तथा देवगणों के लिए 'व्रज' प्राप्त कराने वाला भी है।[1] इन सूत्र-बीजों में व्रजकृष्ण की कल्पना अन्तर्हित है। छान्दोग्योपनिषद् में कृष्णार्जुन शब्द मिल जाता है।[2] गोप, गोपाल, गाय, व्रज आदि नामों का संधान हो जाता है। वैदिक साहित्य में कृष्ण एक ऋषि भी है और एक अनार्य योद्धा भी। योद्धा के रूप में कृष्ण का संघर्ष इन्द्र से होता है। इन्द्र-कृष्ण युद्ध अंशुमती नदी के तट पर होता है। इसके साथ दस सहस्र योद्धा लड़े थे।[3] यही संघर्ष 'गोवर्धन-लीला' के रूप में पौराणिक साहित्य में अवतीर्ण होता है। इस लीला का प्रमुख अभिप्राय इन्द्र-दर्प-दलन ही है। हरिवंश में युद्ध में पराजित इन्द्र के मुँह से कहलवाया गया है: 'मैं देवेन्द्र हूँ। तुमने गौओं के ऊपर इन्द्र की शक्ति को पा लिया है गोविन्द के रूप में मनुष्य सदा तुम्हारी भक्ति करेंगे।' इस प्रकार वेद का प्रधान देवता इन्द्र, कृष्ण से पराजित होता है।

कृष्ण वैदिक कर्मकाण्ड को स्वीकार करके नहीं चले। वैदिक ज्ञान का नव-संस्कार भारत के पूर्वी क्षेत्र में हुआ। जब आर्य - संस्कृति का विकास-विस्तार सरस्वती-दृशद्वती दोआब से आगे गंगा की ओर होने लगा, तब अनार्य संस्कृति के विरोध सामने आने लगे। शास्त्रीय ब्राह्मण धर्म के केन्द्र कुरु-पांचाल क्षेत्र में थे। कालांतर में वैदिक विद्या का नवोत्थान मगध-विदेह के क्षत्रियों के आश्रय में हुआ। याज्ञवल्क्य की 'मधुविद्या' का विस्तार भी यहीं हुआ। वैदिक देवों का खंडन होने लगा। स्थूलयज्ञों का निराकरण किया गया। ब्रह्म की प्रतिष्ठा शुद्ध ज्ञानरूप और आनन्दरूप में हुई। सबसे अधिक क्रान्तिकारी नव-संस्कार करने वाला कृष्ण है। कृष्ण को घोर-अंगिरस का शिष्य बतलाया गया है। वैदिक साहित्य में अंगिरस-ज्ञान का संबन्ध 'घोर' (Some dark practices derived from the autoch thones of the land) से जोड़ा गया है। इस प्रकार आर्येतर धर्म-दर्शन से कृष्ण का संबन्ध हो जाता है। कृष्ण ने यज्ञानुष्ठान की एक नवीन व्याख्या की। इस प्रकार कृष्ण के व्यक्तित्व में वेद-विरोधी स्वर मिल जाता है। कृष्णलीलाओं में यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों की पत्नियों से कृष्ण का भोजन मँगा लेना, एक प्रकार से

---

१ व्रजं च विष्णुः सखिनां अपोर्णुते। (ऋक्० सं० १।१५६।४)

२. छान्दोग्योपनिषद्, १।६।५।

३. राधाकमल मुकर्जी, 'द फ्लावरिंग आफ़ इण्डियन आर्ट।' पृ० ५४।

वैदिक यज्ञों का खंडन करना ही है। शिल्पकला में वेद-विरोधी गोवर्धन लीला का ही अधिक अंकन मिलता है। यादव जाति के सात्वतों ने कृष्ण को दिव्य रूप में घोषित किया। उसे सूर्य, पूर्णब्रह्म कह दिया गया। कृष्ण ने वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड से भिन्न एक दर्शन दिया। दर्शन आंगिरस के सिद्धान्तों से अनुप्राणित है। इसी दर्शन ने गीता का रूप ग्रहण किया। गीता में वेदों को त्रिगुणमय कहा गया है और अर्जुन से निस्त्रैगुण्य होने के लिए कहा गया है। आंगिरस शिक्षा का सार यह माना जाता है: सद्गुण, सत्कर्म, दान, अहिंसा, सत्याश्रित आचरण उतने ही फलदायक हैं जितना एक यज्ञनिष्ठ ब्राह्मण को गुरु-दक्षिणा देना। इन शिक्षाओं में एक नवीन दर्शन के भी बीज हैं और भक्ति-साधना के भी। दोनों का मिलाजुला रूप गीता में मिलता है। फिर भक्ति-सूत्र का विशद् विस्तार भागवतादि पुराणों में हुआ। वैदिक रूपकों के आधार पर, तथा अन्य लोकसूत्रों के आधार पर भी लीला-साहित्य विकसित हुआ। 'इन्द्र-शरणागति' प्रसंग में सूर ने देवेन्द्र की पराजय का सुन्दर आख्यान खड़ा किया।

ब्रजवासी इन्द्र को सबसे बड़ा देवता मानते थे: यशोदा ने कहा—'येई हैं कुलदेव हमारे।' कृष्ण ने इन्द्र की पूजा का विरोध किया और गोवर्धन की पूजा का विधान किया—'जो चाहौ ब्रज की कुसलाई, तौ गोवर्द्धन मानौ:' इन्द्र को जब पता चला कि मेरी 'बलि' गोवर्धन को दी गई तो वह आग-बबूला हो गया—

ब्रजवासिनि मोकों बिसरायौ।
भली करी बलि मेरी जो कछु सो सब लै परवतहिं चढ़ायौ॥
मो सों गर्व कियौ लघु प्रानी, ना जानियै कहा मन आयौ।[१]
तैंतिस कोटि सुरनि कौ नायक, जानि, बूझि इन मोहिं भुलायौ॥

और इन्द्र ने अपनी सेना एकत्र की—

सुनि मेघवर्त, सजि सैन आए।
बलवर्त, वारिवर्त, पौनबर्त, ब्रज, अग्निवर्त्तक, जलद संग ल्याये॥
घहरात, गररात, दररात, हररात, तररात, झहरात माथ नाए।[२]

ब्रज पर आक्रमण हुआ। सभी प्रकार के 'आवर्तों' का अधिपति इन्द्र था। सभी ने ब्रजभूमि का नाश करने का संकल्प किया। यह 'बिजली', 'वर्षा'

१. सूरसागर, १०।८५१
२. वही, पृ० १०।८५३

और 'आवर्तों' के देवता का क्रोध था। छियानवे करोड़ मेघमालाओं ने ब्रज को घेर लिया। कृष्ण पर पुकार हुई—

(गगन) मेघ घहरात थहरात गाता।
चपला चमकाति, चमकि नभ भहरात, राखि क्यों न ब्रज नंदजाता॥[1]

गिरि गोवर्धन को धारण करके कृष्ण ने ब्रज की रक्षा की। इन्द्र का मान मर्दन हुआ। ऐरावत पर आरूढ़ होने वाला इन्द्र, देवताओं के सहित कृष्ण की शरण में आया।

सुरपति चरन पर्यो गहि धाइ।
जुग-गुन धोइ शेष गुन जान्यौ, आयौ सरन राखि सरनाइ॥[2]

इन्द्र के समान ही वैदिक देव-मंडल में वरुण का भी स्थान था। इससे सूर के कृष्ण का दुर्द्धर्ष संघर्ष तो नहीं होता, पर जब नंद वरुण-पाश में बँध जाते हैं तो कृष्ण वरुण को भी अभिभूत कर देते हैं।[3] इसी प्रकार यज्ञ-पत्नी-लीला के प्रसंग में कृष्ण ने यज्ञपुरुष की बलि को लेना चाहा, ब्राह्मणों ने भोजन देने से मना कर दिया—

'जज्ञहेत हम करी रसोई। ग्वालिनि पहलें देहिं न सोई।[4]

पर ब्राह्मणों की पत्नियों ने भोजन ही नहीं दे दिया वे स्वयं भी कृष्ण की सेवा में गईं। इस प्रसंग में भी वैदिक यज्ञ को ललकारने की ध्वनि है। 'रासलीला' आदि में तो वेद-मर्यादा के प्रति स्वर ऊँचा किया ही गया है। इन्हीं प्रसंगों में वेद के प्रति कृष्ण की जो दृष्टि थी, वह प्रकट हो जाती है। ये प्रसंग 'सूर' तक पुराणों के माध्यम से आये। इनके मूल अभिप्राय तो ले लिए गये, पर भावात्मक विस्तार सूर ने अपनी ओर से किया।

२. तंत्रेश्वर कृष्ण—

तंत्र साहित्य में कृष्ण की भरपूर प्रतिष्ठा है। श्रीकृष्ण से सम्बन्धित कई तंत्र है। ये भी शाक्त या शैव तंत्रों की भाँति ही पूर्ण है। पर वैष्णवतंत्र[5]

---

१. वही, १०।८७०
२. वही, १०।९७७
३. वही, १०।९८४
४. वही, १०।८००
५. इन तंत्रों में वैष्णवामृत, लक्ष्मी कुलार्णव, विष्णु धर्मोत्तरतंत्र, राधा तंत्र विष्णुयामल तंत्र आदि प्रसिद्ध हैं।

(पांच रात्र) अत्यंत जटिल हैं। इस तंत्र साधना के पाँच विभाग हैं : शैव, सौर्य, गाणपत्य, शाक्त और वैष्णव (पांचरात्र)। अन्य तांत्रिक साधनाएँ तो चलती रहीं, पर वैष्णव तंत्र की साधना इतनी लोकप्रिय नहीं हुई : नवधा भक्ति ने वैष्णव साधना को अत्यधिक प्रभावित किया। पर 'पांचरात्र' की पृष्ठ-भूमि बहुत दिनों तक उपेक्षित न रह सकी। जब राधा-माधव या शिव-शक्ति के मिलन का साधक अपने में अनुभव करना चाहता है तो तंत्र की पद्धति किसी न किसी रूप में आ ही जाती है। माधुर्य-भाव की उपासना तंत्र-सूत्रों से अछूती न रह सकी।

कुंडलिनी योग में पीतांबरधारी विष्णु स्वाधिष्ठान चक्र के देवता हैं। महत्वार शाक्त तंत्रों में भी हरिहर का केन्द्र है। नारद पांचरात्र में भी पीतांबर-धारी, नव-जलधाम कृष्ण की वन्दना की गई है।[१] ये आनंदमय, सुन्दर और प्रकृति से परे हैं। तंत्र ने अपनी दृष्टि से 'कृष्ण' शब्द की निरुक्ति की है—

ककारञ्च ऋकारञ्च कामिनी वैष्णवी कला।
षकारञ्च चन्द्रमा देवः कला षोडश संयुतः॥
णकारञ्च सुतश्रेष्ठ साक्षान्निवृत्तिरूपिणी।[२]

इस तरह की व्याख्याएँ तंत्र साहित्य में बिखरी पड़ी हैं। श्रीकृष्ण की साधना में अयुत जप और होम का विधान है। साथ ही विभिन्न प्रकार की सिद्धियों के लिए, विविध प्रकार के ध्यानों की भी योजना की गई है। वेदार्थी के लिए वे गाय चराने वाले धेनुवत्सल कृष्ण हैं। बालरूप में वे परम कामद हैं : सभी कामनाओं को पूर्ण करते हैं। भक्त के जागतिक और पार-मार्थिक संकल्पों की पूर्ति गोपालभाव से होती है। इस प्रकार 'कृष्ण' और 'गोपाल' इन दोनों का ध्यान तंत्र-साहित्य में विशेष रूप से मान्य रहा। इन रूपों की साधना के लिए मंत्र भी हैं : 'गोपीजनवल्लभाय स्वाहा:'। इस मंत्र के साथ 'क्लीं' कामबीज जोड़कर भी जप किया जाता है। मंत्र के साथ तीन यंत्र भी कृष्ण से सम्बन्धित प्रचलित हैं। इनका पटलन्यास भी अलग है। 'क्लीं' कृष्ण का एकाक्षर यंत्र है। इस विधान से रमणियों और किंकरियों से वेष्टित कृष्ण की प्राप्ति होती है। कृष्ण के तंत्रात्मक विधान में वृन्दावन आदि का नाम

---

१. वंदे नवघनश्यामं पीतकौशेयवाससम्।
सानन्दं सुन्दरं शुद्धं श्रीकृष्णं प्रकृतेः परम्। —नारद पांचरात्र।

२. राधातंत्रम्, ६ पटल।

भी आया है। श्रीबीज, मायाबीज या कामवीज के साथ 'श्रीकृष्णगोविन्दाय-नमः स्वाहाः' का द्वादशाक्षरी मंत्र तो वहुत फलप्रद माना गया है। 'स्तोत्र' और 'कवच' भी कृष्ण के आधार पर वने।

श्रीकृष्ण गायत्री भी प्रचलित हुई : 'दामोदराय विद्महे वासुदेवाय धीमहिः। तन्नः कृष्ण प्रचोदयात्।' इस मंत्र के शब्द हैं गायत्री, ऋषि है गोपी (राधा) और देवता हैं कृष्ण। वैष्णवतंत्रों में राधातंत्र का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। ताँत्रिक दृष्टि से राधा और कृष्ण अलग-अलग नही हैं।

यहाँ तंत्र में कृष्ण के स्वरूप को विस्तार के साथ देखने की आवश्यकता नहीं हैं। यहाँ केवल यह संकेत कर देना है कि तंत्रेश्वर कृष्ण ब्रजकृष्ण ही हैं। राधा, गोपी, वृन्दावन आदि सभी प्रतीक वहाँ विद्यमान हैं। साधना में स्तोत्र, मंत्र आदि का विधान है। बालरूप, गोपाल रूप आदि को तंत्र प्रतीक के रूप में देखा गया है। सभी रूपों का उनका ध्यान करके विविध फलों की प्राप्ति की जा सकती है। कृष्ण की परम सुन्दर के रूप में कल्पना की गई है।[1] मंत्र-दान की परम्परा भक्ति संप्रदायों में भी चलती रही। वल्लभसंप्रदाय में अष्टाक्षर मंत्र प्रचलित हैं : 'श्रीकृष्णः शरणं मम'। इसी प्रकार गुरु अन्य संप्रदायों में भी मंत्र देता है। तंत्र की छाया सांप्रदायिक विधान पर अधिक काव्य पर कम है। तंत्रेश्वर कृष्ण का आभास चाहे सूर-साहित्य में स्पष्ट न मिलता हो, पर 'मोहन' आदि नामों में इनकी झंकृति अवश्य है। जिस योगमार्ग को तंत्रों ने प्रभावित किया था, उसमें नाड़ी और चक्रों का विधान गृहीत था और इन आंतरिक केन्द्रों में 'नाद' जौर 'विंदु' के विभिन्न दृश्य और श्रव्य आकृतियाँ घटित होती थीं। इन्हीं चेतना केन्द्रों पर कृष्ण की स्थिति वैष्णव तंत्रों में स्वीकार की गई। 'सूर' ने कृष्ण की इस स्थिति का कुछ आभास दिया है—

हृदय कमल में जोति विराजै। अनहद नाद निरंतर वाजै।
इड़ा पिंगला सुषमन नारी। सहज सुन्न में वसत मुरारी।[2]

योग की शब्दावली ने अनेक स्थानों पर कृष्ण संवन्धी कथन को वक्रता प्रदान की है।

---

१. चन्द्रार्कतड़ितकोटिसमद्युतिः सर्वांगसुन्दरः सौम्यं सर्वाभरणभूषितः पीतवासश्च शंखगदापद्मोज्ज्वलभुजः ॥

२. सू० सा०, ४०६४।

३. मर्यादा और कृष्ण—

राम मर्यादा के प्रतीक हैं और कृष्ण लीला (सहजता) के प्रतीक हैं। ये ही दो मूल्य भारतीय संस्कृति की धारा के दो किनारे हैं : हमारे पौराणिक सत्य के दो ध्रुव हैं। संस्कृति के इतने मर्मसार्थक प्रतीक अन्य देशों की पौराणिक परम्पराओं में नहीं मिलते।

मर्यादा आदर्श से पोषित होती है। आदर्श हमारा लक्ष्य है। आनन्द मनुष्य की मूल प्रवृत्ति हैं। श्रीकृष्ण आनन्द-कन्द हैं : उनकी लीलाओं में सहज आनन्द की शक्तियों का विलास है। इसलिये वह मानव के सहज आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। हमारी मधुर लौकिकता एक नयी छवि ग्रहण करने लगती है। कृष्णचरित्र के लोकोत्तर संकेत भी आतंक के स्थान पर रस-सृष्टि ही करते हैं। इसी अर्थ में वे 'मोहन' हैं। इस केन्द्र के आसपास सभी भाव सहज-रूप में है। राम के परिकर के पात्रों की भाँति, कृत्रिम भाव का आयोजन यहाँ नहीं है। वात्सल्यमय पिता-माता, सख्य भाव रखने वाले सुग्रीव, हनुमान या विभीषण सभी जैसे एक माहात्म्य या दास्य की छाया में अपने भावों का निर्वाह कर रहे हैं। कृष्णलीला के सभी पात्र इन कृत्रिम छायाओं से मुक्त होकर भाव के प्रति ईमानदार हैं। राम ने सुग्रीव मैत्री के लिये एक बार मर्यादा को भंग किया। कृष्ण का जीवन मर्यादा-भंग की एक शृंखला है। सहायता के लिए आये हुए दुर्योधन के साथ छलपूर्ण कूटनीति का व्यवहार किया। अपना वचन भंग करके भीष्म के विरुद्ध शस्त्र-ग्रहण किया। भीम-पुत्र घटोत्कच की बलि ही मित्र की रक्षा के लिए हैं। अर्जुन को निहत्थे कर्ण पर वार करने की प्रेरणा दी। दुर्योधन का अन्त शास्त्रविरोधी विधि से कराया। यह महाभारत के रणक्षेत्र में सख्यभाव की रक्षा में मर्यादाभंग का वातावरण रहा। ब्रजभूमि में तो 'मर्यादा' का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया गया। वहाँ तो लोक-वेद की समन्वित मर्यादा के बन्धन को तोड़ना प्रेम के अन्यतम मूल्य के निर्वाह के लिए अनिवार्य हो गया। जहाँ राम का व्यक्तित्व मर्यादाओं की स्वीकृति के सहारे उदात्त और विकसित हुआ, वहाँ कृष्ण ने मर्यादाओं को ललकारना ही जीवन की सहज गति की रक्षा के लिए आवश्यक समझा। 'मर्यादा' के मूल्य के स्थान पर मानवीय मूल्य की ही स्थापना का यह उपक्रम था। मर्यादा भंग करके भी कृष्ण ने विघटन की स्थिति को नहीं आने दिया। उन्होंने मर्यादा-कथित 'स्थिति' को स्वीकार करने के स्थान पर सहज 'गति' को स्वीकार करना ही अधिक श्रेयस्कर समझा। उनकी दृष्टि से सम्पूर्ण मनुष्य कभी ओझल

नहीं हुआ। जहां प्राकृतिक-पराप्राकृतिक मानवीय-अतिमानवीय विरोधी शक्तियाँ इस सम्पूर्ण मनुष्य की गति को बाधित करतीं, वहीं कृष्ण की लोकोत्तर शक्तियाँ उदित होकर इनको निस्तेज कर देती हैं—चाहे वे इन्द्र के रूप में आयें चाहें ब्रह्मा के रूप में, चाहे यज्ञ के रूप में हों, चाहे शास्त्रीय आदर्श के रूप में। उनका मर्यादा भंग जीवन के नवीन आयामों और गति की नवीन संभावनाओं के अन्वेषण और उनकी स्थापना की भूमिका बनाता है।

मर्यादा सभ्यता और संस्कृति का आवरण डालकर हमारे मौलिक मन को आवृत करना चाहती है। पर मौलिक मन अपनी अभिव्यक्ति करके रहता है। अपने प्राकृतिक, नग्न अस्तित्व का साक्षात्कार भी निश्चित रूप से कुछ क्षणों का सत्य अवश्य है। 'चीरहरण' के प्रसंग का यही सत्य है। और चिर प्रश्नांकित रासलीला ? इसकी वह स्वकीया, या परकीया, या इन दोनों भेदों से विवर्जित नायिका राधा ! उसका प्रेम एक पत्नीव्रत के आदर्श की अवहेलना करके कितनी ऊँचाइयों में विलसित हो गया—'सूर चित से टरत नाहीं राधिका की प्रीत।" समस्त मर्यादा यहाँ गति चकित है। सारा भक्ति साहित्य इस रस से लबालब है। कृष्ण ने वेद-मार्ग बतलाया—

इहि बिधि वेद मारग सुनौ।
कपट तजि पति करौ पूजा, कहा तुम जिय गुनौ।[1]

यह एक बात कठिन परीक्षा बन गई। गोपियाँ जैसे टूटने लगीं। उन्होंने अपने जीवन मूल्यों की घोषणा की:—

बिधि मरजाद, लोक की लज्जा, सबै त्यागि हम धाई आईं।'[2]

और मर्यादा-भंग के इस दावेदार को गोपियों को साधुवाद देना पड़ा। उन्होंने स्पष्ट कहा, मेरा पूर्वकथन भ्रामक था। जीवन का यथार्थ मूल्य यहीं है—

स्याम हँसि बोले प्रभुता डारि।
बारंबार विनय कर जोरत, कटि-पट गोद पसारि॥
तुम सन्मुख मैं विमुख तुम्हारौ, मैं असाधु तुम साध।
धन्य-धन्य कहि कहि जुवतिनि कौं. आपु करत अनुराध॥[3]

---

१. सूरसागर, १०।१०१६।
२. सूरसागर १०।१०२५।
३. सूरसागर १०।१०३३।

इस प्रकार गोपियों की मर्यादा-निरपेक्ष हृदय-गति को स्वीकार करते हुए कृष्ण ने उन्हें साधुवाद दिया : अपने वाक्यों की असाधुता को भी मान गये। इस रसात्मक जीवन पद्धति में चैतन्य विह्वल हो उठे। चण्डीदास के स्वरों में रस उमड़ पड़ा। 'सूर' ने इस अमृत को लोक-सुलभ बनाया। इन्हीं मूल्यों के सहारे कृष्ण का व्यक्तित्व हमारी आधुनिक वैश्विक चेतना के इतने निकट हो जाते है। उन्होंने 'संवेदना' और 'अनुभव' को नैसर्गिक रूप में ग्रहण किया। उनका संदेश आज भी उतना ही ताजा है। लोक-लाज और वेद-पथ त्याग की बात तो मुरली, रास आदि के प्रसंग में असंख्य बार कही गई है। इसके अधिक प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है।

४ लीलापुरुप : एक प्रतीक

कृष्ण का अवतार जहाँ लोकमंगल के लिए हुआ था, वहाँ लीला-विस्तार भी उसका एक कारण है। लीलावतार के पीछे भगवान की 'स्वेच्छा' ही है। मोटे रूप से लीला का उद्देश्य भक्तों के शून्य को रस से आप्लावित कर देना है। वैसे 'लीला' लीला के लिए भी है—वह अहैतुकी है। भगवान की अप्रकट लीला का अवतरित रूप ही व्रज-लीला है। 'सूर' आदि भक्त कवियों ने गान तो प्रकट लीला का किया है : पर इनमें अप्रकट लीला की झकृतियाँ गूँज रही हैं : दृश्य क्षितिजों पर दिव्य आभा छिटक रही है। भक्तों के इन गीतों में जो भाव हैं, उनके आलंबन रसिक शिरोमणि कृष्ण ही हैं। काव्य की आत्मा 'रस है। वस्तुतः इस सिद्धान्त का संमूर्तन भक्तों के काव्य में मिलता है। 'रस' का संमूर्तन कृष्ण में हुआ और कृष्ण भक्त कवियों की वाणी में अशेष रूप से समाविष्ट है। भक्तों के संदर्भ में कृष्ण विषयालंबन हैं। पर राधा के संदर्भ में कृष्ण को आश्रयालंबन होना ही पड़ता है।

४.१ अवतरण प्रतीक

कृष्ण का जन्म एक असाधारण परिपार्श्व में हुआ। राजपुरुष होते हुए भी इनका जन्म कारागार में होता है। कारागार में यदि हम चाहें तो अधर्म अमानुषिक अत्याचार एवं शोषण का प्रतीकत्व स्थापित कर सकते हैं। इन परिस्थितियों में स्वातंत्र्य के अग्रदूत का जन्म हुआ। इसी परिस्थिति के कारण कृष्ण को व्रज का उन्मुक्त वातावरण मिला। मथुरा से कृष्ण गोकुल पहुँचाये जा रहे हैं। परिस्थिति : भादों का मेघाच्छन्न आकाश, सूचीभेद्य अन्धकार, उमड़ती हुई यमुना, दहाड़ता हुआ सिंह—

भादौं की अधरात अँध्यारी।
द्वार कपाट-कोट भट रोके, दस दिसि कंत कंसभय भारी ।।
गरजत मेघ, महा डर लागत, बीच बढ़ी जमुना जल कारी।[१]

ज्योतिपुरुष के स्वागत में अन्धकार की निबिड़तम शक्तियाँ लगी हैं। तुलसी के राम के जन्म की परिस्थितियों से इस अवतार की परिस्थितियों को मिलाइये—

नौमी तिथि मधुमास पुनीता। सकल पुच्छ अभिजित हरिप्रीता।
मध्यदिवस अति सीत न घामा। पावन काल लोक विश्रामा ।।
सीतल मंद सुरभि वह बाऊ। हरिषित सुर संतन मन चाऊ।
बन कुसुमित गिरिगन मनीआरा। स्रवहिं सकल सरितामृत धारा ।।

प्रकृति की सुन्दरतम शक्तियाँ राम के स्वागत में उपस्थित हैं। चैत/भाद्रपद, शुक्लपक्ष/कृष्णपक्ष, दोपहर/अर्द्धरात्रि का वैसादृश्य (contrast) एक प्रतीकार्थ रखता है। आरंभ से अन्त तक प्रतिकूलताओं से संग्राम करते हुए ही कृष्ण का व्यक्तित्व पूर्णता को प्राप्त करता है। जन-जन का अस्तित्व भौतिक और मानसिक अन्धकार में जकड़ा था। इस लीलावतार को अन्धकार से ही संघर्ष करना था। एक ओर मनुष्य की आनन्दवृत्ति के सहज विकार को घोटने वाली सड़ी-गली मर्यादाओं और मानसिक कुंठाओं पर उन्होंने आघात किया, दूसरी ओर भौतिक भूमा का शोषण करने वाली कंस-शक्तियों का उच्छेद किया।

कालिमा या अन्धकार जीवन की जटिल परिस्थितियों का प्रतीक बन गया। वैदिक साहित्य में अग्नि का एक नाम 'कृष्ण वर्त्मा' है—'अँधेरे पथ पर आगे बढ़ने वाला। कृष्ण के साथ यह शब्द-प्रतीक सटीक उतरता है। समस्त अन्धकार के सूत्र घने होकर सहज जीवन के मार्ग को अवरुद्ध करते हैं : कृष्ण (=श्याम) मार्ग की खोज करते आगे बढ़ते है। इसमें 'तम् आसीत् तमसा गूढ़मग्रे'—आरम्भ में परमात्मा भी अंधकार में गूढ़ रहता है। नीलामवपु स्वर्ण किरणों से प्रोद्भासित होकर श्याम बनता है। उनका जन्म अन्धकार में ही होता है। कृष्ण के साथी गोरे हैं—अर्जुन भी गौर और राधा भी। पर यमुना काली। यमुना में रहने वाला 'कालियनाग' यमुना-चेतना धारा में रहने वाले अचेतन का प्रतीक है। यहां जीवन की अन्ध प्रेरणाएँ निवास करती है। चेतना की गति इससे अवरुद्ध होती है। कालियदमन दिव्य चेतना और

१. सूरसागर, १०।११।

अवचेतन की अंधकारमय वृत्तियों के बीच संघर्ष है। 'कालिय' को प्रकट करके इसकी उद्धत शक्तियों का दमन किया जाता है। 'विष' के अज्ञात स्रोत को प्रकट करना होता है। इससे विषाक्त प्रभाव समाप्त हो जाता है। कालियनाग मारा नहीं जाता। इस प्रकार समस्त काले वातावरण में दो धवल प्रतीक जगमगाते मिलते हैं—राधा और अर्जुन। कृष्ण और अर्जुन के धवलत्व का प्रतीक वेद में मिलता है—'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च[1]।' इस प्रकार कृष्ण स्वयं श्याम होते हुए भी दिव्य ज्योति की किरणों के आश्रय हैं और राधा और अर्जुन उनके जीवन दर्शन के दो धवल प्रतीक अमर हो जाते हैं।

४.२ आध्यात्मिक प्रतीक

आध्यात्मिक दृष्टि से कृष्णलीला का प्रतीकात्मक आख्यान भी साहित्य में दीर्घकाल से मिलता है। कृष्णलीला के प्रतीकाख्यान में तीन रूपों से उनका ऐतिह्य विविक्त है। श्रुतियों के एकीभूत गुप्तवित्त ब्रह्म (उपनिषद् में) गोपांगनाओं के पुंजीभूत प्रेमरूप परमात्मा (भागवत) तथा यदुओं के मूर्तिभूत भागधेय पुरुषोत्तम (गीता में)। पांचरात्र पूर्व युग में ही कृष्ण के व्यक्तित्व में वैदिक विष्णु, अध्यात्म के ब्रह्म और भारत के लोकनायकत्व का समावेश हो चुका था। मिथुनवासना को प्रधानता देने वाला शिव-शक्ति-संयोग वाला सृष्टि-सिद्धान्त पुराणकार को स्वीकृत था। इस सिद्धान्त का विकास भागवत में पूर्ण रूप से मिलता है। भागवतकार ने स्वीकार किया: 'वेदों का सार उपनिषद् है। इनका दुग्ध 'वेदांत सूत्र' है, जिसको भक्तों ने पिया है। पर मेरी तृप्ति नहीं हुई। इसलिये भागवत की रचना हुई है।' इस ग्रंथ ने लीला पुरुष के आख्यान से देश की, भावात्मक एकता संपादित की। समस्त भारत का भक्ति-साहित्य इसका साक्षी है। चिंतनगत धाराओं का भी कृष्ण के व्यक्तित्व में समाहार मिलता है: ज्ञान के अद्वैत, भावात्मक विश्व सौहार्द्र और कर्मगत योग की त्रिवेणी श्रीकृष्ण में मिलती है। औपनिषदिक तत्त्वज्ञान को प्रकट करने के लिए निगमागम मूलक रूपकों और प्रतीकों का आश्रय भागवतकार ने लिया। इन रूपकों से कहीं कृष्ण का ज्ञानाश्रित रूप प्रकट होता है और कहीं पूर्ण भावात्मकरूप और कहीं पूर्ण धार्मिक रूप विविक्त है। संबद्ध स्थानों, पदार्थों, चरितों, परिकर आदि की व्याख्या भी इसी व्यवस्था के अन्तर्गत होती है।

---

1. ऋग्वेद, ६।९।१।

सृष्टि प्रकरण में 'कृष्ण' और 'राधा' परमात्मा और उनकी शक्ति के प्रतीक हैं। इनका ऐक्य ही सृष्टि के मूल में है। 'कृष्ण' और 'राधा' शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए की जाती है। कृष्ण की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है ('कृषि'=सर्व)+(नकार) (ण) = आदि-वीज, आत्म)=कृष्ण। इस व्युत्पत्यर्थ के अनुसार कृष्ण 'सर्वादि', 'सर्वबीज', सर्वात्मा सिद्ध हो जाते हैं। वे सदानन्द हैं, इसकी पुष्टि इस व्युत्पत्यर्थ से होती है : (कृष्=भू (सत्ता)+ ('न' (ण) = निवृत्ति या आनन्द) = कृष्ण। इसी प्रकार 'राधा' (शक्ति) का पुराणों में निर्वचन मिलता है : (शक्=ऐश्वर्य+ (ति=पराक्रम)=शक्ति। राधा 'शक्ति' के रूप में ऐश्वर्य और पराक्रम प्रदान करती है। 'राधा' का यह व्युत्पत्यर्थ मिलता है : (रा=आदान) + (धा= निर्वाण)=राधा (मुक्तिप्रदा)। कृष्ण और राधा में सर्वात्मा/अंतरंगा शक्ति न्याय प्रकीर्तित है। ये परस्पर अपरिहार्य बन्धन में आबद्ध होकर सृष्टि का मूल सिद्धान्त बनते हैं। इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के आधार पर पौराणिक आख्यान यह बनता है : आदितत्त्व रूपरहित है। शक्ति के संयोग से वह रूप ग्रहण करता है। महाशक्ति (महामाया) कभी भौतिक शक्ति के रूप में और कभी चैतन्यरूप में समुल्लसित होती है। इसी के योग से निराकार, सगुण विग्रह के रूप में विलसित होता है। सम्पूर्ण जगत इसी तत्त्व का अङ्ग है। इस प्रकार की धारणा किसी-न-किसी रूप में सभी संप्रदायों में मिलती है। वल्लभ संप्रदाय में भी यह मान्यता है जिसका प्रतिविम्व इन संप्रदायों के कवियों में परिलक्षित है। यही भगवान की सृष्टि-रूपा लीला है। सूर के शब्दों में 'पुरुष' 'प्रकृति' एकता यह है—

प्रकृति-पुरुष 'एक' करि जानहु वा तन भेव करायौ।
द्वैत न जीव एक हम तुम दोऊ सुखकारन उपजायौ ॥

'इच्छा शक्ति' के रूप में महामक्ति ने ब्रह्म को सगुण रूप में प्रकट किया—

आदि निरंजन निराकार कोउ हतौ न दूसर।
रचौं सृष्टि विस्तार भई 'इच्छा' इह औसर ॥

भौतिक रूप से प्रकट जगत भी इसी 'इच्छा' रूपा शक्ति का परिणाम है–

हरि 'इच्छा' करि जग प्रगटायौ।

'सूर' में प्रकृति-पुरुष की अद्वैतता भी मिलती है,[1] और जगत की उत्पादिका शक्ति के रूप में राधा की प्रतिष्ठा है—

१. सूरसागर, पद, १६८८।

अरु यह जगत जदपि हरि रूप है, तऊ 'मायाकृत' जानि ।

इस प्रकार की रहस्यात्मक व्याख्या में अन्य चरित्रों की भी प्रतीक योजना देखनी होती है । वेद और वेदान्त की परम्परा को सिद्ध करने के लिए अन्य पात्रों का प्रतीकार्थ यह सिद्ध होता है : वसुदेव=निगम; देवकी=ब्रह्म-पुत्री; गोपियाँ और गायें=ऋचाएँ, नंद=परमानन्द, यशोदा=मुक्तिमोहिनी तथा कृष्ण=वेदार्थ ।[1] भागवत में भी गोपियों की श्रुतिरूपा या ऋचाओं के रूप में मान्यता है । सूर की गोपियाँ भी वेद-ऋचाएँ हैं—

'व्रज सुन्दर नहिं नारि, रिचा श्रुति की आहीं ।'

गोपियाँ यदि ऋचात्मक हैं, तो श्रीकृष्ण प्रणवात्मक हैं । श्रुतियों को दो रूपों में देखा गया है : अन्यपरा और अनन्यपरा । अनन्यपरा श्रुतियों (=गोपियों) का पर्यवसान 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' में होता है । अन्यपरा गोपियों (श्रुतियों) का दूसरे देवताओं के माध्यम से परब्रह्म में पर्यवसान होता है । रसाश्रयी भक्ति साधना की शब्दावली में प्रथम का प्रतीक 'परकीया' है और द्वितीय का 'स्वकीया ।' अन्य पात्रों और चरित्रों के रूपक में भी वैदिक तत्त्वों का समावेश है । उदाहरण के लिए : बलराम=शेषनाग, कश्यप= =उलूखल, अदिति=रज्जु, वन=वैकुण्ठ, द्रुम=तापस, यष्टिका=ब्रह्मा, वंश=रुद्र, शृङ्ग=इन्द्र ।

इस प्रतीक योजना का लक्ष्य शुद्ध ब्रह्म, जीव और जगत के आध्यात्मिक संबन्ध को स्पष्ट करना प्रतीत होता है । समस्त निगमागम का सार इस योजना को पुष्ट कर रहा है । इसी तत्त्वदर्शन का अवतार धार्मिक प्रतीकों में होता है तत्त्व की भावात्मक प्रीति धर्म-संस्थानों का लक्ष्य है । इसी दृष्टि से कृष्ण की लीलाओं में प्रतीक-योजना उभरी । कलियुग के प्रतीक ये बने : कंस=कलिधर्म, अघासुर=महाव्याधि । देवासुर संग्राम के मूल में सद्वृत्तियाँ और असद् वृत्तियों का रूपक है । इन्हीं का संघर्ष होता रहता है । सद्वृत्तियों के प्रतीक पात्र कृष्ण वार्ता में ये हैं : शम=सुमामा, सत्य=अक्रूर, दम= उद्धव, दया=रोहिणी । असद् वृत्तियों के प्रतीक ये हैं : गर्व=राक्षस, द्वेष= चाणूरमल्ल, दर्प=कुवलियापीड़ । इस विधान में कृष्ण लोक-मंगल के प्रतिष्ठापक, धर्म-संस्थापक तथा साधुओं के त्राता बन जाते हैं ।

कृष्ण की लीलाओं के भी प्रतीकार्थ सम्पन्न हुए । चीरहरण लीला का प्रतीकार्थ यह हुआ : गोपियाँ=आत्मा, वस्त्र=अस्मिता, चीरहरण=आत्मा

---

१. इस प्रतीक योजना का रूप 'कृष्णोपनिषद्' में स्पष्ट किया गया है ।

के द्वारा अस्मिता का निरास। इसी प्रकार दूध-दोहन का अर्थ यह है : दूध= धीन्द्रिय संयम, दोहन=पौर्वदैहिक मर्मेन्द्रिय संयम। इन दोनों का संयोग ही इस लीला से ध्वनित है।

कुछ प्रतीकों में ज्ञान और धर्म दोनों अभिप्रायों का समन्वय भी मिलता है। 'चौर' सम्बन्धी लीलाओं का ज्ञानाश्रित प्रतीक यह है: कृष्ण समस्त संसार में अपने को लीन करने वाले हैं। धार्मिक दृष्टि से वे प्रयत्नों के अशुभ कार्यो को चुरा लेते हैं। इन प्रतीकों में सदा एक रूपता भी नहीं मिलती। कृष्णोपनिषद् के अनुसार सत्यभामा 'धरा' है और पद्मपुराण के अनुसार 'यशोदा'। कहीं 'प्रद्युम्न' को 'मन' माना गया है, कहीं ब्रह्मा को। अहंकार के रूप में कहीं अनिरुद्ध के और कहीं रुद्र के प्रतीक को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार प्रतीक-योजना का विस्तार पुराणों में और पांचरात्रों में हुआ। इससे भारत की समस्त चिंतन धारा को समेटने का प्रयत्न हुआ। यह भारत की भावात्मक एकता का एक विराट प्रतीकात्मक आयोजन था।

आगे के भक्ति संप्रदायों में गोपियों और कृष्ण का संबन्ध सबसे अधिक लोकप्रिय होता गया। उपनिषद् के आनन्दवाद को भक्ति की तरंगों में बाँध देने का कार्य भी इसी प्रतीक के आख्यान से संभव हुआ। कामशक्ति को त्याग और आत्म-समर्पण के मूल्यों की छाया में कितनी ऊँचाई तक ले जाया जा सकता है, यह गोपी-कृष्ण प्रतीक योजना ने स्पष्ट किया। अहेतुकी कृष्णलीला में 'रति' किसी न किसी रूप में मिल ही जाती है। इन लीलाओं में रति की विविध दिशाएँ रूपायित हुई हैं। इन भाव-प्रतीकों की योजना संक्षेप में यह है : बाललीला=प्रीति रति, गोचारण लीला='प्रेमरति' कैशोर लीला =मधुर रति, ब्रजलीला=विरह प्रधान रति; निकुंजलीला=संयोगैक-प्रधाना गोप्य-रति। इन रति रूपों के अनुसार गोपियों के प्रतीक के रूप-प्रकारों की कल्पना पुष्ट हुई। गोपियाँ—प्रेमभक्ति साधना, राधा—रससिद्धि। इस प्रतीक परिवेश में श्रीकृष्ण 'रसेश्वर' परमात्मा हो। वृन्दावन 'अमर-पुरी' या गोलोक का प्रतीक है : नित्यधाम का अवतरित रूप। वेणुरव आनन्द-मयी लीला के आह्वान का प्रतीक है। होली, वसन्त आदि लीलाओं में कामोन्नयन और काम की शुभ नियुक्ति का प्रतीक अधिक ध्वनिमय हो जाता है। भक्ति के आचार्यो ने कृष्ण संबन्धी, भावाकुल प्रतीकों के द्वारा समाज में एक स्नेहमूलक जीवनी शक्ति का संचार किया। इस प्रकार कृष्ण और उनकी

लीलाओं से संबन्धित व्यक्तियों, स्थानों और पदार्थों का जो प्रतीकत्व स्थापित हुआ, उससे कामोन्नयन की विभिन्न श्रेणियाँ और सरणियाँ ही प्रकट होती हैं।

४/३ कामोन्नयन : रासलीला

आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कामोन्नयन का सिद्धान्त कृष्ण की प्रणय-लीलाओं में व्यवहृत हो सकता है। कामोन्नयन से संबन्धित लीलाओं में विरोध और वैलक्षण्य ही अधिक सामने आता है। नैतिक और मर्यादामूलक मूल्यों की अवज्ञा को देखकर कृष्ण का जीवन असामाजिक सा प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण का व्यक्तित्व इतना गत्यात्मक है कि एक निश्चित बुद्धि, एक परम्परा और एक नैतिक पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर उसको पकड़ पाना संभव नहीं हो सकता। एक बने-बनाए साँचे में इस तरह व्यक्तित्व को बाँधा नहीं जा सकता। इसका कारण है कि उनका चरित्र एक 'लीला' है। उनमें एक मतवाद को लेकर चलने की बात कहाँ मिल सकती है। लीला एक सहज कर्म का प्रतीक है, जो – दुःया सु – उपसर्गों में नहीं बाँधा जा सकता। मनोविज्ञान की दृष्टि से लीला या सहज कर्म जो वर्जनों से दूषित नहीं हो गये हैं; मानव जीवन के विकास के लिए आवश्यक है। संयम, मर्यादा आदि नकारात्मक तत्त्व हैं : व्यक्ति की गति इनसे सिद्ध हो सकती है। 'सीता' सती है, पर राधा के साथ जैसे सतीत्व का प्रश्न ही नहीं उठता। राम आदर्श हैं, मर्यादित हैं। कृष्ण जैसे इन स्तरों से परे हैं। यह नहीं कि राम पवित्र नहीं : पर राम और कृष्ण दो अलग-अलग संदर्भ-ध्रुवों की ओर विकसित दो भिन्न शक्तियाँ हैं।

कृष्ण की गोपियों के साथ की गई लीलाएँ शब्दार्थ में कुछ विचित्र हैं। पर आन्तरिक संदर्भ में या प्रतीकार्थ की दृष्टि से नितांत संगत है। कथाएँ बड़ी मांसल और सरस हैं। यदि आदर्श की दृष्टि से उनको तोलें, तो ये 'यथार्थ' लगती हैं। उनमें अरूप का अवतरण है। भौतिक परिवेश प्रस्तुत करते समय 'आदर्श' को ध्यान में नहीं रखा गया। अलौकिकता की व्यंजना चाहे जितनी सूक्ष्म और स्फीत हो, पर भौतिक पक्ष में वनत्व कम नहीं है। इतना है कि हमें एक बारगी उसमें अप्रस्तुत कुछ भी नहीं लगता। 'अन्योक्ति' और 'समासोक्ति' जैसे दो अलग छायाओं को बाँधने का प्रयत्न करती हैं। ऐसा यहाँ कुछ भी नहीं। लगता है कि एक मानसिक यथार्थ अवतरित हो रहा है। इन मानवीय अन्तर्मन का यथार्थ, अवतार कल्पना में पहली बार उतरा

है। यह झाँकी नीतिज्ञ, कूटनीतिज्ञ, नेता या ज्ञानी कृष्ण की मूर्ति से अधिक शक्तिशालिनी है। भारतीय मानस-पटल पर इसी छवि की अमिट रेखायें अधिक खिची और उभरी हैं नैतिक उपदेष्टा कृष्ण मात्र बुद्धजीवियों के विलास का विषय है। हमारी आन्तरिक भाव-छायाओं का यथार्थ प्रतिनिधि व्रजकृष्ण ही है। हमारे पूरे-अधूरे स्वप्न ही जैसे अवतार ग्रहण करके आ गये हों। यह रूप किसी से दूर नहीं है। यह सबका अपना है। मर्यादा आदि का बोध हमको इतना उत्पीड़ित करता है कि कृष्ण की झाँकी के अतिरिक्त कहीं शरण ही नहीं दीखती, जहाँ सब कुछ सहज ! सब कुछ सुलभ ! कृष्ण का व्यक्तित्व नकार वृत्ति के लिए एक चुनौती है। नकारात्मक या शून्य की भाषा में बाँधकर कृष्ण के व्यक्तित्व को नहीं समझा जा सकता। मानव-प्रेम का अखंड रूप अपनी अभिव्यक्ति के लिए कृष्ण के व्यक्तित्व से बड़ा कोई प्रतीक नहीं पा सकता। इस प्रतीक के द्वारा ही कामोन्नयन की निश्चल सरणियाँ प्रकट हो सकती हैं।

कामोन्नयन का चरम पूर्णकामता है। यही कृष्ण के व्यक्तित्व का केन्द्र है। 'काम' में अतृप्ति का तत्त्व है। चरम स्थिति में इसका तिरोधान हो जाता है। 'काम' जगत की प्राणशक्ति (vital force) है। ऋषि ने इस शक्ति को नमन किया है।[1] यही 'इच्छा शक्ति' के रूप में समस्त 'लीला' की पृष्ठभूमि में व्याप्त है। कामशक्ति नाना रूपों में प्रस्फुटित होती है। इसके विकास के दो पथ हैं : सहज और मर्यादित। दोनों ही मूल्यों पर विचार हुआ है : दोनों ही केन्द्रों के आस-पास चिंतन और कल्पना का जाल न्यस्त हुआ है। समस्त कला-विलास इन दोनों का ही परिणाम है। पर आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि यह कहना चाहती है कि 'सहज' का वरण और पालन ही श्रेयस्कर है। 'सहज' वृत्ति में निम्नगामी होने का एक भय अवश्य रहता है। पर यह भय एक ओर तो एक सहज जीवन मूल्य में पूर्ण आस्था न होने के कारण है, एक और मूल्य नकारात्मक रूप में आकर्षित करता रहता है, दूसरे इस भय के कारण जीवन के मूलाधार का निषेध संभव नहीं है। भययुक्त साधना भी चली : काम के विनाश और निरोध के उपदेश भी दिये गये। सारा वातावरण 'मिच्छाचार' (मिथ्या चार) 'अलीक काम' या 'द्वीन्द्रिय समापत्ति' से भर गया। मूल जीवनीशक्ति को कितने ही कलुषों से युक्त कर दिया गया। कृष्ण ने इन सब में

१. 'कामस्तदग्रे समवर्तताधिमनसो रेतः प्रथमं यदासीत्'।

(ऋक्० १०।१२९।४)

रोग देखा। दमन और वर्जन की शक्तियों को उसने ललकारा। उसने अपने को कामशक्ति के रूप में घोषित किया।[1] वास्तव में कृष्ण ने अपने जीवन में कामशक्ति के अनिंद्य विलास को उतार दिया।

भारतीय दृष्टि से चेतना के चार स्तर हैं: प्राण, मन, बुद्धि और प्रज्ञा। इनके लिए क्रमशः अन्न, वासना, इच्छा और आनन्द दुर्निवार हैं। काम की ऊर्ध्वगामी यात्रा भी इन्हीं चार मुकामों में होकर चलती है। इसकी गति को अवाघ रखने के लिए संकल्प आवश्यक होता है। एक महान् उद्देश्य आनन्दात्मक रहना आवश्यक है। सबसे अधिक आवश्यक है, अहं का विसर्जन : उत्सर्ग। प्रतीक रूप से कृष्ण की लीलाएँ इस ऊर्ध्वगामी यात्रा को प्रकट करती हैं। जो परिस्थितियाँ कृष्ण को जन्म से मिलीं, वे अनुकूल नहीं थीं। फिर भी विकासोन्मुख रहना उनकी इच्छाशक्ति और संकल्पशक्ति का ही परिचायक है। गोवर्धन धारण लीला प्राणमय कोश में महाशक्ति के स्फुरण की प्रतीक है। यहाँ भी भय-पूजा के स्थान पर प्रीति-पूजा की स्थापना का प्रयत्न मिलता है। गोवर्धन-पूजा में 'अन्नमय' मूल्यों का समावेश है। इस आधार पर सारा व्रज एक पारिवारिक भावना में बँध गया : अन्नमय मूल्यों की सुरक्षा में ही कालियदमन, इन्द्रमानमोचन, वत्सासुर, वृकासुर, धेनुकासुर, दावानल-पान जैसी लीलाएँ घटित हुईं। इस प्रकार कामशक्ति का अन्नमय कोश में आश्चर्यजनक विस्तार दिखलाई पड़ता है। 'माखनचोरी' आत्मविस्तार का ही प्रयत्न है।

रासलीला—

मनोमय कोश में कामशक्ति के महासंचार को प्रकट करने वाली लीला 'रासलीला' है। यह प्रकृति-पुरुष, नारी-नर के महामिलन का पर्व है। सृष्टि में व्याप्त मिथुन-सिद्धान्त का इससे बड़ा प्रतीक अन्यत्र नहीं मिल सकता। कामोन्नयन के दो रूप होते हैं : एक सौन्दर्यमूलक, दूसरा सामाजिक। प्रथम पद्धति हमें कृष्ण की रासलीला में मिलती है। रास एक प्रकार से गोपियों के मनोमय कोश की उद्वेलित वृत्तियों को ऊर्ध्वोन्मुख करने के लिए ही सम्पन्न हुआ। इसमें एक तत्त्व सामूहिकता का है। एकांकी परिस्थिति में, एकाकी मन की विकृतियाँ यहाँ समाप्त हो जाती है। 'अहं' का विसर्जन यहाँ पूर्णरूप से प्रतिपादित किया है। 'अहं' की गंध आने पर ही 'रास' रुक जाता है : विरहाग्नि उद्दीप्त करके अहं को भस्म करने की योजना भी है। उत्सर्ग के पवित्र क्षणों में

१. धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ। (गीता ७।११)

स्वार्थ नहीं रह सकता। इस तत्त्व को शुकदेव ने परीक्षित के शंका-समाधान के लिए स्पष्ट किया।[1] न यहाँ भय है, न संकोच, न आलस्य न जड़िमा। कामशक्ति का शुद्ध ऊर्ध्वमुखी विलास ही यहाँ सौ-सौ छवियों में विद्यमान है। शान्ति का यही मार्ग है। मनुष्य का चित्त विषय-विकारों से शून्य नहीं हो सकता। पर इनकी स्थिति इस प्रकार हो कि मानसिक शान्ति भंग न हो।[2] वास्तव में यही 'योग: कर्मसु कौशलम्' का रहस्य है। इस प्रकार रासलीला में कामोन्नयन की भारतीय पद्धति का ही परिपालन है।

'रासलीला' का प्रसंग इसीलिए जीवन के महान् अर्थों की क्रीड़ास्थली बन गया है। भावुक-भक्त तो इसके रसास्वादन में रत रहते ही है, वेदान्तियों को भी इसमें साधना और समाधि के अनेक रहस्यों की झलक मिल जाती हैं। विभिन्न चिन्तकों ने इसका भिन्न-भिन्न रीतियों से मूल्यांकन किया है। पर इसकी कल्पना में काम और प्रेम को पृथक करने का अभिप्राय अवश्य है। सर्वत्र ही इसमें काम का निराकरण किया गया है। वल्लभाचार्य जी ने ब्रह्मानंद से भी उच्चतर रस भजनानन्द की सृष्टि के लिए रास माना है। मुक्तजीवों को यह रस प्रदान करना ही रास का लक्ष्य है।[3] यह रस मानसिक अनुभूति से अभिव्यक्त होता है। यह देह द्वारा प्राप्त अनुभव नहीं है—'रास क्रीड़ायां मनसो रसोद्गमः न तु देहस्य।' रास के तीन रूप वल्लभ संप्रदाय में माने गये है : नित्यरास, अवतरित रास तथा अनुकरणात्मक रास। प्रथम तो गोलोक या नित्य वृन्दावन में श्रीकृष्ण के आनन्द विग्रह और उसकी आनन्द-प्रसारिणी शक्तियों के संयोग से होता रहता है। दूसरा वृन्दावन में होता है। 'सुबोधिनी' में यह भी कहा गया है कि रास में काम की चेष्टाएँ तो हैं, पर काम नहीं।[4] इसमें लौकिक काम का उन्नयन और शुद्ध मानसिक प्रेम की उपलब्धि ही है।

---

१. कुशला चरिते नैषामिह स्वार्थो न विद्यते।
विपर्ययेण वानर्थो निरहंकारिणा प्रभो॥ (भागवत)

२. आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशंति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥
(गीता २।७०)

३. ब्रह्मानंदात्समुद्धृत्य भजनानंदयोजयेत्।
लीला या युज्यते सम्यक् सातुर्ये विनिरूप्यते॥ (सुबोधिनी)

४. क्रिया सर्वापि सेवात्र परं कामो न विद्यते। (वही)

सारी योजना निष्काम है।[1] निम्नगा काम-वासना तो हृदय का एक रोग है। इस रोग को नष्ट करनेवाली रासलीला है।[2] इसी से इसके द्वारा शुद्ध होकर मन परामक्ति को प्राप्त करता है। सनातन गोस्वामी ने रामलीला के समस्त प्रकारण को कामविहीन कहा है—

'ह्लादिनी शक्ति विलास लक्षण परमप्रेमप्रीयूषैवेषा रिरंसा नतु काममयीति।'

रासलीला में दो अभिप्रायों का समावेश है: अन्तरंग और वहिरंग। अन्तरङ्ग अभिप्राय के अनुसार इसमें परमानन्द का आस्वादन होता है। वहिरङ्ग दृष्टि से यह 'काम-विजय' की कथा हैं। शैव-साहित्य में 'काम-दहन' का अभिप्राव है, पर रासलीला 'काम-विजय' की कथा है। काम-विजय नकारात्सक नहीं, प्रकृति में स्वीकारात्मक है। श्री किशोरीशरण अलि ने इस काम-विजय का प्रसंग सुन्दर शैली में दिया है[3]: 'काम ने नारद, शिव, ब्रह्मादिकों को भी जीत लिया था, इससे उसका अभिमान वहुत वढ़ गया था। अव उसने इन सबके स्वामी भगवान श्रीकृष्ण से भी युद्ध करने का निश्चय किया और भगवान श्रीकृष्ण ने भी उसकी चुनौती स्वीकार करली। काम ने...व्रजांगनाओं के अङ्ग रूप कांचनमय दुर्ग का आश्रय लिया, उनके प्रधान-प्रधान अवयवों को अपना युद्ध-मंच बनाया। पंचशर और सुमन चाप लिया। तथा अपनी अनंगी सेना को आगे करके युद्ध के लिए प्रस्तुत हुआ। इतने पर भी श्रीकृष्ण ने उसे दुर्बल ही देखा और उसकी उपेक्षा जैसी ही की क्योंकि दुर्बल शत्रुओं से युद्ध करना सफल और यशस्वी योद्धा अधर्म समते हैं।.... श्रीकृष्ण ने महादेव के कोपानल से दग्ध अनंग की-अपने वेणुनाद द्वारा अपनी अधर-सुधा सिंचन से तुष्ट पुष्टांग शक्ति संवर्धन की।....अमना होते हुए भी (आप) स्वयं ने भी मन स्वीकार किया, ताकि वह यह न कह सके कि प्रति-भगवान कृष्ण पर उसका एक भी वार सफल न हो सका।....श्रीकृष्ण ने स्वयं व्रजांगनाओं के वक्षोज, गण्डस्थल और उरु आदि-आदि अङ्गों में ढूँढ़-ढूँढ कर अनङ्ग को जर्जरांग, वेपथांग और विकलांग कर दिया। इस प्रकार यह रासलीला कामलीला नहीं, काम-विजय लीला हैं।' काम-दहन लीला के पश्चात् भी काम पराजित नहीं हुआ था: वह सूक्ष्म शक्तियों से युक्त होगया।

---

१. तासाँ कमस्य सम्पूर्ति निष्कामेति तास्तथा। (सुबोधिनी)

२. हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः। (भागवतपुराण १०।३३।४०)

३. भारती, कृष्णलीला विशेषाँक, पृ० ८३।

पर रासलीला में वह पूर्णतः पराजित हुआ। यहाँ पद्धति नकारात्मक नहीं थी : इसी प्रसंग में श्रीकृष्ण को 'योगेश्वर' कहा गया है।

शुद्ध भक्ति की अपेक्षा भय, क्रोध, वैर, स्नेह और काम आदि भावों में प्राकृति शक्ति अधिक है। इन भावों में तीव्रता और तन्मयता अधिक है। इस तीव्रता और तन्मयता को साधना की ओर उन्मुख करके भगवान या परमलक्ष्य की प्राप्ति सहज-सरल है। जिस प्रकार से क्रोध, भय, वैर आदि भावों से परमतत्त्व की प्राप्ति हो जाती है, उसी प्रकार कामभाव से भी उसे प्राप्त किया जा सकता है। पर काम ऊर्ध्वगामी हो। इसी अभिप्राय को प्रकट करने के लिए रासलीला की योजना हुई। इसके नायक योगीश्वर, कामजयी भगवान कृष्ण है और नायिकाएँ अहं का पूर्ण विसर्जन करने वाली उत्सर्गमयी गोपियाँ।

इस लीला की लोकप्रियता भी सबसे अधिक हुई। ब्रज, बंगाल, गुजरात आदि प्रदेशों में तो इसके प्रचार के सम्बन्ध में कुछ कहना ही नहीं है। दक्षिण में इस लीला का प्रवेश कम हुआ। तेलुगु क्षेत्र में कृष्ण-प्रेम की लीलाओं में नायिकाएँ सत्यभामा और रुक्मिणी ही मिलती है। राधा और गोपियों का उल्लेख अत्यल्प है। लीलाशुक और जयदेव की लीला-भावना का प्रभाव तो है, पर कम। तमिलक्षेत्रीय 'प्रबन्धम्' साहित्य में रास का रूप अवश्य मिल जाता है। तमिल साहित्य के पुरातन ग्रंथ 'अयच्चियर कुरवई', और 'निलप्पाधिकारम्' में अन्य लीलाओं—बाँसुरी, बाल तथा गोपाल का तो वर्णन पर्याप्त मिलता है, पर रासलीला नहीं है। राधा का नाम तो नहीं मिलता, पर कृष्ण की एक प्रिय-सहचरि 'नप्पिन्नई' हमारा ध्यान अवश्य आकर्पित करती है। 'राधा' की प्रकृति से यह अधिक भिन्न नहीं है। कृष्ण की पटरानियों में इसका नाम ही नहीं है। नप्पिनई जाति की ग्वालिनि बतलाई गई है। इसके साथ जो प्रेम-लीला हुई है, उसको तमिल में 'कुरवई कुन्तु' कहा गया है। सम्भवतः इसी लीला से रास ही सूचित है। द्वितीय शती की रचना 'शि[illegible]प्याधिकारम्' है। इसमें इस क्रीड़ा में ७ या ९ गोपियाँ भाग लेती हैं। इसमें रासलीला का रूप स्पष्ट हो जाता है। 'मणिमेखलम्' में भी कृष्ण-गोपी केलि-क्रीड़ा की चर्चा है। मध्यकालीन तमिल साहित्य में रासलीला का कुछ अधिक वर्णन मिलता है। इस प्रकार रास की लोकप्रियता अखिल भारतीय हो गई। इसका अभिप्राय मानव जीवन के मूल संघर्ष में संवन्वित है।

विविध ज्ञान क्षेत्रों में इस लीला के प्रतीक के सहारे अपने-अपने मंतव्यों को प्रकट किया गया है। ब्रह्मविद्या परक प्रतीकार्थ इस प्रकार है :

तत्—कृष्ण + त्वं—जीव (गोपियाँ), इन दोनों का महामिलन—तत्त्वमसि। योग शास्त्र के अनुसार प्रतीकार्थ यह होगा : वंशीध्वनि—अनाहत नाद, गोपियाँ—नाड़ियाँ, राधा—कुलकुंडलिनी, वृन्दाबन—सहस्रदल कमल, जीव-ब्रह्म मिलन—राम। यहाँ जीवात्मा की शक्तियाँ ईश्वरीय विभूतियों के साथ रास-नृत्य करती हैं।[1] इसी प्रकार वेदपरक प्रतीक भी घटित हो जाता है : गोपियाँ—ऋचाएँ + कृष्ण—वेदार्थ—रास। जिस प्रकार शब्द और अर्थ का नित्य संबन्ध है, उसी प्रकार 'रास' गोपियों और कृष्ण के नित्य रास से नित्य संवन्ध प्रकट होता है। ज्योतिष का रूपक वनता है : कृष्ण—सूर्य, गोपियाँ—किरणें, किरणें सूर्य से अभिन्न हैं, उसी में रहती हैं, उसी से निकलती हैं, और उसी में लौट जाती हैं। सूर्य गोलकार है। यह 'रासलीला' की मूल क्रिया है। अन्ततः इस लीला का काव्यपरक अर्थ भी हुआ : "जिस दिव्य क्रीड़ा में एक ही रस अनेक रसों के रूप में होकर अनन्त-अनन्त इसका समास्वादन करे, एक रस ही रस-समूह के रूप में प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद्य आस्वादक लीला, धाम और विभिन्न आलंबन और उद्दीपन के रूप में क्रीड़ा करे, उसका नाम रास है।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि रासलीला मूलतः कामोन्नयन की कथा हैं : इसमें श्रीकृष्ण की काम-विजय ही घोषित है। अन्य प्रकार से भी इसके प्रतीकार्थ सिद्ध किये गये हैं। ज्ञान, कर्म, उपासना—तीनों के मन्तव्य इस प्रतीक से प्रकट हो सकते हैं। कृष्ण की लीलाओं में इस लीला की व्याप्ति सर्वाधिक है। अष्टछाप के कवियों में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। एक तो यह कि गोपियाँ आरम्भ में काम प्रेरित होकर रास में प्रवृत्त हुईं। धीरे-धीरे काम का उन्नयन 'प्रेम' के रूप में हो गया। नन्ददास में यही क्रम मिलता है—

तैसेंई गोपी प्रथम काम, अभिराम रसी रस।
पुनि पाछे निःसीम प्रेम, जिहिं कृष्ण भए बस॥
× × × ×
तैसेंई ब्रज की बाम, काम रस उत्कट करि कै :
सुद्ध प्रेम मय भईं, लईं गिरिधर उर धरि कै॥[2]

---

१. द्रष्टव्य, बलदेवप्रसाद मिश्र, रासलीला का आध्यात्मिक तत्त्व, कल्याण, वर्ष ६, (अगस्त, १६३१)।

२. सिद्धान्त पंचाध्यायी, पृ० १६३।

सूर ने इस प्रकार के स्पष्ट क्रम की आवश्यकता नहीं समझी। गोपियाँ कामप्रेरित ही दिखलाई गई हैं। मुरली को सुनते ही कामातुर ब्रज-बालाएँ कृष्ण की ओर दौड़ पड़ीं।[1] काम-विजय के अभिप्राय को उत्कट बनाने के लिए समस्त काम-क्रीड़ाएँ की गई हैं। इनका अत्यन्त भावतरल चित्रण किया गया है—

कबहुं पिय हरषि हिरदै लगावै।
कबहूँ लै लै तान नागरी सुघर अति, सुघर नँद सुवन को मन रिझावै॥
कबहूँ चुंबन देति, आकरषि जिय लेति. गिरति बिनु चेत, बस हेत अपनै।
मिलति भुज कंठ दै, रहति अँग लटकि कै, जात दुख दूरि ह्वै झझकि सपनै॥
लेति गाहि कुचनि बिच, देत अधरनि अमृत, एक चिबुक इक सीस धारैं।
'सूर' की स्वामिनी स्याम सन्मुख होइ, निरखि मुख नैन, इकटक निहारैं॥[2]

करोड़ों कामदेव नायक और नायिका की काम छवियों पर निछावर हैं—कोटि मदन छबि राजैं।' इस अप्रस्तुत के पीछे भी काम-दमन की व्यंजना है। इस प्रसंग में चाहे इतिवृत्तात्मक रूप से काम-विजय वर्णित न हो, उसके संकेत स्पष्ट हैं। कामदेव को पकड़कर नचा दिया गया है–[3]

'बानक अतिहि बन्यो मन मोहन, मन्मथ पकरि नचावै।'

इस प्रकार का-विकास नंददास की बौद्धिक पद्धति के अनुसार तो सूर में नहीं है। काम को शुद्ध यथार्थ धरातल पर उत्कट बनाते हुए, उसके अभिभूत होने की व्यंजना सूर ने अवश्य की है।

५ रसेश्वर कृष्ण—

बंगाल शक्ति-पूजा की तांत्रिक पद्धति का प्रसिद्ध पीठ रहा है। वहाँ की आदिम जातियों में पहले से यह विधि चली आ रही थी। यों, आर्य-साधना में भी दुर्गा का स्थान निश्चित हो चुका था। बंगाल में वैष्णव साधना और शाक्त साधना साथ-साथ चलती रहीं। बौद्ध धर्म का भी भक्तिमार्गीय और पौराणिक रूप देश के पूर्वी भाग में चलता था। बौद्ध साधना में एक प्रकार से शास्त्रों और शाक्तों से तंत्रमयी साधना और वैष्णवों से उपासना और प्रपत्ति के तत्वों को ग्रहण किया। इन तत्वों के आधार पर ही महायान

---

१. काम आतुर भजीं बाला, सबनि पुरई आस। (सूरसागर, १०।१०६२)
२. सूरसागर. १०।१०६१।
३. सूरसागर १०।११८१।

वज्रयान एवं तंत्रयान या मंत्रयान में परिणत होने लगा। शाक्तों और तंत्रों के मिलन वाममार्गी आचार-अभिचार भी चलने लगे। नाथपंथियों और सिद्धों ने अभिनव शैवमतों का प्रचार भी किया। इस प्रकार साधनाओं के कई रूपों का बंगाल में सहअस्तित्व मिलता है। इनमें परस्पर प्रभाव स्वाभाविक हो गया। स्वयं वैष्णव मत भी अप्रभावित नहीं रहा। 'परकीया' एवं रागात्मक उपासना इसी प्रभाव परिवेश में पनपी।

मत-मतांतरों के दलदल में फँसे पूर्वी भारत को मुसलमानों ने भी जीत लिया। उनके साथ सूफी मत भी आया। सूफीमत स्वयं मध्य एशिया में प्रचलित महायान पंथ से प्रभाव ग्रहण कर चुका था। सूफी साधना की ओर भी जनता का आकर्षण हुआ। इस प्रकार बंगाल का समस्त वातावरण माधुर्य से संसिक्त हो गया। विधि-निषेध के प्रति इस वातावरण में घोर प्रतिक्रिया थी।

इसी भावभूमि पर माधुर्य से अभिमंत्रित चैतन्य का व्यक्तित्व उदय हुआ। समग्र गोपियों, गायों और वन-उपवन से भरा-पूरा वृन्दावन नवीन वसन्त की सुरभि में, और नवीन यौवन की तरंगों में झूम उठा। वृन्दावन, के रसावतार की सारी छवियाँ जयदेव, विद्यापति और चंडीदास के गीतों में उतरने लगीं। सभी संप्रदायों का जो मधुर रूप बंगाल में घटित हुआ वह 'मधुकर निकर करम्बित कोकिल कूजित कुंज कुटीरे' को पुलकित करने लगा। कृष्ण के रसेश्वर रूप को उद्‌घाटित करने में शिष्ट साहित्य, प्रचलित उपासना पद्धतियों एवं लोकजीवन और साहित्य ने योगदान दिया। चैतन्य से पूर्व अद्वैत सन्यासी माधवेन्द्रपुरी ने कृष्णोपासना की शास्त्रीय विधि स्थापित की थी। सुनते हैं ये चंदन की लकड़ी लाने के लिए प्रतिवर्ष राढ़, पुरी एवं महाबलेश्वर होते हुए दक्षिण की यात्रा को जाते थे। चैतन्य के परिवार में इनकी गुरु रूप में मान्यता थी। चैतन्य भी इनके साथ सम्भवतः दक्षिण की यात्रा को गये। आल्वार संतों, उनके साहित्य एवं नवोदित भक्ति संप्रदायों से उनका संपर्क होना संभावित है। साथ ही उन दिनों वृन्दावन समस्त भारत के वैष्णव संप्रदायों का संगम-स्थल बन रहा था। ब्रज और बंगाल के वैष्णवों का भी सम्मिलन वृन्दावन में हुआ। इस प्रकार चैतन्य ने वैष्णव उपासना के भारतव्यापी परिवेश को देखा। स्थानीय उपासना पद्धतियों से तत्त्वग्रहण किया। काव्य के मधुर मार्गों से भावना को पुष्ट किया और रसेश्वर कृष्ण का नवीन रूप में अवतरण किया। संभवः चैतन्य ने समस्त

देश की वैष्णव भावना में माधुर्य का मूल स्पन्दन पाया और उसी को अपनी उपासना में प्रमुख स्थान दिया।

५.१ सौन्दर्य प्रेम और कला के अधीश्वर—

कृष्ण-चरित्र से सौन्दर्य की एकान्त प्रतिष्ठा है। अन्य जीनन मूल्यों की उपेक्षा नहीं, सभी का सौन्दर्य में समावेश है। भगवान और सौन्दर्य का यह तादात्म्य भारतीय संस्कृति में पहली बार ही घटित हुआ। कृष्ण ने अपनी निजी शैली में यह घोषणा की : संसार में जो कुछ भी सुन्दर या श्रीमान है वह मेरे ही एक अंश का विकाश है।[1] उन्होंने सौन्दर्य के साथ शक्ति का भी उल्लेख किया है। सौन्दर्य और सत्य में विरोध नहीं। जीवन की एक विशेष अभिव्यक्ति जिसे 'कला' कहते हैं, सत्य को सौन्दर्य में ढाल कर ही अपना उपजीव्य पातीं है। सत्य या सौन्दर्य जीवन के स्थिर मूल्य नहीं हैं : इनमें गत्यात्मकता है। युग और परिवेश इनके नवीन रूपों की योजना करते हैं जो युग विशेष की चेतना को अंकित कर सकें। कला सौन्दर्य का संमूर्तन है : उसकी जीवन्त व्याख्या है। जिस व्यक्तित्व की केन्द्रीय धुरी ही सौन्दर्य को हो वह कला को अनुप्राणित करने की शक्ति रखता है। ऐसी व्यक्तित्व कला को मर्मान्तिक स्फूर्तियाँ प्रदान करती है और कलाओं की अभिव्यक्तियाँ ऐसे व्यक्तित्व पर बरस पड़ती हैं। अध्यात्म और तत्त्व विज्ञान भी सौन्दर्य में इतना घुल-मिल गया है कि दोनों धन्य और समृद्ध हो उठे हैं। आनन्दवादी 'मधुविद्या' में सौन्दर्य का सर्वाधिक मूल्य है। महान् व्यक्तित्व, महान् दर्शन और आध्यात्मिकता का परिपालन करते हुए भी कृष्णश्रयी कलाकार सृजन के प्रति, अपने आपके प्रति पूरा ईमानदार रह सकता हैं। यथार्थ का ऐसा विपरिणाम हुआ है कि 'आदर्श' से बच कर भी स्थूल कर्कशता को दूर फेंक सका है। 'मर्यादा' के संदर्भ में कृष्ण की सौन्दर्य-चेष्टायें यथार्थ है, आदर्श नहीं और यथार्थ अपनी प्रकृति में बँधकर भी उन्नयन के सीमातीत क्षणों में संक्रमित हो गया है। 'दिव्य सौन्दर्य' को वैदिक द्रष्टा देख सका और मानवीय सौन्दर्य को भी। दोनों का घोल-मेल कृष्ण के व्यक्तित्व में ही हो सका और खंड, अखंड बन गया। 'अखंड' में भी 'खंड' के सौन्दर्य का तिरस्कार नहीं हुआ। ईश्वरीय ज्ञान और माहात्म्य को संसार को कोई भी संस्कृति इतना सौन्दर्यात्मक नहीं बना सकी। साधना और कला में कोई अन्तर नहीं : कलाकार और

---

१. यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥ (गीता १०४१)

साधन भिन्न नहीं : दर्शन अपना समस्त दायित्व कला को सौंप कर निश्चिन्त हो गया। काव्यशास्त्र को एक अभूतपूर्व 'रस' मिला। 'कामकला' को आध्यात्मिक संदर्भ मिला। ये ही सब कारण हैं, कि कृष्ण की लीलाओं के अभिप्राय सभी ललित कलाओं के संस्थानों में अनिवार्य हो उठे। भारत का कविकंठ वात्सल्य की अनुकृतियों से भर गया। 'गीतकार' और 'चित्रकार कैशोर लीलाओं में डूब गये। प्रस्तर खंड इन सभी अभिप्रायों की ऊष्मा से स्पन्दित हैं।

कृष्ण के सौन्दर्य-दर्शन के अनुसार यदि 'सत्य' हमारे 'प्रेम' का आलंबन नहीं बन सकता, तो वह सत्य नहीं। 'प्रेम' में कल्पना है, बिंब-प्रक्रिया है, संमूर्तन है। कल्पना 'सत्य' को गतिशील रखती है। इस प्रकार जीवन के यथार्थ प्रेम और कल्पना के माध्यम से सत्य बनते हैं। इन्हीं के सहारे 'सत्य' हमारे भीतर प्रविष्ट होकर रस-रमण करता है। 'सत्य' को प्रेम का आलंबन बनने के लिए 'सौन्दर्य' में परिणत होना है। यह योजना कला और कलाकार के सत्य को ही उजागर करती है। कला के प्रत्येक महोत्सव में इस मान्यता का पृष्ठाधार रहता है।

कृष्ण 'सत्य' है। उसे गोपियों के प्रेम का आलम्बन बनना है। पहले उसे एक सुन्दरतम प्रतीक बनना पड़ा : सर्वाङ्ग सुन्दर पीतवस्त्र से विभूषित, अलंकृत, वंशी-वादन में निपुण गायन में कुशल, नृत्य में प्रवीण। 'प्रेम' का इससे सुन्दर अभिनय, जिसमें नैसर्गिक और कलात्मक सौन्दर्य चरम-चुंबी हो— कहाँ मिलेगा। जब प्रेमिकाएँ कृष्ण के पास पहुँचीं तो सौन्दर्य के सत्य को प्राप्त करने का मार्ग बतलाया—उत्सर्ग, अशेष समर्पण। जहाँ सौन्दर्य, सत्य, उत्सर्ग की त्रयी से आनन्द की दिशा का उद्घाटन हुआ, वहाँ यह भी प्रकट किया गया कि सौन्दर्य, प्रेम सत्य की अभिव्यक्ति के लिए कला ही एक मात्र माध्यम है। 'कला' प्रेम-समाधि के महासौन्दर्य को वाणी देकर एक व्यापक अभेद बना सकती है : अनेकता 'एक' हो सकती है। समाधि की भाषा ही सच्ची कला है। इस जागरुक प्रविधि ने शताब्दियों तक भारतीय कला-विलास को नित नये स्पन्दन दिये। कृष्ण कला के भी अधीश्वर बन गये। संक्षेप में कला के अधीश्वर का विकास यों देखा जा सकता है।

५.२ मूर्तिकला में कृष्ण—

भागवतवाद का पुनरुत्थान गुप्तयुग में हुआ। बहुत से हाथों और मुँह वाली विष्णु की मूर्तियाँ इस युग में मिलती हैं। गीता में वर्णित विश्व-रूप

भावना ही इनमें अभिव्यक्त हुई। इस कल्पना में वेद के पुरुष-सूक्त (Cosmic man) की छाया स्पष्ट है। कृष्ण के द्वारा समर्थिक भागवतवाद में कर्मकांड और धार्मिक ज्ञानवाद को यथावत् स्वीकृत नहीं किया गया। इसमें इष्ट की पूजा-अर्चना, सेवा आराधना, औपनिषदिक मोक्ष और ब्रह्मानन्द के समकक्ष मानी गई हैं। ब्राह्मणों ने इस विधान को अवश्य ही देर से स्वीकार किया होगा, क्योंकि इसमें कर्मकाण्ड परक पाखंडों के उच्छेद के अभिप्राय निहित थे। यव, आभीर आदि का शास्त्रीय-दर्शन में प्रवेश नहीं था। इन्होंने भागवत पद्धति को स्वीकार कर लिया। सभी अपने को भागवत या वासुदेवक कहने लगे। संकर्षण मत का उदय और प्रचार भी हुआ। संकर्षण को कृष्ण के भाई के रूप में मान्यता मिली : दो लोकप्रिय धार्मिक पद्धतियों का समन्वय हुआ।

शुंगकाल से ही कृष्ण की मूर्ति की पूजा के चिन्ह मिलते हैं। कर्टियस (Curtius) के कथन से स्पष्ट होता है पोरस की सेना हेराक्लीज (Heracles) की मूर्ति को आगे करके सिकंदर की सेना के सम्मुख बढ़ी। यह हेराक्लीज कृष्ण ही है। मेगास्थनीज (३२० ई० पू०) ने भी कहा है : हेराक्लीज शूरसेनों द्वारा पूजित एक देवता था। इस प्रदेश में दो वड़े नगर थे : मथुरा और कृष्णपुर। यह देव अपनी शारीरिक और भौतिक शक्ति में सबसे आगे था। उसने पृथ्वी और समुद्र के समस्त दोषों का परिस्कार किया था। बौद्ध धर्म के ग्रंथ निद्देस (चौथीशती ई० पू०) में वासुदेव और बलदेव के उपासकों का उल्लेख मिलता है। 'हेलिओडोरस' (ग्रीक भागवत) ने बीसनगर शिला (१८० ई० पू०) में वासुदेव को 'देवदेव' कहा है। शिलालेख में अन्य देवों के साथ वासुदेव का भी उल्लेख है। बौद्ध धर्म के अन्य ग्रंथ में राधा, यशोदा, नन्द आदि कृष्णवार्ता से सबद्ध प्रमुख पात्रों का परिचय मिलता है। शकसत्रप सोदास के शिलालेख (८१ ई० पू०) में भगवतो वासुदे (व) के महास्थान का उल्लेख है। इस प्रकार कृष्ण और बल्देव की मूर्ति-पूजा बहुत पहले से होने लगी थी। इस युग में देशी-विदेशी कला-तत्त्वों का मिश्रण भी हुआ। इस मिली जुली कला-पद्धति कृष्ण का स्थान बन गया।

मथुरा में प्राप्त चतुर्भुज कृष्ण की खड़ी मूर्तियाँ, सम्भवतः सबसे प्राचीन प्राप्त मूर्तियाँ हैं। इनका निर्माण कुषाण-युग में हुआ था। मथुरा में दो और प्रसंग-मूर्तियाँ हैं—एक में वसुदेव नवजात कृष्ण को यमुना के पार ले जा रहे हैं, दूसरी में गोवर्द्धन धारण लीला का अभिप्राय है।

गुप्तकाल में महाभारत के कृष्ण के अभिप्राय मिलते हैं। अहिछत्र का भित्ति-शिल्प इसका साक्षी है। इसमें युधिष्ठिर और जयद्रथ की लड़ाई का दृश्य है। गढ़वा से कृष्णार्जुन की उपस्थिति में भीम और जरासंध के युद्ध का दृश्य प्राप्त हुआ है। होयसलेश्वर मन्दिर में महाभारत के सशक्त दृश्य शिल्पगत हैं। इस शिल्प में पार्थसारथि और गांडीवधारी अर्जुन प्रमुख हैं।

इस विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि इतिहास के आरम्भिक युग में कृष्ण की चतुर्भुज मूर्ति होती थी और गीता से संबन्धित कृष्ण की लीलाएँ लोकप्रिय थीं। ब्रज साहित्य में केवल गोवर्द्धन लीला मिलती है। उसकी लोकप्रियता भी सम्भवतः इन्द्र-दमन के अभिप्राय के कारण है। उसके साथ भावात्मकता संबद्ध नहीं है।

कृष्ण ग्वाल भी है: गोविंद भी है। वह ग्वालों और कृषकों का भी देव है। वह उन्हें अनेक संकटों से बचाता है। इनका संदेश है: गाय, वनभूमि, पहाड़ियाँ हमारे यथार्थ देव हैं। इन्द्र के स्थान पर इनकी पूजा कराई गई है। इस प्रकार इंद्र की प्रतिष्ठा 'गोपाल' के रूप में होती है। कृष्ण ने दलदली भूमि को कृषि योग्य बनाया। कालियदमन की लीला इसी का प्रतीक है। गोवर्द्धनधारण लीला जहाँ वैदिक देव के पराजय का रूपक प्रस्तुप करती है, वहाँ इस लीला में वर्षाजन्य प्लावनों से ब्रज की रक्षा का प्रतिनिधित्व भी है। इसलिए पीछे की मूर्तिकला में गोवर्द्धन धारण और कालियदमन की लीलाएँ विशेष रूप से मिलती हैं। गोवर्धन-लीला का शिल्प-चित्र कंबोडिया में अंगकोर-वट में भी है। श्यामवर्ण, पीतांबर-लसित, मोरपंखधारी कृष्ण जननेता के रूप में प्रकट है। यह कृष्ण अनेक पौराणिक कथाओं का नायक है। ब्रज में अनेक लीलाएँ संपन्न हुईं: ग्वाल और ग्वालिनें सहायक बनीं। लीलाओं के तीन वर्ग हैं: श्रवण-मंगलम्, ध्यान-मंगलम् तथा विश्व-मंगलम्। आज के भावात्मक विकास में राधा-कृष्ण युगल हैं।

इन भावात्मक लीलाओं से संबन्धित मूर्तियाँ सबसे पहले पूर्वी भारत में मिलती हैं। राधा-कृष्ण की सबसे पुरानी मूर्ति पहाड़पुर (८ वीं शती) की है। यह बंगाल में है। इसमें तरल-शिल्प, सूक्ष्म-अंगभंगियों ताथ लयात्मक गति को उभार मिला है। इसके बाद भोज-वर्म्मन (११०० ई० के लगभग) का शिलालेख है। इसमें श्रीकृष्ण और गत गोपियों के विहार का उल्लेख है। इस प्रकार का शिल्प-प्रामाण्य पूर्वी भारत में मिलता है। इससे कुछ विद्वान यह अनुमान लगाते हैं कि राधा की मधुमयी कल्पना बंगाल की देन है।

ब्रज व राजस्थान में भी कृष्ण की भावात्मकलीला से प्रस्तर खंड सजीव हैं। गोवर्धनलीला और दानलीला का दृश्य सुरतगढ़ (बीकानेर) में मिलता है। अनुमान है कि ये शिल्प अन्तिम कुषाणकाल या आरम्भिक गुप्त युग के हैं। मन्दौर (जोधपुर) में भी वृन्दाबनलीला तथा गोवर्धनलीला शिल्पांकित है (चौथी-पाँचवी शती ई०) पाथरी (ग्वालियर) में कृष्ण के जन्म का दृश्य है। इससे प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र में 'निकुंज' का अभिप्राय विकसित हुआ।

इस प्रकार गुप्तकालीन शिल्प में गीताकार कृष्ण के गांभीर्य और संयम की छटा है। मध्यकालीन मूर्ति-विधान में कोमलता, भावुकता और तरलता अधिक है। आगे मूर्तिकला में गंभीर और तरल अभिप्राय उतरते चले गये। पर माधुर्य के आतिशय्य को प्रस्तर-शिल्प अधिक न सम्हाल सका, मानसी भावनाएँ प्रबल होती गईं, जिन्होंने कला के माध्यम ग्रहण किए।

५.३ चित्रकला में—

पांचरात्र दर्शन रसाश्रयी साधना, पौराणिक साहित्य और लोकभाषा काव्य के प्रभाव से रसिकों का हृदय वृन्दावन बन गया। राधा मानवीय आत्मा है—कृष्ण के नादात्मक आह्वान से विकल। राजस्थानी, हिमांचलीय और गुजरात कला के चित्रों में कृष्णलीला के भावात्मक अभिप्राय उद्मुंदित हैं। काव्य और चित्रकला का सगम हुआ। श्रीकृष्ण का लीलांकन गुजरात में सबसे पहले मिलता है। इन चित्रों की पृष्ठभूमि में गीतगोविन्द के गीत लिखे हैं। राजपूत शैली के चित्रों में लीलांकन अपने चरम पर है। इन चित्रों में वात्सल्य, सख्य, करुण, शृङ्गार, माधुर्य और वीर—सभी भावों को स्थान मिला है। पर सबसे अधिक लोकप्रिय गोपी-लीलाएँ हैं। जयपुर शैली ने मुख-मंडल, किशनगढ़ शैली ने मंजन-नयन आदि विषयों में वैशिष्ट्य प्राप्त किया। संयोग भी चित्रांकित हुआ और वियोग भी। राजपूत शैली का वाह्यांकन से मनोवृत्तियों के अंकन की ओर विकास हुआ। बंगाल में भी कृष्ण-विषयक चित्रकला मे अपूर्व उन्नति हुई। इन चित्रों में भागवत, गीतगोविन्द या अन्य भक्त कवियों की कविताएँ रेखांकित है। जहाँ मूर्तिकला में उदात्तता प्रमुख रूप से मिलती है वहाँ कृष्ण संबन्धी चित्रों में लालित्य और गीतितत्त्व का प्राधान्य है। काव्य में अन्य भावात्मक लीलाएँ तो रही हीं, कृष्ण का मधुर रूप विशेष रूप से विकसित हुआ।

५. ४ साहित्य में कृष्ण —

५.४१ बालकृष्ण : सखाकृष्ण

शृङ्गार रस के आलंबन के रूप में तो कृष्ण की प्रतिष्ठा है ही, वात्सल्य और सख्यभावों के आलंबन के रूप में भी सूर ने कृष्ण का बहुत अधिक विस्तार किया है। कृष्ण के अवतार का एक कारण इन भावों की तृप्ति न थी। देवकी और यशोदा दोनों ही इन वरदानों को पा चुकी थीं, संप्रदाय के प्रभाव से भी इन भावों का अधिक विस्तार सूर में मिलता है। वात्सल्य के क्षेत्र में सूर का कृष्ण एक साधारण बालक है। उसकी अलौकिकता के प्रसंग भी मिलते हैं, पर उनके द्रष्टा ऋषि, मुनि या 'सूर' हैं। कभी-कभी बलदेव भी उनकी अलौकिक शक्तियों का स्मरण कर लेते हैं। पर वात्सल्य के आश्रयों के संदर्भ में कृष्ण अपने माहात्म्य को सायास छिपा लेते हैं। इस प्रकार वात्सल्य का आलंबन माहात्म्य से अविकृत ही रहता है। इसी प्रकार सखाओं के सम्मुख सूर के कृष्ण यथार्थतः सखा हैं। उनका माहात्म्य प्रकट होता है, पर सखा उससे प्रभावित नहीं होते, यदि होते हैं तो यह प्रभाव अत्यल्प-कालीन होता है। शृङ्गार के क्षेत्र में सूर के कृष्ण कई रूपों में मिलते हैं। इन पर पृथक रूप से विचार किया गया है।

५.४२ राधा के प्रिय कृष्ण—

साहित्य में कृष्ण का यह रूप विशेष आकर्षक रहा। बंगाली साहित्य में कृष्ण-विरह में राधा उन्मादिनी हो जाती है। वह रासेश्वरी है और कृष्ण रसेश्वर। वह माननी भी है। यह झाँकी अन्य कवियों की कल्पना में भी उतरी है। कृष्ण का प्राधान्य बंगाल के काव्य में बना रहा। ब्रज में कृष्ण का एक विशेष रूप मिलता है। ब्रज के रसवादी संप्रदायों में कृष्ण के स्थान से राधा का स्थान ऊँचा हो जाता है। कृष्ण राधा के वशीभूत मिलते हैं। 'सूर' में राधा के संदर्भ में कृष्ण के सभी रूप मिलते हैं।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण का दार्शनिक रूप से महत्त्व नहीं है। "....इस संप्रदाय में श्रीकृष्ण को दार्शनिक रूप से महत्त्व नहीं दिया गया, वरन् प्रेम का आधार मानकर उनका वह रूप वर्णित किया गया है, जो राधा के कृपाकटाक्ष की आकांक्षा रखकर नित्य विहार में लीन रहता है।....श्रीकृष्ण को इस संप्रदाय में उपास्यदेव तो माना गया है किन्तु राधा के अनुसंग से ही उसकी उपासना है। प्रधान पद राधा का है।[1]" पर वल्लभ संप्रदाय में

---

१. डा० विजयेन्द्रस्नातक, राधावल्लभ संप्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य। पृ० २१९।

कृष्ण का दार्शनिक रूप भी मान्य है। 'सूर' का कृष्ण परनब्रह्म है—'कृष्णहि तें यह जगत प्रगट है, हरि में लय ह्वै जावै।" कृष्ण, नारायण, विष्णु एक ही हैं, और विष्णु और नारायण के परे भी कृष्ण हैं। वंशीवादन को सुनकर नारायण और विष्णु दोनों ही चकित हैं—

'यह अपार रस रास उपायो, सुन्यो न देख्यो नैन।
नारायण धुनि सुनि ललचाने स्याम अवर सुनि बैन॥
कहत रमा सौं सुनि री प्यारी बिहरत हैं बन स्याम।
'सूर' कहाँ हमको वैसो सुख जो विलसत ब्रजवाम॥[1]

ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी कृष्ण के ही रूप हैं—

करै जो सेव तुम्हारी, सो मम सेव है।
विष्णु शिव ब्रह्म मम रूप सारो॥

कृष्ण वेद-वंद्य हैं—'श्रुतिन विनय करि कह्यौ, तब तुमहिं देवा।" समस्त जगत प्रपंच कृष्ण से ही आविर्भूत है। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से सूर ने कृष्ण का निरूपण किया है। संप्रदाय के दर्शन के अनुसार ही सैद्धान्तिक उक्तियाँ सूर साहित्य में उपलब्ध होती हैं। आगे सूर में भी राधा का प्राधान्य होता मिलता है। 'रासलीला' के आरम्भ में कृष्ण राधा के पति बने हैं। गन्धर्व विवाह कराया गया है—

श्रीलाल गिरिवर नवल दूलह, दुलहिनी श्री राधिका।[2]

यह विवाह गंधर्व रीति से हुआ—

जाकों व्यास वरनत रास।
है गंधर्व चित्त दै, सुनौ विविध विलास॥[3]

इस प्रकार कृष्ण को दूलह रूप में 'सूर' ने चित्रित किया और राधा को स्वकीया बना दिया। भावना की दृष्टि से राधा के वशीभूत कृष्ण सूर को विशेष प्रिय हैं—साथ ही दोनों का अभेद भी सूर की कल्पना से आता है। कृष्ण राधा में इतने अनुरक्त हैं, कि राधा के बिना एक क्षण काटना भी उन्हें दुष्कर है—

---

१. सूर पंचरत्न, मुरली माधुरी, पद ३१।
२. सूरसागर, १०।१०७२।
३. वही, १०।१०७१।

पुनि पुनि कहत ब्रजनारि।
धन्य वड़भागिनी राधा तेरे वश गिरधारि॥

× × ×

एक छिन विनु तुमहिं देखे, स्याम धरत न धीर।[1]

वैसे कृष्ण दक्षिण नायक हैं, पर सूर ने राधा-कृष्ण के दम्पति-बिहार का विस्तृत वर्णन किया है। काव्यशास्त्रीय प्रणाली से कृष्ण का दक्षिण नायकत्व भी प्रकट किया गया है। इसी संदर्भ में राधा कृष्ण से मान करती है। मान इसलिए था कि राधा को ज्ञात हो गया कि कृष्ण, अन्यों में भी अनुरक्त हैं। राधा की दृष्टि से कृष्ण का अन्तिम रूप निष्ठुर है: वे अनन्य प्रेमवती राधा को छोड़ कर चले जाते हैं। वैसे, उनके मन में राधा-प्रेम सदा तरंगित रहा।

५.४३ बहुप्रिया वल्लभ—

भागवतकार ने कृष्ण को बहुप्रिया वल्लभ कहा है। इस कथन का आध्यात्मिक प्रतीकत्व भी है। गोपियाँ जीवात्माएँ हैं (गा: इंद्रियाणि पाति रक्षति इति गोपी)। उनके पति श्रीकृष्ण हैं। जो स्वयं भगवान हैं—एते चांशकला: पुन्स: कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्, (भागवत)। कृष्ण-प्रियाओं के दो वर्ग हैं: ब्रज-प्रियागण तथा द्वारका-प्रियागण। इन दोनों में अन्तर यह है कि द्वारका की प्रियाएँ कृष्ण में माहात्म्य ज्ञान रखती थीं। ब्रज की प्रियाएँ, इस ज्ञान से शून्य थीं। 'सूर' की गोपियाँ इसलिए स्पष्ट कहती हैं—

'वहाँ बने जदुबंश महाकुल, हमहिं न लगत बड़े।'

इसीलिए कृष्ण वृन्दावन छोड़ कर कहीं नहीं जाते। शरीरत: नहीं तो मनत: यहाँ निवास करते हैं—'वृन्दाबनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।' अष्ट-दल कमल पर स्थित वृन्दावन में कृष्ण अपनी आह्लादिनी शक्ति राधा एवं अन्य शक्तियों के साथ चिद्विलास करते हैं। यही बहुप्रिया वल्लभत्व का रहस्य है। 'सूर' ने वैदिक रूपक के अनुसार वैदिक ऋचाओं के स्वामी कृष्ण को बहुप्रिया-वल्लभ माना है। शक्तियों के पति रूप में भी 'सूर' को कृष्ण स्वीकार्य है।

साथ ही गोवत्सापहरण काल में श्रीकृष्ण के साथ सखियों का विवाह हो गया था। यह लीला भागवत में है। 'सूर' में भी इस प्रकार के स्वकीया-श्रित वहुप्रिया-वल्लभत्व की झलक मिलती है। कृष्ण ने अपने को ग्वालों के

---

१. सूरसागर, २४६०।

रूप में परिवर्तित कर लिया। यह रूप वे एक वर्ष तक धारण करते रहे। इस बीच जिनका विवाह हुआ, वह वस्तुतः कृष्ण के साथ ही हुआ। चीरहरण लीला के प्रसंग में कहा गया है कि व्रज-कुमारिकाएँ कृष्ण को पति के रूप में वरण करने के लिए तप करती थी। इसी के परिणामस्वरूप उन सबको कृष्ण पति रूप में मिले—

> **गौरी पति पूजति व्रजनारि।**
>
> × × ×
>
> **यहै कहति पति देहु उमापति गिरिधर नन्दकुमार।**[१]

इसी प्रकार की कामना सूर्य से भी की गई[२] कृष्ण ने चीरहरण के पश्चात् उनको पत्नी के रूप में स्वीकार करने का वचन दिया—

> **दृढ़ व्रत कियौ मेरे हेत।**
>
> × × ×
>
> **करौं पूरन काम तुम्हरौ सरद रास रमाइ।**[३]

रास के पूर्व यह विवाह संपन्न किया गया —

> **जाकौं व्यास वरनत रास।**
> **हैं गंधर्व विवाह चित दै, सुनौ विविध विलास।**
> **कियौ प्रथम कुमारिकन व्रत, धरि हृदय विस्वास।**
> **नंद सुत पति देहु देवी, पूजि मन को आस।**
> **दियौ तव परसाद सब कौं, भयौ सबनि हुलास।**[४]

आगे सूर ने राधा-कृष्ण विवाह का विस्तार किया है। पर 'रास' में एक सामूहिक विवाह का उपक्रम अवश्य है। आगे रास-प्रसंग में कहा गया है कि कृष्ण ने सोलह सहस्र गोपियों के साथ रास किया—

> 'सोलह सहस नारि सँग मोहन, कीन्हौ सुख अवगाधि।'[५]

इसी प्रकार परकीया भाव से भी अनेकों गोपांगनाएँ कृष्ण में अनुरक्त थीं।

---

१. सूरसागर, १०।७६६।
२. वही, १०।७८६।
३. वही, १०।७९६।
४. सूरसागर, १०।१०७१।
५. वही, १०।११५६।

भागवतकार ने द्वारका में भी सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियों और पटरानियों की बात कही है। भौमासुर के द्वारा १६, १०० कन्याओं का नारी मर्द्य किया जा रहा था। उस आततायी का कृष्ण ने वध किया और इस नारी समूह का उद्धार किया। समाज द्वारा तिरस्कृता इन कन्याओं के साथ कृष्ण ने स्वयं विवाह किया। इस प्रकार नारी के सम्मान को सुरक्षित रखा। उन सभी कन्याओं ने आत्मसमर्पण कृष्ण के लिए किया।[1] इस प्रसंग को सूर ने भी कुछ विस्तार दिया है—

'षष्ठ दस सहस कन्या असुर-बंदि में, नींद अरु भूख अहनिसि बिसारी।
भाँति तिनकी सुमिरि, भए अनुकूल हरि, सत्यभामा हृदय यह उपाई॥

× × × ×

बहुरि गए तहाँ कन्या हुतीं सब जहाँ, निरखि हरि रूप सो सब सुभाईं।
चरन रहिं लागि, बड़भाग लखि आपने, कृपाकरि हरिसु निजपुर पठाईं॥

× × × ×

बहुरि बहु रूप धरि हरि गए सबनि घर, ब्याह करि सबनि की आस पूरी।
सबनि कें भवन हरि रहत सब रैनि-दिन सबनि सौं नैंकु नहिं होत दूरी॥[2]

इस प्रकार सूर के कृष्ण का दक्षिणनायकत्व, बहुप्रिया-वल्लभत्व प्रकट हो जाता है। वे एक कुशल दक्षिनायक की भाँति सभी की आशा और इच्छा को पूर्ण करते हैं। सभी को कृष्ण अपने में लीन मिलते हैं। इसकी पृष्ठभूमि में कृष्ण का अलौकिकत्व भी है। इस प्रकार की कल्पनाओं में वेदऋचाओं, देवकन्याओं, सिद्धजीवों, मुनि बालाओं, अंतरंगा शक्तियों आदि की भावना है। 'सोलह सहस्र' की संख्या रूढ़ है। वायु पुराण में भी यही संख्या है। योग-मूलक व्याख्या की दृष्टि से ये योगी की सिरोपसिराएँ हैं, जिनका पति योगेश्वर है। पद्म पुराण में भी संख्या सहस्रायुत बतलायी गई है। बृहद् ब्रह्म-संहिता में कृष्ण वल्लभाओं के गण दिये गये हैं, जिनमें आठ शक्तियाँ, और सोलह प्रकृति, ये अलग से कृष्ण वल्लभाएँ भी बतलाई गई हैं। इस प्रकार अनेक धारणाएँ इस संबन्ध में मिलती हैं। माधुर्य भाव की नायिकाएँ ब्रज-वल्लभाएँ हैं। उनके साथ जो-जो भाव विकसित होते गए, उनसे काव्य-शास्त्रीय रूप भी खड़े होते गए। ऐकान्तिक, आध्यात्मिक और सामाजिक दृष्टियों से 'बहुप्रिया' के अभिप्राय की व्याख्या की गई है और की जा सकती है।

---

१. भागवत १०।५९।३५।

२. सूरसागर १०।४१९४।

छः

सूर की राधा

खंजन नैन रूप-रस-माते ।

अतिसैं चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते ॥

चलि चलि जात निकट स्रवनन के, उलटि पलटि ताटंक फँदाते ।

'सूरदास' अंजन गुन अटके, नतरु अर्बाहि उड़ि जाते ॥

—सूर का अन्तिम क्षण

६ | सूर की राधा

प्रस्तावना—

कृष्ण साहित्य में दो परम्पराएँ मिलती हैं : एक में कृष्ण की एक प्रिय सहचरी का उल्लेख तो है, पर राधा नाम नहीं लिया गया। दूसरी परम्परा में 'राधा' का स्पष्ट नाम लिया गया है। प्रथम परम्परा में भागवत आती है और दूसरी में 'गीत गोविन्द' जैसी रचनाएँ। 'राधा' की सबसे पहली मूर्ति पहाड़पुर बंगाल में मिलती है : वहीं शक्ति की रसाश्रयी उपासना चलती रही : वहीं चंडीदास और जयदेव की वाणी राधा के माधुर्य से संसिक्त हुई। यह सब देखकर कुछ विद्वानों के मतानुसार 'राधा' की कल्पना बंगाल की देन है।[१] तमिल के कुछ प्राचीन ग्रंथों (अयच्चियर कुरवई और निलप्पाधिकारम्) में 'राधा' नाम तो नहीं मिलता पर कृष्ण की एक प्रधान सहचरी का नाम 'नप्पिन्नई' दिया हुआ है। इसके आधार पर एक आश्चर्य मिश्रित प्रश्न उठ खड़ा होता है—आश्चर्य नहीं कि वह 'नप्पिन्नई' राधा हो। कुछ ने आभीरादि विदेशी जातियों के साहित्य से 'राधा' का आरोहण माना है। वास्तव में 'राधा' के निर्माण में उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पच्छिम सभी भागों की प्रतिभाओं ने योगदान दिया। आर्य और आर्येतर, निगम और आगम, सभी परम्पराओं ने

---

१. "The sweet and devoted figure of Radha, self-oblivious in loved and worship, was in all probability a Bengali Invention, dating shortly befor the time of Jayadeva, and assoeiated with the development of Trantrikism, Radda being regarded as the Shakti of Krishna and the instrument of Krishna - realization."

[Radha Kamal Mukerjee, The Flowering of Indian Art, Asia Publishing House, 1964, P. 58]

राधा का प्रतीकत्व स्वीकार किया। इस माधुर्य की अधिष्ठात्री पर समस्त भारतवर्ष गर्व कर सकता है। राधा अब एक 'व्यक्ति' नहीं, जो देश-काल की सीमाओं में बँधकर रह सके : वह तो एक असीम व्यक्तित्व है : वह तो एक तत्त्व है जो प्रीति, भक्ति, अनुरक्ति और श्री-शान्ति का पर्याय है।

राधा के संयोग से कृष्ण गीति-तत्त्व के प्रतीक बन सके। कृष्ण इससे पूर्व महाकाव्य के पात्र तो हो सकते थे, पर महाकाव्योचित किसी नायिका के साथ उनका संबन्ध नहीं जोड़ा जा सका। अकेले कृष्ण 'महाभारत' में महान् तो हैं, पर महाभारत के नायक नहीं। पौराणिक साहित्य ने उनको रुक्मिणी दी। इससे उनको प्रबन्धों का नायक बनने में सहायता दी। तेलगु क्षेत्र में कृष्ण और उनकी पटरानियों को लेकर कई प्रसिद्ध महाकाव्यों की रचना हुई। जिस दिन कृष्ण के वामपार्श्व में राधा अधिष्ठित होगई, उस दिन 'गीत' की वह विद्युत्तरङ्ग जो महाकाव्यों के घटाटोप में खो सी गई थी, दमक उठी। गीतों की एक परम्परा बन गई : संस्कृत, प्राकृत और देशी भाषाएँ इस गीत से गूँज उठीं। गीत-साहित्य में राधा के रूप की जो प्रतिष्ठा हुई, वह अद्वितीय है।

सूर-साहित्य में राधा का जो स्वरूप मिलता है, उस पर कोई भी साहित्य गर्व कर सकता है। परम्परा में राधा का रूप विकसित हो चुका था। बंगाली वैष्णव आचार्यों और कवियों ने उसका विशेष संस्कार किया था। सूर की प्रतिभा, कल्पना और मौलिक उद्भावना की किरणों ने नवेली राधा को और भी 'अलबेली' बना दिया। जिस प्रकार सूर वात्सल्यभाव के प्रकरणों को समस्त अलौकिकता से आविष्ट रखते हुए भी मानवीय धरातल पर रख सके, उसी प्रकार राधा और राधा पर केन्द्रित लीलाओं को स्वाभाविक और शुद्ध मानवीय संस्पर्शों से सजल रख सके। बंगाली वैष्णव कवियों ने, पूर्वराग, सहेट-मिलन, मान, रास और विरहोन्माद को काव्यशास्त्रीय और कामशास्त्रीय उभार देकर, राधा को एक शृङ्गारिक रहस्यवादी स्वर्णाभा प्रदान की। पर, सूर ने इन सब का निर्वाह करते हुए भी, अपने निजी स्रोतों से राधा को काव्यशास्त्रीय प्रणाली से मुक्त भी किया है। उसको लोकसाहित्य रूप भी प्रदान किया है। राधा और कृष्ण के प्रेम का क्रमिक और प्रबन्धात्मक विकास चित्रित किया है। इसी में 'सूर' की प्रतिमा-साधना की सफलता है।

१. **राधा : सूर पूर्व विकास**--राधा के विकाश पर ज्योतिष, तंत्र, त्रिपुर-सुन्दरी सिद्धान्त, शैवदर्शन और आभीरों के प्रेमदर्शन का प्रभाव माना जाता

है। पर इन सभी प्रभाव स्रोतों के विश्लेषण और राधा के रूप विकास पर उनके प्रभाव का आलेखन विषय का मात्र दार्शनिक विस्तार कर सकेगा, साहित्यिक नहीं। यहाँ संक्षेप में राधा के विकास का सर्वेक्षण कर लेना पर्याप्त और समीचीन होगा।

राधा का बीज वेद में भी खोजने का प्रयत्न किया गया। 'स्तोत्रं राधानां पते:'[१] में आए 'राधानां' शब्द से राधा का सम्बन्ध जोड़ा गया। पर यहाँ केवल वाह्यध्वन्यात्मक का साम्य मात्र है। वेद में राधा शब्द धन, अन्न, समृद्धि, पूजा, नक्षत्र अर्थों में प्रयुक्त है, इनकी देवी के रूप में नहीं है। वैसे तो दूरान्वय प्रतीत होता है, पर हो सकता है कि आज इनकी देवी के अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त होने लगा हो। अधिकांश विद्वान यह मानते हैं कि राधा का मंजुल रूप-विन्यास आभीरों के लोक-साहित्य के अमाथिक वातावरण में हुआ।[२] डा० द्विवेदी ने इस मत का समर्थन करते हुए लिखा है: "राधा आभीर जाति की प्रेम-देवी रही होगी,जिनका सम्बन्ध बालकृष्ण से रहा होगा। आरम्भ में वालकृष्ण का वासुदेव कृष्ण से एकीकरण हुआ होगा इसलिए आर्य ग्रन्थों में राधा का नामोल्लेख नहीं है।[३]" आगे उन्होंने यह भी अनुमान किया कि राधा आर्यो की ही प्रेम-देवी रही होगी, जिसे आगे चलकर कृष्ण वार्ता में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। कुच विद्वानों ने सांख्य की 'प्रकृति' का ही रूपान्तर और नामांतर राधा में देखा।[४] तंत्रवादियों ने तंत्रों में वर्णित 'शक्वि' का वैष्णवीकृत विकास राधा के रूप में माना। जयदेव आदि बंगाली वैष्णवों के साहित्य में चित्रित राधा के पीछे सहजिया और शाक्त प्रभाव माना जाता है।[५] इस दृष्टि से राधा का क्रमिक रूप-विलास भी सिद्ध हो जाता है। कुछ विद्वानों ने कृष्ण को सूर्य माना है। राधा उसी प्रपंच में है। गोप-गण तारे हैं। इस प्रकार ज्योतिष शास्त्रीय पद्धति से राधा के उद्भव की बात सोची गई।[६] रास-लीला नक्षत्र मंडल की संपूर्ण वृत्ताकार गति है। राधा

१. ऋग्वेद; १:२०।२६।
२. Dr. Bhandarkar, Vaishanavism. Shaivism, and other Religious Systems, P. 33
३. सूर साहित्य, पृ० १६–१७ (संशोधित संस्करण)।
४. डा० मुंशीराम शर्मा–सूरसौरभ पृ० १७५।
५. डा० शशिभूषणदास—राधा का विकास पृ० ३—४।
६. भारतवर्ष (पत्र) माघ १३४०, 'बंगाब्द', योगेशचन्द्र राय।

विशाखा नक्षत्र है, या यह अनुराधा नक्षत्र का प्रतीक है। कार्तिकी पूर्णिमा को सूर्य (कृष्ण) विशाखा (राधा) में स्थित होता है।

आलवार साहित्य में भी राधा संबन्धी संकेत मिलते हैं। इनके साहित्य में कृष्ण के साथ एक प्रमुख गोपी की कल्पना मिलती है। इस प्रमुख गोपी का नाम 'नप्पिन्नइ' है। यह शब्द पुष्पवाचक है। इस लीला में 'कुरवैंकुट्ट' नामक एक तमिल नृत्य का भी उल्लेख है। नप्पिन्नइ का राधा से पूर्ण साम्य है पर नाम साम्य नहीं है।

प्राचीन शिला लेखों में भी राधा का उल्लेख मिलता है। बंगाल में पहाड़पुर की खुदाई में एक मूर्ति मिली है। उसमें राधा-कृष्ण लीला को परिलक्षित बतलाया जाता है।[1] बारा के अमोघवर्ष के ६८० ई० के शिलालेख में कृष्ण-प्रिया के रूप में राधा का उल्लेख है।[2] मालवा के पृथ्वी-वल्लभ मुंज के सन् ९७४ ई० तथा ९७९ ई० के ताम्र-पत्रांकित लेखों में मंगलाचरण राधा संबन्धी है।[3] इससे राधा के विरह में आतुर कृष्ण की ओर संकेत हैं। इससे प्रतीत होता है कि ईश की चौथी-पाँचवी शती से ९ वीं-१० वीं शती तक राधा की पूजा, उसकी प्रेम-लीला तथा उसमें विरह लोकप्रिय हो गये थे।

पुरातात्विक परम्परा के साथ-साथ साहित्यिक परम्परा भी क्रमिक है। संस्कृत और प्राकृत साहित्य में राधा संबन्धी उल्लेख मिलते हैं। 'गाहा सतसई' (गाथा सप्तशती) के अनेक पद्य गोपी-राधा-कृष्ण प्रेमामृत से शराबोर हैं। सतसईकार ने कहा : कृष्ण ने अपने मुख-श्वास द्वारा राधिका के कपोल पर लगे धूलिकणों का निवारण कर दिया है। इससे अन्य गोपियों का महत्व न्यून हो गया है।[4] इस पद्य में शृङ्गारिकता तो व्यञ्जनापूर्ण है ही, राधा की गोपियों में विशिष्ट स्थिति भी स्पष्ट है।

राधा शब्द पंचतंत्र में भी आया है। इसमें नामोल्लेख मात्र है। भट्ट नारायण कृत वेणी-संहार में रासपरायण कृष्ण-प्रेरिका राधिका का स्पष्ट संकेत है।[5] इसके श्लोक में यमुना तट पर कृष्ण से कुपित होकर क्रीड़ा-त्याग

१. गंगा पुरातत्त्वांक : पहाड़पुर की खुदाई : के० एन० दीक्षित।
२. के० एम० मुंशी, गुजरात और उसका साहित्य, पृ० १२६-२७।
३. प्राचीन लेख माला, प्रथम भाग, सं० १।
४. गाहा सतसई, ११२९।
५. वेणी-संहार, ११११।

करके राधा जाती है और कृष्ण उसका अनुसरण करते हैं। मुंज के दरबारी कवि धनंजय ने दो श्लोकों में श्रृङ्गारमयी राधा का उल्लेख किया है।[1] काव्य-शास्त्र में भी राधा का श्रृङ्गारी रूप प्रतिष्ठित रहा। आनंदवर्द्धन ने (८५०ई०) राधा का चित्रण किया। कृष्ण उद्धव से राधा की कुशल-क्षेम पूछते हैं। इसके साथ वे यमुना-तीर के लतावेश्म की ओर संकेत करते है।[2] नमि साधु ने रुद्रट् के काव्यालंकार की टीका में (१०६८ ई०) राधा विषयक एक श्लोक दिया है। मुंज के पश्चात् मालवा के राजा भोज (१००४ से १०४५ ई०) ने 'सरस्वती कंठाभरण' में राधा सम्बन्धी आठ प्राचीन श्लोक उद्धृत किये हैं। इनमें से अन्तिम श्लोक लीलामुक के कृष्णकर्णामृत से लिया गया है। वक्रोक्ति-कार कुंतक ने ध्वन्यालोक से एक श्लोक उद्धृत किया है। इसका भाव इस प्रकार है : राधा कृष्ण के वस्त्र पहनकर यमुना से पुलिन पर गद्-गद् कंठ से कृष्ण के विरह में गान करती है। इससे जलचर भी व्याकुल हो जाते हैं। त्रिविक्रम भट्ट के 'नलजम्पू' (दशवीं सती) में कला-कुशल राधा का उल्लेख है। क्षेमेन्द्र(१०६५ ई० के आस-पास)ने अपने 'दशावतार चरित' में चार श्लोक दिए हैं। इनमें भी प्रेम-श्रृङ्गार स्पष्ट है। हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' में राधा-विषयक दो श्रृङ्गारी श्लोक मिलते हैं। हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र ने 'नाट्य-दर्पण' में भेज्जल कविकृत नाट्यपरक ग्रन्थ 'राधा-विप्रलम्भ' का उल्लेख किया है। शारदा तनय ने 'भावविलास' में 'रामा-राधा' नामक नाटक का उल्लेख किया है। कवि कर्णपूर ने अपने अलंकार कौस्तुभ में कंदर्प-मंजरी नाटिका का वर्णन किया है। यह राधा से सम्बद्ध मानी जाती है। अपभ्रंश साहित्य में भी राधा सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। प्राकृत पैंगलम् में कृष्ण का वर्णन राधा के प्रेमी के रूप में मिलता है। इस प्रकार ईसा की आरम्भिक शताब्दियों से लेकर १२ वीं शती तक के साहित्यिक, काव्यशास्त्रीय और पुरातात्त्विक साक्ष्यों से यह स्पष्ट होता है कि राधा प्रेम, श्रृङ्गार, संयोग-वियोग, केलि-क्रीड़ा आदि की देवी बन गई थी। उसका सम्बन्ध कृष्ण से हो गया था। उसके रूप-विकास में ज्योतिष, तंत्र आदि ने योगदान दिया।

२. विशदीकरण - जयदेव ने राधा को सर्वप्रथम विशद रूप प्रदान किया। यद्यपि राधा को दार्शनिक या आध्यात्मिक रूप सर्वप्रथम निम्बार्क ने दिया प्रतीत होता है। (११५० ई०), पर काव्य के माध्यम से भक्ति के क्षेत्र में

---

१. दशरूपक, परिच्छेद ४।

२. ध्वन्यालोक।

राधा को प्रतिष्ठित करने का श्रेय पीयूषवर्षी जयदेव को है। राधा-केलि वर्णन को हरि स्मरण और काव्यानन्द दोनों के लिए उन्होंने माना।

'यदि हरिस्मरणे सरसं मनो, यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुर कोमलकान्तपदावलीं, शृणु तथा जयदेवसरस्वतीम्॥

राधा का रूप-सौन्दर्य यहीं अपने चरम पर पहुँचा। राधा-कृष्ण की मधुरा भक्ति का उत्कृष्ट रूप खड़ा हुआ। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से जयदेव ने राधा को एक प्रेमिका, परकीया नायिका के रूप में चित्रित किया। राधा ने लोक-लाज का उल्लंघन कर दिया है। विरह में सुलगती भी है और संयोग में पुलकित भी होती है। राधा की अनुभूतियों की मांसलता सूक्ष्म, आध्यात्मिक अनुभूतियों से दब नहीं गई है। वैसे राधा का भक्तिपरक रूप भी व्यंजित हैं। कुंज-निकुञ्ज अपूर्व शोभा से झूम रहे हैं। इन्ही में पूर्वरागाकुल, मानिनी और विलासिनी राधा कहीं छिपी हैं। उसका प्रेमोन्माद भी अद्वितीय है। सम्भवतः जयदेव सुदूर-प्रवास-विरह की कल्पना मात्र से काँप उठे।

चण्डीदास बंगाल के सूरदास हैं।[1] इन्होंने सहजिया वैष्णवों की भावना का समावेश करके राधा-प्रेम को अत्यन्त द्रुत और कमनीय बना दिया। चण्डीदास की राधा भी परकीया है। उसे भी अपने उत्कट प्रेम और सामाजिक मर्यादा के संघर्ष के क्षणों का कटु अनुभव करना पड़ता है। जयदेव की राधा साहित्य-शास्त्रीय और कामशास्त्रीय उपकरणों से सुसज्जित है और भक्ति-व्यंजना की किरणों से आलोकित है। चण्डीदास अपनी राधा को लोक-साहित्यिक उपकरणों से स्वाभाविकता देते हैं। परकीया होते हुए भी वह कृष्ण में पतिभाव रखती है: 'तुम मोर पति, तुम मोर पति, मन नाहिं आन भय।' राधा किसी गहन दार्शनिक भाव से भी बोझिल नहीं है। उसमें अशेष समर्पण आकर्षक है। विरहासक्ति का संयोग चण्डीदास ने योगिनी राधा में किया है। यह ब्रज बलि साहित्य का शृङ्गार है। चण्डीदास ने शारीरिक सौन्दर्य के भीतर अन्तर्हित मानसिक सौन्दर्य की किरणों का मधुर संयोजना की है।

विद्यापति में राधा का मांसल सौन्दर्य अपने चरम पर है। 'असल बात यह है कि राधिका की सारी शरीर-चेष्टाओं के भीतर भगवान् को संतुष्ट करने की भावना है।'[2] विद्यापति की राधा वय संधि पर स्थित है। कभी-कभी इसके पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि राधा में प्रेम की प्रखरता न्यून और

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ० १८४।
२. " " " " पृ० १८३।

विलास की मात्रा अधिक है। विद्यापति सम्भवतः यह भी भूले हुए हैं कि राधा को भक्ति के अनुकूल बनना है। वह काव्यशास्त्रीय नायिका भी है। मान, अभिसार, दूती, मिलन आदि कामशास्त्रीय विधान भी सुचारुरूप से व्यवस्थित है। विद्यापति की राधा में जयदेव की राधा की भाँति अधिक मांसल सौन्दर्य और चण्डीदास की राधा का उन्माद भी है।

इन तीनों का साहित्य चैतन्य सम्प्रदाय की भी भक्ति-भावना के साथ एकाकार होता गया। सहजिया तथा तांत्रिक स्रोतों से आगत परकीया भाव प्रगाढ़ होता गया। साथ ही भक्ति राधापरक होती गई।

पौराणिक साहित्य में राधा तत्त्व का सर्वाधिक निरूपण ब्रह्मवैवर्त पुराण में मिलता है।[१] निम्बार्क साहित्य में राधा को कृष्ण की स्वामिनी लिखा गया है।[२] ब्रह्मवैवर्त में राधा का माहात्म्य प्रतिपादित किया है। 'राधा' शब्द की भावात्मक व्युत्पत्तियाँ भी यहाँ उपलब्ध होती हैं।[३] पद्मपुराण में राधा-पूजन का माहात्म्य विस्तार से दिया गया हैं।[४] वृन्दावन का माहात्म्य कथन भी इस पुराण में मिलता है।[५] इस प्रकार राधा का बहुविध शृङ्गार-संस्कार भारतीय साहित्य में होता रहा।

३. ब्रज में राधा—

काश्मीरी शैवागमों से लेकर दक्षिण में आलवार-साहित्य तक, बंगाल से लेकर गुजरात मालवा तक, राधा साहित्य की लुप्त-प्रकट धाराएँ प्रवाहित होती रहीं। ब्रज में बंगाली कवियों की प्रतिभा से स्नात राधा ने प्रवेश किया है। रूप और सनातन ने वृन्दावन की क्रीड़ास्थलियों की खोज की। निम्बार्कीय राधा तत्त्व का विस्तार भी वृन्दाबन के कुंज-निकुंजों में हुआ। वृन्दावन में राधावल्लभ सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय में राधा का महत्त्व कृष्ण से भी बढ़ गया। इनके आचार्यों ने भी रास-मण्डलों की स्थापनाएँ कीं और केलि-स्थलों का निरूपण किया। इस प्रकार वृन्दावन राधामय हो गया।

---

१. H. H, Wilson, Hindu Religion, P. 113.

२. Monier Williams, Religious Thought and Life in India, Part I, P. 146.

३. ब्रह्मवैवर्त कृष्णजन्म खण्ड, अध्याय १३।

४. पद्मपुराण, उत्तराखण्ड : राधाष्टमी व्रत प्रसंग।

५. वही पातालखण्ड।

४. वल्लभ सम्प्रदाय और राधा—

पर ब्रज में दूसरे प्रकार के भक्ति-केन्द्र भी बन रहे थे। वल्लभाचार्य जी ने गोकुल, मथुरा और गोवर्द्धन में कृष्णपरक भक्ति के केन्द्रों की स्थापना की। इस सम्प्रदाय में राधा रही तो अवश्य पर भिन्न रूप में। दक्षिण की उपासना में गोपीभाव तो मान्य था। राधा-भाव स्पष्ट रूप से उसमें समाविष्ट नहीं था। वल्लभाचार्य जी ने सम्प्रदाय में वात्सल्य का प्राधान्य रखा। गोपी-भाव को भी रखा। पर राधाभाव का प्रवेश उन्होंने नहीं होने दिया। राधा-तत्व की प्रतिष्ठा गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय में हुई।[1] वैसे अपने मधुराष्टक में वल्लभाचार्य जी ने इस तत्व को माना है। पर सांप्रदायिक रूप में इस तत्व की प्रतिष्ठा गो० विट्ठलनाथ जी ने ही की।

अष्टछाप के कवियों ने राधा के संबन्ध में साहित्य रचा। वल्लभ संप्रदाय में राधा और गोपियों की स्थिति इस प्रकार थी : 'नित्य गोलोक में होने वाले रस रूप कृष्ण के रास की गोपिकाएँ भगवान की आनन्द-प्रसारिणी सामर्थ्य शक्ति हैं। राधा भगवान के आनन्द की पूर्ण सिद्ध शक्ति है।....कृष्ण धर्मी हैं और गोपियाएँ उनका धर्म है। दोनों अभिन्न हैं। सिद्ध शक्ति राधा और कृष्ण का संबन्ध चन्द्र और चाँदनी का है। भगवान की रस शक्तियों के बीच की रससिद्ध शक्ति राधा स्वामिनी रूपा है। भगवान रस-शक्तियों के बीच पूर्ण रसशक्ति स्वरूपा राधा के वश में रहते हैं।[2]

५. सूर की राधा—

इस प्रकरण को चार भागों में बाँटा जा सकता है ; सूर की राधा का आध्यात्मिक स्वरूप, राधा के प्रेम का विकास, केलि-विलास तथा विरहिणी राधा।

५.१ आध्यात्मिक स्वरूप—सूर ने राधा को प्रकृति और कृष्ण को पुरुष के रूप में निरूपित किया है। कहीं-कहीं इन दोनों में अभेद बतलाकर अद्वैतता की स्थापना की है।

'प्रकृति पुरुष, नारी मैं वे पति, काहैं भूलि गई।'[3]

कहीं-कहीं राधा को जगत् की उत्पादिका शक्ति के रूप में माना गया है। पर सूर ने राधा का आध्यात्मिक स्वरूप इतनी रुचि और इतने विस्तार के साथ

१. डॉ० दीनदयालु गुप्त, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ५२६-२७।
२. वही ५०५-६।
३. सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद १६८८।

नहीं दिया, जितना उनके शृङ्गार-निरूपण में मिलता है। हो सकता हैं कि यह वृन्दावन के निकुंज-लीलावादी भक्ति संप्रदायों का प्रभाव हो। सभी गोपियाँ राधा के अङ्गांङ्ग हैं। वल्लभाचार्य जी ने कृष्ण की ह्लादिनीशक्ति के रूप में राधा को मान कर उन्हें कृष्ण से अभिन्न कहा है। सूर ने कृष्ण को राधा के वशवर्ती भी कह दिया है—

पुनि पुनि कहति व्रजनारि।
धन्य बड़भागिनी राधा तेरे वश गिरधारि।
× × ×
हम विमुख तुम करुण संगिनि प्राण एक द्वै देह।
एक मन एक बुद्धि एक चित दुहि न एक सनेह।[1]

इस प्रकार राधा के तात्त्विक रूप का आभास सूर ने यहाँ-वहाँ दिया है। राधा तो कृष्ण के रूप को जानती है, पर उसके माता पिता नहीं जानते।[2]

५.१ प्रेम का विकास—सूर ने राधा को न वय:सन्धि की स्थिति में ही देखा और न पूर्ण प्रगल्भा के रूप में ही। उनको राधा-कृष्ण के प्रेम का स्वाभाविक विकास अभीष्ट है। अत: उनकी बाल्यावस्था से ही वर्णन का आरम्भ होता है। कृष्ण माखनचोरी, गोचारण, दुष्ट-दलन के द्वारा अन्य गोपियों के मन में पैठ चुके थे। उनकी लोक-लाज टूटती जा रही थी। सभी कृष्ण की ओर आकर्षित थीं। कृष्ण ने एक दिन उड़ती हुई दृष्टि से देखा और देखते हुए निकल गए। राधा ने उनकी दृष्टि को भाँप लिया। उसने सखी को बतलाया—

ब्रज लरिकन संग खेलत डोलत, हाथ लिए चक डोरि।
'सूर' स्याम चितवत गए मो तन, मन लियो अँजोरि॥

वैसे राधा का कृष्ण की ओर आकर्षण कृष्ण के पश्चात् हुआ, पर अन्तर कुछ क्षणों का ही था। राधा सौन्दर्यनिधि थी। स्वर्णाभ वर्ण था। आँखें आकर्ण विशाल थीं। माथे पर रोली का टीका और नीलवस्त्रों से आवृता राधा! किसका मन न मोह लेगी यह अनिद्य सुन्दरी! —

औचक ही देखी तहँ राधा: नैन विसाल भाल दिए रोरी।
नील वसन फरिया कटि पहिरे, वेनी पीठि रुलति झकझोरी॥

---

१. सूरसागर (ना. प्र. सभा) पद २४६०।
२. राधा विनय करति मन ही मन, सुनहु स्याम अंतर के यामी।
मातु पिता कुल कानिहि मानत, तुम्हहिं न जानत हैं जगस्वामी॥

संग लरिकिनी चलि इत आवति, दिन थोरी अति छवि तन गोरी ।
'सूर' स्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगोरी ॥

इस अनुपम सौन्दर्य पर रसिक शिरोमणि रीझ गए। ब्रज की सभी बाल-युवतियों को तो ये पारखी परख चुके हैं। यह मणि कहाँ छिपी रही। वे धीरे से राधा के पास गए: तुम कौन हो? कहाँ रहती हो? आदि प्रश्नों से परिचय आरम्भ किया। राधा ने भी कृष्ण पर व्यंग करते हुए उत्तर दिया—

बूझत स्याम 'कौन तू गोरी ?
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी ॥'
'काहे को हम ब्रज तन आवति, खेलत रहत आपनी पौरी ।
सुनत रहत स्रवनन नँद-ढोटा, करत रहत माखन दधि चोरी ॥
'तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं, खेलन संग चलौ मिलि जोरी ।'
'सूरदास' प्रभु रसिक सिरोमनि, बातन भुरइ राधिका भोरी ॥'

सूर ने अपनी टिप्पणी से सारा मामला स्पष्ट कर दिया। 'संग मिलि जोरी' से इन दोनों के युग्म की सूचना मिलती है। कृष्ण ने अपना परिचय भी दिया और राधा को अपने घर खेलने आने का निमंत्रण भी दिया—

'खेलन कबहु हमारें आवहु, नन्द-सदन, ब्रज गाउँ ॥
द्वारे आइ टेरि मोहि लीजो, कान्ह हमारो नाउँ ॥

कृष्ण ने अन्त में यही कहा कि और कोई बात नहीं है, तुम्हारा भोलापन देखकर मन तुम्हारे साथ रहने को करता है: 'सूधी निपट देखियत तुमकौं, तातैं करियत साथ।' राधा के मन में भी इस प्रणय-निमंत्रण से कम गुदीगुदी नहीं हुई। पर प्रेम की बात योंही नहीं कह दी जाती। सखियों से सगर्व शैली में राधा ने कहा – इनके घर कौन जाता है। हम क्या कोई ऐसे हैं कि घर-घर घूमें! हमारी भी प्रतिष्ठा है—

संग सखी सौं कहति चली यह, को जैहै इनकैं घर ।'

पर प्रेम की बलि बढ़ने लगी। धीरे-धीरे वह भाव-प्रसूनों से लद गई। राधा का समस्त व्यक्तित्व ही उसमें उलझ गया। राधा और कृष्ण दोनों ही नवीन प्रेम के रस में पग गए। एक दिन राधा यशोदा के घर गई। कृष्ण ने उसका परिचय करा दिया: "मैया री तू इनको चीन्हति, बारम्बार बताई (हौं)।" यशोदा ने भी राधा का रूप रङ्ग देखा और गद्गद् हो गई—

'नामु कहा है तेरौ प्यारी ।
बेटी कौन महर की है तू, कहि सु कौन तेरी महतारी ।

धन्य कोखि जेहि तोको राख्यौ, धन्य घरी जिहिं तू अवतारी।
धनि पितु मातु धन्य तेरी छबि, निरखति यों हरि की महतारी।'

यशोदा के मन में उसके सौन्दर्य ने न जाने कितनी कामनाओं की वर्षा करदी। उसने राधा का शृङ्गार किया : 'जसुमति राधा कुँवरि सँवारति।' शृङ्गार क्या किया, उसे तो नवेली दुलहहिन ही बना दिया। और अन्त में तिल-चाँवरी से उसकी गोद भी भर दी। यशोदा ने अनजान में ही स्वकीया की भूमिका बना दी। राधा का दुलहिन के रूप में शृङ्गार करा के सूर ने बड़े कौशल से राधा को स्वकीया बना दिया। जब निश्चित होकर यशोदा ने राधा से कृष्ण के साथ खेलने के लिये कह दिया :

खेलो जाइ श्याम सँग राधा।
यह सुनि कुँवरि हरख मन कीन्हों, मिट गई अन्तर बाधा।

इस प्रकार बाल-काल से ही प्रेम विधि-विधान के साथ विकसित होने लगा। दोनों के मन में एक दूसरे के प्रति उत्सुकता और अभिलाषा जाग्रत हो गई।

अब यह प्रेम-प्रसंग ब्रज में चर्चा का विषय बनने लगा। दोनों किसी न किसी बहाने एक दूसरे से मिलने लगे। सखियाँ सब समझने लगीं। सखियाँ प्रेम के संबन्ध में राधा को ताने देने लगीं : 'राधा ये संग हैं री तेरे।' वे कहने लगीं : 'अब तो घर से बन-ठन के निकलती हो ! घर में ही क्यों नहीं बैठी रहती ! 'कै बैठी रहि भवन आपनैं, काहे कौं बनि आवै।' यह तुम्हारा बचपन तो कहा नहीं जा सकता। तुम इतनी छोटी भी अब नहीं हो : 'लरिकाई तबही लौं नीकी, चारि बरष कै पाँच।' पर प्रेम नहीं रुकता है। राधा अनजान में ही धीरे-धीरे सर्वस्व समर्पित कर चुकी। राधा ने यशोदा की बात अपनी माँ से जाकर भी कह दी थी। उसकी मां भी सजग रहने लगी। एक दिन राधा ने साँप के काँटने का बहाना किया और गारुड़ी कृष्ण को बुला लिया।[1] राधा की माँ ने उसे रोकना चाहा। इस पर राधा ने अपने अन्तर्यामी कृष्ण से कहा—

राधा विनय करति मन हीं मन, सुनहु श्याम अन्तर के यामी।
मातु पिता कुल कानिहि मानत, तुमहिं न जानत हैं जगस्वामी॥

इस प्रकार राधा का प्रेम सघन से सघनन्तर होता गया।

---

१. हरि गारुड़ी तहाँ तब आए।
यह बानी वृषभानुसुता सुनि मन-मन हरष बढ़ाए।

५.२ केलि विलास—अब राधा कृष्ण से मिलने के लिए खरिक में जाने लगी। यहाँ संक्षिप्त सम्भोग के स्फीत अंग उपस्थित होने लगे। राधा माता से कभी-कभी यशोदा से कह भी जाती थी: 'कुँवरि-कह्यौ मैं जाति महरि, घर।' इसी बीच कृष्ण अपनी आँखों के संकेत से राधा को बुला लेते थे—

> सैं न दै प्यारी लई बुलाइ।
> खेलन कौ मिलि करि कैं निकसे, खरिकहिं गए कन्हाइ।
> जसुमति कौं कहि प्यारी निकसी, घर कौ नाउँ सुनाइ।
> कर दोहिनी लिए तहँ आई, जहँ हलधर के भाइ।

इस प्रकार बालकाल में ही संक्षिप्त संभोग होने लगा। एक दिन नन्द बाबा कृष्ण को लेकर खरिक में गये। उसी समय राधा भी वहाँ आई। नन्द ने कृष्ण की रक्षा का उत्तरदायित्व राधा को सौंपा: 'सूर' स्याम देखैं रहि हौं, मारैं जनि कोई गाइ।' राधा ने कृष्ण से कहा: अभी सुनते हो बाबा की बात अब याद रखो: 'मोहिं छाँड़ि जो कहूँ जाहुगे, ल्याऊँगी तुमकौं धरि।' अब वर्षा का वातावरण हुआ: 'गगन घहराइ जुरी घटा कारी।' नन्द ने राधा से कहा कि कृष्ण को घर ले जाओ। मार्ग में संक्षिप्त संभोग हुआ। यहाँ सूर श्लील-अश्लील के विचार से मुक्त हैं। बाल्यकाल में पूर्ण शृङ्गारमय संक्षिप्त मिलन सूर ने विस्तार के साथ कराए हैं। सुरतांत की कल्पना भी की गई—

> हरि हँसि भामिनी उर लाइ।
> सुरति अन्त गोपाल रीझे, जानि अति सुखदाइ।

अब राधा कृष्ण पर अधिकार जानने लगी। राधा ने कृष्ण से कहा कि मेरी गाएँ तुम्हीं दुह दो! यदि मैं दुहूँगी तो दूध की बूँदों से मेरी चूनरी का रंग फीका पड़ जायगा। यदि पारिश्रमिक चाहिए तो धूमरी गाय का मीठा दूध तुम पी लेना और कुछ मुझे दे जाना।[१] इस प्रकार हास-परिहास, लीला-विलास की न जाने न जाने कितनी बालोचित स्थितियाँ सूर की प्रतिभा ने अङ्कित की हैं।

रासलीला आदि में राधा को प्रमुख स्थान प्राप्त हो गया। सारा ब्रज जान गया कि कृष्ण राधा के वश में हैं।[२] राधा का वैशिष्ट्य विवाह से भी

---

१. बलि जाऊँ गैया दुहि दीजै।
   बूँद परत रँग ह्वै है फीकौ, सुरँग चूनरी भीजै।
   मीठौ दूध गाय धूमरि कौ, कछु दीजै कछु पीजै।
२. श्री राधिका सकल गुन पूरन, जाके स्याम अधीन।

हो जाता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा के विवाह का वर्णन मिलता है। सूर की राधा का भी आज विवाह होगा। कुंज ही उसके लिए मण्डप है और प्रेम की ग्रंथि ही विवाह का बन्धन है।[1] रास ही गंधर्व विवाह है—

जाकौं व्यास बरनत रास।
है गन्धर्व विवाह चित्त दै, सुनौ विविध विलास।

'एक प्रान द्वै देह' तो पहले से ही हो चुके थे। यशोदा ने राधा को दुलहिन उस दिन बनाया था। विवाह आज संपन्न हुआ।

राधा को कृष्ण के प्रेम पर पूर्ण विश्वास हो गया। एक सखी ने यह भी कहा कि यह प्रेम एकांङ्गी है। अर्थात् कृष्ण के प्रेम पर विश्वास नहीं किया जा सकता—

सजनी स्याम सदाई ऐसे।
एक अंग की प्रीति हमारी, वे जैसे के तैसे।।

राधा ने सखी को डाँट दिया। उनके हृदय का अखण्ड विश्वास तिलमिला उठा। अब भला या बुरा कहने से कोई लाभ नहीं अब तो वे अपने हो चुके हैं—

स्यामहिं दोष देहु जनि माई।
वे जौ भले-बुरे तो अपने...।।

यदि हम भले है तो सब भले है : 'आपु भलाई सबै भलेरी।' कृष्ण मुझे भूल नहीं सकते। राधा अपने कृष्ण पर अधिकार के प्रति पूर्ण विश्वासमयी है। वास्तव में कृष्ण राधा के इशारे पर नाचते थे : 'मोहन कौ मोहिनी लगाई संगहि चले डगरिकै।' बात बढ़ती ही गई। राधा के सबन्ध में फिर इधर-उधर चर्चा होने लगी। सभी को विवाह का भेद ज्ञात नही था। राधा ने एक दिन श्याम से एकान्त में कहा—

स्यामहिं बोलि लियौ ढिग प्यारी।
ऐसी बात प्रगट कहुं कहिय, सखिनि माँझ कत लाजनि मारी।।
इक ऐसेहि उपहास करत सब, तापर तुम यह बात पसारी।
जाति पाँति के लोग हँसहिंगे, प्रगट जानि है स्याम मतारी।।

कृष्ण तो थोड़ी देर चुप रहे, पर स्याम के सखाओं ने कह दिया—

'सूर स्याम-स्यामा तुम एकै, कह हँसि है संसार।'

---

१. तब देत भाँवरि कुञ्ज मण्डप, प्रीति ग्रन्थि हियें परी।

कुंजविहार लीला। इन समस्त लीलाओं में शृङ्गारिक भावना तो ओतप्रोत है पर शृंगार पूर्ण परिपक्व होकर संपन्न संभोग का रूप धारण नहीं कर पाता।

उक्त लीलाओं का उपक्रम प्रेम को घनीभूत करने के लिए आगे सूर ने कुछ ऐसी लीलाओं का वर्णन किया है, जहाँ संभोग अपने पूर्ण संपन्न रूप में है। राधा के मन में खीझ के स्थान पर उल्लास और उत्साह आ जाता है। आनन्द इन लीलाओं में चरम का स्पर्श कर लेता है। सम्पन्न संभोग की लीलाएँ ये मानी जा सकती हैं : वसन्तलीला, होलीलीला, डोललीला, झूलन-लीला, निद्रा और धूर्तता। होलीलीला में राधा कृष्ण अपनी सखियों और सखाओं के साथ पूर्ण आनन्द लेते हैं। श्यामा-श्याम की जोड़ी आज हिंडोरे में शोभित है—

झूलत अति आनन्द भरे।
इत श्यामा उत लाल लाड़िलो, बैयाँ कण्ठ धरे॥
बोलत मोर, कोकिला, अलिकुल गरजत हैं घनघोर।
गात राग मल्हार भामिनी, दामिनि की झकझोर॥

छल या धूर्तता से मिलन की स्थितियों का भी सूर ने स्वाभाविक चित्रण किया है। राधा अब पूर्ण चतुर हो गई है। बिना कृष्ण से मिले कल नहीं पड़ती, पर मिले कैसे ? सूर की राधा अपनी माला खो जाने का बहाना करती है। माता ने जब यह सुना तो उसने बड़ा रोष किया—

जननी अतिहीं भई रिसहाई।
बार-बार कहै कुँवरि राधिका, मोतिसरि कहाँ गँवाई।

राधा ने उत्तर दिया—

सुनि री मैया कालिह हौं, मोतिसरि गँवाई।
सखिनि मिलैं जमुना गई, धौं उनहिं चुराई॥
कीधौं जल ही में गई, यह सुधि नहिं मेरें।
तब तें मैं पछितात हौं, कहति न डर तोरें॥

राधा कहती है, जायगी कहाँ मेरी माला। अब मुझे याद आई कि किसने मेरी माला ली है। मैं अभी एक क्षण में ले आती हूँ। मेरे साथ किसी के आने की आवश्यकता नहीं—

जैहै कहाँ मोतिसरि मेरी।
अब सुधि भई लई वाही नें, हँसति चली वृषभानु किसोरी॥
अबहीं मैं लीन्हे आवति हौं, मेरे संग आवै जनि कोरी।

कोई यदि साथ आता तो भेद खुल जाता । राधा के कृष्ण को इशारा दिया । कृष्ण ने भी गाय के व्याने का बहाना किया और दोनों का संभोग हुआ—

'सैन दै नागरी गई. बन कौं ।

× × ×

चले अकुलाइ बन धाइ, व्याइ गाइ देखिहौं जाइ, मन हरष कीन्हौं ।

इस प्रकार सूर ने राधा को परम लीलावती और कलावती के रूप में चित्रित किया है। उसका भोलापन भी इतना मनोरम था कि कृष्ण जैसे रसिकशिरोमणि विमोहित हो गये और उसका चातुर्य भी ऐसा है कि दर्शक चकित हैं।

राधा ने प्रेम-वैचित्र्य के क्षणों का भी अनुभव किया है। "प्रिय के अति निकट रहने पर भी प्रेमोत्कर्ष के कारण प्रेमी को वियोग कथा की जो अनुभूति होती है, उसे प्रेम-वैचित्र्य करते हैं।"[१] राधा ने अपने इन दुरंगे क्षणों के अनुभव को इस प्रकार अपनी सखी से कहा—

श्याम सखि नीके देखे नाहीं ।
चितवत ही लोचन भरि आए, बारबार पछिताहीं ।
कैसे हू करि इकटक राखति, नैकहि में अकुलाहीं ।
निमिष मनो छवि पर रखवारे, ताते अतिहि डराहीं ।

प्रेम-वैचित्र्य के क्षणों में प्रेम का चरमोत्कर्ष रहता है। एक और उदाहरण राधा के प्रेम-वैचित्र्य की लीजिए—

राधेहिं मिलेहु प्रतीति न आवति ।
यदपि नाथ विधुवदन विलोकति, दरसन को सुख पावति ।
भरि भरि लोचन रूप परमनिधि, उर में आन दुरावति ।
विरह विकल मति दृष्टि दुहुँ दिसि, सचि सरधा ज्यों धावति ।
चितवन चकित रहति चित अन्तर, नैन निमेष न लावति ।
सपनों आहि कि सत्य ईश बुद्धि, वितर्क बनावति ।
कबहुँक जरति विचारि कौन हौं, को हरि केहि यह भावति ।
'सूर' प्रेम की बात अटपटी, मन तरंग उपजावति ।

ऐसे ही कई पदों में सूर ने संभोग कालीन मधुर वेदना को चित्रित किया है।

५.४. विरहिणी राधा—संयोगिनी राधा अपने में जितनी प्रगल्भ है, उससे भी अधिक विरहिणी राधा है। एक दिन कृष्ण को मथुरा ले जाने के

१. डॉ० द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० २०३ ।

लिए अक्रूर आ गये। समस्त ब्रज आकुल-व्याकुल हो गया। कृष्ण ने मथुरा जाने का समाचार राधा को भी सुनाया। राधा अवाक् रह गई—

हरि मोसों गौन की बात कही।
मन गह्वर मोहिं उतर न आयौ, हौं सुनि सोच रही।।

बिना पूर्णिमा के ही जैसे चन्द्रमा को राहु ने ग्रस लिया हो : 'बिनु परवहिं उपराग आजु हरि, तुम है चलन कह्यौ' कृष्ण को रोकना सम्भव नही था। वे चले गये। पर क्या राधा रोकने का कुछ प्रयत्न भी नहीं कर सकती थी? जब अक्रूर के रथ की धूल भी अदृश्य हो गई, तब उसे इसका पश्चात्ताप हुआ। उस समय क्या लज्जा करनी थी : इस निष्क्रियता के स्थान पर तो मृत्यु आ जाती—

तब न बिचारी यह बात।
चलत न फेंट गही मोहन की, अब ठाढ़ी पछतात।।
निरखि निरखि मुख रही मौन ह्वै, थकित भई जलपात।
जब रथ भयौ अदृष्ट अगोचर, लोचन अति अकुलात।

जब कृष्ण जा रहे थे तब राधा यह समझ नही सकी कि क्या हो रहा है। पर उनके विदा होते ही, राधा का हृदय सौ-सौ बिच्छुओं के दंश का अनुभव करने लगा। अब सारी रात तारे गिनते बीतती है। उसके ध्यान से रथ में बैठते हुए कृष्ण की झाँकी नहीं हटती—

आजु रैन नहिं नींद परी।
जागत गगन गगन के तारे, रसना रटत गोविंद हरी।।
वह चितवनि वह रथ की बैठनि, जब अक्रूर की बाँह गही।
चितवति रही ठगी सी ठाढ़ी, कहि न सकत कछु काम-दही।।
इतनै मन व्याकुल भयौ सजनी, आरज पन्थहुँ तें बिडरी।
सूरदास प्रभु जहाँ सिधारे, कितौ दूर मथुरा नगरी।।

आश्चर्य तो यह है कि उस समय हृदय नहीं फट गया—

हरि बिछुरत फाट्यौ न हियौ।
भयो कठोर बज्र तें भारी, रहि कै पापी कहा कियौ।।

कृष्ण को पहुँचाकर नन्द आदि लौट आए। उन्होंने मथुरा की सारी घटनाएँ सुनाईं। राधा से किसी ने यह भी कह दिया कि वे कुब्जा से प्रेम करने लगे है। राधा ने कहा—

कैसी री यह हरि करिहैं ?
राधा को तजि है मनमोहन, कहा कंस दासी धरिहैं ?

अब सारे व्रज की दृष्टि विरह संतप्ता राधा पर है। उसी को लक्ष्य करके सभी कृष्ण को दोष देते हैं: क्या राधा के प्रेम का यही मूल्य है ? कोई कहता है: 'करि गए थोरे दिन की प्रीति।' कोई कहता है: 'प्रीति करि दीन्ही गरैं छुरी।' कोई-कोई तो यहाँ तक कह देता है कि उनको प्रेम का निर्वाह करना ही नहीं आता : 'प्रेम निर्वाह कहा वे जानें।' इस प्रकार व्रज में तरह-तरह की बातें चलती रहीं। परदेशी के प्रेम का क्या विश्वास ? राधा को यह सब अच्छा नहीं लगता था। उसे इन आरोपों से खीझ ही होती थी। उसे तो कृष्ण मिलन की युक्ति चाहिए—

बातनि सब कोइ जिय समुझावै।
जिहि बिधि मिलनि मिलैं वै माधौ, सो बिधि कोउ न बतावै।।

राधा सबसे कहती है: कृष्ण के प्रेम में कमी नहीं। उनको दोष देना ठीक नहीं। सम्भवत: मेरा प्रेम ही कपटीला था—

सखी री हरिहिं दोष जनि देहु।
तातैं मन इतनौ दुख पावत, मेरोइ कपट सनेहु।।

इससे बड़ा विश्वास दुर्लभ है। अब राधा को लगता है कि सारा जीवन विरह में जलते-जलते ही बीतेगा। प्रिय मिलन के कुछ भी लक्षण नहीं हैं। इसी प्रकार राधा का दीन जीवन व्यतीत होने लगा।

एक दिन राधा ने सुना कृष्ण का संदेश लेकर उसके एक अन्तरंग सखा उद्धव आये हैं। यह एक नई घटना थी। इससे पहले कृष्ण को पथिक के द्वारा राधा सन्देश भिजवा चुकी थी। सन्देश यह था : माधव, यह कच्चे जीवन का कुछ ठिकाना नहीं है। क्या आप इतनी कृपा करेंगे कि एक बार दर्शन दे जायँ—

बारक जाइबो मिलि माधौ।
को जानै तनै फूटि जाइगो, सूल रहो जिय साधौ।।
पहुनेहु नन्द बधा के आवहु, देखि लेउँ पल आधौ।

एक दिन विरहाकुल राधा ने माधव का एक चित्र बनाया था। चित्र बड़ा सजीव और यथार्थ उतरा। इतना कि राधा सोचने लगी, यह बोलेगा। पर शब्द कहाँ ? और फिर वही असीम-अतल विरह-बारिधि—

मैं सब लिखि सोभा जु बनाई ।
सजल जलद तन बसन कनक रुचि, उर बहुदाय सुहाई ।।
× × × ×
सूरदास मृदु बचन स्रवन लगि, अति आतुर अकुलाई ।।

पर कृष्ण तो आये नहीं, उद्धव आये । राधा उनका स्वागत करने आगे बढ़ी पर पैर डगमगा गए । वह गिर पड़ी—

चलत चरन गहि रह गई, गिरि स्वेद सलिल रस भीनी ।
छूटी लट, भुज फूटी बलया, टूटी लर, फटी कंचुक झीनी ।।

राधा आँसुओं में जैसे डूबती जा रही थी । उद्धव का समस्त ज्ञानयोग उस अश्रु पारावार के किनारे अवाक् और किंकर्त्तव्य-विमूढ़ खड़ा था । पर राधा की यह दशा उद्धव मन की गहराइयों में उतरती जा रही थी । उसका चेतन मन तो ज्ञान के समर्थन में लीन था, पर अचेतन विह्वल हो गया । अचेतन मन के उद्गार तब निकले, जब उन्होंने लौटकर कृष्ण से राधा की दशा का वर्णन किया—

उमगि चले दोउ नयन विशाल ।
सुनि-सुनि यह संदेश श्यामघन, सुमिरि तुम्हारे गुन गोपाल ।।
आनन वपु उरजनि के अन्तर, जलधारा बाढ़ी तेहि काल ।
मनु जुग जलज सुमेर शृंग तें, जाइ मिले सम शशिहि सनाल ।।

आँसुओं की नदी ही उमड़ रही थी—

तुम्हरे विरह ब्रजराज राधिका नैननि नदी बढ़ी ।
लीने जात निमेष कूल दोउ, एते यान चढ़ी ।।

जिन 'विशाल नयनों' ने कभी नटनागर को उलझा लिया था, आज आँसुओं में डूब उतरा रहे हैं । इन्हीं में रूप और रस का अतल पारावार कभी उमड़ता था । जो आँखें कभी सौन्दर्य की मदिरा की वर्षा करती थीं, आज 'नैननु होड़ बदी बरखा सों ।'

राधा के मन में दुहरी पीड़ा है । प्रेम असफल होना चाहता है और लोक का उपहास भी सहना पड़ता है । राधा को मिलन के विगत क्षणों की याद विह्वल कर रही है । मिलकर बिछुड़ने की पीड़ा को कौन समझता है । वही समझ सकता है, जिसको अनुभव हुआ हो : "मिलि बिछुरे की पीर सखीरी, बिछुर्यो होय सो जानें ।" कृष्ण जन्म लेकर ब्रज की ओर आए ही क्यों ? न आते और न मेल होता : "वरु माधव मधुवन ही रहते, कत जसुदा के आये ।" राधा के लिए 'विनु गुपाल बैरिन भई कुन्जें ।" वर्षा आती थी

और राधा की आँखों में समा जाती थी : "कारी घटा देखि बादर की, नैंन नीर भरि आए।' इस प्रकार राधा का जीवन भीतर ही भीतर बताशे सा घुलने लगा। इस प्रकार दिन-दिन छीजने से क्या लाभ है ? यह उसके लिए असह्य हो गया :

दुसह विरह मावौ के, को दिन ही दिन छीजैं।
सूर स्याम प्रीतम विनु राधे, सोचि सोचि कर मीजैं।।

राधा उद्धव से न जाने क्या-क्या कहना चाहती थी। हृदय की पीर की अभिव्यक्ति से उसका मन हल्का हो जाता : 'विन ही कहैं आपने मन में, कब लगि सूल सहौं।' पर समस्त तरल अभिव्यव्यिक्तियाँ जम कर रह गईं। गया रुँध गया और आँखों में पानी उमड़ आया। जिस भाषा का प्रयोग राधा करना चाहती थी, उसने आँसुओं की भाषा का रूप धारण किया—

कंठ वचन न बोलि आवै, हृदय परिहस भौन।
नैन जलि भरि रोइ दीनी, ग्रसित आपद दीन।।

राधा जब न बोल सकी, तब उसकी ओर से सखियों ने उद्धव से बातचीत की। हमने एक निर्मोही से प्रेम किया : 'प्रीति करि निरमोहि हरि सों, काहि नहिं दुख होइ।' हमें ज्ञात नही था कि वह कपटी बाहर से प्रेम दिखाकर भीतर के कपट को इस प्रकार छुपाए रहेंगा। यह तो ओछे आदमियों की प्रीति है—

ऊधौ अति ओछे की प्रीति।

बाहर मिलत, कपट भीतर यौं, ज्यौं खीरा की रीति।।

पर अब कहने से क्या लाभ ? हमारे सारे स्वप्न मन में ही तड़प कर रह गये : 'मन की मन ही मांझ रही।' अन्त में यही कह दिया कि यदि हो सके तो एक बार उनके दर्शन करा दो उद्धव जी।

पहले तो कृष्ण ने राधा के प्रेम को यों ही समझा था। पर अन्ततः कृष्ण को उस प्रेम के छूट जाने का पश्चाताप हुआ। राधा का मूल्य उन्हें अपने समस्त वैभव से भी ऊँचा दिखलाई देने लगा। उनका अन्तर्मन राधा के प्रेम की मधुरिमा की स्मृति से आप्लावित रहता है। एक दिन उन्होंने उद्धव से कह ही दिया : 'सूर चित तें टरत नाहीं, राधिका की प्रीति।'

अब राधिका की अन्तिम झाँकी शेष है। उसके मन की पुकार को निष्ठुर श्याम ने सुना : पुनर्मिलन की स्थिति लाई गई। कृष्ण ने व्रज को संदेश भेजा : प्रभास क्षेत्र में मुझसे मिलो। कृष्ण न जाने क्यों व्रज में आकर प्रेमियों से भेंट करना नहीं चाहते। उनके आते ही जो करुणा और प्रेम की धारा उमड़ती, वहाँ आते ही उसकी समस्त चेतना विगत स्मृतियों की जो घटाएँ

घिर जातीं, सम्भवत कृष्ण उनसे फिर निकल नहीं पाते। इसलिए पुनर्मिलन प्रभास क्षेत्र में होगा। राधा को पुनर्मिलन की आशा ने विह्वल कर दिया : 'अँचल उड़त, मन होत गहगहो, फरकत नैन खये।' पर अभी राधा से भेंट नहीं हुई। कृष्ण वैसे आ तो गए हैं। पर मानिनी राधा क्यों दौड़ कर जायगी। मन में वैसे भारी विकलता भी हो रही है—

राधा नैन नीर भरि आये।
कब धौं मिले श्याम सुन्दर सखि, यदपि निकट हैं आये॥

पर कृष्ण बदले हुए है। समस्त साज-सज्जा, भीड़-भाड़, ऐश्वर्य-वैभव राज-कुलोचित है। कहाँ ब्रज का साँवला और उसकी निश्छल लीलाएँ और कहाँ यह सब कृष्ण के साथ बिविध वेशभूषा में नागरियाँ और कहाँ ब्रज की गँवारिन नवेलियाँ। आने की सूचना पाकर सभी अभ्यर्थना के लिए खड़ी थीं। राधा भी एक ओर चुप खड़ी थी। रुक्मिणी की जिज्ञासा शान्त न रह सकी। पूछ उठी : प्रिय इनमें को वृषभानु किसोरी।' जिसकी याद आपको कभी नहीं भूलती : 'जाके गुन-गनि गुथति माल, कबहूँ उर में नहिं छोरी।' कृष्ण कुछ देर चुप रहें। तब रुक्मिणी ने फिर पूछा : 'नेंक हमें दिखरावहु, अपने बालापन की जोरी।' तब कृष्ण ने दूर से दिखला दिया : 'वह देखो जुवतिन में ठाढ़ी नील बसन तन गोरी।' इसी 'नील वसन' में राधा उस दिन थीं, जब श्याम ने उसे पहली बार देखा था। पर कृष्ण इस रूप में उस दिन नही थे। राधा को सब कुछ अजनबी लग रहा था। कृष्ण के ऐश्वर्य को देख कर वह रुद्धवाक् थी : "सूर देखि वा प्रभुता उनकी, कहि नहिं आवै बात।" रुक्मिणी और कृष्ण राधा की विवशता को समझ गए। रुक्मिणी राधा को अपने घर ले गई। राधा और रुक्मिणी एक स्थान पर बैठी थीं, प्रेमपूर्वक। कैसा अद्भुत संयोग था। सूर ने यहाँ दोनों को ठकुरानी कहा : 'प्रभु तहाँ पधारे जहाँ दोऊ ठकुरानी।'

वह क्षण आ गया। अब मिलन होगा। राधा-माधव भेंट कोई साधारण घटना नहीं है। माधव जिस राधा की मनोरम स्मृतियों को लेकर अब तक का समय काट सके और राधा जिस कृष्ण की आत्मगत मूर्ति पर नीराजन समर्पित करती रही; आज एक दूसरे के पास है। यदि आज भी अन्तर रह गया, तो अभेद कब होगा ? आज दोनों ही एकमेक हो जायँगे। आज दोनों में से किसी ने चूक नहीं की—

राधा माधव भेंट भई।
राधा-माधव, माधव-राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई॥

माधव राधा के रँग राते, राधा माधव रँग रई।
माधव राधा प्रीति निरन्तर, रसना कहि न गई ॥

अब सूर की वाणी रुद्ध हो गई। पर जो कह दिया वह भी सूर की अद्वितीय सफलता है। अन्यथा, इन क्षणों को वाणी देना किसके बस की बात है?

पर राधा चुप थी। आज राधा कुछ बोल न सकी। आनन्द का समुद्र गम्भीरतम था। उसकी समस्त हलचल अन्तर्मुखी हो गई थी। बाह्य अभिव्यक्ति अनुभावों में न हो सकी। राधा को यह हो क्या गया? उसने समझा जैसे शृङ्गारिक अनुभावमयी लीलायें तो उपक्रम थीं, इस अशेष मिलन की। उनकी स्मृति से तो अब लाज आती है। फिर भी वह सब कुछ भी उपेक्षा की वस्तु तो नहीं थी। आज यदि राधा अनुभावती हो जाती कृष्ण से सांग मिलन करती, तो कौन रोकता? पर इस गलती के भाग्य में तो पछताना ही लिखा है। तभी तो मन की कर न सकी और मन ही मन पश्चाताप में सुलग रही है—

करत कछु नाहीं आजु बनी।
हरि आये, हौं रही ठगी सी, जैसे चित्र धनी ॥
आसन हरषि हृदय नहिं दीनौ, कमलकुटी अपनी।
न्यवछावर उर अरघ न अंचल, जलधारा जु बनी ॥
कंचुकी तें कुच-कलश प्रकट ह्वै; टूटि न तरकतनी।
अब उपजी अति लाज मनहिं मन, समुझत निज करनी ॥

९. उपसंहार—

सूर की राधा की यही अन्तिम झाँकी है। चिर-विरह की ज्वाला से विदग्ध। अब इसका मिलन कभी नहीं होगा। मिलन होना शेष भी नहीं रहा। इससे अधिक मिलन होगा भी क्या? यह तो तद्रूपता है: 'कीट भृंग गति ह्वै जु गई।' राधा का लक्ष्य कृष्ण को पाना नहीं है। उनकी तृप्ति ही उसका साध्य है। 'सूर' ने राधा की यह झाँकी प्रस्तुत करके हिन्दी-गीति-काव्य को सदा के लिए सजल कर दिया। यदि तुलसी ने सीता को महाकाव्य की नायिका के रूप में सँजोया और उसके व्यक्तित्व को सती के पवित्र आदर्शों से अभिमंडित कर दिया, तो सूर ने समस्त शृङ्गार, माधुर्य, सौन्दर्य, सौकुमार्य, तरलता, अनुभूति और विकलता से विभूषित करके एक गीत-काव्योचित नायिका की प्रतिष्ठा की। आज तक यह रासेश्वरी, निकुंजेश्वरी, सौन्दर्या-धिष्ठात्री राधा उतनी सरस, सरल और सद्य बनी हुई है।

सात | भाव-भूमि

७ | भाव-भूमि

प्रास्ताविक—

भक्ति साधना मनुष्य की रागात्मक वृत्ति से संवद्ध है। रागात्मिका वृत्ति अपने चरमोन्नत क्षणों में किसी भी अन्य मूल्य को स्वीकार नहीं करती। इसकी अपनी अभिव्यक्तियाँ होती हैं। इसकी अपनी विधियाँ हैं। वाह्य प्रभावों और वर्जन-अंकुशों को यह वृत्ति निरस्त कर देती है। लौकिक-अलौकिक भावात्मक स्तरों का भेद कुछ समय तक रहता है: फिर, ये स्तर भी तिरोहित हो जाते हैं। एक दूसरे के पूरक बनकर दोनों स्तर समन्वित हो जाते हैं। एक स्तर यदि ऊर्ध्व दिशाओं की खोज करता है, तो दूसरा भावात्मक उड़ानों को जीवन-भूमि से असम्बद्ध नहीं होने देता: उसे उत्तेजना, तीव्रता और गति देता रहता है। इस समन्वित स्थिति में प्रेम सिद्धावस्था को प्राप्त होता है। दमन, वर्जन, जैसी रागकेन्द्रों को घोंट देने वाली विधियाँ फिर पीड़ा नहीं पहुँचा सकतीं। भक्ति का यही दर्शन है, जिसका प्रतिपादन भक्तिसूत्रों और भागवत ने किया है। भाव मूलक सेवा और चर्या का मार्ग पांचरात्र संहिताओं ने निश्चित किया है। नवधा-भक्ति में भक्ति भावनाओं और तत्संबन्धी क्रियाओं का समावेश है।

भावनाएँ मानवीय संवन्धों के मूल में रहती हैं। इन्हीं भावों के उदात्त रूप आध्यात्मिक संवन्धों की योजना करते हैं। प्रेम एक मूल भाव है, जो विविध रूपों से प्रस्फुटित होकर विविध संवन्धों को संभव वनाता है। इसके वात्सल्य, सख्य, दास्य, माधुर्य आदि रूप हैं। इनकी मान्यता भक्ति संप्रदायों में रही। इनकी विभाजन माहात्म्य ज्ञान के आधार पर किया जाता है। भगवान के विराट, विभूतिमय स्वरूप की कल्पना 'दास्य' से संवद्ध है। प्रेम का आधार माहात्म्य ज्ञान रहता है और साधना विधि-मर्यादा के मूल्यों को

लेकर चलती है। वात्सल्य, सख्य में माहात्म्य-ज्ञान क्रमशः छूटता जाता है और भागवत समता स्थापित होती जाती है। रागात्मिका वृत्ति इन स्तरों पर विशेष रमती है। सामाजिक दृष्टि से भाव अधिक निरापद हैं: विकृति की संभावना नहीं है। 'माधुर्य' भाव विकास की चरमकोटि है। इष्ट का माहात्म्य ज्ञान इस स्तर पर तिरोहित हो जाता है: उनके साथ विशुद्ध प्रेम-संबन्ध, कान्ताभाव, स्थापित हो जाता है। दूसरी ओर वेद-विधि, शास्त्र-अनुशासन, लोक-मर्यादा या कुल-कानि, किसी भी बाधा को माधुर्य की अविरल धारा स्वीकार नहीं करती। इन भावस्तरों को भावासक्ति के सोपानों के रूप में भी स्वीकृत किया जाता है: एक भावस्तर की पूर्णता दूसरे स्तर पर आरोहण की शक्ति और योग्यता प्रदान करती है। इस दृष्टि को लेकर चलने वाले संप्रदायों में भावों का वैविध्य स्वीकृत रहता है। सभी भावों की क्रियात्मक और मानसी सेवाएँ चलती रहती हैं। इन संप्रदायों में सामाजिक दृष्टि भी रहती है और परम गुह्य एकान्तिक दृष्टि भी। संभवतः इसी प्रकार का संप्रदाय वल्लभ संप्रदाय है। इसमें वात्सल्य, सख्य और माधुर्य विशेष रूप से और दास्य, एवं शान्त सामान्य रूप से मान्य रहे। इन सभी भावों की सेवा-विधियाँ भी इस संप्रदाय में प्रचलित रहीं और सभी भावों से प्रांजल साहित्य भी संप्रदाय के कवियों ने रचा।

दूसरी ओर वे संप्रदाय हैं जो मात्र दास्य और मर्यादावाद को लेकर चलते हैं या मात्र माधुर्य को, जो किसी भी रूप में 'मर्यादागत' मूल्यों को स्वीकृत नहीं करता। एक में यदि शुद्ध सामाजिक दृष्टि है, तो दूसरे में शुद्ध एकान्तिका। पहली विचार धारा का प्रतिनिधित्व तुलसी करते हैं, तो दूसरी श्रेणी में चैतन्य, हितहरिवंश और हरिदास जैसे आचार्य आते हैं। इन दोनों की स्थिति ध्रुवीय है।

परिस्थिति ऐसी हुई कि मध्यकाल में माधुर्यगत अभिप्राय अधिक आकर्षक और लोकप्रिय हुए। इन अभिप्रायों ने 'मर्यादा पुरुषोत्तम' को भी रसिक शिरोमणि बनाकर छोड़ा ओर सीता और उनकी सखियों में भी कान्ता-भाव की छवियों का निदर्शन किया—रामभक्ति का रसिक संप्रदाय प्रबल हो उठा। 'लीला पुरुषोत्तम' की भी मधुर लीलाएँ अधिक प्रिय होती गईं। फलतः वल्लभ संप्रदाय जैसे सभी भावों को लेकर चलने वाले संप्रदायों में भी धीरे-धीरे माधुर्य-भाव और गोपीभाव की प्रतिष्ठा सर्वाधिक हो गई। 'सूर' जैसे सिद्ध कवि जो वात्सल्य, सख्य और माधुर्य के साथ समान न्याय कर सके, वे भी

अंतिम क्षणों में माधुर्य भाव में निमग्न मिले। कृष्णोपासना के भीतर मूलतः राधा की उपासना ही मिली। इस प्रकार प्रायः सभी भक्ति संप्रदाय माधुर्य-भाव में प्रविष्ट हो गये। यहाँ भी स्वकीया और परकीया का द्वन्द्व रहा। 'स्वकीया' के साथ जो शास्त्रीय या सामाजिक मूल्य चिपके रह गये थे, वे भी परकीया के उपेक्षामय भावावेश के सामने निस्तेज होकर रहे। इस प्रकार माधुर्य भाव की स्वीकृति एक समय में सभी सांप्रदायिक स्तरों पर हुई। इस स्वीकृति ने समग्र भारत की काव्य साधना को पुष्ट किया। चाहे सामाजिक दृष्टि से इस भाव पर कुछ विकृत छायाएँ दिखलाई पड़ें, पर भावोत्कर्ष की दृष्टि से समस्त संसार की साधना पद्धतियों और संसार के 'भावमूलक रहस्योन्मुखी काव्य में इस कोटि का भावोत्कर्ष नहीं मिल सकता। इन पर कुछ विस्तार के साथ आगे विचार किया है।

१. भक्ति-निरूपण—

(१) भक्ति तत्त्व

सभी धर्म-कर्मों से भक्ति की भावना को उच्चतर घोषित करना, सभी भक्त कवि और आचार्यों ने अपना कर्तव्य समझा। भक्त की प्रशस्ति के साथ-साथ भक्तिभावना का शास्त्र भी प्रस्तुत किया। हिन्दी क्षेत्र में तुलसी ने भक्ति तत्त्व पर विशेष लिखा। अन्य भक्त कवियों ने जेसे सूर ने भक्ति को ज्ञानयोग से श्रेष्ठ कहा। बंगाली आचार्यों ने भक्ति के शास्त्र के निर्माण में बहुत योगदान दिया।[1] इन आचार्यों ने भक्ति को एक स्वतन्त्र रस घोषित किया, और उसको एक सुनिश्चित शास्त्र भी प्रदान किया।[2] हिन्दी क्षेत्र में 'भक्ति-रस' का शास्त्रीय तत्त्वाख्यान कम हुआ है, फिर भी सूर की 'साहित्य लहरी' तथा नन्ददास की 'रसमंजरी', 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' जैसी कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। चाहे भक्ति का लक्षण साहित्य हिन्दी में न्यून हो, पर भक्तिपरक लक्ष्य साहित्य प्रचूर मात्रा में रचा गया। सिद्धान्तोक्तियों का समावेश भी कहीं-कहीं इस लक्ष्य साहित्य में मिल जाता है। उदाहरण के लिए 'सूर' ने गोपीभाव की भक्ति को परम फलदायक माना[3] कृष्ण भक्त कवियों ने अनेक भावों से

---

१. इस संबन्ध में कृष्णदास कविराज' की 'चैतन्य चरितामृत' कृति विशेष उल्लेखनीय है।

२. इस क्षेत्र में रूप गोस्वामी की 'भक्ति रसात्मक सिंधु' तथा उज्ज्वल नीलमणि' कृतियों का योगदान सर्वमान्य है।

२. जो कोउ भरता-भाव हृदय धरि हरि-पद ध्यावै।
नारि-पुरुष कोई होइ, श्रुतिरिचा गति को पावै॥
(सू. सा. वेंकटेश्वर प्रेस, पृ० ३६४)

भक्ति साहित्य को विभूषित किया है। 'सूर' वैसे दास्य-विनय की दृष्टि से, अपने विकासकाल में प्रभावित नहीं थे, फिर भी 'श्याम के गुलाम' की भावना उनके आरम्भिक विकास में मिल जाती है।[१] सूर किसी भाव की भक्ति को स्पृहणीय कहते हैं—'जन तें प्रभु बरतत, जाकी जैसी प्रीति हिये।' इस दृष्टि कोंण के अनुसार सभी प्रकार के भावों से युक्त भक्ति वरेण्य है। चाहे मधुर भक्ति श्रेष्ठ हो।

भक्ति वह भावात्मक आधार है, जिस पर भक्त और भगवान का संबन्ध स्थिर होता है। इसीलिए 'सूर' भक्ति की याचना करता है।[२] नाता एक नहीं : 'मोहि तोहि नाते अनेक।' इसीलिए भक्ति की महिमा गाई गई है। हरिस्मरण और भक्तिचर्या भगवत्प्राप्ति का एक अमोघ उपाय है।[३] भगवान की माया समस्त संसार को संत्रस्त करती है, पर भक्त उनके प्रभाव में नहीं आता।[४] मन का भ्रमजाल भी कट जाता है :[५] इस प्रकार सूर ने भक्ति उसके प्रभाव और फल को लेकर कुछ प्रशस्ति परक उक्तयाँ की हैं। भक्ति प्रेममय है। भक्ति को निष्काम होना चाहिये। पर सकामभक्ति भी क्रमशः उन्नत होकर निष्काम बन सकती है।[६] भक्ति का चरम रूप अहैतुकी ही है।[७] वैसे भक्त को ज्ञान या कर्म की पद्धति के अनुसरण की आवश्यकता नहीं, फिर भी आरम्भिक स्थितियों से अष्टांग योगादि क्रियाएँ साधक ही होती हैं।[८] आगे ये साधन स्वयंमेव छूट जाते हैं। ज्ञान, कर्म और उपासना के अनुसार भक्ति तीन प्रकार की हो सकती है। पहली में सबको ब्रह्म समझ कर, सभी का

---

१. सब कोउ कहत गुलाम स्याम को, सुनत सिरात हियौ।'
(सू० सा० १।१७१)

३. अपनी प्रभु भक्ति देहु, जासों तुम नाता। (सू० सा० १।१२३)

२. 'सूर' हरि को सुजस गावत, जाहि मिटि भवभार। (सू० सा० २।४)
जाइ समाइ 'सूर' वा निधि में, बहुरि जगत नहि नाँचै। (वही, १८१)

४. हरिमाया सब जग संतापै।
ताकौं माया मोह न व्यापै॥ (वही, ३।१३)

५. जब भगत भगवंत चीन्है भरम मन तें जाइ। (सू० सा० १।७०)

६. भक्त सकामी हू जो होइ।
क्रम क्रम करिकैं उधरै सोइ। (वही, ३।१३)

७. निष्कामी बैकुंठ सिधावै। (वही)

८. भक्ति पंथ कौं जो अनुसरै। सौ अष्टांग जोग कौं करै। (वही, २।२१)

कल्याण लक्ष्य होता है। दूसरी में वर्णाश्रम धर्म का निर्वाह होता है, तथा तीसरी में हरि स्मरण और प्रीति के अतिरिक्त कुछ नहीं होता।[1] गीता में भी ज्ञानी भक्त को प्रिय कहा गया है। तुलसी ने भी 'सियाराममय सब जग जानी' की उक्ति की है। एक स्थान पर उन्होंने 'श्रुति संमत हरि भगति पथ संजुत बिरति बिबेक' भी कहा है। सूर भी विरक्ति की बात कहते हैं—'सुत कलत्र सों हित परिहरै।' वास्तव में ज्ञान का कार्य इतना है कि मन में भगवान का सत्य स्वरूप स्थापित करदे। 'जौ लौं सत्य स्वरूप न सूझत' वाली स्थिति नहीं रहनी चाहिए। विरक्ति भी भावजन्य हो सकती है। भावजन्य विरक्ति गोपियों में मिलती है। यह विरक्ति 'सर्वसमर्पण' से भिन्न नहीं है। सच्चा भक्त मुक्ति की कामना नहीं करता। वह तो 'भक्ति' की ही याचना करता है।[2] भक्ति की प्राप्ति ही पूर्ण पुरुषार्थ है। इससे बड़ा कोई अन्य जीवन मूल्य नहीं।

जैसे भक्ति के अन्य पक्षों के शास्त्रीय तत्त्व निरूपण में 'सूर' की वृत्ति नहीं रमी, उसी प्रकार भक्ति के प्रकार-भेद पर भी उन्होंने विशेष विचार नही किया। आनुषंगिक रूप से कुछ सिद्धान्तोक्तियाँ अवश्य मिल जाती हैं। उन्होंने सतोगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी और शुद्धा नामक चार भक्ति-प्रकार माने हैं।[3] मूलतः भक्ति एक ही तत्त्व है, वह उसके चार रूपांतर हैं—'भक्ति एक पुनि बहुबिध होई।' इन चारों का लक्षण भी दिया गया है।[4] शुद्धा भक्ति में मुक्ति की भी उपेक्षा रहती हैं, भगवान की सेवा में भक्त रत रहता है—'मन-क्रम-वचमय सेवा करै।' वंगाली वैष्णवों ने रति-भेद के आधार पर वात्सल्य, सख्य, मधुर दास्य और शान्त पाँच प्रकार की भक्तियाँ स्वीकार की हैं।[5] सूर-साहित्य में सभी प्रकार की भक्तियों की भाव-स्फीति तो मिलती है, पर प्रकार-कथन सूर ने इस रूप में नहीं किया। सूरदास ने इन आचार्यों की

---

१. सूरसागर, २।१३।
२. अब मो पै प्रभु कृपा करीजै।
भक्ति अनन्य आपुनी दीजै॥ (सू० सा० ३।१३)
३. सू० सा० ३।१३।
४. वही।
५. चैतन्य चरितामृत, परि० १९।

भाँति यह अवश्य माना है कि सभी प्रकारों में 'प्रेमाभक्ति' श्रेष्ठ है।[1] 'वैधी' और 'रागानुगा' भक्ति-रूपों का भी सूर ने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। पर ऊपर की उक्तियों में इन भेदों की व्यंजना अवश्य आ गई है। 'स्वकीया' और 'परकीया' दोनों भावों की स्वीकृति में भी इस भेद की स्वीकृति है। शास्त्रोक्त विधि के उल्लंघन की बात अनेक बार कही गई है। साधन-भेद से नवधा-भक्ति की परम्परा चली आ रही है। 'सूर' तथा 'परमानंद' दास ने दशधा भक्ति की चर्चा की है : ९+प्रेम—१०।[2] इस दशधा विभाजन का उल्लेख बंगाली साहित्य में भी मिलता है।[3] यह वस्तुतः वैधी भक्ति का ही विस्तार है। रागानुगा भक्ति गोपी-भाव से युक्त होती है। इसमें अपने सुख की आकांक्षा नहीं रहती : प्रियसुख की ही अनवरत कामना बनी रहती है। इसीलिए व्यभिचार का प्रश्न नहीं उठता।[4] 'तत्सुखी' भाव की प्रतिष्ठा राधावल्लभ संप्रदाय में सर्वाधिक है।

भगवान के माहात्म्य ज्ञान के आधार पर महात्म्य परक और माहात्म्य-निरपेक्ष दो प्रकार की भक्तियाँ हो जाती हैं। द्वारिका और मथुरा के कृष्ण में माहात्म्य का निवास है। उग्रसेन, अक्रूर, रुक्मिणी आदि की भक्ति इसी कोटि में आती है। ऐश्वर्य ज्ञान से मुक्त भक्ति केवला भक्ति है। इसमें प्रेमभाव की पूर्ण विस्मृति रहती है। भय, भावना से यह बाधित नहीं होती। दास्य और शान्त भाव को तो ऐश्वर्य ज्ञान और भावना उदीप्त कर सकती है, पर अन्य भाव इससे बाधित होते हैं। इसीलिए वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भक्ति को लेकर चलने वाले भक्तों के जोड़े हो जाते हैं :

वात्सल्य	—	देवकी-वसुदेव	यशोदा-नंद
सख्य	—	अर्जुन	ब्रज के सखा
प्रेम	—	रुक्मिणी	राधा

केवलाभक्ति ब्रज की भक्ति है : अन्यत्र इसका मिलना कठिन है।

---

१. प्रेम भक्ति बिनु मुक्ति न होई।
नाथ कृपा करि दीजै सोई॥ (सू० सा०)

२. श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादरत,अरचन, बंदन, दास।
सख्य और आत्मनिवेदन प्रेम लक्षणा जास॥ (सूर सारावली)

३. चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, परि० २४।

४. कृष्न तुष्टि करि कर्म करै जो आन प्रकारा।
फल बिभिचार न होइ, होइ सुख परम अपारा॥
(नन्ददास. सिद्धान्त पंचाध्यायी)

सूर साहित्य में भक्ति के सभी प्रकार मिल जाते हैं। पर, उनकी वृत्ति का विकास भी वात्सल्य, सख्य, गोपीभाव में होता हुआ राधा-भाव तक पहुँचता है। सूर-साहित्य में दास्य और शान्त तो आनुषंगिक हैं। इनका निरूपण भागवत प्रसंग के निर्वाह के फल स्वरूप ही हुआ है। कपिल ने भक्तितत्व का उपदेश दिया है। 'सूर' ने उसका विवरण दिया है। अन्यथा, सूर में तो वात्सल्य, सख्य और माधुर्य की भावत्रयी ही पूज्य है। भक्ति का सामान्य निरूपण का तो नारद कपिल, विदुर आदि के -संवादों के रूप में हुआ है। सांप्रदायिक भक्ति का निरूपण 'सूर सारावली' में किया गया हैं। समस्त साहित्य माधुर्य, सख्य और वात्सल्य का साख्य ही प्रस्तुत करता है। बंगाली वैष्णवों ने 'भक्त-रस का शास्त्र प्रस्तुत किया। 'सूर' का मन इस बौद्धिक प्रयत्न में विशेष रमा नहीं। यों 'रस' के शास्त्रीय पक्ष से संबन्धित भी कुछ उक्तियाँ मिल जाती हैं।

१.२ भक्ति-रस—

भक्ति आन्दोलन ने काव्यशास्त्र को भी एक नवीन दिया दी। एक स्वतंत्र भक्तिरस काव्यशास्त्र को मिला। यदि इस रस की थोड़ी बहुत चर्चा पहले से भी मानी जाये, तब भी भक्तिकालीन कवियों और आचार्यों ने उसके लक्ष्य और लक्षण साहित्य को बहुत अधिक उन्नत किया। 'सूर' ने इस शास्त्रीय पक्ष पर बहुत कम कहा। बंगाल ने इस क्षेत्र में अद्वितीय देन दी। रस के सभी अङ्गों का गंभीर विवेचन बंगाली आचार्यों ने किया। हिन्दी भक्त कवियों का योगदान लक्ष्य-साहित्य प्रस्तुत करने में हैं, जो लक्षण-शास्त्र का उपजीव्य और पोषक होता है। बंगाली वैष्णवों को भी 'माधुर्य' का विस्तार ही अधिक प्रिय रहा हैं। शेष भावों का समान्य परिचय दिया गया है।

भक्तिरस की शास्त्रीय रूपरेखा की संक्षिप्ति इस प्रकार है :[१] कृष्ण-भक्ति के स्थायीभाव ये हैं : स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव। उपयुक्त सामग्री मिलने पर इनका परिपाक भक्तिरस में होता है। उद्दीपन विभाव में वंशी, नादादि और आलंबन में कृष्णदि हैं। इसी प्रकार अनुभाव भी सात्विक है। भक्तिरस के पाँच प्रकार हैं : शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर (शृंगार)। सख्य और वात्सल्य के अनेक भेद हैं। मधुर के दो भेद हैं : रूढ़ (महिषीगण का भाव) तथा 'अविरूढ़' (गोपियों का

---

१. आधार, '१६ वीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि,' डॉ० रत्न-कुमारी, अध्याय ६।

भाव)। अधिरूढ़ भी संयोग ('मादन') तथा वियोग (मोहन) दो रूपों में विभक्त है। मोहन के भी दो रूप हैं: चित्रजल्प और उद्घूर्णा। चित्रजल्प के प्रजल्पादि दस अङ्ग हैं। उद्घूर्णा के दो अङ्ग विरह-चेष्टा और दिव्योन्माद हैं। विरह में अपने को कृष्ण समझ लेते हैं। 'सूर' की राधा और गोपियाँ कृष्ण के रूप में अपने को भावित करती हैं। संभोग के भी अनन्त अंग हैं। इस प्रकार 'प्रेम' स्थायी भाव भक्तिरस में परिणत होता है। आलंबन, कृष्ण और राधिका हैं।

कृष्ण धीर ललित नायक हैं। राधा की काम-क्रीड़ा ही इनकी चर्या है। गोपवेश, वेणुधारण और नवकिशोर इनका मधुर रूप है। 'सूर' ने इन सभी रूपों का अत्यधिक भाव विस्तार किया है। कृष्ण भक्त के मन में उमड़ने वाले सभी रसों के आश्रय हैं। सभी को आकर्षित करने वाली माधुरी इनमें है। कृष्ण में ६४ गुण हैं। इनकी कांता के तीन प्रकार हैं: लक्ष्मीगण (नारायण रूप की सहचरी), महिषी, तथा ब्रजांगनागण। लक्ष्मीगण को भी ब्रज-लीला का सुख नहीं मिलता, यद्यपि उन्हें इसकी कामना रहती है।[1] महिषी-गण द्वारिकावासी रूप की सहचरी हैं। ये विम्ब-प्रतिविम्बरूपा हैं: ब्रजांगनागण से राधा और गोपियाँ सम्मिलित हैं। कांताएँ बहुत हैं मधुर रस स्वकीया और परकीया रूप में है। परकीय भाव श्रेष्ठ है। ब्रज के अतिरिक्त परकीया कहीं नहीं है। राधा इस भाव की अवधि है। राधा कृष्ण की वांछा पूरी करती है। ललितादिक उनका कायव्यूह हैं। इसी माधुर्य भाव को 'सूर' ने महत्त्व दिया है। चाहे 'सूर' ने राधा का कृष्ण के साथ गंधर्व विवाह कराके उसे स्वकीया बना दिया हो, परकीया भावा का अभाव सूर-साहित्य में नहीं है। वंशीवादन को सुनकर गोपियाँ रतियों को छोड़कर भी कृष्ण की ओर चल पड़ती है।[2] इस प्रकार सूर की अधिकांश माधुर्य भावापन्न उक्तियाँ भक्ति-रस के शास्त्रीय निरूपण से पूर्णतः संगति रखती हैं।

जब माधुर्य रस का निरूपण शास्त्रीय पद्धति से हुआ, तो नायिका भेद का भी समावेश होना स्वाभाविक था। नायिका-भेद का प्रकरण 'सूर' में भी

१, कहत रमा सों सुनि री प्यारी, विहरत हैं बन स्याम।
'सूर' कहाँ हमको वैसौ सुख, जो विलसत ब्रजधाम॥

(सूर पंचरत्न, पृ० १३)

२. गई सोरह सहस हरि पै छांड़ि सुत-पति-नेह।
एक राखी रोक पति, सो गई तजि निज देह॥ (वही, पृ० ११)

मिलता है। इसी के निरूपण में सूर ने कूट शैली का प्रयोग किया है। धीरा, अधीरा, धीराधीरा, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा आदि भेद-प्रभेदों का समावेश शास्त्र को पूर्ण कर देता है। चाहे सूर ने लक्षण-निरूपण न किया हो, सभी के रूप तो अवश्य ही प्रस्तुत किये हैं। माधुर्य के आलंबन के रूप में इनका विवेचन हुआ। 'सूर' ने लक्षण-निरूपण की उपेक्षा की है। 'सूर' में परकीया नायिका की अपेक्षा स्वकीया के रूप ही अधिक मिलते हैं। गर्विता, मानवती, आदि दशानुसार नायिका-भेद के प्रगल्भ चित्र 'सूर' ने अंकित किए है। प्रोषित-पतिका, अभिसारिका, खंडिता आदि अवस्थानुसार नाविका-भेद भी कम नहीं हैं। 'प्रौढ़ा' का एक चित्र यह है—

नवल किसोर नवल नागरिया ।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर, स्याम भुजा अपने उर धरिया ॥

'अधीरा' की चमक इन पंक्तियों में है—

मोहि छुवौ जिनि दूरि रहौ जू ।
जाकौं हृदय लगाइ लई है, ताकी बांह गहौ जू ॥

राधा 'वासक सज्जा' के रूप में सेज सम्हाल रही है—

राधा रचि-पचि सेज सँभारति ।
भवन गमन करिहैं, हरि मेरे, हरषि दुखहिं निरवारति ॥

चंद्रावलि 'उत्कंठिता है—

चन्द्रावली स्याम-मग जोवति ।
कबहुँ सेज कर झारि सँवारति, कबहुँ मलय-रज मोवति ।

इस प्रकार काव्यशास्त्रीय नायिका भेद के प्रायः सभी रूप सूर में मिल जाते हैं। वंगाली साहित्य में लक्षण चाहे अधिक विस्तार से दिये गये हों, पर 'सूर' जैसा नायिका भेद संबन्धी लक्ष्य साहित्य वहां भी दुर्लभ है। भक्तिरस की स्थापना में लक्षण साहित्य का जितना महत्त्व है, उतना ही महत्त्व लक्ष्य साहित्य का है।

२ माधुर्य भाव—

अन्य रसोपासक भक्ति संप्रदायो की भांति वल्लभ-संप्रदाय में भी माधुर्य भाव की प्रतिष्ठा हुई। वल्लभाचार्य जी ने मधुराष्टक, परिवृढाष्टक और सुवोधिनी में इस भाव का निरूपण और प्रतिपादन किया है। राधा के साथ

रतिरत कृष्ण के प्रति, इसी भावना की कामना आचार्य जी ने की है।[१] राधा विहारी कृष्ण की मधुर झाँकी बरबस उनकी भावना को अभिभूत कर देती है। कृष्ण के इस रूप की कल्पना में 'मधुर' के अतिरिक्त और किसी भाव-तत्त्व की कल्पना संभव नहीं है।[२] जो 'मधुर' का अधिपति है, उसमें मधुर के अतिरिक्त और क्या मिलेगा ? जिस प्रकार अन्य माधुर्य भावाश्रित भक्ति संप्रदायों में रति शास्त्रानुकूल पद्धति से कभी-कभी माधुर्य का स्वरूप ज्ञान कराया गा है, उसी प्रकार 'सुबोधिनी' में भी कहीं-कहीं आचार्य जी ने इसी पद्धति से माधुर्य का स्वरूप प्रतिपादित किया है।[३] जयदेव ने मधुरभाव को काव्यकला और केलिकला का माध्यम प्रदान किया था। इससे सिद्ध होता है कि वल्लभाचार्यजी ने दृढ़ता के साथ माधुर्यभाव को संप्रदाय में प्रतिष्ठित किया। सामान्य जनता की वृत्तियों की 'प्रवाही' वृत्तियों को ध्यान में रखकर अभा-यिक और निरापद वात्सल्य रति की भावना से पुष्टिमार्गीय मंदिरों का वातावरण भावित किया गया : क्रियात्मक सेवा का यही आदर्शभाव रहा। 'मानसी' सेवा का रूप माधुर्यभाव में ही घटित हुआ। आचार्य जी ने इस रति-रहस्यात्मक माधुर्यभाव को संप्रदाय में पर्याप्त दृढ़ता के साथ स्थापित किया।

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने सांप्रदायिक सेवा-चर्या की पुनर्व्यवस्था की। मूल संरचना को तो उन्होंने ज्यों का त्यों रखा, पर भावना के अनुसार सेवा के कुछ रूपों में विस्तार किया गया। इन विस्तारों में माधुर्यभाव भी सम्मि-लित था। इससे संप्रदाय की सेवा-विधि कुछ नवीन और अद्भुत हो गई। 'सेवाफल' में सूर ने सेवा के इस नवीन भाव-संस्कार की ओर संकेत किया है।[४] नवीन भाव-संस्कार निकुंज-लीला के क्रियात्मक विस्तार को लेकर ही

---

१. कलिंदोद्भूतायास्तटमनुचरंतीं पशुपजां।
रहस्येकांदृष्ट्वा नव सुभगवक्षोजयुगलाम् ॥
दृढंनीवीग्रंथिं श्लथयति मृगाक्ष्या हृत्तरं।
रतिप्रादुर्भावो भवतु सततं श्रीपरिवृढे ॥ (परिवृढाष्टक)

२. अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ (मधुराष्टक)

३. सुबोधिनी १०।२।७, १०।२१।१२, १०।३३।२६।

४. सेवा की यह अद्भुत रीति।
(श्री) विट्ठलेस सौं राखै प्रीत ॥

विशेष रूप से था। इससे पूर्व 'बाल-भावना को ही क्रियात्मक सेवा का रूप प्राप्त था : माधुर्य मानसी सेवा के रूप में ही मान्य भाव था। एक प्रकार से आचार्य जी ने सिद्धान्त रूप में या साधना के अंग के रूप में जिस माधुर्यभाव का कथन किया था, उसी को गो० बिट्ठलनाथ जी ने क्रियात्मक रूप से संप्रदाय में प्रचलित किया। यह संप्रदाय में निकुंज-भावना का क्रियात्मक प्रवेश कहा जा सकता है। गोस्वामी जी ने इस भावना के क्रियात्मक रूप को सैद्धान्तिक रूप देने के लिए 'श्रृङ्गार रसामंडन' जैसे ग्रंथ का प्रणयन किया। उनका 'निकुंजविलास' ग्रन्थ सिद्धान्त को भाव-रस में स्नात कर रहा है। 'सारावली' का सैद्धान्तिक पक्ष भी इससे अछूता नहीं है। कुंज-विहार से स्निग्ध 'सारावली' की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

इंदा, वृंदा और राधिका चंद्रावलि सुकुमारि।
निमल-बिमल दधि खात सवन कौ करत बहुत मनुहारि।।
गहि बहियाँ लै चले स्याम घन सघन कुंज के द्वार।
पहले सखी सबै रचि राखी, कुसुमन सेज संवार।।
नाना केलि सखिन सँग बिहरत नागर नंद कुमार।
गोवर्धन की सघन कंदरा, कीनों रैन निवास।।
भोर भये निज धाम चले अति आनंद बिलास।।[1]

रसिकेन्द्र की सुरतांत झांकी इस प्रकार चित्रित की गई है—

जागे प्रात निपट अलासाने भूषन सब उलटाने।
करत सिंगार परस्पर दोऊ अति आलस सिथिलाने।।[2]

'निकुंज भावना' की उच्चता प्रकट करते हुए सूर ने कहा है कि इसका रहस्य वेद को भी अज्ञात है।[3] इस प्रकार 'सारावली' में सूर ने माधुर्य भाव का सैद्धान्तिक और भावात्मक विकास किया है। इस विस्तार में कामशास्त्रीय और काव्य शास्त्रीय पद्धतियों को भी अपनाया गया है। साधना के इस रूप का सिद्धान्त-बोध सूर को विट्ठलनाथ जी की कृपा से ही हुआ था।

इस प्रकार वल्लभ संप्रदाय दक्षिण के एक महान् आचार्य के द्वारा प्रवर्तित होने पर भी माधुर्योन्मुख हुआ। थोड़ा बहुत माधुर्यभाव तो श्रीसंप्रदाय,

१. सारावली, ६०१।
२. सूरसारावली, १०१६।
३. यह निकुंज कौ वर्णन करिके वेद रहे पचिहार।
नेति नेति कहेउ, सहस वेद बिधि तऊ न पायौ पार।। (वही १६०६)

माध्व संप्रदाय एवं निम्बार्क संप्रदाय में भी मिलती है, पर पुष्टिमार्ग में इसका महत्त्व इन संप्रदायों सर्वाधिक घोषित किया गया। चैतन्य संप्रदाय, राधावल्लभ संप्रदाय, हरिदासी संप्रदाय जैसे संप्रदायों में तो माधुर्य के अतिरिक्त अन्य सभी भाव गौण हैं। इस दृष्टि से दक्षिण के आचार्यों द्वारा प्रवर्तित और चैतन्यादि संप्रदायों के बीच पुष्टिमार्ग एक कड़ी है। पुष्टिमार्ग में वात्सल्य की धारा भी प्रबल रूप से प्रवाहित रही। श्री रामानुजाचार्य जी ने दास्य भाव को महत्त्व दिया था। अन्य पुराने भक्तिमार्गों में भी दास्य का प्राधान्य था। अन्ततः विभूतिवाद के स्थान पर प्रपत्तिवाद की प्रतिष्ठा हुई। प्रेममूलक भक्ति पद्धति को भागवत और भक्ति सूत्रों ने अनुप्राणित किया था। भागवत भक्ति के समान ही अलवारों में भी प्रपत्तिपरक भक्ति का विधान मिलता है।[1] रामानुजाचार्य जी ने आलवारों के साहित्य को भी अपनाया था। फिर भी दास्य का उनके संप्रदाय में प्राधान्य बना रहा। आचार्य शुक्लजी ने भी आलवारों की माधुर्य भावना का उल्लेख करते हुए आंडाल का स्मरण किया है।[2] श्री परशुराम चतुर्वेदी ने शाक्त-तंत्रों और अवतारों की सपत्नीक कल्पना में इस माधुर्य भाव की खोज की है।[3] अवतार दम्पतियों की कल्पना से दाम्पत्य भावना का प्रवेश अवतारों रर आधारित भक्ति संप्रदायों में प्रविष्ट हो गई। मध्यकालीन धर्म साधना पर बहुविध तांत्रिक प्रभाव को डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी स्वीकार किया है।[4] मधुरोपासना भी इससे प्रभावित हो, यह आश्चर्य की बात नहीं है। कापालिकों में स्त्री प्रधान साधना प्रचलित थी।[5] आरंभिक मध्यकाल में वहाँ अनेक शैव और शाक्त तत्त्वों का वैष्णवीकरण हुआ, वहाँ नारी-परक साधना का भी वैष्णव संस्कार संपन्न हुआ। देवताओं की पत्नियों की कल्पना का तत्त्व भी प्राचीन है। वेदों में इस कल्पना का बीज मिल जाता है।[6] दिव्य शक्तियों के रूप में कल्पित प्राकृतिक शक्तियों के जहाँ अनेक रूपक वैदिक साहित्य में मिल जाते हैं, वहां उनकी पत्नियों की कल्पना करके भी रूपकों की सृष्टि हुई। इस पत्नी-कल्पना पर आश्रित विधान यह है :

---

१. J. S. M. 'Hooper, Hymns of Alvars', Page 18.

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संशोधित संस्करण, पृ० १७८।

३. मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० १७४।

४. 'मध्यकालीस धर्म साधना'।

५. कर्पूर मंजरी, १।२२-२४।

६. ऋग्वेद, ३।६।९।

अग्नि की पृथ्वी, वात की वाक् पूषन की पथ्या, वसु की गायत्री, रुद्र की त्रिष्टुम् आदित्य की जगती, मित्र की अनुष्टुम्, वरुण की विराज्, विष्णु की पंक्ति और सोम की दीक्षा पत्नियाँ हैं।[1] तांत्रिक शक्ति-कल्पना भी इस प्रकार की युग्म-कल्पना से प्रभावित हुई होगी। अवतारवाद में भी इस तत्त्व का प्रवेश हुआ।

बौद्धमत के सहजयान में साधना-परक कामकेलि के प्रचुर रूपक प्रचलित रहे[2] और इनका आकर्षण इतना अधिक था कि साधना के अन्य संप्रदाय बहुत अधिक प्रभावित हुए। चैतन्य संप्रदाय पर ऐसा प्रभाव बहुत सघन प्रतीत होता है। एक प्रकार से माहात्म्यज्ञान युक्त विभूतिमूलक भक्ति इस दीर्घ परम्परा से पुष्ट माधुर्य भावना की तीव्र गति के कारण क्षुब्ध होगई। उसी क्षेत्र में चैतन्य महाप्रभु ने इस माधुर्य भाव की सर्वश्रेष्ठ घोषित की। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने चैतन्य महाप्रभु के जीवन की एक घटना को उद्धृत किया है।[3] महाप्रभु की दक्षिण में भक्त राय रामानन्द से भेंट हुई। उनके पूछने पर राय रामनंद जी ने भक्ति में मान्य स्वधर्माचरण, समस्त कर्मों को कृष्णार्पण करने, सर्वधर्म परित्याग पूर्वक भगवान की शरणागति, परम प्रेम, दास्य, सख्य और कान्ताभाव को क्रमशः भक्ति के भावों के रूप में कथन किया। पर श्री चैतन्य को सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने सर्वोच्च भावना के संबन्ध में प्रश्न किया। तब रामानन्द ने कहा कि राधा-भाव ही सर्वोतम है और श्री चैतन्य संतुष्ट हो गये। पर उन्होंने इसका परिणाम माँगा। इस महाभाव से पूर्वकथित भावों की विवृत्ति तो गीता या भागवत में मिल जाती है, पर वह राधाभाव नहीं मिलता। राय रामानंद जी ने गीत गोविन्द की ओर संकेत करके राधाभाव की श्रेष्ठता बतलाई।[4] कान्ताभाव से भी यह भाव श्रेष्ठ कहा गया है। इसका निष्कर्ष देते हुए आचार्य द्विवेदी ने लिखा है :"···मेरा अनुमान है कि भागवत महापुराण में श्रीकृष्ण लीला की जो परम्परा अभिव्यक्त हुई है, उनसे भिन्न एक और भी परम्परा थी, जिसका प्रकाश जयदेव के गीत

---

१. वैतान सूत्र, १५-३।

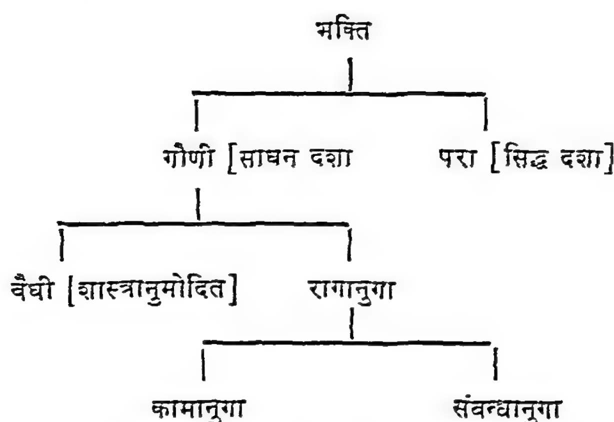
२. बौद्ध सहजयान वस्तुतः वज्रयान का ही एक विकसित रूप था। वज्र-यान के 'गुह्य समाज तंत्र' नामक ग्रंथ में नियम-मर्यादाओं का उल्लंघन कर, कामनाओं के उपभोग का ही विधान किया गया है।

३. मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० १४१, १४२।

४. गीत गोविंद, ३।१।

गोविन्द में हुआ है। भागवत-परम्परा की रासलीला शरत् पूर्णिमा को हुई थी, गीत गोविन्द परम्परा का रास वसन्तकाल में। प्रथम में राधा का नाम भी नहीं है, दूसरी में राधिका ही प्रमुख गोपी है।[1]" 'सूर' में दोनों ही परम्पराओं का समन्वय है। राधा की मान्यता सूर में सर्वाधिक हैं। गोपीभाव को जितनी विस्तृति सूर ने दी है, उससे भी अधिक तन्मय अभिव्यक्ति राधा-भाव की मिलती है। भक्तों के लिए कान्ताभाव की आसक्ति अनुकरणीय है पर कृष्ण और राधा का माधुर्य भाव अपने आप में एक महान रसार्णव है। भक्तों के मन को सबसे अधिक यही लीला-भाव आप्लावित करता है। राधा-भाव की आत्युंवी कल्पना और उसकी उत्कृष्ट अभिव्यक्ति का श्रेय निश्चित रूप से चैतन्य संप्रदाय के आचार्यों और भक्त कवियों को दिया जाना चाहिए। अन्य भक्ति-संप्रदाय भी इस भाव की अन्विति में कुछ सीमा तक अवश्य चले। पर, माधुर्य भाव को शास्त्रीय या सैद्धान्तिक रूप प्रदान करने का श्रेय बंगाली वैष्णवों को ही दिया जाना चाहिये :

भक्ति रस माधुर्य रस के जो शास्त्र ग्रंथ बंगाली वैष्णवों ने रचे, उनसे संप्रदाय का माधुर्य भात्र दृढ़ से दृढ़तर होता गया' भक्ति रसामृत सिन्धु' के अनुसार भक्ति का विभाजन इस प्रकार है :



यह विभाजन किसी न किसी प्रकार प्राचीन विभाजनों के समकक्ष ही है। 'रागानुगा' भक्ति ही मधुर भाव का पोषण करती हैं। इसका संचालन 'राग' से होता है। उक्त ग्रंथ में 'राग' की व्याख्या इस प्रकार की गई है : 'सामान्य विषयी व्यक्तियों का ऐन्द्रिय विषयों के प्रति जो आकर्षण होता है,

१. मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० १४३।

उसी प्रकार का आकर्षण भगवद्‌विषयक हो जाय तो उसे 'राग' कहा जायेगा।' इसीलिए भक्तों ने लौकिक आकर्षण का प्रतीक स्वीकार किया है। 'तुलसी' ने भी इस प्रतीक को ग्रहण किया।[1] जिस भक्ति में 'राग' का प्राधान्य हो जाता है, वही रागानुगा है। यही भक्ति का उत्तम रूप स्वीकार किया गया है। इसी का विशद वर्णन 'भक्तिरसामृत सिंधु' और 'उज्ज्वल नीलमणि' में है। काव्य शास्त्रीय पद्धति से इसका निरूपण इन ग्रंथों में हुआ है। "सांप्रदायिक भक्ति में माधुर्य भाव का समावेश गौड़ीय ग्रंथों के द्वारा सर्वाधिक हुआ और शास्त्रीय दृष्टि से इस संप्रदाय के संस्कृत ग्रंथों का प्रभाव वल्लभ, राधा-वल्लभ तथा हरिदासी संप्रदायों पर भी पड़ा।[2]"

माधुर्य भाव को प्रतीकवाद के रूप में स्वीकार करने की परम्परा भी दीर्घ है। इस प्रेम प्रतीक में लौकिक प्रेम उपमान और अलौकिक प्रेम उपमेय के रूप में रहता है। इसके अतिरिक्त भी इसमें कुछ और अर्थ रहता है। लौकिक प्रेम के उन्नयन और अलौकिक प्रेम को तीव्र बनाने में लौकिक प्रेम की विधिय के योगदान की ध्वनि भी इस प्रतीकवाद से मिलती है। इन्हीं संधारणाओं के आधार पर जीवात्मा और परमात्मा के संबन्ध का निरूपण किया जाता है। उपमान को अधिक यथार्थ और प्रभावयुक्त बनाने के लिये इसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म छायाओं को भी चित्रित किया जाता है। लौकिक प्रेम संबन्ध का निरूपण विस्तार के साथ होते हुए भी अलौकिक प्रस्तुत आच्छन्न नहीं हो जाता। एक प्रकार से लौकिक प्रेम-व्यापार का दैवीकरण ही हो जाता है। इस प्रतीक-वाद का प्रयोग 'उपनिषद्' जैसे चिन्तन और ज्ञान प्रधान साहित्य में भी मिलता है।[3] निर्गुण-निराकार पद्धति या इसकी पृष्ठभूमि में इस प्रतीकवाद का अधिक विकास हुआ। मध्यकालीन बौद्ध तन्त्र या शैव-शाक्त तन्त्र इसके प्रमाण है। अकथनीय 'महासुख' के निरूपण में लौकिक यौन सवन्ध के प्रतीक का प्रयोग किया गया है। प्रज्ञा-उपाय, संज्ञा-करुणा, शिवशक्ति के संयोग से तथा युगनद्ध

---

१. कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय ज्यों दाम।
त्यों रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम॥
('मानस' : उत्तरकांड)

२. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, 'हिन्दी अनुशीलन' धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, पृ० ४९९-५००।

३. तद्यथा प्रियया स्त्रिता सम्परिष्वक्तो न बाह्यम किंचन वेद नान्तरम्।
एवमेवायम् पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यम् किंचन वेद-नान्तरम्॥ [बृहदारण्यक, ४।३।२१]

सहजावस्था तक पहुँच जाने से ही 'महासुख' की सिद्धि होती है। इन साधनात्मक युग्मों के मैथुन का प्रतीक मान्य रहा। उसमें बाह्य दृष्टि से पर्याप्त अश्लीलता भी लक्षित है। यह ध्वनित किया गया है कि महासुख स्वयं मैथुन परक आनन्द की चरम परिणति है। इस मैथुन पर लौकिक अप्रस्तुत का विधान करते हुए भी, इसके लौकिक या सामाजिक रूप से नियंत्रित विवाहादि संदर्भों का तिरस्कार भी कभी-कभी किया जाता है। इसी भूमिका में 'परकीया' भाव की स्वीकृति होती है। वैसे स्वकीयापरक प्रतीक-योजना ही मुख्य रूप से सिद्ध-संत साहित्य में मिलती है, फिर भी परकीय भाव का अभाव नहीं है। कबीर आदि निर्गुणियाँ संतों में 'सती' का आदर्श स्वीकृत है। अतः स्वकीया 'दुलहिन' रूप में ही प्रतीक नियोजित है। कबीर के कुछ गीतों में प्रेम की विह्वलता बहुत अधिक तीव्र है : विवाह-संदर्भीय प्रेम प्रतीक में इतनी तीव्रता अन्यत्र दुर्लभ है—

नैहरवा हमकाँ न भावै।

साँई की नगरी परम अति सुन्दर, जहाँ कोई जाइ न आवै ॥
चाँद-सुरुज जहाँ पवन न पानी, को सँदेस पहुंचावै।
दरद यह साँई कौं सुनावै ॥

आगें चलौं पंथ नहिं सूझै पीछे दोष लगावै।
केहि विधि ससुरे जॉव मोरी सजनी, बिरहा जोर जनावै ॥
विषैरस नाच नचावै ॥

बिन सतगुरु अपनो नहिं कोई जो यह राह बतावै।
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो, सपने न प्रीतम पावै ॥
तपन यह जिसकी बुझावै ॥

इसी प्रकार प्रेम प्रतीकवाद में भावना की तीव्रता संचरित होती रही। यही प्रतीकत्व दक्षिण में आंदाल और उत्तर भारत की मीरा की साधना में चरितार्थ हुआ है। उनके जीवन की साधना इससे एकाकार हो गई है। आंदाल ने श्रीरंगम् में प्रतिष्ठित विष्णु (तिरुपल) के प्रति अपनी तीव्र भावना को प्रकट किया और अपने को उनकी पत्नी के रूप में भावित किया। उसके आवेश के क्षणों में अपना तादात्म्य गोपियों से किया है। मीरा ने भी भावावेश में कृष्ण को पति रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार यह प्रतीकवाद उपनिषद् से लेकर निर्गुण-सगुण भक्तों तक और उत्तर से लेकर दक्षिण तक व्याप्त रहा :

यह माधुर्य भक्ति भी अपने में समन्वय की शक्ति को लिए हुए थी। इसमें वैदिक और अवैदिक तत्त्वों का समन्वय था। शंकराचार्य और अप्पय दीक्षित ने पांचरात्र संहिताओं को अवैदिक कहा था जो माधुर्य भाव की भक्ति के प्रमुख स्रोत कहे जा सकते हैं। भाव की तीव्रता इस साहित्य में इतनी मिलती है कि रामानुज जैसे आचार्य भी उसकी उपेक्षा न कर सके। हो सकता है कि इसमें कथित सेवा-चर्या भाव बौद्ध धर्म में प्रचलित चर्या से प्रभावित हो या उसी की पद्धति पर वैष्णव पूजा का विधान खड़ा किया गया हो। क्रिया और चर्या के साथ प्रेम और माधुर्य का संयोग होने से विधान सजीव हो गया : यांत्रिक होने से बच गया। वैखानस संहिताएँ माधुर्य की इतनी कोटियाँ नहीं दे सकी थीं। ये केवल मर्यादावादी मूल्यों को महत्त्व देती रहीं। यज्ञपरक कर्मकाण्ड भी इन संहिताओं को मान्य रहा। मध्ययुग में बढ़ते हुए शैव और शाक्त धर्म ने भी माधुर्य को तीव्र बनाने वाले तत्त्व दिये। अनेक विद्वानों ने माधुर्य के केन्द्रस्थ व्यक्तित्व 'राधा' की रस-संरचना में तांत्रिक तत्त्वों की अवस्थिति मानी है : तंत्र में कृष्ण को कामबीजात्मक कहा गया है और राधा को रति बीजात्मिका। युगलोपासना में युगनद्ध का प्रभव स्वीकार किया जाता है। बौद्ध तांत्रिक साधना, सहजयानी साधना तथा वैष्णव सहजिया मार्ग में युगल-रूप मान्य है। तंत्र से परकीया भाव कामुक वर्णन में मिलता है। अन्ततः माधुर्य का भी चरम विकास परकीया भाव में माना गया है। इस प्रकार बौद्ध साधना का माधुर्य के विधान, विकास और उद्दीपन में हाथ रहा। जिस प्रकार वज्रयान में कर्मकाण्ड, नियमन या मर्यादा को कोई स्थान प्राप्त नहीं था, उसी प्रकार माधुर्य भाव का साधक भी इनकी अवहेलना करता है।

सूफी संप्रदाय में भी माधुर्य-भावों को स्वीकृत किया गया है। सूफियों में राबिया की भावात्मक स्थिति वही बतलाई जाती है, जो आंदाल या मीरा की थी। वह भी भगवान का प्रियतम रूप में आह्वान करती थी और लौकिक प्रेम की सी विरह पीड़ा का अनुभव करती थी। जायसी के प्रेम-विधान में भी लौकिक प्रेम ही उन्नत होकर दिव्य प्रेम बनता है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, निर्गुण संतों की प्रेमाभिव्यक्तियाँ भी माधुर्य से लबालब हैं। दाम्पत्य-रूपकों की रसपरक अभिव्यक्ति मात्र आलंकारिक आयोजना नहीं मानी जा सकती। परकीया भाव का इनमें अवश्य ही अभाव मिलता है। सूफियों में भी परकीया प्रेम नहीं मिलता। सूफियों के द्वारा गृहीत प्रेम-गाथाओं में

'विवाह हुआ है। पूर्व प्रेम की स्थिति अवश्य है, जिसमें परकीया की कुछ झलक है। पर इसका चरम वैवाहिक प्रेम में ही है।

भक्ति शास्त्रों में इस भाव को पांचरात्र ग्रन्थों, भागवत, नारद और शांडिल्य के भक्ति-सूत्रों ने शक्ति प्रदान की। बंगाली वैष्णवों ने उसकी योजना को पूर्ण बनाया और उसकी योजना विधि और क्रमणिका को पूर्ण रूप दिया। इस प्रकार 'माधुर्य भाव' की भक्ति अपने में अनेक स्रोतों से संगृहीत तत्त्व सहेजे हुए है। समस्त भारत के भक्तों की मधुरिमा ने इसे व्यापकता प्रदान की। इसकी रूपरेखा इतनी पूर्ण और आकर्षक हो गई कि न्यूनाधिक रूप से सभी संप्रदाय इसकी ओर झुके: इसमें लौकिक और वैदिक मर्यादा या नियमों से मुक्ति मिल जाती है। इसमें लौकिक जीवन की भाव-भूमि का तिरस्कार भी नहीं है। वासनाओं के उन्नयन का मार्ग मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी उपयुक्त हो गया। मनुष्य अपने जीवन के मूल में स्थित काम-भाव का पूर्ण उच्छेद नहीं कर सकता: उसके दमन के प्रयत्न में अनेक भाव-संकट और ग्रंथियाँ उत्पन्न हो सकते हैं: अतः उन्नयन का मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ है।

इस भाव के रूप-निर्णय में स्वकीया का प्रश्न भी उठाया गया है। बंगाली वैष्णवों ने परकीया भाव को माधुर्य-साधना में अनिवार्य माना है। संभवतः इसका कारण यह है कि परकीया भाव में विधि-निषेध, वैदिक मर्यादा और कर्मकाण्ड के बन्धनों का तिरस्कार अत्यधिक होता है। निम्बार्क संप्रदाय और वल्लभ संप्रदाय में स्वकीया पद्धति मान्य रही। राधा-वल्लभ संप्रदाय में स्वकीया-परकीया भेद से विवर्जित राधा की प्रतिष्ठा है। सभी ने लौकिक और आध्यात्मिक अनुभूतियों को अविभाज्य रूप से मिलाकर साधना-पद्धति को अपनाया। लौकिक प्रेम और अलौकिक प्रेम को एक आधार पर पृथक किया गया है: वासनाजन्य प्रेम में स्वसुख की कामना रहती है। प्रियतम के सुख से सुखी होने की भावना उसमें नहीं हैं।[1] इसके विपरीत आध्यात्मिक प्रेम में तत्सुखभाव रहता है। गोपियों में तत्सुख भाव की प्रेम-साधना ही मिलती है। इस दृष्टि से चैतन्य संप्रदाय और राधा-वल्लभ संप्रदाय में पर्याप्त साम्य है।

इस भाव की भक्ति के लिए व्रजक्षेत्र को उपयुक्त समझा गया। व्रज में इस भाव को लेकर चलने वाले चार संप्रदाय एक ही समय में स्थापित और विकसित हुए। पर सबकी माधुर्य-भावना और इस भाव से आपन्न सेवा

---

१. नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुख सुखित्वम्। (नारद, भक्तिसूत्र, २४)

पद्धति में थोड़ा-थोड़ा भेद भी पाया जाता है। वल्लभ-संप्रदाय का भावात्मक विकास वात्सल्य से माधुर्य की ओर हुआ। या यह मानना चाहिए कि दोनों ही भावनाओं का सहअस्तित्व था। 'वात्सल्य' भाव लोक के लिये सामान्य रूप से स्वीकृत था। माधुर्य अधिकारियों या उन्नत कोटि के भक्तों के लिए मान्य था। स्वयं वल्लभाचार्य जी ने माधुर्य का निरूपण किया है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने 'शृङ्गार मंडन' नामक ग्रन्थ में इस पद्धति को केवल उच्चकोटि के रसिक जनों के लिए उपयुक्त कहा है : सभी इसके अधिकारी नहीं हैं।[1] वैसे संप्रदाय में कई भाव प्रचलित थे। इस बात को सूर ने कहा है।[2] प्रेमलक्षणा भक्ति का भी इसमें स्थान था। इसको जोड़कर नवधा भक्ति 'दसधा' हो जाती है। परमानंददास जी ने 'ताते दसधा भक्ति भली' कहा है। इन भावभक्ति के रूपों के आदर्श भी माने गये हैं। प्रेमाभक्ति का आदर्श गोपीरूप है—'अविरल प्रेम भयौ गोपिन कौ बलि परमानँद दास।' जहाँ संप्रदाय के अन्य स्वरूपों के साथ वात्सल्यासक्ति का प्राधान्य है, वहाँ 'श्रीनाथ' जी के मन्दिर में निकुंज सेवा की भावना का भी योग है। संभवतः संप्रदाय में यह सिद्धान्त मान्य था कि जिस किसी भी भाव से हो, भगवान में मन लगना चाहिए।[3] इसीलिए किसी भी भाव का तिरस्कार इस संप्रदाय में नहीं था। सूरादि अष्टछापी कवियों के काव्य में सभी भावों की लीलाओं का अभिनिवेश मिलता है।

वैसे माधुर्य की स्थापना इस संप्रदाय में थी। ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में 'गोपी' के माध्यम से इस भावना की स्थापना थी : 'राधा' तत्त्व का इतना प्राधान्य नहीं हो पाया था।[4] वास्तव में गोपी भाव की उपासना दक्षिण के आलवारों में थी और राधाभाव उत्तर में प्रधान था।[5] कहा जाता है कि दक्षिण के आचार्यों में सर्वप्रथम निम्बार्काचार्यजी ने कृष्ण के वाम-भाग में

---

१. प्रार्थये रसिका स्वैरं पश्यन्त्विदमहर्निशम् ।
एतद्रसानभिज्ञः माद्राक्षीदपि वैष्णवः ।। (शृंगार मंडन)

२. श्रवण कीर्तन स्मरण पादरत, अचरज वंदन दास।
सख्य और आतम-निवेदन, प्रेमलक्षणा साथ ।।

३. तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्। भागवत ७।१।३१।

४. डा० दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० ५२६-२७।

५. डा० रामनरेश वर्मा, हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० १४६।

राधा की भावना की। 'राधा तत्त्व' का समावेश वल्लभसंप्रदाय में कुछ देर से हुआ प्रतीत होता है। इस तत्त्व के आ जाने पर हरिराय जी ने भक्ति के दो रूपों की कल्पना की—पदाम्भोज-भक्ति और वदनांबुज भक्ति। पहली शीतल-सुलभ है : दूसरी उष्ण-दुर्लभ है। यह दूसरा प्रकार ही 'माधुर्य' है।[1]

माधुर्य भाव की उपासना की अपनी कुछ विशेषताएँ भी हैं। इसमें बुद्धि स्तब्ध हो जाती है। विधि-निषेध की मर्यादा टूट जाती है। अन्तःकरण दिव्य रस के क्षरण से पुलकित हो उठता है। भक्त को परपति सने शयने स्वप्ने सतत करवि लेहा' का अधिकार भी मिल जाता है। साधक का भाव समस्त समष्टि में सम्प्रेषित हो जाता है 'यही 'महाभाव' की उपलब्धि का उपक्रम है। समस्त जड़-चेतन 'महाभाव' से अभिभूत हो जाते हैं। यही महाभाव राधा भाव है। 'राधाभाव' से उपासना में प्रविष्ट होना ही रसाश्रयी साधना है। 'उपासक अपने मायिक स्वरूप को भूलकर राधा-भाव में स्थित हो जाता है।

३. गोपी : सखी : सहचरी

पुष्टिमार्ग में गोपियों को गुरु के रूप में माना गया है।[2] गोपीभाव को ही मुख्य साधन के रूप में स्वीकृत किया गया है। पुरुष हृदय भी भावोद्रेक की अवस्था में स्त्रीभाव या गोपीभाव से संयुक्त हो जाता है।[3] स्त्रीभाव के

---

१. भक्तिर्द्विधा पदाम्भोज वदनाम्बुजभेदतः।
प्रथमा शीतला भक्ति यतः श्रवण कीर्तनात् ॥
तत्रैव मुख्य संबन्धः सुलभो नारदादिषु।
द्वितीया दुर्लभा यस्मादधर मृत-सेवनात् ॥
(श्री हरिराय वाङ्मुक्तावली)

२. गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् (संन्यास निर्णय)

३. भज सखि भाव भाविक देव।
कोटि साधन करो कोऊ, तौऊ न मानें सेव ॥
धूमकेतु कुमार माँग्यौ कौन मारग रीत।
पुरुष तें तिय भाव उपज्यौ सबै उलटी रीत
बसन भूषन पलटि पहरे भाव सो संजोय ॥
उलटि मुद्रा दई अंकग बरन सूधे होय।
वेद विधि को नेम नहिं जहाँ, प्रीति की पहचान।
ब्रजवधू बस किए मोहन, 'सूर' चतुर सुजान ॥

उदय होने की बात परमानन्ददास जी ने भी कही है।[१] संप्रदाय के प्रायः सभी भक्त और कवि 'भावौ भावनया सिद्धः साधनं नान्य दीप्यते' सिद्धान्त को लेकर चले। पद्मपुराण में एक उल्लेख है : 'सोलह हजार ऋषियों ने राम के दर्शन किये और भावातिरेक में उनके मन में स्त्रीभाव का उदय हुआ। इसकी विस्तृत भावना महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के 'चीरहरण' प्रसंग की 'सुबोधिनी' टीका में मिलती है। इस प्रकार पुरुषों में भी गोपीभाव उत्पन्न हो जाता है।

दार्शनिक दृष्टि से गोपियाँ वास्तव में पुरुषोत्तम की शक्तियों का ही प्राकट्य है। उनकी श्रिया, पुष्टि, गिरा और कात्या आदि द्वादश शक्तियाँ चन्द्रावली, राधा आदि के रूप में अवतरित होती है। ये ही अवतरित होकर पुरुषोत्तम की लीला में स्थित होती हैं। इन शक्तियों में जो भावप्रतिक्षण तरंगित होते रहते हैं, वे स्वयं अनेक सखी-सहचरियों के रूप में प्रकट होते है। इस प्रकार मानसिक रूपों के अवतरण की ही भूमिका प्रस्तुत हो जाती है।

दूसरी कल्पना के अनुसार, वैदिक ऋचाओं ने ही गोपियों के रूप में अवतार ग्रहण किया है। वेद की श्रुतियों ने भगवान पुरुषोत्तम से लीलागत आनन्द की प्राप्ति का वरदान माँगा : वह मिला। इस वरदान को सिद्ध करने के लिए पुरुषोत्तम ने ब्रज में श्रीकृष्ण के रूप में अवतार लिया और स्वयं श्रुतियाँ गोपियों के रूपों में आविर्भूत हुईं।[२] 'सूर' ने इसी पुराण-प्रसंग को इस प्रकार दिया है :

गोपी-पद-रज महिमा विधि सों कही।...
ब्रज-सुंदरि नहिं नरि, रिचा श्रुति की आहीं।
× × × ×
श्रुतिन विनय करि कह्यौ, सव तुमहि देवा।
दूरि निरंतर तुमहि, जानत निज सेवा।।
या विधि बहुरि अस्तुति करी, भई गिरा आकास।
माँगौ वर मनभावतौ, पूरौ सो तुम आस।।
श्रुतिन कह्यौ कर जोरि सच्चिदानंद देव तुम।
जो नारायन आदि रूप; तुमरौ सु लख्यौ हम।।
निरगुन रहत जु निज स्वरूप, लख्यौ न ताकौ एव।

१. लगै जो वृन्दावन को रंग।
स्त्री-भाव सहज में उपजे, पुरुष भाव होय भंग।।
२. विस्तार के लिए द्रष्टव्य गो० विट्ठलनाथ कृत 'विद्वन्मंडल'।

मन वानी तें अगम अगोचर, दिखरावहु सो देव ॥
× × × ×
श्रुतिन कह्यौ ह्वै गोपिका केलि करैं तुव संग ।
× × × ×
भार भयौ जब भूमि पर तव हरि लियौ अवतार ।
वे रिचा ह्वै गोपिका हरि सों कियौ विहार ॥

आगे यह भी उल्लेख है कि इसी प्रकार का वरदान ऋषियों ने राम से माँगा था । उसकी पूर्ति कृष्णावतार मे हुई :—

पुनि ऋषि रूप राम वर पायौ हरि से प्रीतम पाय ।
चरन प्रसाद राधिका देवी उन हरि कठ लगाय ॥

यही गोपियों की महिमा है । 'भर्ताभाव' की भक्ति-साधना एक प्रकार से श्रुति-समत ही है । गोपियों की पद-धूलि की प्राप्ति के बिना यह श्रुति-गति अप्राप्य ही रहती है :—

जों कोउ भरता-भाव धरि हरि-पद गावै ।
नारि-पुरुष कोउ होय सोई, श्रुति-रिचा गति पावै ॥
तिनकी पद-रज जो कोउ वृन्दावन भुव माँहीं ।
परसै सोउ गोपिका-गति लहै संशय नाँहीं ॥
भृगु तातें मैं चरन रज गोपिन की चाहत ।
श्रुति मत बारंबार हृदय अपने अवगाहत ॥

संप्रदाय की मान्यता के अनुसार, प्रेम (=भाव) भक्ति साधना क केन्द्रीय मूल्य है । इसकी सिद्धि गोपी-भावना से ही संभव है । इसीलिये आचार्य जी ने गोपीभाव से संसिक्त सेवा को प्रकट किया है । गोपी-भावना की भी कोटियाँ है । ये कोटियाँ ही साधना की क्रमशः सरणियाँ भी है । इन कोटियों के अनुसार गोपीभाव तीन प्रकार से प्रकट होता है : वात्सल्य-भाव, स्वकीय-भाव तथा परकीय-भाव । 'ब्रजांगनाएँ' वात्सल्य-भाव की आसक्ति से भगवान की साधना करती है । इनका रूप 'पुष्टि-प्रवाह' ाना गया है । दूसरी श्रेणी 'गोपी' या 'कुमारिकाओं' की है । ये परोक्ष रूप से कृष्ण को पतिरूप में वरण करना चाहती है । देवी-देवताओ से अपना अंचल पसार कर वे कृष्ण को पति रूप में प्राप्त करने की याचना करती हैं । इनकी भावना तो सघन हो जाती है, पर शास्त्रोक्त विवाह की मर्यादा का ध्यान वना रहता है । अतः इनको 'पुष्टि मर्यादा' की कोटि में रखा गया है । भावना में माहात्म्य-ज्ञान का संस्पर्श

भी रहता है। इसमें स्वकीया स्नेह मान्य है। इनकी कामना रासलीला में फलवती हुई। 'गोपांगनाएँ' तीसरी कोटि की भाव-साधना में रत रहती हैं। इस भाव-भूमि में प्रविष्ट होते ही सब धर्म, मर्यादाएँ तथा भावेतर लौकिक संस्पर्श छूट जाते हैं। गोपांगनाओं को 'पुष्टि पुष्ट' कहा गया है। उत्कट परकीय-भाव घनीभूत होकर अन्तर्बाह्य छा जाता है। इस प्रकार भाव-साधना का सैद्धान्तिक स्वरूप महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने संप्रदाय में स्थापित किया।[1] संप्रदाय के कवियों ने इन्हीं भावनाओं के लिए साहित्य-सृजन किया। सूर की वृत्ति इन्हीं कोटियों के अनुसार विकसित होती गई है।

इस प्रकार संप्रदाय ने गोपियों की स्थिति दार्शनिक दृष्टि से और साधना के क्रम की दृष्टि से प्रतीकात्मक और महत्त्वपूर्ण है। इस स्थिति को संक्षेप में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

१. गोपियाँ अवतरित हुई हैं :

क—भगवान की शक्तियों का अवतार;

ख—श्रुतियों और ऋचाओं के अवतार;

ग—विभिन्न ऋषियों के अवतार;

घ—भावों के अवतार।

२. भगवान के अवतारों के कारणों में गोपीभाव को चरितार्थ करना भी एक कारण है।

३. त्रिविध गोपियाँ : व्रजांगनाएँ (=वात्सल्यासक्ति); गोपियाँ (=कुमारिकाएँ, स्वकीयासक्ति) एवं गोपांगनाएँ (=परकीयासक्ति)।

---

१. गोपांगना तु पुष्टिः। गोपीषु मर्यादा। व्रजांगना सुप्रवाहः।...गोपांगनास्तु भुक्तमुक्ताः भुक्तं गृहं सुखं मुक्तं याभिस्ताः क्रिवा नाज्ञातो लोकवेदभययुक्तो याभिस्ता भुक्ता कुटुम्ब मायापत्यवैभव गेहाधिपतियनवपुः पत्यादिक सकल मर्यादायां मुक्तायां भिस्ता सर्वान् धर्मान्निकृत्यकेवलं श्री पुरुषोत्तम· इव भजति। तस्मात्तासां पुष्टित्वम्।

अथ गोपीनां व्रजकुमारिणां गोपीजन वल्लभभजनेतर भजनं जातम्। किंचतद्भजनोपायेऽपि कात्यायनीभजनं कृतम्। ...अतएव तासां मर्यादा भक्तिः।

तथा व्रजांगनानांमातृभावेनैव संग्रहः। तासाम् ईश्वरे पुत्र-भावो वर्तते। तस्मात्तासां प्रवाहत्वम्। इति त्रिविधा गोप्यः।

(भागवत्पीठिका)

४. भक्तिमार्गीय सन्यास का पर्यवसान रासलीला में है और इसकी अधिकारिणी गोपियाँ हैं।[1]

४. स्वामिनी जी : और उनका परिकर—

वार्ता साहित्य में स्वामिनी जी की चर्चा मिलती है। सामान्य रूप से संप्रदाय में चन्द्रावली जी को 'स्वामिनी जी' कहा जाता है।[2] कुछ उद्धरण ऐसे भी हैं जिनसे उनका राधा होना भी सिद्ध होता है।[3] परम्परा से इनका चन्द्रावली होना ही माना जाता है। परम्परागत मान्यता इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाती है :

"जो श्री ठाकुर जी तें श्री स्वामिनी जी प्रकटी हैं। और स्वामिनी जी के मुखचन्द्र तें श्री चन्द्रावली प्रकटीं। श्री चन्द्रावली जी तें सगरी स्वामिनी सखी प्रकटी है। ता सों श्रीठाकुरजी के दक्षिण भाग श्री चन्द्रावली जी विराजत हैं। याते जो—सगरी सखीन के स्वामिनी रूप, श्रीचन्द्रावली जीं (जो सर्व में) श्रेष्ठ हैं।[4]..."

इस उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि सखियों का नेतृत्व चन्द्रावली जी ही करती हैं। समस्त सखी उन्हीं से उद्भूत हुई हैं। साथ ही चन्द्रावली समस्त सखियों में श्रेष्ठतम हैं। वार्ता साहित्य से यह भी प्रकट होता है कि श्रीवल्लभाचार्य जी में ठाकुर जी और स्वामिनी जो दोनों का समावेश था—'ठाकुर जी गोवर्द्धनधर, स्वामिनी जी, आचार्य जी ये दोनों महाप्रभु में समीकृत हैं।' इस प्रकार वल्लभ संप्रदाय में श्री राधा के साथ-साथ चन्द्रावली का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। इनका आवेश आचार्य जी में अवतरित हुआ है। जिन

---

१. भक्तिमार्गीय संन्यासस्तु साक्षात्पुष्टि पुष्टि श्रुति रूपाणां रासमंडल मंडनानाम्। स्वमेवोक्तं 'संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलं प्राप्ता इत्यादि चतुर्थाध्याये ताः प्रति भगवता ॥ (गायत्रीभाष्य)

२. 'आठमां श्री जग्नाथजी जी ने स्वामिनीत्व छे, अन्य सात ने सतीत्व छे।' (प्राचीन वार्ता रहस्य, प्रथम भाग, समस्त लीला प्रकरण)

३. 'सो व्रज में श्री स्वामिनी जी और श्रीठाकुर जी आपु ये दोउ एक रूप हैं, परन्तु व्रजलीला प्रकट करिवे के लिये श्रीठाकुर जी श्री नन्दराय के घर प्रगटे और श्री स्वामिनी जी श्री वृषभान जी के घर प्रकट होय के अनेक उपाय मिलिवे कों रात्र दिन किये।'

प्रा. वा. र. द्वि० भा०) 'महानुभाव सूर'। भावप्रकाश।

४. प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वि० भा० पृ० २२२।

प्रकार आचार्य जी में भी दोनोंरुप(पुरुष स्त्री)भावित है उसी प्रकार उनके समस्त परिवार में भी दोनोंभावों की स्थिति मानी गयीहै। हरिराय जी ने भाव प्रकाश में स्पष्ट कहा है :

"कुंज में सखीजन हैं सो तिनके दोय स्वरूप हैं, सो कहता पुंभाव के सखा और स्त्री भाव की सखी। सो दिन में सखा द्वारा अनुभव और राति कों सखी द्वारा अनुभव है। सो काहे तें ? जो वेद की ऋचा हैं सो गोपी हैं। और वेद के जो मंत्र हैं सो सखा है।...तो यहाँ तो रसरूप लीला सदा सर्वदा एक रस है। सो तैसे ही अंतरंगी सखा श्री ठाकुरजी के अंग रूप हैं। सो सखीरूप, सखारूप दोऊ रूप सों रात्र दिन लीला रस करत हैं।"

इस प्रकार परिकर के सभी व्यक्ति उभय भावासिक्त माने जाते हैं। इस उभय भावासिक्त विधान की रूपरेखा संप्रदाय में इस प्रकार वनी :

भक्त	सखा	सखी	लीलासक्ति
सूरदास	कृष्णसखा	चम्पकलता	निकुंजलीला
परमानदन्ददास	तोकसखा	चन्द्रमाला	मानलीला
कुंभनदास	अर्जुन	विशाखा	वाललीला
कृष्णदास	ऋषभ	श्रीललिता	रासलीला
छीतस्वामी	सुवल	पद्मा	आँखमिचौनी
गोविन्दस्वामी	श्रीदामा	भामा	जन्मलीला
चतुर्भुजदास	विशाल	विमला	अन्नकूटलीला
नन्ददास	भोज	चन्द्ररेखा	किशोरलीला

वल्लभाचार्य जी स्वयं कृष्ण के रूप में भावित थे। गुसांईं जी के अनुसार—'वस्तुतः कृष्ण एव।' जव वल्लभ का अवतरण हुआ तो उनके समस्त परिकर के अवतरण की कल्पना होने लगी। अनुद्धृत दैवी जीवों के उद्धार के लिए श्रीवल्लभ का प्राकट्य हुआ। इसी कल्पना के आधार पर सांप्रदायिक पुराण विकसित होने लगा। गो० विठ्ठलनाथ जी, गोकुलनाथ जी तथा श्री हरिराय जी ने अपने लेखों के द्वारा इस पुराण को पुष्ट किया। आचार्य जी के पश्चात् गो० विठ्ठलनाथ जी में पुरुषोत्तम की भावना की गई।[१] इसी कल्पना

१. 'जो प्रमुख की यह रीति है, जो जव वैकुण्ठ सों भूमि पर प्रकग होयवे की इच्छा करत हैं, तव वैकुंठवासी जो भक्त हैं, सो पहले भूमि पर प्रकट करत हैं सो तैसे ही श्री आचार्य जी गोसांई जी, श्री पूर्ण पुरुषोत्तम को प्राकट्य है।'

(वार्ता प्रसंग, १० : सूरदास, हरिराय जी कृत भावप्रकाश)

के विकास में गोस्वामी जी की समस्त भक्तमंडली का भावात्मक रूप स्थिर हुआ। इसको सम्पूर्ण रूप हरिराय जी ने अपने भावप्रकाश में दिया। कल्पना यहीं नहीं रुकी। सखियों की अवस्था, उनके रंग, रूप, वस्त्र आदि की भी कल्पना होने लगी। इस कल्पना के द्वारा सभी की सखी और सखा भाव की साधना की ओर भी संकेत किया। वस्तुतः क्रियात्मक साधना और मानसी भाव-साधना का समन्वय ही इस परिकल्पना में परिलक्षित होता है। हरिराय जी ने इसकी ओर संकेत किया है—

"तहाँ कहत हैं जो श्री भागवत में कहै जो—जब श्रीठाकुर जी आप बन में गोचारन लीला में सखान के संग पधारत हैं, सो सगरी गोपीजन लीला को अनुभव करत हैं। सो घर में सगरी वन की लीला गान करत हैं ता पाछें जब श्रीठाकुर जी संध्या समय वन ते घर कूँ आवत हैं, सो तब पाछें रात्रि कों गोपीजन सों निकुंज में लीला करत हैं। सो सब अंतरंगी सखान को विरह होत है, तब वे निकुंज लीला कौ गान करत है, अनुभव करत हैं। सो काहे तें ? कुंज में सखीजन हैं सो तिनके दोय स्वरूप हैं, सो कहत हैं—पुंभाव के सखा और स्त्री भाव की सखि। सो दिन में सखा द्वारा अनुभव तथा रात्रि कों सखि द्वारा अनुभव है।"

इस प्रकार अहर्निश भावात्मक साधना का क्रम चलता रहता था।

एक विशेष बात वहाँ द्रष्टव्य है। इसी प्रकार की सांप्रदायिक कल्पना चैतन्य संप्रदाय में भी मिलती है। इस समानता को देखकर कुछ विद्वानों ने वल्लभ संप्रदाय की इस कल्पना का मूलस्रोत चैतन्य संप्रदाय में ही माना है। इसमें संदेह नहीं कि इस संप्रदाय का सम्पर्क-संबन्ध बल्लभ संप्रदाय से था। 'संप्रदाय प्रदीप' में गदाधरदास जी की इस उक्ति—'विष्णुस्वामिन उपसंप्रदायश्चैतन्यः'—से यह संबन्ध अवश्य प्रकट होता है। साथ ही यह भी अनुश्रुति है कि वल्लभाचार्य जी कृष्ण चैतन्य से मिले थे। वृन्दावन में उसी समय रूप-सनातन गोस्वामी माधुर्य-रस की साधना पद्धति का विस्तार कर रहे थे। यह भी कहा जाता है कि श्रीनाथ जी की सेवा भी पहले बंगाली वैष्णव ही करते थे।[१] इस प्रकार परस्पर प्रभाव ज्ञात-अज्ञात रूप से माना जा सकता है। एक बात यह भी कही जा सकती है कि बौद्ध संप्रदायों में सांप्रदायिक पुराण का विकास हो चुका था। 'बुद्ध के अवतार की कल्पना इस संप्रदायों में अनेक रूपों में चलती थी। पीछे के विकसित निर्गुण संप्रदायों में

१. चौरासी वैष्णवन की वार्ता में 'अष्ट सखान की वार्ता' पृ० १०४, १०५।

भी अवतारवाद की कल्पना की सांप्रदायिक रूप खड़ा हुआ। 'कबीर' को भी अवतार के रूप में किया गया। "...आख्यान ग्रंथों की रचना में अलौकिक और चमत्कारपूर्ण कथाओं के द्वारा कबीर के व्यक्तित्व में परम शक्ति और ईश्वरी प्रतिभा की स्थापना और मठ, महंत तथा अनेक कर्मकांडों की अवतारणा।[1]" अन्तर केवल अभिप्रायगत है। इन निर्गुण संप्रदायों में इस कल्पना के द्वारा चमत्कार का वातावरण उत्पन्न किया जाता था। वल्लभ और चैतन्य संप्रदायों में समस्त अभिप्राय भावात्मक है। इस प्रकार इन संप्रदायों में मूल परम्परा का भावात्मक विकास ही लक्षित है।

तो, चैतन्य संप्रदाय में भी सखी भाव का का आरोप श्री चैतन्य के परिकर पर भी किया गया चैतन्य महाप्रभु भी श्रीकृष्ण के रूप में भावित हुए। *उन्होंने राधा के प्रेम-भाव के रूप में अवतार धारण किया। इस प्रकार चैतन्य* में राधा-कृष्ण भाव का सम्मिलित आवेश अवतरित माना गया। उन्होंने राधा-रूप में इसलिये प्राकट्य किया किया कि राधा के कृष्ण के प्रति प्रेम का आस्वाद ले सकें। राधा रूप में प्रकट हुए बिना यह रसास्वाद संभव नहीं है।[2] यह भावना वैसी ही है, जैसे आचार्य वल्लभ के प्रति मिलती हैं। अन्य परिकरीय भक्तों की कल्पना इस प्रकार हैं—

संप्रदाय के भक्त	सखी का नाम	रंग	वस्त्रों का रंग	अवस्था	सेवा
१. रूप गोस्वामी	विशाखा	सौदामिनी	—	१४ वर्ष २ मास १५ दिन	वस्त्रलंकार लाना
२. राय रामानंद	ललिता	गोरोचन	मोरपंख का	१४ वर्ष ३ मास १२ दिन	पान निवेदित करना

---

१. डा० मोतीसिंह, निर्गुण साहित्य : सांस्कृतिक पृष्टभूमि।
(ना. प्र. प्र. वाराणसी, प्रथम संस्करण) पृ० ३१८।

२. श्री राधायाः प्रणय महिमा को दृशो वानयेवा।
स्वाद्यो येनोद्धुत मधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।
सौख्य चास्यामदनुभवतः कीदृशं रेति लोभा।
उद्भवास्यः समजनि शची गर्भ सिन्धो हरीन्द्रः॥
(कृष्णदास कविराज : चैतन्य चरितामृत)

३. वनमाली कविराज	चित्रा	कश्मीरा	काँच के समान	१४ वर्ष १ मास १९ दिन	व्यक्तित्व शृङ्गार करना
४, कृष्णदास (ब्रह्मचारी)	इन्द्रलेखा	हलका पीला	बैंगनी	१४ वर्ष २ मास १२ दिन	अमृतरस देना
५. राघव गोस्वामी	चंपकलता	श्वेत-पीत	—	१४ वर्ष २ मास १४ दिन	चँवर करन
६, गदाधर भट्ट	रंगदेवी	पीला-अरुण	गहरा लाल	१४ वर्ष २ मास ८ दिन	चंदन-चर्चन
७. प्रबोधानन्द	तुंगविद्या	केशरिया	हलका पीला	१४ वर्ष २ मास २० दिन	संगीत द्वारा रंजन
८. अनंताचार्य (गोस्वामी)	सुदेवी	पीला-अरुण	गहरा लाल	१४ वर्ष २ मास ८ दिन	जल पिलाना

चैतन्य मत की सखियों के नाम ब्रज में मान्य सखियों के नामों से भिन्न हैं। केवल विशाखा, चम्कलता, और ललिता ही समान हैं। इस आधार पर भी प्रभाव पूर्णरूप से सिद्ध नहीं होता। इन सखियों के साथ चैतन्य संप्रदाय में आठ गाँव भी दिये हुए हैं। ये गाँव ब्रज के ठेठ गाँव हैं जो बरसाने के आस-पास स्थित हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि इस कल्पना के विधायकों का ब्रज से घनिष्ठ संबन्ध था। इन सखियों का कार्य लीला-युगल की सेवा में संलग्न रहना है। यही इन सखियों का राधा-कृष्ण बिहार में योगदान है। इससे यह भी प्रकट होता है कि सखियों का कृष्ण के साथ बिहार करना संप्रदाय में मान्य नहीं था। पर वल्लभ संप्रदाय में इस प्रकार की स्पष्ट मान्यता नहीं मिलती। वहाँ विभिन्न लीलाओं के प्रति सखियों की मानसिक आसक्ति का ही उल्लेख किया है। जिन सखियों की कृष्ण की रसात्मक लीलाओं में आसक्ति है, वे चैतन्य संप्रदाय में भी मान्य हैं: विशाखा- निकुन्ज-लीला, चंपकलता—मानलीला; ललिता-रासलीला। शेष लीलाओं में माधुर्येतर भावनाओं का विधान है। अतः शेष पाँच सखियाँ वल्लभ संप्रेदाय से भिन्न हैं।

चैतन्यमत में लीलाओं का आसक्तिमय वर्गीकरण तो नहीं मिलता, पर 'लीला' में किस-किस सखी का क्या-क्या कार्यक्रम रहेगा, इस सबका विवरण है। सखियों के अतिरिक्त मंजरियों की अतिरिक्त कल्पना भी चैतन्यमत में मिलती है। मंजरियों का भी इसी प्रकार का विवरण दिया गया है।[1] इन सखियों और मंजरियों का कृष्ण में निस्वार्थ-प्रेम था : वे कृष्णलीला या विहार का अपने लिये सुख नहीं चाहतीं। वे तो श्रीकृष्ण-राधा के सन्तोष और सुख के प्रयत्नशील रहती हैं।[2] यही तत्सुख-भावना का आदर्श है। इस प्रकार व्रज में सखी संबन्धी भावना वल्लभ संप्रदाय और चैतन्य संप्रदाय में समान रूप से चलती मिलती हैं।

तत्सुखी भाव की एक और परिणति राधावल्लभ संप्रदाय में हो रही थी। यह चैतन्य संप्रदाय के अधिक समीप प्रतीत होती है। 'मंजरी' आदि का विशिष्ट विधान इस संप्रदाय में प्राप्त नहीं होता है। इन सखियों का उपास्य युगल-लीला दर्शन है। यह 'सहचरी' भावना है। राधा-कृष्ण विहार की समस्त सामग्री एकत्र कर देना, दोनो की प्रयत्न करके मिला देना और लीला-विहार की स्थिति में लाना, उनकी विविध प्रकार से सेवा करना और निकुंज रंध्रों से लीला-दर्शन करना ही सहचरी साधना के अंग हैं। इनके साहित्य से ही रास संपन्न होता है। अतः कृष्ण भी राधा को रास गें प्रवृत्त करने के लिए इनकी ओर देखते हैं। इस प्रकार अन्य संप्रदायों में वर्णित गोपीभाव से इस संप्रदाय का सहचरीभाव सर्वथा भिन्न है।[3] रस की दृष्टि से इस संप्रदाय का साहित्य भी अद्‌भुत है। सहचरी को स्त्री-पुरुष-रूप-लिंग-भेद- विवर्जित माना गया है। इल प्रकार अन्य संप्रदाय की गोपियों और सखियों से इनका तात्विक भेद हो जाता है। गोपी-प्रेम का उन्नयन नारद और शांडिल्य के भक्तिसूत्रों में मिलता है। सहचरी भाव इन सूत्रों में वर्णित भाव से भी विचित्र और

---

१. द्रष्टव्य मेरा लेख 'चैतन्यमत में सखी और मंजरी' आश्विन - अगहन, सं० २००६।

२. आत्मेन्द्रिय प्रीति वांछा तारे वलि काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा भरे प्रेम नाम॥

(चैतन्य चरितामृत, १।४।१०१)

३. द्रष्टव्य, डा० विजयेन्द्र स्नातक, राधावल्लभ संप्रदाय; सिद्धान्त और साहित्य, पृ० २२३-२२६।

उच्चतर है।[1] कुछ कवियों ने इनके नाम भी गिनाए हैं : ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, सुदेवी, इन्दुलेखा, तुंगविद्या और रंगदेवी।[2] यह सूची वल्लभ संप्रदाय की सूची से साम्य नहीं रखती। चैतन्य मत और राधावल्लभ संप्रदाय की सूचियाँ समान हैं। गोपियों के भाव और सहचरी भाव को 'समानता' के आधार पर भिन्न किया गया है। ध्रुवदास जी के शब्दों में—

गोपिन के सम भक्त न आहीं। उद्धव विधि तिनकी रज चाही॥
तिन मन कछू सकामता आई। ताते बिच अंतर पर्‌यौ भाई॥

इस प्रकार वल्लभ संप्रदाय, चैतन्य संप्रदाय और राधावल्लभ संप्रदाय में गोपी, सखी और सहचरी भावना का चरमोत्कर्ष हुआ। वल्लभ संप्रदाय में एक सुनिश्चित रूप गोपीभाव का नहीं मिलता है। गोपी, गोपांगना और व्रजांगनाओं के रूप में इनका वर्गीकरण किया गया है। वे भी गोपी मानी गई हैं, जो वात्सल्य भाव रखती हैं। स्वकीया और परकीया भेद भी हैं। गोपियों को कभी वैदिक ऋचाएँ कहा गया, कभी उनको भगवान की आनन्द प्रसारिणी शक्तियों के रूप में स्वीकृत किया गया है। गोपियों और भक्तों को भी रास-लीला के संदर्भ में समान कहा गया है। गोपियों को जीवात्मा और कृष्ण को परमात्मा भी बतलाया गया है। कहीं-कहीं राधा भी गोपी है। इससे यह प्रतीत होता है कि गोपीभावना वल्लभ संप्रदाय में विभिन्न स्रोतों से आई है। भागवत का प्रभाव तो है ही, अन्य संप्रदायों की भावना का प्रभाव भी प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भागवतोक्त गोपीरूप पहले संप्रदाय में मान्य हुआ। फिर जीवात्मा परमात्मा न्याय पर आधारित रूपक भी इस भाव में समाविष्ट हो गया। अन्तत. संप्रदाय के आचार्यों और भक्त कवियों का झुकाव माधुर्य मिश्रित गोपीभाव की ओर होता गया। स्वकीया भाव भी धीरे-धीरे परकीया भाव में परिवर्तित होने लगा। राधा परक स्वकीयाभाव चन्द्रावली के परकीया भाव की ओर उन्मुख हो गया। ऊपर का सखी विधान एक प्रकार से चन्द्रावली को केन्द्र मान कर ही संपन्न हुआ प्रतीत होता है।

---

१. नारदादि सनकादि सब उद्धव और ब्रह्मादि।
गोपिनु को सुख देखि किय भजनु आपनो वादि॥
तिन गोपिन ते दुर्लभ नाईं। नित्य विहार सहज सुखदाई॥
(ध्रुवदास, ब्यालीस लीला, पृ० २०३)

२. वही पृ० ६०–८४।

गोपी-सखी भावना कभी राधा केन्द्रीय हो जाती है और कभी चन्द्रावली केन्द्रीय। कभी भागवत की भाँति केवल गोपी भाव ही मिलता है।

चैतन्य संप्रदाय में गोपीभाव को दार्शनिक भूमिका और रसशास्त्रीय पद्धति की अभिव्यक्ति दी गई। कान्ताभाव से, गोपियाँ राधा के ही अनेक भावात्मक रूप हैं। गोपी को कृष्ण की मात्र सखी, सहचरी या अनुचरी कहा गया : वह उसकी प्रेयसी भी है। श्रीकृष्ण गोपियों के साथ कान्ता भावमयी लीलाएँ करते हैं। गोपी-कृष्ण-रमण भी मिलता है। स्वरूपतः इनको जीवतत्त्व भी कहा गया। सखी और मंजरी का विधान भी इस संप्रदाय का अपना है। सखियाँ श्री राधा की समजातीय सेवा से श्रीकृष्ण की प्रीति का विधान करती हैं—ललिता, विशाखा आदि। मंजरी राधा-माधव के मिलन एवं सेवा का आनुकूल्य ही सम्पादन करना अपना धर्म मानती है। वे राधा की किंकरी और उसकी अंतरंग सेवा की अधिकारिणी हैं।

निम्बार्क संप्रदाय में भी सखी-भाव की झलक मिलती है। दशश्लोकी में सहस्रशः सखियों से परिवेष्टित राधा का ध्यान किया गया है।[१] इस संप्रदाय में सखियों को स्वकीया ही कहा गया है। उसी रूप में वे श्रीकृष्ण के साथ बिहार-रमण भी करती हैं। सखीभाव का उपर्युक्त विधान इस संप्रदाय में नहीं है।

वल्लभ संप्रदाय के कवियों की वाणी में सखियों के सभी प्रकार के भाव मिलते हैं। संप्रदाय का सखी के रूपों का वैविध्य सांप्रदायिक साहित्य में भी प्रतिबिंबित है। स्वकीया-परकीया की धूप-छाँह से रसपरक वैष्णव रहस्यवादी लोक तरंगित है।

५. परकीया : स्वकीया—

चैतन्य सम्प्रदाय में परकीया भाव के अतिरिक्त और किसी भाव को स्थान नहीं है। परकीया-भाव की स्थिति व्रज में ही हो सकती है।[२] परकीया भाव में वेद, लोक, शास्त्र आदि के विधि-निषेधमय अनुशासन के प्रति एक

१. अंगे तु वामे वृषभानुजा मुदा,
विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखी सहस्रैः परिसेवितां सदा,
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥

२. परकीया भावे रसेर उल्लास।
व्रज बिना इहार अन्यत्र नाहि वास॥ (चैतन्य चरितामृत, १।४।२७६)

क्रान्ति दिखलाई पड़ता है। यह क्रान्ति श्री चैतन्य के मस्तिष्क में उत्पन्न हुई और इसकी अभिव्यक्ति रूप गोस्वामी ने की। चैतन्य मत के आचार्यों ने व्रज की यात्रा की : यहाँ पर इस भाव के भक्ति केन्द्र वने।

इस मत में परकीयाभाव की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया। गोपियों का त्रिविध वर्गीकरण इस संप्रदाय में मिलता है। इनमें व्रजांगना का स्थान सर्वोच्च है, जो परकीया पद्धति से भक्ति साधना करती हैं।[1] इसी प्रकार का वर्गीकर वल्लभ संप्रदाय में मिलता है। इनमें गोपांगना को इसीलिये सर्वश्रेष्ठ कहा गया है कि वह परकीया शावावलंबन करती हैं। परकीय भाव में आत्म-विस्मृति और आत्मोसर्ग अपने चरम पर रहते हैं। आत्म-निवेदन की यह अन्तिम अवस्था है। शुद्ध प्रेमभाव ही एक मात्र जीवन मूल्य बन जाता है : शेप मूल्य निरर्थक हो जाते हैं। इसकी महत्ता इस वात से प्रकट है कि स्वयं वेद और उपनिषद् इस रूप में अवतरित होकर प्रेमाभक्ति का रसास्वादन करते हैं। कृष्ण व्रज की प्राप्ति का एकमात्र उपाय परकीया भाव है। विना सखी की स्थिति में आये कृष्ण की लीला में ही प्रवेश नहीं मिलता।[2] स्वयं लक्ष्मी भी श्रुतिपथ का अनुगमन करके इस रस से वंचित रह जाती है।[3] सखी या मंजरी की देह को सिद्धदेह माना जाता है। यह देह लिंग-वेह या सूक्ष्मदेह से भी परे है। इसी परकीया भाव की पुष्टि के लिए चैतन्य सम्प्रदाय में राधा तथा सखियों के गोप-पतियों का नाम भी लिया जाता है। वे अपने लौकिक पतियों से प्रेम न करके कृष्ण से ही प्रेम करती हैं। इसप्रकार कृष्ण उनका उपपति ही है। उस प्रेम व्यापार में सर्वाधिक आनन्द की प्राप्ति होती है, जिसमें अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है : उनको सदर्प कुचलकर प्रेम की विजय घोषित की जाती है।

---

१. कृष्णकान्ता गण देखि त्रिविधि प्रकार।
एक लक्ष्मी गण प्ररे, महिषी गण आर॥
व्रजांगनागण रूप आर कान्तागण सार।
श्री राधिका हैं ते कान्ता गपेर विस्तार॥
(चैतन्य चरितामृत, १।४।८३)

२. सखी बिनु एइ लीलाय अन्यैर नाहि गति।
सखी भावे ये इ ताँरे करे अनुगति॥ (वही २।८।२३२)

३. ताहाते इष्टान्त लक्ष्मी करिला भजन।
तथापि ना पाइल व्रजे व्रजेन्द्र नंदन॥ (वही २।८।२४४)

चैतन्य मत में स्वकीया और परकीया में एक संघर्ष भी रहा। रूप गोस्वामी (१६ वीं शती) ने अपने 'ललिता माधव' में राधा और कृष्ण का विवाह संपन्न कराया है। साथ ही जीव गोस्वामी ने 'उज्ज्वल नीलमणि' की 'लोचनारोचनि' नामक टीका की है। इस टीका में यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि ब्रज में अवतीर्ण होने से पूर्व ही कृष्ण और सखियों के बीच विवाह संबन्ध हो गया था। उसके तर्क इस प्रकार हैं : बिष्णु की स्त्रियाँ सभी गोपियाँ बनी थीं और विष्णु स्वयं कृष्ण के रूप में अवतरित हुए थे। राधा तथा अन्य सखियों का विवाह जिन गोपों के साथ हुआ बताया जाता है, वह भ्रम है। वह वास्तविक विवाह है ही नहीं। अतः कृष्ण और गोपियों का संबन्ध स्वकीया है, परकीया नहीं। भागवत में वर्णित गोपियों के सामने उपस्थित हुए बाधा-बन्धनों से ही परकीया प्रेम सिद्ध नहीं हो जाता। स्वकीया प्रेम में भी इस प्रकार के बाधा - बन्धनों का अस्तित्व रह सकता है। जीव गोस्वामी ने शुकदेव की तर्क पद्धति को भी अपनाया। भगवान प्रत्येक प्राणी में है। गोपियों के जो छायावत पति थे, वे भी उन्हीं के अंशभूत हैं अतः कृष्ण के संबन्ध में स्वीकीया-परकीया भेद उचित नहीं है, इस प्रकार परकीया के प्रति एक प्रतिक्रिया प्रकट होती है। पर लोचनारोचनि के एक श्लोक से यह प्रकट होता है कि परकीया भाव के विरुद्ध उन्होंने जो तर्क दिये हैं, वे उनकी अन्तरात्मा के अनुकूल नहीं हैं : वे उसके प्रतिकूल हैं—

स्वेच्छया लिखितं किंचिदत्र परेच्छया ।
यत् पूर्वापर संवद्धं तत् पूर्वम् परमं परम् ।।[1]

इससे सिद्ध होता है कि ये तर्क उन्होंने 'परेच्छया' या बाह्य प्रभावों के दवाव के कारण दिये हैं। १८ वीं शती में विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपनी 'आनन्द-चन्द्रिका' नामक कृति में इसी श्लोक को लक्ष्य करके कहा है कि मैं जीव गोस्वामी का वहीं तक अनुगामी हूँ, जहाँ तक उन्होंने स्वेच्छया या अपनी स्वतंत्र मति से लिखा है। इस प्रकार जीव गोस्वामी ने परकीया भाव को स्वकीया के ढांचे में ढालने का प्रयत्न किया। पर, परकीया भाव को फिर से प्रतिष्ठित कर दिया गया।

चैतन्य के पश्चात् बंगाल में सहजिया संप्रदाय विकसित हुआ। उसमें भी परकीयाभाव साधना का अंग बना रहा। इस संप्रदाय के आचार्यो ने भी परकीया के निरूपण में 'उज्ज्वल नीलमणि' का आश्रय लिया। सहजिया

१. लोचनारोचनि श्लोक ३२।

संप्रदाय के अतिरिक्त हिन्दू तंत्र ग्रंथों में भी इस भाव को सुदृढ़ भूमि प्रदान की गई है। चैतन्य के परकीया भाव में प्रतीकात्मकता है : सहजिया परकीया भाव इन्द्रियों के संस्कार के लिए मान्य है। इस भाव का लक्ष्य काम-तृप्ति नहीं है।

जब इस भाव का संबन्ध काम तृप्ति से हो जाता है, तो विकृति आती है। सहजिया संप्रदाय में इस भाव का विकृत रूप ही मिलता है। इसमें सामान्य नारियों का परकीया प्रेम मान्य हुआ। वृन्दावन की व्याख्या भी शरीर के रूप में हुई : यह देह ही रस-सरोवर है। उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि परकीया साधना के लिए प्रत्येक गोस्वामी के साथ एक मंजरी रहती थी। इनकी प्रेमिकाओं के नाम इस प्रकार गिनाए गये हैं : रूप मीरा से प्रेम करते थे, रघुनाथ भट्ट करनबाई से, सनातन लखहीरा से, लोकनाथ एक चाण्डाल लड़की से, कृष्णदास कविराज एक ग्वालिनि से और जीव गोस्वामी एक नाई की स्त्री को प्रेमिका रूप में ग्रहण किये थे। चण्डीदास का प्रेम रामी से था और विद्यापति राजा शिवसिंह की पत्नी लखिमादेवी से उलझे थे। जयदेव और पद्मावती में परकीया प्रेम माना जाता है। इस प्रकार की अनेक धारणाएँ प्रचलित हो गईं।[१] इस प्रकार परकीया प्रेम का पतन आध्यात्मिक धरातल से लौकिक भूमि पर होगया। इसमें वासनाजन्य विकृतियाँ आ गईं।

यद्यपि ये विकृतियाँ आ गईं, फिर भी चैतन्यमत की आध्यात्मिकता से युक्त परकीया भाव भक्ति संप्रदायों के लिये आकर्षण बना रहा। चैतन्य संप्रदाय में कृष्ण की मान्यता इष्ट के रूप में है। जीव गोस्वामी रचित 'षट्-संदर्भ' ग्रंथ से संप्रदाय में राधा की प्रधानता सिद्ध नहीं होती। राधा कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति है। पीछे राधा का प्राधान्य होता गया। इसके पीछे डा० विजयेन्द्र स्नातक ने व्रज के राधावादी संप्रदायों का प्रभाव माना है :[२] 'सोलहवीं शताब्दी में गौड़ीय संप्रदाय में राधा को श्रीकृष्ण के ऊपर स्थान नहीं मिला था। शनैः शनैः व्रजमंडल की राधा विषयक भावना का इस संप्रदाय पर भी प्रभाव पड़ा। माधुर्यभाव का जो रूप शास्त्रीय था वह कालान्तर में स्थूलरूप में व्यावहारिक होता गया और इस संप्रदाय में राधा की

१. द्रष्टव्य, An Introduction to the Post-Chaitanya Sahajiya cult by Manindramohan Bose, Page 24-43.

२. राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० २०४-२०५।

प्रधानता भी बढ़ती चली गई। आज स्थिति यह है कि व्रज के अन्य भक्ति संप्रदायों की भाँति इस संप्रदाय में भी राधा की प्रधानता हो गई है।" यह भी माना जा सकता है कि कालान्तर में शाक्तमत, शाक्ततन्त्र और सहजिया साधना के प्रभाव स्वरूप राधा का महत्त्व अधिक हो गया हो।

वल्लभ संप्रदाय में स्वकीया-परकीया की समानान्तर स्थिति मिलती है। इस संप्रदाय में 'राधा' को परकीया नहीं, स्वकीया माना गया है। पर 'राधा' की विरह-व्यथा और प्रेम-पद्धति का वर्णन परकीया के समकक्ष है। परकीया की मनःस्थिति में सूरदास जी ने राधा को रखा है। सभी विधि-निषेधों का वह तिरस्कार करती है। परकीया नायिका की भाँति राधा भी लुक छिप कर कृष्ण से मिलती है। पर '[र' ने राधा के गंधर्व विवाह का वर्णन करके उसे स्वकीया बना दिया है। पर आचार्य जी ने परकीय भावना वाले गोपांगनाओं के प्रेम को श्रेष्ठ कहा था। इसलिये यह अनुमान लगाया जा सकता है कि संप्रदाय में 'परकीया भाव' अपने विकास के लिये उपयुक्त अवर की खोज में था। आचार्य जी ने स्पष्टतः परकीयाभाव का नाम नहीं लिया। पर, गोपांगनाओं के लक्षण-निरूपण से परकीया भाव की ध्वनि निकलती है। इन लक्षणों के अनुसार ही स्वकीया होते हुए भी राधा का चित्रण सूर ने किया है। आगे चलकर स्वकीया भाव से चन्द्रावली संप्रदाय में भावित हुई। परकीयाभाव की पात्र श्रुति रूपा गोपांगना—चन्द्रावली है। सूरदास के पदों में भी चन्द्रावली की परकीया भावना स्पष्ट झलकती है। स्वकीया राधा यदि कृष्ण के वाम भाग में स्थित है, तो परकीया चन्द्रावली दक्षिण भाग में। परकीया 'सतीत्व' चन्द्रावली में मूर्तिमान हो उठा। सूर का एक पद देखिये—

**"नंदनंदन हँसे नागरी मुख चितै हरषि 'चंभावलि कंठ लाई।
वाम भुज खनि, दक्षिण भुजा सखी, प्रवल कुंज वनधाम सुख कहि न जाई॥
मनो विव दामिनी बीच नव घन सुभग, देख काम रति सहित लाजै।
किधौं कंचन लता, बीच तमाल तरु, भामिनी बीच गिरिधर विराजै॥
गये गृह कुंज, अलि गुंज, सुमननि पुंज, देखि आनन्द भरि 'सूर' स्वामी।
राधिका प्रान चन्द्रावलि रमन प्रिय, निरखि छवि होत मन काम कामी॥"**

इसी प्रकार कृष्ण के एक ओर परकीया 'सखी' (=चन्द्रावली) था और दूसरी ओर स्वकीया रमणी (=राधा)। दोनों की स्वीकृति इस संप्रदाय में हैं। वल्लभाचार्य जी के भावात्मक साधना में निरत व्यक्तित्व में कभी राधा का

आवेश स्वीकार किया जाता था और कभी चन्द्रावली का। संभवतः आचार्य जी की साधना परकीया भाव से युक्त होकर अधिक भावाविष्ट हो जाती थी। इसका परिचायक एक प्रसंग वार्ताकार ने परमानन्ददास की वार्ता के साथ दिया है। एक दिन परमानदन्दास जी आचार्य जी के दर्शनों को गये। वहाँ उन्होंने आचार्य जी को भावावेश में बेसुध पाया। 'तब परमानन्ददास अपने मन में विचारे जो, या समय श्री आचार्य जी को मन तौ ब्रजलीला में श्री गोवर्धननाथ जी के पास है। तासों विरह को पद गाऊँ, जामें एक-एक क्षण कल्प समान जाय। सो—यह पद परमानन्द नें गायौ—

हरि तेरी लीला की सुधि आवति ।
कमल नैन की मोहिनी मूरति, मन-मन चित्र बनावति ।।
एक बार जेंहि मिलन मया करि, सो कैसे बिसरावति ।
मृदु मुसिकानि, बंक अवलोकनि, चालि मनोहर भावति ।।
कबहुँक निविड़ तिमिरि आलिंगति, कबहुँक पिक स्वर गावति ।
कबहुँक नैन मूँदि, अन्तरगति, बनमाला पहिरावति ।।
'परमानन्द' प्रभु स्याम ध्यान करि, ऐसे बिरह गँवावति ।।

'सो यामें यह कहें जो —'हरि तेरी लीला की सुधि आवै।' सो ताही समय श्रीं आचार्य जी आपु लीला में मग्न हो गए।....जो तीन दिनालौं श्री आचार्य जी को मूर्छा रही।' इस प्रकार की भाव-मूर्छाएँ चैतन्य महाप्रभु को भी आया करती थीं। इसमें जिस भाव-विभोरता की ओर संकेत है, उससे परकीया-भाव की ही व्यंजना होती है। सामान्यतः 'सूर' आदि कवि स्वकीया-परकीया को भूलकर गोपी-राधा के प्रेम विह्वल-स्वरूप की झाँकी प्रस्तुत करते थे। 'स्वकीया' भाव सामाजिक दृष्टि से भी स्वीकृत है। इसमें विकृति की संभावना नहीं होती। परकीया भाव शुद्ध आध्यात्मिक धरातल पर है। इस भाव की साधना आचार्य जी जैसे सिद्ध पुरुष या सूर जैसे निस्पृह कवि के ही योग्य कही जा सकती है। इस संप्रदाय ने दोनों को स्वीकार करके एक प्रकार से स्वकीया-परकीया में समन्वय की स्थापना की।

स्वकीया-परकीया द्वन्द्व पुराणों में भी मिलता है। परकीया भाव का अनुसंधान वैदिक साहित्य में भी किया जा सकता है। अथर्ववेद के एक मंत्र[1]

---

१. या पूर्वं पति वित्त्वाथान्य विदन्तेऽपरम् ।
पंचौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः ।।
समान लोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः ।
यो जं पंचौदनं दक्षिणा ज्योतिषं ददाति ।। (अथर्व० ९, ५, २७-२८)

का भाव इस प्रकार है : परकीया के संपर्क से मनुष्य परलोक में भी उसी प्रकार जीवन व्यतीत करता है। बौद्धमत में भी परकीया-भाव के बीज मिलते हैं। पुराणों में दोनों भावों की स्वीकृति है। भागवत का रचनाकाल लगभग छठवीं शती माना जाता है। उसी समय से गोपियों को परकीयाभाव से साधना करने वाली माना गया है। दसवीं शती ब्रह्मवैवर्त पुराण का रचना-काल है। संभवतः इसी समय दिशा-परिवर्तन हुआ। इस पुराण में एक प्रसंग आता है : एक ब्राह्मण ने राधा और कृष्ण के बीच गंधर्व विवाह संपन्न कराया। इसके दो कारण हो सकते है : एक तो यह हो सकता है कि यह राधा-कृष्ण के अवैवाहिक प्रेम को श्रुति-सम्मत स्वकीया रूप देने का प्रयत्न हो, अथवा ग्रंथकार भागवत की विचारधारा के मूलाधार से ही अनभिज्ञ हो अथवा भूल गया हो। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पुराणों में दोनों ही भाव मिलते हैं। वल्लभ संप्रदाय में दोनों की ही स्वीकृति है : दोनों के ही प्रतीक है—राधा, चन्द्रावली। स्वकीया-परकीया को लेकर पुराण-साहित्य में कहीं-कहीं शंका समाधान भी मिलता है। पद्मपुराण के उत्तर खंड (२४५ अध्याय) में पार्वती ने कृष्ण के परदाराभिगमन के प्रति शंका की है। इनका समाधान रुद्र ने इन शब्दों में किया : 'संपूर्ण जगत उन्हीं का अंग है। अपने शरीर के परिष्वंग से 'रति' नहीं होती। साथ ही सर्वभर्तृत्व और आत्मेश होने के कारण जगत्पति का स्त्री-पुम्भेद भी नहीं होता। इस प्रकार परकीया भाव संबन्धी आध्यात्मिक समाधान दिया गया है।

आठ | वात्सल्य

हौं बलि जाउँ छबीले लाल की ।
धूसर-धूरि घुटुरुवनि रेंगनि, बोलनि बचन रसाल की ।
छिटकि रहीं चहुँ दिसि जु लटुरियाँ, लटकन-लटकनि भाल की ।
मोतिन सहित नासिका नथुनी, कंठ कमल दल माल की ।
कछुक हाथ, कछु मुख माखन लै, चितवनि नैन बिसाल की ।
'सूरदास' प्रभु-प्रेम-मई, ढिग न तजनि ब्रजबाल की ।

८ | वात्सल्य

प्रस्तावना—

सूर के पूर्व भी वात्सल्य रस के कवि हुए और उनके पश्चात् भी। पर, इस समस्त परम्परा में सूर का स्थान अन्यतम है। भारतीय साहित्य में ही नहीं, सूर के वात्सल्य का विश्व-साहित्य में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह मात्र भावुकता और पक्षपात नहीं यथार्थ है। सूर से पूर्व संस्कृत के कवियों ने भी वात्सल्य वर्णन किया है। आदि कवि वाल्मीकि ने भी इसका स्पर्श किया है, पर उनका वात्सल्य वर्णन एकाङ्गी है : केवल वियोग वात्सल्य को ही उन्होंने उभारा है। वस्तुतः वाल्मीकि करुण के कवि हैं। इससे वात्सल्य भी स्नात है। महाभारत में भी यत्र-तत्र वात्सल्य के चिह्न हैं। पर यहाँ पुत्र-कामना,[1] पुत्र-सुख[2] का ही अधिक वर्णन हुआ है। सत्यवती अपने चिरवियुक्त पुत्र व्यास को स्तन्य से स्नात कर देती है।[3] पर, इस प्रकार के शुद्ध वात्सल्य के चित्र अति विरल हैं। श्रीमद्भागवत में भक्ति-मिश्रित वात्सल्य रस का स्रोत अजस्र है।[4] यहाँ पुत्र जन्मोत्सव, बालक्रीडा, बालस्वभाव, मातृ-मनोभाव आदि के सुन्दर चित्र मिलते हैं। वात्सल्य के संयोग और वियोग दोनों ही पक्ष कवि-कल्पना से सजीव हुए हैं। पर भागवतकार आलम्बन के अलौकिकत्व को याद करता रहता है। बाणभट्ट ने हर्ष के प्रति प्रभाकरवर्धन के वात्सल्य की संक्षिप्त पर मार्मिक अभिव्यक्ति की है।[5] कादम्बरी में अनेकत्र वात्सल्याभि-

---

१. पाण्डु की पुत्र-कामना, महाभारत, आदि पर्व, ११९। १५-१७; शर्मिष्ठा की पुत्र कामना, वही, ८२।८-९।
२. शकुन्तलोपाख्यान, आदिपर्व ७४५३–५४।
३. आदिपर्व, १०४।२५, २६।
४. दशमस्कन्ध, अध्याय ५—२८ बाललीला का वर्णन।
५. हर्षचरित, ५।९९।

व्यक्ति हुई है। इसमें विस्तार और रस-परिपाक दोनों ही उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार दण्डी-रचित दशकुमारचरितम् में भी वात्सल्य के कुछ स्थल हैं।[1] कालिदास के प्रायः सभी ग्रन्थों में वात्सल्य-प्रेम का प्रदर्शन मिलता है। रघुवंश में दिलीप के रघु के प्रति वात्सल्य के और रघु की शिशुक्रीड़ा के महत्त्वपूर्ण स्थल हैं। साथ ही पुत्रैषणा और पुत्रसुख भी वर्णित हैं। शाकुन्तलम् में शकुन्तला के प्रति कण्व का पुत्री-प्रेम तथा दुष्यन्त का सर्वदमन के प्रति वात्सल्य-प्रेम सजीव है। भवभूति ने भी लव-कुश के प्रति राम के प्रेम की अभिव्यक्ति की है।[2] स्वयंभू आदि अपभ्रंश के कवियों ने भी वात्सल्य का वर्णन किया है, पर अत्यल्प। हिन्दी में चन्दवरदाई ने पृथ्वीराज के जन्मोत्सव और उसकी बालछवि का वर्णन किया है।[3] जायसी ने रत्नसेन की माता का वियोग-वात्सल्य तथा बादल का रण-क्षेत्र-गमन इसी रस से भिगो दिया है। अन्य प्रेमगाथाकारों ने प्रबन्ध के आग्रह से वर्णन किया है। इस प्रकार वात्सल्य-रस की परम्परा तो अक्षुण्ण हैं, पर, सूर के वात्सल्य वर्णन में जो सर्वांगीणता और मार्मिकता है, वह सारी परम्परा में नहीं मिलती। इसका एक यह भी कारण हो सकता है कि सारी परम्परा में प्रबन्धगत वात्सल्य ही मिलता है। वात्सल्य की अनुभूतियों को गीतों के रूप में अभिव्यंक्ति नहीं मिली। वास्तव में सूर ने वात्सल्य को रस-दशा तक पहुँचाया। सूर को वात्सल्य सम्राट कहना अत्युक्ति नहीं है। अन्य अष्टछापी कवियों और तुलसी ने भी वात्सल्य पर लिखा, पर सूर की कोटि सर्वोच्च ही बनी रही।

१. वात्सल्य का रसत्व—

संस्कृत के साहित्य शास्त्र में वात्सल्य रस की दृष्टि से आचार्यों के तीन वर्ग मिलते हैं: कुछ ने वात्सल्य को रसरूप में स्वीकार ही नहीं किया, कुछ ने अन्य रसों में उसका अन्तर्भाव कर दिया और कुछ आचार्यो ने उसके रसत्व को स्वीकार कर लिया। भरत ने रस संख्या आठ ही मानी है। भरत के शान्त और वात्सल्य के उल्लेखों को प्रक्षिप्त माना जाता है। दण्डी, आनन्दवर्द्धन, मम्मट, जगन्नाथ, भानुदत्त ने वात्सल्य को रस-सूची स्थान नहीं दिया।

---

१. उच्छ्वास, ४-५।
२. उत्तर रामचरित ६।१३; ६।२२।
३. पृथ्वीराजरासो, पहला समय।

दाम्पत्य-रति के अन्तर्गत वात्सल्य, मैत्री, सौहार्द, भक्ति आदि का समावेश नहीं हो सकता। इनके लिये कुछ आचार्यों ने 'प्रेयस' की कल्पना की। रुद्रट् ने प्रेयान नामक एक दसवाँ रस माना।[1] प्रेयान को वात्सल्य के पर्याय के रूप में माना गया है। 'प्रेयस' शब्द का उसी अर्थ में हरिभक्ति रसामृत सिंधु में भी प्रयोग मिलता है। उद्भट ने रसवद् अलङ्कार के साथ प्रेयस का कथन किया है। कोई भी भाव उसमें समाविष्ट हो सकता है।[2] भामह के अनुसार 'प्रेयस' का स्थायीभाव प्रीति है। इसकी अनुभूति दाम्पत्य प्रेम से पृथक् है। दण्डी ने भी इसको स्थायी प्रीति मानते हुए इसे रत्याश्रित शृङ्गार से भिन्न माना है।[3] दाम्पत्य प्रेम से पृथक माने जाने वाले प्रेयस्, वात्सल्य, प्रीति और भक्ति[4] को भोज ने प्रेयस के अन्तर्गत ही रखा है।[5] दशरूपकार ने प्रीति और भक्ति का अन्तर्भाव क्रमशः हर्ष और उत्साह में माना है।[6] हेमचन्द्र के अनुसार वात्सल्य, स्नेह और भक्ति 'रति' में ही अन्तर्भूत है।[7] उनके अनुसार वात्सल्य भाव मात्र है, स्वतन्त्र रस नहीं।

भोज ने वात्सल्य का किसी अन्य भाव या रस में अन्तर्भाव नहीं किया। वैसे उनकी दृष्टि में शृङ्गार ही मूल रस है। उन्होंने लिखा है कि शृङ्गार, वीर, करुण, अद्भुत, रौद्र, हास्य, बीभत्स, वत्सल, भयानक और शान्त नाम के दस रसों को विद्वान् मानते हैं, पर हमारी दृष्टि से रसनीयता के कारण शृङ्गार ही रस है।[8] वात्सल्य रस को पृथक् मानने वाले आचार्यों की ओर इसी प्रकार का संकेत कृष्ण वर्मा ने भी किया है।[9] हरिपाल देव ने १३ स्वतन्त्र रस माने हैं; इनमें ११ वाँ रस वात्सल्य है।[10] कवि

---

१. वी० राघवन, दि नम्बर आफ रसाज़ पृ० १०७।
२. वही, पृ० १०७।
३. काव्यादर्श, २।२८१।
४. दि नम्बर आफ रसाज़ पृ० १०८—९।
५. सरस्वती कण्ठाभरण, ५।१६६।
६. दशरूपक ४।८४।
७. दि नम्बर आफ रसाज़, पृ० १११।
८. शृंगार प्रकाश १।५।
९. मन्दारमरन्द चम्पू, दि नम्बर आफ रसाज़, पृ० १०९।
१०. वही० पृ० ५५।

कर्णपूर गोस्वामी ने वात्सल्य के रसत्व को स्वीकार किया हैं।[1] विश्वनाथ ने स्पष्ट रूप से वात्सल्य को स्वतंत्र रस कहा और इसके अङ्ग-उपांङ्ग की विस्तृत व्याख्या भी की।[2] विश्वनाथ ने इस रस को मुनीन्द्र सम्मत वतलाया है जिन्होंने उसे दसवाँ रस कहा है : भक्ति से सम्बन्धित आचार्यों ने भक्ति के पाँच भाव माने हैं : कान्त, वत्सल, सख्य, दास्य और शान्त। वत्सल भक्ति रस की स्वीकृति प्रायः सभी भक्ति के आचार्यों ने की है।[3] भक्ति के सभी आचार्यों ने इसका अङ्गाङ्ग-निरूपण भी विस्तार के साथ किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सूर के वात्सल्य की रूप-रेखा भक्ति के आचार्यों के निरूपण से कुछ-न-कुछ प्रभावित है। वैसे उनकी प्रेरणा का मुख्य स्रोत वल्लभाचार्य की ब ल भावाकुल भक्ति-पद्धि में है।

२. वात्सल्य : तत्व निरूपण—

कवि कर्णपूर गोस्वमी के अनुसार इस रस का स्थायीभाव ममता है। मन्दारमरन्दचम्पूकार ने करुणा को वात्सल्य का स्थायी माना है। इसका स्थायी भाव वत्सलता ही मानी जानी चाहिये। आश्रय ये हो सकते हैं : माता-पिता, गुरुजन, स्वजन आदि। आलम्बन पुत्र, पुत्री, शिशु तथा अन्य अनुकम्पेय। उद्दीपन में शिशु के गुण, चेष्टा तथा प्रसाधन आते है। प्राकृतिक उद्दीपनों में वे सभी वातावरण आ जाते हैं जिनमें बच्चे के प्रति प्यार बढ़ता है। आलिगन, स्पर्श, चुम्बन,सस्नेह देखना, पुलक, आनन्दाश्रु आदि अनुभाव हैं। आठ सात्त्विक भावों के अतिरिक्त नवाँ सात्त्विक भाव स्तनस्राव भी माना गया है। आशंका, हर्ष, गर्व, आवेग, पुलक, स्मृति, विस्मय आदि सञ्चारी हैं।

वात्सल्य के मुख्य दो भेद माने जा सकते है, वत्सल भक्तिरस तथा सामान्य वात्सल्य रस। इसका संबन्ध रति से भी कुछ विद्वानों ने जोड़ा है। भक्तिरस से तो इसका संबन्ध है ही। प्रेम कारुण्य, आकांक्षा, वीर और हास्य का मेल भी इससे होता है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से पुत्रैषणा या शिशु-रक्षा मनुष्य की मूलप्रवृत्तियों में आती है। इस मूलवृत्ति को मनोवैज्ञानिकों ने महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली माना है। इसके मूल में किसी ने मानवमन का परोपकारी भाव माना है।

---

१. मन्दारमरन्द चम्पू, दि नम्बर आफ रसाज़ पृ० १०९।

२. साहित्यदर्पण, ३।२५१-२५४।

३. रूपगोस्वामी, हरिभक्ति रसामृत सिन्धु ५।९५-९८, मधुसूदन सरस्वती, श्रीभगवद् भक्ति रसायन, आदि।

कुछ ने शिशु के साहचर्य से आत्यन्तिक आनन्द की पुनरावृत्ति को इसके महत्व का कारण माना है। वृद्धावस्था में अपत्य द्वारा की जाने वाली सेवा की कल्पना को ही कुछ मनः शास्त्री मुख्य स्थान देते हैं। वास्तव में अपत्य की अभिलाषा प्रत्येक दम्पत्ति को होती है। आजीवन अविवाहित पुरुष-स्त्रियों में भी यह भाव देखा जा सकता है। मानवेतर प्राणियों में भी इसकी स्थिति देखी जा सकती है।

वात्सल्य भाव हमको एक अमायिक आनन्द प्रदान करता है। क्योंकि इसमें स्वार्थ या बदले की भावना की गंध नहीं होती। इससे आनन्द प्राप्त होने का एक और कारण है। अपनी संतान में मनुष्य अपनी आत्मा का विस्तार देखता है। इसी से 'आत्मा वै जायते पुत्रः' कहा गया है। मनुष्य अपने अस्तित्व को अमर रखने की कामना करता है। अपनी मृत्यु के अन्तर भी उसे अपनी संतान में अपने अस्तित्व का नैरन्तर्य दीखता रहता है। अतः उसकी अमरैषणा भी तृप्त होती है। अपनी संतति के विकास में उसे अपना ही विकास दिखलाई देता है।[१] पिता जिन महत्त्वाकांक्षाओं को अपने जीवनकाल में पूर्ण नहीं कर सका था और अपूर्णता की पीड़ा का अनुभव कर रहा था, उनकी पूर्ति अपने पुत्र में वह देखता है। वह स्वात्म प्रेम (नार-सिस्टिकव) की स्थिति हैं।[२] इन कारणों के अतिरिक्त बच्चा अपने निज गुणों के कारण भी वात्सल्य का पात्र है। उसकी अमायिकता. सरलता, कोमलता आदि बरबस आकर्षित करने वाले गुण हैं। उसकी बोल. चाल की मिठास में कौन नहीं रम जाता ?

वात्सल्य भाव का आवेश स्त्री में अधिक माना जाता है। माता के रूप में उसका संसर्ग भी बालक के साथ अधिक होता है। मातृत्व नारी का

१. "This factor consists of the process whereby the parent identifies himself with child, as it were incorporates the child into his larger self and is thus able to take pleasure in the increasing powers of the child as if they were his own."

(Flugel. Psycho, A study of the Family, P. 168)

२. "The parent who seeks in his child the achivement of his own frustrated ambitions is expressing in his parental love a form of narcissistic love.

(David Beres Psycho analysis and social work, P 71)

सबसे अधिक गौरवमय अधिकार है। इससे वंचिता नारी एक कसक छिपाये रहती है। माता-पिता के वात्सल्य में प्रकृति का भी अभिप्राय सन्निहित है : इस भाव के साथ सृष्टि और उसकी क्रमवद्धता सम्बन्ध है। इसलिये सृष्टि के सूक्ष्मतम और आदि जीव अमीवा से ही इस भाव की उत्पत्ति है : अमीवा के स्वतः दो टुकड़े हो जाते हैं, एक नर, दूसरा मादा फिर उनके संयोग से सृष्टि चलती है। वात्सल्य भावना का उन्नयन और विस्तार सामाजिक जीवन में भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। प्राणिमात्र तक सहृदयता प्रसृत हो जाती है। राजा में भी वात्सल्य के आदर्श की कल्पना की गई हैं : राजा संतवित् प्रजा का पालन करे। संक्षेप में कहा जा सकता है कि वात्सल्य मानव-मन की एक अत्यन्त वलवती आदि वृत्ति है। प्रकृति का सृष्टि अभिप्राय इसके साथ संबद्ध है। वैयक्तिक सीमाओं का अतिक्रमण करके एक व्यापक क्षेत्र में सक्रिय होने की शक्ति और संभावना से युक्त है।

३. हिन्दी भक्ति साहित्य और वात्सल्य रस—

निर्गुण भक्त कवियों में वात्सल्य का महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। वैसे कवीर ने अपने को भगवान का वालक माना है :

हरि जननी मैं वालक तेरा। काहे न औगुन वगसहु मेरा ॥
सुत अपराध करैं दिन केते। जननी के दिन रहैं न तेते ॥
कर गहि केस करैं जो घाता। तऊ न हेत उतारैं माता ॥
कहै कवीर एक वुद्धि विचारी। वालक दुखी दुखी महतारी ॥

कवीर ने भगवान पर मात्र-सुलभ वात्सल्य के आश्रय का आरोप किया है। स्वयं अपने को आलम्वन के रूप में रखा है। आगे चलकर यह संवन्ध भक्त वत्सलता में वदल जाता है। भक्त शिशु रूप में नहीं, भक्त के रूप में भगवान की वत्सल्यता का अधिकारी वनता है।

सगुण भक्त कवियों में क्रम उलट गया : भगवान की शिशुरूप में भी आराधना की जा सकती है। भक्त स्वयं वात्सल्य का आश्रय वन जाता है। यद्यपि वंगाली वैष्णव आचार्यों ने वात्सल्य रस-परक भक्ति का निरूपण किया[1] पर वंगाली वैष्णव कवियों में माधुर्य का प्राधान्य रहने से वात्सल्य की कलात्मक परिणति न हो सकी। विद्यापति के काव्य में भी माधुर्य-गत

---

१. विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं स्थायी पुष्टिमुपागतः।
एषः वत्सलता मात्रः प्रोक्तो भक्तिरसो वुधैः ॥

(हरिभक्तिरसामृत सिंधु)

संवेगों का ही आकलन मिलता है। प्रेमगाथाकारों ने प्रबन्ध की आवश्यकता से प्रेरित होकर वात्सल्य का चित्रण किया है: वस्तुतः उनका मुख्य रस शृङ्गार ही है। अष्टछाप के कवियों में सूर के पश्चात् परमानन्ददास का स्थान है। इन्होंने भी वात्सल्य रस से अपनी वाणी का शृङ्गार किया है। तुलसी ने राम और कृष्ण दोनों के वात्सल्य पर लिखा है। उनका मुख्य रस दास्यभक्ति है। अतः वात्सल्य मुख्यतः प्रबन्ध की आवश्यकता के अनुसार ही है। उसमें रूप-वर्णन का प्राधान्य है। हिन्दी के भक्ति-साहित्य में सूर का स्थान ही इस दृष्टि से अन्यतम है।

४. सूर का वात्सल्य—

४.१ परिणाम—सूर ने वात्सल्य रस से आप्लावित ५०० पदों की रचना की है। परिणाम की दृष्टि से भी कोई कवि सूर से तुलनीय नहीं है। डा० श्रीनिवास शर्मा ने इन पदों का प्रसंगों के अनुसार विभाजन इस प्रकार किया है[1]—

पुत्र-जन्म : उत्सव : आनन्दोल्लास	:	४४ पद
विभिन्न संस्कारों के अवसर पर सुखानुभूति	:	१० ,,
बाल-छवि-वर्णन	:	३५ ,,
बाल-स्वभाव-चित्रण	:	४६ ,,
उलाहने	:	८२ ,,
मातृहृदय	:	१९५ ,,
वियोग वात्सल्य	:	८९ ,,
		५००

इस तालिका के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि सूर के वात्सल्य का केन्द्र मातृ-हृदय है। वस्तुतः वात्सल्य में आश्रय का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। आरम्भिक स्थितियों में आलम्बन मूक चेष्टाओं से युक्त होता है। उसकी वे चेष्टाएँ न जाने कितनी आशा-अभिलाषाओं में माता के हृदय को उलझा देती हैं। जब वह बोलता है तो अपनी निजी, तुलसी भाषा में। वह भाषा मातृ हृदय में माधुर्य घोल देती है। वात्सल्य-वियोग से विक्षुब्ध मातृहृदय का चित्रण न जाने कितनी ज्ञात-अज्ञात पीड़ाओं का उद्घाटन करता है। इसलिये वात्सल्य

१. आधुनिक हिन्दी काव्य में वात्सल्य रस, पृ० ६८।

में आश्रय का ही महत्वपूर्ण स्थान होता है। उक्त पदों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रसंगों में भी वात्सल्य की अभिव्यक्ति हुई है। इनकी सूची डा० श्रीनिवास शर्मा ने इस प्रकार दी है—

होड़ लगाकर गोदोहन करते समय	:	३
यशोदा से खिलौने सँभालकर रखने के लिये कथन	:	३
भौंरा चकडोरी खेल	:	१
गोवर्धन पूजा : गोवर्धन धारण	:	१६
वरुण से नंद को छुड़ाना	:	१
वृषभासुर वध	:	८
पनघट के उलाहने	:	१५
राधा के प्रति अभिव्यक्त वात्सल्य	:	५
		५२

इन प्रसंगों में भी मातृ-हृदय को ही केन्द्र माना गया है।

४.२ जन्म : जन्मोत्सव—महापुरुषों के जन्म की परिस्थितियों और तत्सम्बन्धी अभिप्रायों की एक परम्परा मिलती है। उनका जन्म मनोरम परिस्थितियों में भी हो सकता है। तुलसी के राम का जन्म ऐसी ही परिस्थितियों में हुआ।[1] कालिदास की पार्वती का जन्म भी ऐसी ही परिस्थितियों में हुआ।[2] दूसरा अभिप्राय इसके विपरीत मिलता है। कृष्ण के जन्म की परिस्थितियाँ भीषण-भयंकर, भाद्रपद,कृष्णपक्ष, अर्धरात्रि, घनाच्छादित आकाश, सूचीभेद्य अन्धकार, अंधकार कंस की कारा, दुर्निवार अनिष्ट की आशंका से उद्विग्न माता-पिता, जन्म-जीवन पर मृत्यु की छाया। अनेक देवताओं और महापुरुषों के जन्म की ये परिस्थितियाँ भी मिलती हैं। लोक-प्रचलित नलोपाख्यान में नल का जन्म माँ की असयावस्था में होता है। गणेश जी भी

१. सीतल मंद सुरभि बह बाऊ। हरषित सुर संतन मनचाऊ ।।
बन कुसुमित गिरिगन मनिआरा। स्त्रवहिं सकल सरिताऽमृत धारा ।।
(मानस)

२. प्रसन्नदिक पांसुविविक्त वातः,
शंखस्वनानन्तरपुष्पवृष्टिः।
शरीरिणां स्थावरजंगमानां,
सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव ।। (कुमारसंभव)

वनस्थ एकान्त गुहा में माता के साथ रहते हैं। हनुमान जी की माँ पर भी कलंक आरोपित करके उसके सास-ससुर निकाल देते हैं उसी असहायावस्था में उनका जन्म होता है। देवकी भी बंदिनी थी। इस प्रकार एक लोकप्रिय अभिप्राय का प्रयोग यहाँ मिलता है।

जन्म होते ही कृष्ण को अपने माँ-बाप से पृथक् होना पड़ा। वह अपने मामा का शत्रु है। यूनानी लोकगाथाओं में, जियस भी अपने पिता द्वारा निकाला जाता है। क्रीट की एक गुप्त गुहा में उसका पालन-पोषण होता है। शिवपुत्र कुमार का पालन-पोषण भी अन्यत्र होता है। उसको पार्वती नहीं अग्नि ने धारण किया। अन्ततः कृत्तिकाओं (षड्मातृकाओं) में उसका पालन पोषण हुआ। इस प्रकार कृष्ण-कथा का यह अभिप्राय पर्याप्त व्यापकता रखता है। कृष्ण का परित्याग करने के समय देवकी का वात्सल्य फूट पड़ता है—जब वसुदेव अपनी असहायावस्था का वर्णन करते हैं—

'ऐसो को समरथ त्रिभुवन में, जो यह बालक नेकु उबारै।
खड्ग धरें आवै, तुव देखत, अपने कर छिन माहँ पछारै।'
यह सुनतहि अकुलाइ गिरीधर, नैन नीर भरि भरि दोउ डारैं।।

जिन वसुदेव और देवकी ने पूर्वजन्म में तपस्या करके यह अलभ्य वरदान प्राप्त किया कि कृष्ण बालरूप में इन्हीं के यहाँ जन्म लेगा, उस वरदान का फल यों ही उनसे लिया जा रहा है, यह सोचकर देवकी का हृदय कराह उठा। तब कृष्ण का दिव्य रहस्य, और उनकी शक्ति प्रकट हुई। पहरेदार सो गये : वन्दीगृह के द्वार मुक्त हो गये। माता ने कृष्ण का चतुर्भुज रूप देखा। इस प्रकार देवकी को तो सन्तोष हुआ, पर सारा वातावरण वात्सल्य के परिपाक के लिये उपयुक्त नहीं रह गया। अतः कृष्ण को गोकुल पहुँचा दिया गया। गोकुल में शिशु की रक्षा हुई : देवकी सन्तुष्ट है और पाठक भी। तुलसी और सूर की वात्सल्य-भावना में यह एक मौलिक अन्तर है। तुलसी के राम अपने चतुर्भुज रूप का दर्शन अपनी माँ को कराते हैं। अतः कौशल्या के वात्सल्य का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाता। बाल राम का रहस्यमय रूप उसके वात्सल्य को मुक्त नहीं होने देता। देवकी की स्थिति कौशल्या जैसी है। पर कृष्ण एक ऐसी 'माँ' के पास जाकर अपना लीला विस्तार करते हैं, जिसे उनके रहस्यमय रूप का कुछ भी पता नहीं था।

४.३ जन्मोत्सव—गोकुलवासियों को यह भी पता नहीं था कि कृष्ण का जन्म वहाँ नहीं हुआ। यशोदा और नन्द ही नहीं, सारे ब्रज के गोप-गोपी

वात्सल्य के आश्रय बन जाते हैं। सारा व्रज आनन्द से आप्लावित हो जाता है। यशोदा पुत्रजन्म के हर्ष को वहन नहीं कर सकी। उसने नन्द को बुलाया—

जागी महरि, पुत्र मुख देख्यौ, पुलकि अंग उर में न समाइ।
गदगद कंठ, बोल नहिं आवै, हरषवंत ह्वै नंद बुलाइ॥

यदि अनुभाव और सात्विक मातृ-हृदय की कहानी नहीं कह देते तो, हम कैसे उसे जानते ? शब्द तो पंगु हो रहे हैं। उसके जन्म-जन्म के पुण्यों ने सघन घटा की भाँति रस की अविरल वर्षा की। यशोदा का अन्तर्बाह्य भीग उठा।

'झगरिन' और सारे नेगी पगली माँ के हृदय को समझते हैं। आज इसके लिये कुछ भी अदेय नहीं है। सभी को पूर्णकाम कर सकती है। माँ ! झगरिन ने स्पष्ट कह दिया—

जसुदा नारि न छेदन दैहौं।
मनिमय जटित हार ग्रीवा कौ, वहै आजु हौं लैहौं॥

पहले तो यशोदा खीझी। नहीं खीझती तो वातावरण सजीव कैसे बनता। पर अन्त में उसने हार ही नहीं थाल में भरकर मोती भी दिए—

दीन्हौ हार गरैं, कर कंकन, मोतिन थार भरै।

वंदीजन, मागध और प्रशस्ति गाने लगे। ऋषि-ब्राह्मणों ने आशीर्वादों की वर्षा की। ढाढ़ी ढाढ़िन ने गाजे-बाजे से घर को भर दिया। मालिनि सुगन्धित पुष्पों के बन्दरवार बाँधने लगी। एक विचित्र ढाढ़ी भी आया। उसने रास्ते में याचकों को राज-सज्जा से युक्त जाते देखा था—

मोहिं मिले मारग में, मानो जात कहूँ के भूप।

पर यह तो कुछ नहीं माँगता। उसने कहा—

जसुमति-सुत अपनै पाइनि चलि, खेलत आवै आँगन।
जब हँसि कै मोहन कछु बोलै, तिहिं सुनिकै घर जाऊँ॥

पर यह सब आज कैसे हो सकती है ? बालकृष्ण को कुछ बड़ा तो होने दो ! पर यह तो एक विचित्र ढाढ़ी है, टल ही नहीं सकता। वह तो तब तक यहीं रहेगा :

'द्वारैं रहौं, देहु इक मंदिर, स्याम-सुरूप निहारौं।'

यह तो बड़ा अनुभूतियों का धनी है। उस ढाढ़ी ने अपना नाम भी बतलाया—

'हौं तेरौ जनम-जनम कौ ढाढ़ी, सूरजदास कहाऊँ ।

तथा

'हौं' तौ तेरे घर कौ ढाढ़ी, 'सूरदास' मोहिं नाऊँ ।

इससे बड़ी अनुभूति की साधना क्या होगी ? सूरदास की अनुभूति-समाधि में अद्भुत वात्सल्य के अनुकूल जन्मोत्सव मनाया जा रहा है। कवि तटस्थ नहीं है । आनन्दोल्लास में वह आग्रीव निमज्जित है ।

ब्रज की एक से एक युवती और सुन्दरी गोपियाँ तथा गोप आज न जाने कितना नाचेगे, गायेंगे। सम्भवतः युग-युग तक यह आनन्द उमड़ता रहेगा । आश्चर्य की बात तो यह है कि गोपियों के मन में उच्छलित वात्सल्य युवतियों की शृङ्गारसज्जा के रूप में प्रकट हो रहा है : शृङ्गार कर तो लिया, पर आनन्द के अतिरेक से ये पगलियाँ अपने को सम्हाल भी पायेंगी—

सुनि धाईं ब्रजनारि सहज सिंगार किए ।
तन पहिरे नूतन चीर, काजर नैन दिए ।।
कसि कंचुकि, तिलक लिलार, सोभित हार हिये ।
कर कंकन, कंचन थार, मंगल साज लिये ।।
सुभ स्रवननि तरल तरौना, बेनी सिथिल गुहीं ।
सिर बरषत सुमन सुदेस, मानौ मेघ फुहीं ।।
मुख मंडित रोरी रँग, सेंदुर माँग छुहीं ।
उर अंचल उड़त न जानौं, सारी सुरँग सुही ।।
ते अपनें अपनें मेल निकसी भाँति भली ।
मनु लाय मुनैयनि पाँति, पिंजरा तोरि चलीं ।।
गुन गावत मंगल गीत, मिलि दस पाँच अली ।
मनु भोर भए रवि देखि, फूलीं कमल कली ।।

ब्रज की वीथियाँ इन्द्रधनुष बन गई हैं । सभी गोपी-गोपों का समुचित सम्मान नन्द यशोदा ने किया । शोभा का समुद्र ही उमड़ पड़ा : प्रत्येक गली को उसकी लहरों का प्यार मिला—

सोभा-सिंधु न अंत लही री ।

नंद भवन भरि पूरि उमंगि चलि, ब्रज की बीथिनि फिरति वहीरी ।।

स्वर्ग से देवता भी धरती के इस रंगीन यौवन को देख रहे हैं । गायों के थनों में दूध उमड़ने लगा । जमुना-जल भी उछलने लगा । इस उत्सव की रूपरेखा

में दिव्य तत्त्व प्रायः प्रच्छन्न हैं। जन-समूह का आनन्दोल्लास एक ओर तो वात्सल्य से प्रेरित है, दूसरी ओर सारा ब्रज यशोदा के वात्सल्य के अभूतपूर्व आश्रयत्व पर आश्चर्यचकित हैं। कहीं भी सूर ने यह स्पष्ट संकेत नहीं दिया कि यह जन्मोत्सव इसलिए इतने बड़े पैमाने पर मनाया जा रहा है कि कृष्ण अवतरित ब्रह्म है। सारा वातावरण स्वाभाविक और मानवीय है।

जन्मोत्सव से सम्बद्ध लोकानुष्ठानों का भी सूर ने चित्रण किया है। इस समय दिव्य या वेद ध्वनि का स्वर सुनाई नहीं पड़ता। लोकवाणी समस्त वातावरण को यथार्थता प्रदान करती है। यशोदा झगरिन से बिगड़ती है: तू जल्दी नार क्यों नहीं काट देती? इसमें हवा भर जायगी।[1] नारियाँ दधि, रोचन, दूब लेकर नन्द-भवन की ओर झमकती हुई जा रही हैं। सभी के सिरों पर दूब रखी जा रही है।[2] ब्रज की नवेलियाँ रच-पच कर साथियाँ रख रही हैं। सात सींकें भी शकुन की लगाई जा रही हैं।[3] चतुर्दिक मंगल बधाए गूँज रहे हैं। 'सोहिला'[4] भी गमक रहा है। नाइन सुहागवतियों के पैरों में महावर लगा रही हैं और नेग भी एक लाख टके से कम नहीं लेगी।[5] बढ़ई पालना गढ़कर लाया—अगर चन्दन का बना और ईंगुर से रँगा।[6] इस प्रकार लोक सांस्कृतिक वातावरण को सूर ने सजीव बनाया है।

४.४ पालना—पालने पर आने के साथ ही सूर के वात्सल्य की दो धाराएँ पृथक्-पृथक् बहने लगती हैं। बाल देव के रूप मे कृष्ण लोकोपकारक दानवीय शक्तियों का नाश करता है। दूसरी ओर मानवीय धरातल पर अपनी माँ की वात्सल्य भावना का आलम्बन करके वह बाल-चेष्टाएँ और बाल-लीलाएँ करता है। सूर-साहित्य में वात्सल्य की गङ्गा-जमुना बहुत महत्त्व

---

१. बेगहिं नार छेदि बालक कौ, जाति बयारि भराई। सू. सा. पृ. २६२।
२. इक दधि गोरोचन-दूब सबकें सीस धरें। वही, २६६।
३. द्वार सथिया देति स्यामा, सात सींक बनाइ। वही, २६७।
४. 'सोहिला' ब्रज का एक लोकगीत है, जो जन्मोत्सव पर गाया जाता है।
५. नाइनि बोलहु नवरंगी (हो) ल्याउ महावर बेग।
लाख टका और झूमका (येउ) सारी दाई कौं नेग॥
सूरसागर, १०।४०
६. अगरु चन्दन कौ पालनौ (रँगि) ईंगुर ढार सुढार। वही

रखती हैं। दोनों धाराएँ एक दूसरी को वेग प्रदान करती है। अलौकिक दुष्ट विनाशक लीलाएँ लोक मानस को परितृप्त करती हैं। शीघ्र ही पाठक अपने को उस यशोदा के पास पाता है, जो दानवों के झमेले में पड़े कृष्ण को देखकर रो उठती है और अपने लाल को सुरक्षित पाकर दान-पुण्य देती है। यशोदा के साथ साधारणीकृत होकर वह अपने विजयोल्लास को एक अन्य प्रकार से भी देखता है। साथ ही यशोदा के प्राणाधार कृष्ण को संकट में पड़ा देखकर उसमें एक आश्चर्य, कुतूहल जिज्ञासा और एक चिन्ताकुल वेदना का अनुभव करता है। वास्तव में यह वेदना पाठक की अपनी नहीं है, क्योंकि उसकी उद्‌बुद्ध चेतना कृष्ण के अलौकिकत्व से ओत-प्रोत है। पर यशोदा माता की दृष्टि से ही वह उसका अनुभव करता है।

यशोदा का कन्हैया पालने पर झूल रहा हैं। उसके आस-पास आत्म-निर्गत लोरी गीतों की अनुगूँज है। एक-एक शब्द और यशोदा की एक-एक क्रिया में वात्सल्य की सौ-सौ फुहारें बरस रही हैं—

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोई कछु गावै ॥

कन्हैया भी अटपटी चेष्टाएँ कर रहा है। कभी वह आँखें बन्द करता है, कभी अधर फड़काने लगता है। कभी माँ की ओर अपनी भुजा फैलाता है, कभी किलकारी भरता है। और उसी समय पूतना आ गई। इतनी विशालकाय पूतना का वध कृष्ण ने कर दिया। पर यशोदा का वात्सल्य इस अलौकिक घटना से विचलित नहीं हुआ। उसका स्वर वही चिर-परिचित मातृ-स्वर है—

जसुमति विकल भई छिन कल ना।
लेहु उठाइ पूतना उर तें, मेरौ सुभग साँवरौ ललना ॥

पूतना के पश्चात् कृष्ण को मारने के लिए वकासुर आया। उसको भी वालकृष्ण ने पूतना वाला मार्ग दिखला दिया। पर यशोदा को कुछ ज्ञात ही नहीं कि क्या हुआ ? एक वार कृष्ण की यह मुद्रा वनी—

कर पग गहि अँगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालनैं अकेले, हरषि-हरषि अपनैं रंग खेलत ॥

यशोदा की लोरियाँ चल रहीं थीं और उसकी दृष्टि कृष्ण की मुद्रा पर थी। सारी सृष्टि में हलचल मची है : 'उछरत सिंधु धराधर काँपत, कमठ पीठ अकुलाइ' से सूर ने प्रलय की सूचना दी। पर यशोदा के वात्सल्य को यह हलचल छू भी नहीं सकी : शकटासुर आया। वालकृष्ण के एक पदाघात से

शकट-भञ्जन हुआ। पर 'उन ब्रजबासिन बात न जानी।' यदि जान जाते तो वात्सल्य का क्या होता ? यशोदा केवल सुप्त बालकृष्ण की छवि निरखती रहीं।

४.५ उलटना—यशोदा कृष्ण को सुलाकर गृह-कार्य में संलग्न हो गईं। इतने में नन्द ने एक घटना देखी : कृष्ण खेलते-खेलते उलट गये। उन्होंने उल्लास से आतुर होकर यशोदा को बुलाया। जो यशोदा कृष्ण की मुद्रा से हलचलित सृष्टि और प्रलय संकेत से विचलित नहीं हुई वह कृष्ण के उलटने की घटना से आनन्दविभोर हो गई। इतनी बड़ी घटना हो जाय और वात्सल्य रस उत्सव का रूप धारण न करे ! —

महरि मुदित उलटाइ कै मुख चूमन लागी।
चिरजीवौ मेरौ लाड़िलौ, मैं भई सभागी॥
एक पाख त्रय मास कौ मेरौ भयौ कन्हाई।
पटकि राल उलटौ पर्‌यौ, मैं करौं बधाई॥

फिर क्या था ? ब्रज-नवेलियों के समूह उमड़कर नन्द गृह की ओर आने लगे। घर-घर आनन्द बधाए हुए। बालक की चेष्टाएँ न जाने वात्सल्य को कितना उद्दीपन करती हैं। माता उसके मुख को चूम लेती है और उस पर मन प्राण से बलि जाती है। फिर अपने कन्हैया को यशोदा ने सुला दिया। पर मन एक अभिलाषा में झूमता रहा—

नन्द-घरनि आनँद भरी सुत स्याम खिलावै।
कबहिं घुटुरुवनि चलहिंगे, कहि, बिधिहि मनावै॥
कबहिं दँतुलि द्वै दूध की, देखौं इन नैननि।
कबहिं कमल मुख बोलिहैं, सुनिहौं उन बैननि॥

माता का हृदय इन अभिलाषाओं में उमड़ पड़ रहा है। यदि उसका बस चले तो आज ही बालकृष्ण को बड़ा कर ले।

फिर तृणावर्त का संकट आया। वह यशोदा की गोद को खाली करना चाहता था। कृष्ण को उड़ा ले गया। जब तृणावर्त नष्ट हो गया, तब ब्रज-युवतियाँ कृष्ण को घर ले आईं। कृष्ण बच गया, यह सोचकर यशोदा ने संतोष लाभ किया। लीला का अलौकिक पक्ष उसे विस्मृत हो गया। उसने सोचा किसी पूर्व पुण्य ने कृष्ण की रक्षा की है—

ना जानौं धौं कौन पुन्य तैं, को करि लेत सहाइ।
वैसौ काम पूतना कीन्हौ, इहिं ऐसौ कीयौ आइ॥

यशोदा कहीं इस रहस्य को सुलझाते-सुलझाते ब्रह्म कृष्ण का ध्यान न करने लगे ! कैसे कर सकती है ? उसे किलकते कृष्ण के मुँह में दो दँतुलिया जो दीख गईं : 'हरषित देखि दूध की दँतियाँ, प्रेम मगन तन की सुधि भूली।' जो कल्पना अलौकिकता की ओर जा रही थी, वह समग्र रूप में दूध की दँतुलियों पर केन्द्रित हो गई। नन्द को बुलाया गया। वात्सल्य भाव ने एक पर्व का रूप धारण किया। यशोदा तो दाँत ही देख रही थी, पर उसे तीनों लोक मुँह में दिखलाई पड़ने लगे। पगली यशोदा ने इसको अलाय-वलाय समझा, उसने । अब टोना-टोटका करती फिर रही है—

मुख में तीनि लोक दिखराए, चकित भई नँद-रनियाँ ।
घर घर हाथ दिखावति डोलति, बाँधति गरें बघनियाँ ॥

अब तो निश्चय होगया कि कृष्ण के अलौकिकत्व का कोई भी प्रदर्शन यशोदा में उसका वात्सल्य का आश्रयत्व नहीं छीन सकता।

४.६ **नामकरण**—गर्ग ने कृष्ण का नामकरण किया। नामकरण क्या किया समस्त अलौकिकता का कथन कर दिया। समस्त ज्योतिष-विधान की अनुकूलता बतला कर माता यशोदा के भाग्य को सराहा। यशोदा ने अलौकिकता पर कोई ध्यान नहीं दिया।

४.७ **अन्य प्राशन**—इस उत्सव के लिये एक शुभ दिन निश्चित किया गया। गीत नाद होने लगे। अनेक व्यंञ्जन बने, बड़ी ज्यौनार हुई। यशोदा ने देखा कि सारे ब्रज की दृष्टि कृष्ण छवि का पान कर रही है। यशोदा न जाने किन-किन आशंकाओं में उलझने लगी। उसने सारे रोग-बलाओं को अपने ऊपर बुलाया।

ललन हौं या छवि ऊपर वारी।
बाल गोपाल लागौ इन नैननि, रोग-बलाइ तुम्हारी ॥

हो सकता है किसी की दृष्टि ही लग जाय। अतः माता मसि-बिंदु लगाने का टोटका करती है—

लालन, वारी या मुख ऊपर।
माई मेरेहि दीठि न लागै, तातैं मसि-बिंदा दियौ भ्रू पर ॥

इस प्रकार यशोदा का आलंबन नित्य नवीन छवियों से विभूषित होने लगा। ज्यों-ज्यों समय बीतता है, कृष्ण की छवि-रेखाएँ उभरती, विकसती जाती हैं। यशोदा का वात्सल्य और भी सघन होता जाता है। उसका कन्हैया उसके हृदय में और भी गहरा उतर गया। अब सूर भी उसके छविचित्र प्रस्तुत

करने लगा। अब तक कवि-प्रतिभा यशोदा के मर्मोद्घाटन में लगी थी। पर अब कृष्ण इतना छविमान होने लगा कि उसका चित्रण बरबस होने लगा— और यशोदा अशेष रूप से पुत्र की अनिंद्य छवि में उलझने लगी—

लाल हौं वारी तेरे मुख पर।
कुटिल अलक, मोहनि-मन विहँसनि, भ्रुकुटी विकट ललित नैननि पर।
दमकति दूध दँतुलियाँ विहँसत, मनू सीपज घर कियौ वारिज पर॥

४.८ वर्षगाँठ—समय जाते क्या देर लगती है! कृष्ण एक वर्ष का हो गया। सारा ब्रज वत्स कृष्ण की वर्षगाँठ का उत्सव मनाने के लिये उमड़ पड़ा। यशोदा का आनन्द-विनोद सीमाओं में नहीं रह सका। उसने कृष्ण को नहलाया, सजाया। कृष्ण ने वर्षगांठ का डोरा खोला। विधि विधान से यह उत्सव सम्पन्न कराय गया।

यहाँ तक कृष्ण की वाल-लीलाओं की आरम्भिक स्थिति समाप्त हो जाती है। इस आरम्भिक स्थिति में आश्रय के निरूपण में कवि की प्रतिभा रमी रही। आलंबन अभी अधिक सचेष्ट नहीं था। पर वर्षगाँठ तक आते-आते उसकी छवि निरखने लगी। आलंबन की चेष्टाएँ कुछ सुनिश्चित हुई। वात्सल्य की गति परिपाक की ओर होने लगी। आलंबन की चेष्टाओं के चित्रण में उद्दीपन की संघनता अभिप्रेत है। इससे आश्रय का रूप व्यंजित होता है। आलंबन के अंग-प्रत्यंग आभूषणों से भी सुसज्जित हो गये।

४.९ घुटरुवन चलना—चलने की क्रिया से सूर के वात्सल्य की दूसरी स्थिति आरम्भ होती है। कृष्ण का श्याम वपु-रंजित होकर और भी कान्तिमान हो उठता है। कमर की करधनी और पैरों के नूपुरों की झकार से यशोदा का घर झंकृत हो जाता है। यशोदा की सारी अज्ञात अभिलाषाएँ एक लता की भाँति फल-फूल रही है। नव-किसलयों से यह सुसज्जित होती जाती है मक्खन भी एक हाथ में है और कुछ मुख से भी लिपटा हैं। सूर ने एक चित्र ले लिया—

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किए॥

इसी अवस्था में वालकृष्ण को अपना प्रतिबिंब भी मणिमय आँगन में दिखाई देने लगा। उसके प्रति भी उसकी वालोचित प्रतिक्रिया होती है। अपने प्रतिबिंब को पकड़ने के लिए वालकृष्ण दौड़ना चाहता है—

'मुख प्रतिबिंब' पकरिबे कारन, हुलसि घुटुरुवनि धावत।

इस अवस्था में जो विशिष्ट बाल छबि प्रकट हुई, उसका पान यशोदा बहुविध करती है। सूर के आलंबन चित्र इस समय गतिमय और वैविध्यपूर्ण हो जाते है। आलंबन की गति का क्षेत्र अब पालना या माता की गोद ही नहीं रहे। वह आँगन में आ गया है। उसके मूक आभूषण भी मुखर हो गये। यही नहीं कुछ तुतले बचन भी उसके मुख से निकलने लगे।

सूर ने यहाँ बालछवि के बड़े ही पूर्ण और सांग चित्र दिए है।

४.१० **पैरों चलना**—माता की अभिलाषा बढ़ती ही जाती है। अब उसे अपनी एक अभिलाषा याद आई, 'कब धरनी पग द्वैक धरै।' अब यशोदा कृष्ण की तनक-तनक भुजाओं को पकड़ कर खड़ा होना सिखा रही है।

तनक-तनक भुज पकरि कै, ठाढ़ो होन सिखावै,
लरखरात गिरि परत है. चाल घुटुरुनि धावै।
पुनि क्रम-क्रम भुज टेकि कै, पग द्वैक चलावै॥

सूर ने यह सब देख लिया था। जब कृष्ण गिर-गिर पड़ता है, तब सूर एक अद्भुत स्थिति की कल्पना करता हैं। जिसने त्रिपद में समस्त ब्रह्मांड को नाप लिया था, वह भी आज इन शिशु-लीलाओं को कर रहा है। पर यह बात सूर इस प्रकार संकेत में बतलाता है कि माता न सुन ले। कहीं ऐसा न हो कि उसका उमड़ता हुआ वात्सल्य बाधित हो जाय।

जब कृष्ण कुछ- कुछ खड़ा होने लगा, तब माता उसे चलाने का प्रयत्न करती है। चित्र इस प्रकार बनता है—

सिखवति चलन जशोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरै पैया॥

इस चित्र के साथ यशोदा की अनेक मनौतियाँ बिखर पड़ी, कबहुँक कुल देवता मनावति चिरजीवहुँ मेरो कुँवर कन्हैया।' अब कृष्ण आँगन में खेलने लगा। बलराम उसके साथी बने। अब किंकिणी के शब्द की अपेक्षा पैरों की पैंजनी अधिक आकर्षण हो गई। छवि को देखकर टोटका टोंना भी यदा-कदा करती है। कभी-कभी नंद बाबा भी कृष्ण को चलना सिखाते है। इस प्रकार यशोदा की अभिलाषा पूर्ण हुई—

कान्ह चलत पग द्वै-द्वै धरनी।
जो मन में अभिलाष करति ही, सो देखत नंद घरनी॥

सूर कभी-कभी यशोदा को दृष्टि की छिपाकर अवतार गाथा या अलौकिकता का कथन भी कर देते है। यशोदा कृष्ण के चलने से संतुष्ट नही हुई। वह उसे नाचना भी सिखलाती है—

आँगन स्याम नचावहीं जसुमति नँदरानी।
तारी दै-दै गावहीं मधुरी मृदु बानी ॥

यह एक नवीन छवि है। सूर इसके भी कई चित्र अंकित करता है।

वहीं पर सारे ब्रज की गोपियाँ इस छवि की ओर आकर्षित होने लगी हैं। कृष्ण की छवि अब उनकी चर्चा का विषय हो गया। वे अपना तन-मन कृष्ण पर निछावर करने लगीं। कोई-कोई तो यशोदा से कह भी देती है—

मैं मोही तेरे लाल री।
निपट निकट ह्वै कै तुम निरखौ, सुंदर नैन विसालरी ॥

इस प्रकार छवि का प्रभाव-क्षेत्र बढ़ता जाता है।

४.११ मथानी ग्रहण—यशोदा दधि मंथन करती है। कृष्ण मथानी पकड़ लेता है। इसमें समुद्र-मंथन का प्रतीक घटित हो जाता है। समुद्र-मंथन के समस्त शेषादि उपकरण घबराने लगते हैं। सूर थोड़ी देर इस प्रतीक-व्यंजना में रमता है। फिर उसे यशोदा दीख जाती है। सूर सब कुछ भूल जाते हैं। यशोदा उससे हठ न करने को कहती है और मक्खन देने की बात कहकर बहलाती है—

नंद जू के बारे कान्ह, छाँड़ि दै मथनियाँ।
बार-बार कहत मातु, जसुमति नँदरनियाँ ॥
नैकु रहौ, माखन देउँ, मेरे प्रान धनियाँ ॥

अब कृष्ण का ध्यान कुछ इधर-उधर हुआ। सूर को एक और मनोरम झाँकी मिल गई। मथने की घरमर ध्वनि के साथ कृष्ण नाचने लगा।

त्यौं-त्यौं मोहन नाचै ज्यौं-ज्यौं रई घमरकौ होइ (री)।
तैसियै किंकिनि-धुनि पग नूपुर, सहज मिले सूर दोइ (री) ॥

इस अवसर के भी कई छवि-चित्र सूर की कल्पना में बरस पड़े।

४.१२ कृष्ण का बोलना—'सूर को सबसे अधिक आकर्षण कृष्ण के अंगों की लघुता रही। 'तनक-तनक' छोटी-छोटी' आदि शब्दों से प्रकट होता है कि सूर की कल्पना में विराट का विरोध 'तनकता' में प्रकट हो गया है। आपको याद है एक बार यशोदा ने अभिलाषा की थी : 'कब नंदहि बाबा कहि बोले, कब जननी कहि मोहि ररै।' तोतली वाणी तो कुछ दिन पहले ही सुनाई पड़ने लगी थी, अब तो कृष्ण—

कहन लागे मोहन मैया मैया।
नंद महर सौं बाबा-बाबा अरु हलधर सौं भैया ॥

अब चित्रों को मुखरता मिली। इस स्थिति में कई समस्याएँ पैदा हुईं। मक्खन के पात्र में कृष्ण को अपना मुख दीखा। वे नंदबाबा के पास शिकायत लेकर गए: कोई मेरा माखन खाए जा रहा है : 'वा घट में काहू कै लरिका, मेरौ माखन खायौ।' नद ने जब सुनाई नहीं की, तो कृष्ण को लगा कि वे मेरा अनादर कर रहे हैं; तब माँ के पास रोते ठनकते आए : कह्यौ जाइ जसुमति सौं ततछन मैं जननी सत तेरौ।' अब कृष्ण मक्खन रोटी माँगने लगा। नहीं मिलने पर या देर होने पर वह आँगन में लेट जाता था। तब माँ जैसे-तैसे बहलाती है। और आज एक और बात कृष्ण कहने लगा—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पिबत भई यह अजहूँ है छोटी ।।

ये समस्याएँ तो जैसे-तैसे सुलझीं। यशोदा ने एक दिन चन्द्रमा दिखलाया। और कृष्ण कहने लगा—

मैया, मैं तो चंद-खिलौना लैहौं ।
जैहौं लोटि धरनि पर अबहीं, तेरी गोद न ऐहौं ।।

पहले माता ने नई दुलहिन लाने का वचन देकर श्याम को बहलाना चाहा—

'हँसि समुझावति, कहति जसोमति, नई दुलहिया हौंदै।'
'तेरी सौं, मेरी सुनि मैया, अबहिं बियाहन जैहौं ।।'

अन्त में पानी में उसकी परछाँई दिखलाई। पर कृष्ण की अचगरी रुकी नहीं। तब यशोदा ने कहा : आकाश में एक पक्षी को भेजकर मैंने यह चन्द्रमा तेरे लिये मँगवाया है। जैसे-तैसे चंचल कृष्ण सोया। यशोदा ध्यान में डूबी : 'मेरो आजु अतिहि बिरुझानों !' पर बालकृष्ण नहीं सोया। तब माता ने एक कहानी कही : 'एक राम थे...।'

४.१३ बाल-छवि—कृष्ण की बाल-छवि के सूर ने पात्रों के अनुसार अनेक चित्र अंकित किये है। गोपियों पर भी इसका प्रभाव पड़ा और यशोदा पर भी। यशोदा में वात्सल्य की वृद्धि हुई और गोपियों मे प्रेम की।

४.१४ बाल-क्रीड़ा—पहले क्रीड़ा घर आँगन में चलती रही। पीछे बड़ी कठिनाई से कृष्ण अपने घर की देहरी लाँघ सके : माँ ने ही सिखा दिया। धीरे-धीरे घर से बाहर निकलने लगे : 'भीतर तैं बाहर लौं आवत।' बाहर अनेक बालक मिलते हैं, पर अभी पैर ठीक तरह जमते नहीं—

विहरत विविध बालक संग ।
डगनि डगमग, पगनि डोलत, धूरि-धूसर अंग ।।

अब पैर तो ठहरने लगे। पर खेलना आया नहीं। अभी ग्वालों के दौड़ वाले खेलों में भाग लेने की शक्ति बालकृष्ण में कहाँ है ? अतः बलराम इन्हें खेलने से रोकते हैं : 'बरजै हलधर, स्याम तुम जनि चोट लागै गोड़।' पर कृष्ण कहाँ रुकने वाले—

तब कह्यौ मैं दौरि जानत; बहुत बल मो गात।
मेरी जोरी है श्रीदामा, हाथ मारे जात॥

पहले तो माने नहीं अब हार गए। कहने लगे: 'जानिकैं मैं रह्यौ ठाढ़ो।' सखाओं ने ताली बजाकर खिल्ली उड़ा दी। रोते-रोते महाशय घर आये। माता ने पूछा : क्यों रोते हो ? कृष्ण ने कल्पना शक्ति से काम लिया—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसों कहत मोल कौ लीन्हौं, तू जसुमति कब जायौ॥

पर शायद रंग कोई अधिक चढ़ा नहीं। तब कृष्ण ने कहा—

तू मोही कों मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै।

और अब मोहन का मुखमंडल रिस से तमतमा गया। उस मुख-छवि पर यशोदा रीझ गई। बलभद्र को बुरा भला कहा। इतना ही नहीं अनजान, भोली माँ ने एक शपथ खाई—

'सूर स्याम मोहीं गोधन की सौं, हौंमाता तू पूत।'

और कहा, तू अपनी गायें अलग कर ले। मेरा बेटा सबसे राजा है सारा गाँव तेरा है। चाहे जहाँ खेलकर—

न्यारो जूथ हाँकि लै अपनौ, न्यारी गाइ निवेरौ।
मेरौ सुत सरदार सबनि कौ, बहुत कान्ह बड़ेरौ॥

कृष्ण ने फिर भी कहा : 'खेलन अब मेरी जाइ बलैया।' नन्दबाबा भी पीछे खड़े होकर ये सारी बातें सुन रहे थे।

इस प्रकार आश्रय और आलंबन दोनों ही अब अपने-अपने स्थान पर सजग सचेत हैं। एक दूसरे को छका देने के लिए तर्क देते हैं। आलंबन की मुखर चेष्टाएँ अन्त में इतनी अधिक उद्दीपक हो जाती हैं कि आश्रय रस-मग्न हो जाता है। विजय आलम्बन की ही रहती है।

यशोदा इस बात से तो प्रसन्न है कि उसका छगन-मगन अब इतना बड़ा हो गया। पर, अब वह दूर तक खेलने निकल जाता है। माता का हृदय न जाने कैसी शंका आशंकाओं से भर जाता है। कभी कहती है : 'मारेगी काहू की गैया।' अन्त में यशोदा अन्तिम अस्त्र चला देती है :—

'दूरि खेलन जनि जाहु लला मेरे, बन में आए हाऊ ।'

बन में हाऊ आ गया है। यह सुनकर बालकृष्ण सहम भी जाता है। आश्रय के तर्क न जाने कितने मधुर पर मिथ्या होते हैं। आलंबन की अविकसित मानसिक स्थिति में ये तर्क जो प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं, उसका चित्रण सूर के वात्सल्य-वर्णन में प्रमुख स्थान रखते हैं अब कृष्ण बड़ा हो गया, पर माँ का आँचर पीना अभी नहीं छोड़ता तब माता तर्क देती है—

जसुमति कान्हहि चहै सिखावति ।
सुनहु स्याम, अब बड़े भए तुम, कहि स्तन-पान छुड़ावति ।।
ब्रज लरिका तोहि पीवत देखत, हँसत लाज नहि आवति ।
जैहैं बिगरि दाँति ये आछे, तातैं कहि समुझावति ।।

इस प्रकार क्रीड़ा के प्रसंग में आश्रय और आलंबन का समान रूप से चित्रण किया गया है । बच्चों की मनोवृत्तियों का ऐसा सजीव चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है ।

४.१५ माटी भक्षण— अब कृष्ण कुछ अपराध भी करने लगे। मिट्टी खाने की ओर सभी बालक प्रेरित होते है । कन्हैया ने भी मिटटी के ढेले-पर-ढेले उड़ाये । साथ के ग्वाल-वालों ने इसकी शिकायत यशोदा से की । कन्हैया कुछ कम थोड़े ही हैं, उसने साफ मना कर दी । एक दिन यशोदा ने स्वयं अपनी आँखों से देख लिया । अब यशोदा ने साँटी तो हाथ में ली और धमकाना आरम्भ किया—

इक कर सौं भुज गहि गाढ़े करि, इक कर लीन्हीं साँटी ।
मारति हों तोहि अबहि कन्हैया, बेगि न उगलै माटी ।।

कृष्ण ने फिर भी अपराध स्वीकार नहीं किया। उसने अपना मुँह खोल दिया। यशोदा ने तीनों लोक 'तनक' से मुख में देखे। माँटी गिर पड़ी : मन में यशोदा आकुल हुई। उसने कृष्ण से मुख बन्द करने को कहा। उसने यह बात नन्द से कही। नन्द को विश्वास नहीं हुआ। वात्सल्य-बौरी यशोदा इस सबसे प्रभावित नहीं। उसका हाथ दिखलाती फिरी —

घर-घर हाथ दिखावति डोलति, गोद लिए गोपाल बिनानी ।

वात्सल्य की इतनी दृढ़ता कहाँ देखी जासकती है कि अलौकिकता की प्रचण्ड आंधी भी इसे नहीं हिला सकती ।

४.१६ उलाहने—कृष्ण का रूप और उसकी चेष्टाएँ जहाँ वात्सल्य का उद्दीपन करती थीं, वहाँ गोपियों में शृङ्गार-भावनाएँ भी उनसे जाग्रत

होने लगीं। कृष्ण अब चोर हो गया। घर-घर जाकर माखन की चोरी करने लगा। वास्तव में गोपियां हृदय से चाहती थीं कि कृष्ण हमारे घर चोरी करने के लिये आवे। पर, वे यशोदा को उलाहने देने भी आती थीं। उलाहना देना तो कृष्ण के दर्शन और उसके वत-रस के आस्वादन का बहाना था। कृष्ण के बालोचित तर्क भी अपनी सुरक्षा में सुनाई पड़ते हैं। जब पकड़े गए, तब कहते हैं—

'मैं जान्यौ यह घर मेरो है, या धोखे में आयौ।
देखत हौं गोरस में चींटी, काढ़न कौं कर नायौ॥

चोरी तो चोरी कृष्ण दधि-भाजन-भंजन भी करता था। असमय बछड़े भी छोड़ देता था। न जाने क्या-क्या करतूतें ग्वाल-मंडली से वह कराता था। अन्त में यशोदा को उपालम्भ देने गोपियाँ आईं। यशोदा को कैसे विश्वास आए—

मेरौ गोपाल तनक सौ, कहा करि जानै दधि की चोरी।
हाथ नचावत आवत ग्वालिनि, जीभ करै किन थोरी॥

यशोदा के सामने कृष्ण की माँ चढ़ बनी। उसने उल्टा आरोप लगाया कि तेरा बेटा मेरी मुरली चुराकर ले गया।

आँखें भरि लीन्हीं, उराहनौ देन लाग्यौ॥
तेरौ ही सुवन मेरी मुरली लै भाग्यौ॥

अन्त में यशोदा को कृष्ण की माखन चोरी पर विश्वास हो जाता है। जब कृष्ण को इस विश्वास का पता चलता है, तब कृष्ण साश्रु होकर अपनी बात कहते हैं। यशोदा का हृदय पिघल जाता है। सब अपराध हवा हो जाते हैं। माता के परिवर्तित हृदय की अभिव्यक्ति सूर ने इस प्रकार की है—

जननी के खीझत हरि रोए, झूँठहि मोहि लगावति ढगरी।
सूर स्याम मुख पोंछि जसोदा, कहति सबै जुवती हैं लगरी॥

इस प्रकार माखनचोरी के उलाहने की क्रिया-प्रतिक्रिया में वात्सल्य के आश्रय और आलंबन के मनोरम रूपों का उद्घाटन होता है। वात्सल्य उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होता है। अनेक पदों में वात्सल्य चरम पर पहुँच जाता है।

उलाहने केवल माखनचोरी से ही संबन्धित नहीं हैं, शृङ्गारिक भी हैं। कृष्ण शृङ्गारिक अपराध भी करने लगा। पर यशोदा की दृष्टि में वह नितान्त बालक है। वह इन बातों को क्या जाने? गोपी ने कृष्ण की शिकायत की —

बाँह पकरि चोली गहि फारी भरि लीन्ही अँकवारि।'

तब यशोदा कहती है—

मदमाती इतराती डोलै सकुच नहीं करै सोर।
मेरो कुँवर कन्हैया कहाँ तनक सौ, तू है कुचनि कठोर।।

कृष्ण भी अवसर पाकर गोपी की शिकायत इस प्रकार करते हैं—

खेलत तैं मोहि बोल लियौ इहि, दोउ भुज भरि दीन्ही अँकवारि।
मेरे कर अपने उर धारति, आपुनि ही चोली धरि फारि।।

४·१७ मातृ हृदय—इस प्रकार सूर ने वियोग-वात्सल्य से पूर्व विविध बाल-लीला विलास में क्रमशः आश्रय और आलंबन का विशद चित्रण किया है। मातृ-हृदय का सबसे बड़ा पारखी सूर है। "कहा जाता है कि सूरदास बाल-लीला वर्णन करने में अद्वितीय है, मैं कहूँगा सूरदास मात-हृदय का चित्र खींचने में अपनी सानी नहीं रखते।"[1] सूर का यशोदा के हृदय के साथ पूरा तादात्म्य है। अन्य अवसरों पर यशोदा के अत्यन्त कोमलता और क्षणिक कठोरता से युक्त हृदय का सूर ने स्वाभाविक चित्रण किया है। उसका हृदय कितनी मधुर अभिलाषाओं से परिपूर्ण है : 'जसुमति मन अभिलाप करै।' यशोदा का हृदय जब लोक-विश्वासों और टोने टोटकों की शरण लेता है, तो स्वाभाविकता और भी बढ़ जाती है। मंत्र, यंत्र, तत्र, राई-नौंन उतारना, कुल देवता की मनौती, दान-पुण्य आदि कितने ही उपायों से माता का शंकालु हृदय पुत्रक्षेम की योजना करता है। धूल-धूसरित कृष्ण की धूल को जब अपने अंचल से झाड़ती है, तब उसका हृदय अनुभूति पूर्ण हो जाता है। कृष्ण को किसी बात पर राजी करने के लिए भोले और झूठे सच्चे तर्कों का आश्रय माता लेती है। आंख मिचौनी में यशोदा कृष्ण को छुपे हुए बालकों का संकेत देती है। जब उसका कन्हैया विजयी हो जाता है तो गर्व से फूली नही समाती—

हँस-हँसि तारी देत सखा सब भये श्रीदामा चोर।
सूरदास हँसि कहत जसोदा जीत्यौ है सुत मोर।।

उलाहनों के समय उसके कोमल और कठोर हृदय की अभिव्यक्ति बड़ी सुन्दर हुई है। एक दिन माता ने उसे ऊखल से बांध दिया था। हृदय हिचकियाँ लेकर रोने लगा। गोपियों से नहीं देखा गया, बाल कृष्ण का यह अश्रु-प्रवाह उन्होंने यशोदा से कहा : कृष्ण को छोड़ दो। कहो तो मक्खन हम घर से

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, सूर साहित्य, पृ० १२०।

लाकर तुम्हें दे दें। अब यशोदा का सारा रोष गोपियों पर उतरा। उन्होंने क्यों शिकायत की ? अब भली आदमिन बनती हैं—

कहन लगीं अब बढ़ि-बढ़ि बात।
ढोटा मेरौ तुमहि बँधायौ, तनकहि माखन खात।

कृष्ण के गोचारण के समय एक-एक क्षण कठिनाई से कटता था। यदि बिना कलेवा के कृष्ण गोचारण को चला जाय, तो माँ के हृदय की बेचैनी वही जानती है। कृष्ण ने एक दिन झूँठ-मूठ शिकायत कर दी कि समस्त ग्वाल मुझसे ही गायें घिरवाते हैं। माता उबल पड़ी—

"यह सुनि मात जसोदा ग्वालिनि गारी देत रिसाइ।
मैं पठवति अपने लरिका कौं आवै मन बहराइ॥
सूर स्याम मेरौ अति बालक मारत ताहि रिगाय॥"

कृष्ण ने गिरिराज उठाया। यशोदा आश्चर्यचकित है। कन्हैया का हाथ दुख रहा होगा। उसे दबाती हुई अपकी छाती से लगाती है—

गिरिवर कैसे लियौ उठाइ।
कोमल कर दाबति महतारी यह कहि लेत बलाइ।

यशोदा के अतिरिक्त सूर ने राधा की माँ का चित्रण भी रुचि से किया है।

४.१८ वियोग वात्सल्य—सूर ने संयोग वात्सल्य का चित्रण चरम पर पहुँचा दिया है। पर वियोग- वात्सल्य का प्रभाव उससे कहीं अधिक है: संयोग की उत्कटता वियोग के लिये पृष्ठभूमि तैयार करती है। संयोग के बीच में भी वियोग के संक्षिप्त स्थल आते रहे। कालियदमन के लिए जब कृष्ण यमुना में कूद पड़ते हैं, तब भी यशोदा की विह्वलता देखने योग्य है। वह वियोग विस्तृत नहीं है। पर मार्मिकता में कोई कमी नहीं है। इस समय करुण वियोग- वात्सल्य की अभिव्यक्ति कवि ने की है। यशोदा की व्यग्रता देखिए—

'खन भीतर खन बाहिर आवति, खन आँगन इहि भाँति।
सूर स्याम को टेरत जननी, नेकु नहीं मन साँति॥

वयोग वात्सल्य का दूसरा अवसर कृष्ण के मथुरा-गमन के समय आता हैं। जो यशोदा कृष्ण को दूर भी खेलने नही जाने देती थी, वह आज अपने छगन-मगन को मथुरा जाता हुआ देख रही है। वह मथुरा, जहाँ कृष्ण के जीवन के लिए अनेक संकट हैं। इस अवसर को चार भागों में बाँटा जा सकता है, मथुरा गमन का, नन्द आदि का कृष्ण के बिना ही लौटकर आ जाना, वियोग

में कुछ समय वीत जाने पर नन्द-यशोदा का वार्तालाप, तथा उद्धव के आगमन के समय।

४.१८.१ मथुरा गमन के समय—अक्रूर व्रज में आ गए। अपने प्रेम का कथन करके माता उनको रोकना चाहती है। कभी वह कहती है कि ये बच्चे असमर्थ हैं। ये राजदरबार के नियमादि तो नहीं जानते। पर यह पगली नहीं जानती कि उसके आँसुओं में डूबे ये प्रयत्न भी अब कृष्ण को नहीं रोक सकते। तब उसने सारे व्रज को दुहाई दी—

> **जसोदा बार-बार यों भाखै।**
> **है कोउ व्रज में हितू हमारो, चलत गोपालहि राखै॥**

वह सब कुछ त्याग सकती है, पर उसका कन्हैया उसकी आँखों से ओझल न हो—

> **बरु ए गोधन कंस सब, मोहि बन्दि लै मेलौ।**
> **इतने ही सुख कमल नैन मेरी अँखियन आगे खेलौ॥**

यदि यह चला जायगा, तो माता किसको हँस-हँस कर बुलायेगी। पर कृष्ण स्वयं चलने के लिए तैयार हैं। यह जानकर यशोदा को और भी दुःख है। न जाने अतीत की कितनी बाल-क्रीड़ाएँ चल-चित्रों की भाँति उसके मन में तेजी से घूम रही हैं। भविष्य का सूचीभेद्य अंधकार भी यशोदा की रूखी-सूखी आँखे देख पा रही हैं। इस सब में यशोदा की चेतना खो गई—

> **सूरदास अवलोकि जसोदा धरणि परी मुरझाई।'**

यशोदा का विश्वास है कि कृष्ण तो इतने निष्ठुर नहीं थे। पर अक्रूर ने कोई टोना कर दिया है इसी से वे उनके साथ लगे फिरते हैं: बोलते भी नहीं। यशोदा इसी प्रकार अर्द्धचेतनावस्था में थी। उसी समय किसी ने कहा : कृष्ण जाना चाहते हैं। यशोदा पृथ्वी पर लोट गई। अब यशोदा को व्रज उजड़ा हुआ दीख रहा है। यशोदा को निश्चय हो गया कि अब ये चले ही जायेंगे। उसने कहा, एक बार तो देख लो! एक बार तो मेरी छाती से लग जाओ। तुम्हारे जाने पर तो सारा व्रज अंधकार में लीन हो जायगा—

> **मोहन नेकु बदन तन हेरो।**
> **राखौ मोहि नात जननी को, मदन गोपाल लाल मुख फेरो॥**
> **पाछे चढ़ो विमान मनोहर, बहुरो यदुपति होत अँधेरो।**
> **बिछुरत भेंट देहु ठाढ़े ह्वै निरखो घोष जनम को खेरो॥**

'राखो मोहि नात जननी को' में कितनी मर्मस्पर्शी करुण व्यंजना है। कृष्ण

वैसे चखते-चलते कह गये 'आवहिंगे दिन चार-पाँच मेंहम हलधर दोउ भैया।'

४.१८-२. नंद का लौटना—कृष्ण के साथ नंद बाबा भी गए। वहाँ जाकर कृष्ण ने कंस आदि को मार दिया। उग्रसेन राजा बने। माता-पिता को उन्मुक्त किया। नन्द तथा उसके साथी ग्वालों को विश्वास था कि अब कृष्ण चलेंगे कृष्ण की विजय से उनका मस्त गर्वोन्नत था। कृष्ण ने एक दिन नन्द से बड़ी धी नीरस और औपचारिक बातें की। उन्होंने कहा मैं पृथ्वी का भार उतारने आया हूँ। संसार में मिलना जुलना तो चार दिन का हैं। आपने मेरा जो पालन-पोषण किया, उसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ—

मिलन हिलन दिन चारि कौ तुम तो सब जानौ।
मो को तुम अति सुख दियौ सो कहा बखानौ॥

नन्द के हृदय में बड़ी ठेस लगी। सौ-सौ नागिनों का दंश उनको अनुभव हुआ। उन्होंने कहा कि तुम तो इस प्रकार बातें कर रहे हो। मेरी आँखों से अश्रु वर्षा हो रही है। तुम अब ब्रज चलो। माता तुम्हारी बाट जोहती होगी। पर सब व्यर्थ। नन्द का दुख सूर के शब्दों में—

व्याकुल नद सुनत ए बानी।
डसी मनो नगिनी पुरानी॥

नंद यशोदा से जाकर यह सब कैसे कहेंगे ? उसका कलेजा तो दो टूक हो जायगा—

अरध श्वास चरण गति थाक्यो, नैनन नीर न रहाइ।
सूर नंद बिछुरे की वेदन मो पै कहिय न जाइ॥

'माया मोह मिलन और बिछुरन ऐसे ही जग जाइ' ना नग्न और निष्ठुर सत्य नन्द की छाती को जला रहा है अन्त में उन्होंने पिता की मर्यादा को छोड़ा और कृष्ण के चरण पकड़ लिए :

'धाइ चरन परे हरि के, चलहु ब्रज को स्याम।'

अन्त में नन्द बड़ी दृढ़ता से कहते हैं—

'मेरे मोहन ! तुमबिन नाहि जैहों।
महरि दौरि आगे जब ऐहैं कहा ताहि मैं कैहौं॥

पर कृष्ण विचलित नहीं हुए उन्होंने यशोदा के लिए भी संदेश दिया कि तुमने जो उपकार किया है उनसे हम उऋण नहीं हो सकते ऐसा कहकर

कृष्ण उठकर चल दिए । : 'उठे कहि माधौं इतनी बात ।' वियोग वात्सल्य का इससे निष्ठुर उद्दीपन नहीं हो सकता । जिस पर नन्द प्राण निछावर करते थे, उसकी यह उदासीनता ! नन्द का हृदय दहक रहा था—"धकधकात मन बहुत सूर उठि चले नन्द पछतात ।' आगे पैर ही उनके नहीं पड़ रहे थे । उनके ब्रज वापिस पहुँचने पर यशोदा और ब्रज की क्या दशा होगी ? यह सोच कर पैर ही आगे नहीं पड़ते : 'अध-अध पद अब भई कोटि गिरि जौ लगि गोकुल पैठौं ।" नन्द कृष्ण के विरह से संतप्त है और यशोदा के व्यंग्यों की कल्पना करके आकुल हैं ।

नंद को जिसकी आशंका थी वही हुआ यशोदा और रोहिणी पुत्र मिलन की आशा से नन्द की ओर बढ़ीं । पर वे तो अकेले ही लौट आये यशोदा ने रोष में सारा दोष नन्द पर रखा । दशरथ भी तो पिता थे, जो पुत्र-शोक में मर गए । अभी लौट कर जाओ और कृष्ण को लेकर आओ ।

'छाँड़ि सनेह चले कंत मंदिर दौरि न चरन गह्यौ ।
फटि न गई वज्र की छाती, कत ये सूल सह्यौ ।।

नन्द को झुँझलाहट हुइ । उन्होंने यह सब किया था । उन्होंने कहा, मैं बहुत मना करता था, पर तुम कृष्ण पर रोप करती रहती थी : मारा ही करती थी—

तब तू मारिबोइ करति ।
रिसनि आगे कहि जो आवत, अब लै भाँड़े भरति ।।

यशोदा भी व्यंग्य करती—
नन्द ब्रज लीजो ठौकि बजाय ।
देहु विदा मिलि जाहिं मधुपुरी, जहँ गोकुल के राय ।।

४.१८-३ स्मृतियाँ—अन्त में माता समझ गई कि कृष्ण ही नहीं आये । अब उसके लिये चावों में डूबे रहने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह गया । सभी लोग समझाते हैं, पर नवीन को देखकर माता के हृदय में शूल होने लगता है ।

यद्यपि मन समझावत लोग ।
शूल होत नवनीत देख, मेरे मोहन के मुख जोग ।।

अनेक प्रकार के मनोद्वेग यशोदा के हृदय में चलने लगे । चिन्ता' होती थी—

प्रातःकाल उठि माखन रोटी को बिन माँगें देहै ।
अब उठि मेरे कुँवर कान्ह को, छिन-छिन अंकन लैहै ॥

कहीं कृष्ण संकोच करें और भूखे ही रह जाँय, यशोदा का हृदय इस चिन्ता में जल रहा है। फिर कभी अभिलाषा करती है—

कब वह मुख बहुरौ देखौंगो, कह कैसो सचुपैहौं ।
कब मो पै माखन माँगेगो, कब रोटी धरि दैहौं ॥

खेलने के स्थान, खरिक आदि को देखकर 'स्मरण' होता है : 'दुहत देखि औरनि के लरिका प्रान निकसि नहिं जातइ' : कभी दोनों विरही पति-पत्नी कृष्ण के गुण-कथन में समय बिताते थे। एक दिन माता 'प्रलाप' कर उठी। इस प्रकार के विरह के सभी मनोभाव सूर में मिल जाते हैं।

४.१८-४ उद्धव का आगमन—इस घटना ने यशोदा और सभी व्रजवासियों की आशा-लता पर तुषारापात कर दिया। उद्धव ने कुशल समाचार कहे। यशोदा ने अनेक बातें पूछीं। अन्त में वह संदेश देती है। उसका हृदय टूट रहा था। उसके मन में एक उक्ति गूँज रही है : 'हौं माता तू पूत।' पर आज वही कह रही है : हौं तौ धाय तिहारे सुत की।' बड़ा विलक्षण व्यंग्य है। देवकी को एक संदेश भेजती है—

'प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतिहिं माखन रोटी भावै।'

वह कहती है कि मैंने न जाने कितने कष्ट उसे दिए थे। अब कह देना कि उनसे कोई काम नहीं लूँगी—

गाय चरावन कुँवर कान्ह सों, भूलि न कबहूँ कैहौं ।
करत अन्याय न बरजौं कबहूँ, अरु माखन की चोरी ॥

कृष्ण ने खिलौनों और वंशी की रक्षा करने को कहला भेजा था। यशोदा ने वे सब भी उद्धव को दे दिये। अन्त में आशीर्वाद देने के अतिरिक्त माता कुछ नहीं कर सकी—

कहियौ जसुमति की आसीस ।
जहाँ रहौ वहाँ नंद-लाड़िलौ, जीवौ कोटि बरीस ॥

उद्धव के आगमन पर वात्सल्य-वर्णन चाहे संक्षिप्त हो, पर बड़ा व्यंजनापूर्ण है।

५. उपसंहार—

सूर का वात्सल्य वर्णन अत्यन्त मौलिक है। यह चित्रण इतना क्रमिक सुश्रृङ्खल और पूर्ण है कि कोई भी कड़ी लुप्त नहीं है। अनेक भावों की पुनरावृत्ति तो है, पर नवीनता लिए हुए। वर्णन में अलौकिकता भी कम नहीं। रस का प्रवाह निर्बाध है। समस्त लीला विस्तार नितांत मानवीय है। भक्ति की भावना रहने के कारण वात्सल्य के साथ अद्भुत का भी मिश्रण है। यह भक्तिपरक वात्सल्य का सहायक है। वात्सल्य के साथ हास्य का समावेश तो अनेकत्र है। गोपियों के संदर्भ में श्रृङ्गार का भी कुछ पुट आ गया है। कुल मिलाकर सूर का वात्सल्य अभूतपूर्व है।

नौ

शृंगार : (१) संभोग

राधा माधव भेंट भई ।
राधा माधव, माधव राधा, कीट-भृंग गति ह्वै जु गई ।।
माधव राधा के रँग राँचे, राधा माधव रंग रई ।
माधव राधा प्रीति निरंतर, रसना करि सो कहि न गई ।।
बिहँसि कह्यौ "हम तुम नहिं अंतर," यह कहिकै उन ब्रज पठई ।
'सूरदास' प्रभु राधा माधव ब्रज बिहार नित नई नई ।।

९ | संभोग शृंगार

प्रस्तावना—

कृष्ण का जन्म हुआ। गोपियाँ हर्ष में निमज्जित हो गईं। कृष्ण बढ़ने लगे : इनका हर्षातिरेक भी अबाध होने लगा। माखन-चोरी से दानलीला तक प्रेम के आरम्भ और आत्मसमर्पण तक की भावाकुल स्थितियों में हर्ष की कितनी ही सरणियाँ बनीं और अब सयोग-सुख का सागर आकाश को चूमे ले रहा है। ज्यों-ज्यों प्रेम और हर्ष का विस्तार होता गया, संकोच और गोपन की क्रियाएँ समाप्त होती गईं अब मर्यादा लोकलाज आदि से अबाधित प्रेम अपने निजी और निरपेक्ष रूप में प्रकट हो गया। अब प्रेम की गति का नियंत्रण स्वयं गोपियों के हाथ में भी नहीं रहा। हर्षोल्लास असीमता की ओर बढ़ता रहा; सीमाएँ झुँझलाती रहीं, टूटती गईं। हर्षोल्लास को प्रकट करने वाली कितनी ही लीलाओं और क्रीड़ाओं का विधान हुआ। इन सारी स्थितियों को शास्त्रीय या पारिभाषिक विधि से भी देखा जा सकता है। पारिभाषिक रूप से सभी कामदशाएँ और भावदशाओं की अभिव्यक्ति मिल जायेगी, पर कहीं परिगणन पद्धति का प्रयोग नहीं किया गया। ये सभी दशाएँ रस-स्थितियों के उपकरण बनकर उपस्थित हुए हैं। परिस्थिति की रसमय सृष्टि सूर की साधना का लक्ष्य है।

पूर्वानुराग—

वैष्णव रस पद्धति के अनुसार विचार करने पर संभोग शृङ्गार का विभाजन इस प्रकार किया जायेगा : पूर्वराग, संक्षिप्त संभोग, मान, संकीर्ण संभोग, संपन्न संभोग और प्रेम-वैचित्र्य। इन पर नीचे विचार किया जा रहा है।

१. पूर्वराग—

गोपियाँ प्रत्यक्षदर्शन से पूर्वानुराग का अनुभव करती हैं। राधा की स्थिति कुछ विशि है : वह कृष्ण के विषय में सुनती रहती थीः 'सुनत रहत

स्रवननि नँद ढोटा करत फिरत माखन दधि चोरी।' यशोदा के आँगन में कृष्ण का रूप विकीर्ण हुआ और गोपियों को मंत्र-मुग्ध करने लगा। अब चतुर्दिक उनकी दृष्टि में कृष्ण ही नाचने लगा। सारे रस तुच्छ प्रतीत होने लगे—'और रस लागत खारौ री।'[१] उनका घर से सम्बन्ध टूटने लगा—'तबतैं गृह सों नातौ टूट्यौ जैसे काँचीं सूतुरी।'[२] लोक लाज की विदा होने लगी—तजौ लाज कुलकानि लोक की, पति गुरुजन प्यौसारौ री।' उनके मुँह से शुभ कामनाओं की वर्षा होने लगी—'चिरजीवहु जसुदा कौ ढोटा।'[३] कृष्ण के एक-एक रोम पर गोपी अपने प्राणों को निछावर करने लगीं—'सूर स्याम के ऐक रूप पर देउँ प्राण बलिहारी री।'[४] इतनी छोटी अवस्था और गोपियों की यह दशा।

माखन चोर तो उनके हृदय में गड़ गये—'उर में माखन चोर गड़े:' गोपियों की तटस्थता समाप्त हो गई। वे केवल रूप की माधुरी में उलझी नहीं रहीं: किशोर कृष्ण की लीलाएँ और चेष्टाएँ मादक हो गईं। उनके मन में कृष्ण की 'अभिलाषा' अंकुरित और विकसित होने लगी। इसको स्तंभ, रोमांच, स्वर भेद जैसी चेष्टाएँ प्रकट करने लगी—'पुलकित रोम-रोम, गदगद मुख बानी कहत न आवै।[५]' सभी गोपियों के मन में अभिलाषा विविध रूप धारण करने लगीं और मिलने की योजनाएँ बनने लगीं—

कोउ कहति, किहि भाँति हरि कौं, देखौं अपने धाम।
हेरि माखन देउँ आछौ, खाइ जितनौ स्याम॥
कोउ कहति मैं देखि पाऊँ, भरि धरौं अँकवारि।
कोउ कहति मैं बाँधि राखौं, को सकै निरवरि॥[६]

इस प्रकार 'प्रभु के मिलन कारन करति बुद्धि विचार।' जब कृष्ण भाग्य से माखन चोरी के लिए पहुँच जाते हैं तो ग्वालिनी छुपकर माखनचोर को देखती रहती हैं। फिर भी आँखें संतप्त होती हैं—'नैननि तपनि बुझान दै।'[७] 'देखत हौं गोरस में चींटी' जैसी उक्तियाँ गोपियों को सुनने को मिलती हैं। गोपी इनकी यथार्थता को समझती हैं—'बात तिहारी जानी।' फिर भी अपने को निरुत्तर पाती हैं और सारी मन:स्थिति मुस्कराहट में फूट पड़ती है—'सुनि मृदु वचन, निरखि मुख सोमा, ग्वालिनि मुरि मुसकानी।'[८] इस मुस्कराहट को गोपी कब तक छिपायेगी।

---

१. सूरसागर ७५३। २. वही ७५४। ३. वही ७५७।
४. वही ७५५। ५ वही ८८४। ६. वही ८९१।
७. वही ८९२। ८. वही ८९७।

'यौवन मदमाती, दिन थोरी, गोरी, गरबीली ग्वालिनी जब उपालंभ देने जाती है, तो कुछ और ही भाव प्रकट होने लगते हैं। सूर ने ग्वालिनी के उफनते यौवन के चित्र भी उसकी बढ़ती हुई अभिलाषा के साथ सजा दिये हैं।[1] इस रूप और यौवन के तनाव-खिचाव पर कृष्ण की आँखें भी रीझने लगीं—'सूरदास प्रभु रीझि थकित भये।' इस प्रकार अभिलाषा एक ओर इन्द्रधनुषी रंगों में विहसित होने लगी, दूसरी ओर न जाने कितनी ऊँचाइयों में बढ़ने लगी। यह अभिलाषा अपने परिपूर्ण रूप में मुरली प्रसंग में मिलती है।[2] कृष्ण के रूप,माधुर्य का वे परस्पर कथन करने लगीं : उनमें वे आत्म-विस्मृत हो गई। मुरली के प्रति यहीं 'असूया' भाव प्रकट होता है। यह अपने आप में स्वतन्त्र नहीं। इससे गोपियों के प्रेम की तीव्रता ही प्रकट होती है।

राधा के रूप की ओर कृष्ण पहले आकर्षित होते हैं।[3] आँखें मिलीं और 'नैंन-नैंन मिलि परी ठगोरी।' दोनों के मन में प्रेम अंकुरित होने लगा : आँखों-आँखों में कुछ बातें हो गई—'नैंन नैंन कीन्हीं सब बातें।' आगे राधा की विकलता, उत्कंठा, अधैर्य आदि के चित्र मिलते हैं। 'अभिलाषा' कितनी मिलन-चातुरी भोली राधा को सिखा देती है। माता के मन में राधा-कृष्ण की जोड़ी अंकित हो जाती है।

गोपियों की 'अभिलाषा' कृष्ण को पति रूप में प्राप्त करने की साधना को जन्म देने लगी। शिव और सूर्य के सामने वे मनौती करने लगती हैं—'पति देहु उमापति गिरधर नंदकुमार।'[4] गुप्त अभिलाषा चीरहरण के प्रसंग में प्रकट हो गई। अभिलाषा ने साधना और तप का रूप ग्रहण किया। गोपियों का व्रत अटल था : अतः अभिलाषा पूर्ण होगी—'करौं पूरन काम तुम्हरो, सरद रास रमाइ।[5] संकोच दूर हुआ : फल की प्राप्ति निश्चित हुई : अभिलाषा प्रतीक्षा में परिवर्तित हुई। पूर्वराग की स्थिति विवाह की संभावना में संक्रमित हो गई। इस अभिलाषा को उत्तेजित करने के लिए सूर ने पलकान्तर, छिनान्तर जैसे अस्थायी वियोग-क्षणों की भी मार्मिक सृष्टि की है। रास गंधर्व विवाह ही है। इस विवाह की अन्तिम झलक नृत्य और जलक्रीड़ा में दिखलाई देती है। रास के उपरान्त प्रेम और मिलन के क्षण आकुल होने

१. सूरसागर, ६१७-६१६। २. सू० सा० १२३८-१२७६।
३. वही १२६०-६२। ४. वही १३८४।
५. वही १४१४।

लगे । गोपियों के साथ निकुंज-क्रीड़ाएँ हुईं—'विहरत कुंजनि कुंज बिहारी ।'[1] विहार के समय कभी बादल घिर आते तो कृष्ण एक पर्णकुटी बनाते—'निज कर कुटी सँवारी ।'[2] उस कुटी में सेज बनीं : मिलन हुआ ।[3] रति-केलि ने 'कूट' शैली ग्रहण की । सुरतान्त झाँकी की मादकता से वातावरण भर गया । रास-मिलन ने निकुंज मिलन का रूप धारण किया । सहचारियों ने निकुंज-केलि के दर्शन किये ।[4] काम की सभी पद्धतियों से रस-विलास हुआ—'कोक कोटिक रभस ।'[5] इस प्रकार रास में सामूहिक रस-रभस था और अब नायक-नायिका का विहार । दोनों ही प्रकार से अभिलाषा पूर्ण होते देखा और युगल-समागम के दर्शन की अभिलाषा भी पूर्ण हुई ।

२. संक्षिप्त संभोग—

इसमें अल्पकालिक मिलन आता है । राधा-कृष्ण गोदोहन का बहाना करके खिरक में आते हैं । वहाँ दोनों का संक्षिप्त मिलन होता है । बाल-क्रीड़ाओं के समय ही राधा कृष्ण का मिलन हो जाता है ।[6] राधा कृष्ण में प्रेम बढ़ जाता है । अरस-परस भी होने लगता है ।[7] राधा को इस संक्षिप्त संभोग ने भी विकल कर दिया । उसने कृष्ण से मिलने के लिये साँप के डसने का बहाना किया । कृष्ण को गारुड़ी के रूप में बुलाया जाता है और मिलन हो जाता

---

१. सू. सा. १८०५ । २. वही १८०६ ।

३. गौर साँवल अंग रुचिर तापर मिले,
सरस मनि मृदुल कंचन सु आभा खची । (वही, १८०९)

४. सूर सकल सहचरि देखि, तजी विकलता,
परम फल प्रानपति सुरति आयौ । (वही, १८०८)

५. वही, १८०९ ।

६. सैन दै प्यारी लई बुलाइ ।
लेलन कौं मिलि करिकैं निकसे, खरिकहिं गए कन्हाइ ।
जसुमति कौं कहि प्यारी निकसीं, घर कौ नाँउँ सुनाइ ।।
कर दोहनी लिए तहँ आई, जहँ हलधर के भाइ ।।
(सू. सा. १०।७२८)

७. नीबी ललित गही जदुराइ ।
जबहिं सरोज धर्‌यौ श्रीफल पर, तब जसुमति गई आइ ।
ततछन रुदन करत मनमोहन, मन में बुधि उपजाइ ।।
(वही १०।६८२)

है।[1] इस प्रकार के संक्षिप्त मिलन के क्षणों की बड़ी सुन्दर योजना सूर ने की है। राधा-कृष्ण की कामकेलि का वर्णन भी इन क्षणों में सूर ने किया है।[2] इस प्रकार के वर्णन बालकृष्ण की दृष्टि से कभी-कभी अस्वाभाविक भी लगने लगते हैं।

३. मान—

कृष्णभक्ति शाखा के साहित्य में मान का प्रसंग अत्यन्त विस्तृत रूप में मिलता है। मान अधिकांश राधा करती है। 'सूर' ने कृष्ण के मान का ही उल्लेख तो एक स्थान पर किया है, पर अधिक विस्तार राधा के मान का भी है। मान अकारण भी होता है और सकारण भी। राधा ने एक दिन कृष्ण के वक्षस्थल पर अपना ही प्रतिबिंब देखा और सशंक हो उठी। यह अकारण मान के अन्तर्गत आता है। सकारण मान वहाँ होता है जहाँ प्रिय की पररति सुरतांत रति चिह्नों से प्रमाणित हो जाती है। मान-मोचन में सखी सहायता करती है। एक ओर तो सखी कृष्ण की विरह-विह्वलता का चित्र उपस्थित करती है, दूसरी ओर राधा के रूप-सौन्दर्य का बखान करती है। कभी-कभी कृष्ण स्वयं सखी के वेश में मान छुड़ाने के लिये आते हैं। राधा इस छद्मवेशी सखी को अपनी सखी बनाना चाहती है। राधा पहचान लेती है और मान-विमोचन हो जाता है। इस प्रकार की मान की स्थितियाँ सम्भोग के क्षणों को तीव्र भी बनाती हैं और स्वयं सम्भोग भी बन जाता है। मान के साथ विरह की व्याकुलता भी रहती है। दीर्घ और अकारण मान के पश्चात् पश्चाताप भी होता है। पर मिलन का निश्चित विश्वास होने के कारण यह विरह अधिक उत्कट नहीं हो पाता। इस पर आगे 'मानिनी' नायिका के प्रसंग में और विचार किया गया है।

४. संकीर्ण संभोग—

कई संभोग लीलाओं में यह मिलन होता है। इस प्रकार की क्रीड़ाओं में पूर्ण रूप से आनन्द प्राप्त नहीं होता। मान, छेड़छाड़, अन्तसंघर्ष आदि के द्वारा कुछ न्यूनता बनी रहती है। इस प्रकार के संभोग से संबन्धित लीलाएँ

---

१. क. डसी री स्याम भुअंगम कारे। (सू० सा० २०।७४७)
 ख. हरि गारुड़ी तहाँ तब आए।
 यह बानी बृषभानु सुता सुनि, मन-मन हरष बढ़ाए।
 (सू० सा० १०।७५८)

२. सू० सा० १०।६८६–६६१।

ये मानी जाती हैं : रासलीला, दानलीला, नौकाविहार. जलक्रीड़ा स्नान-लीला और कुंजविहारलीला ।

४. १ रासलीला—रासलीला के वर्णन में सभी वैष्णव कवियों ने अधिक रुचि ली है। वंशीवादन हुआ। गोपियों को आत्म-विस्मृति सी हो गई। उन्होंने शृंगार करने का भी ध्यान नहीं रखा 'अंग सुधि नहीं, उलटे बसन धारहीं, एक एकहि कछु सुरति नाहीं ।'[1] कृष्ण अनजान से बने गोपियों से वन में आने का कारण पूछते हैं—'निसि काहे वन कौं उठि धाई ।'[2] कृष्ण के उपदेशात्मक प्रश्नों और कथनों ने गोपियों को एक जटिल परीक्षण के क्षण में रख दिया। गोपियों ने विरह कातर होकर कृष्ण को प्रत्युत्तर दिया ।[3] तब रास होता है। रास के बीच में सोद्देश्य विरह का अवसर भी आया है। रास के बीच से कृष्ण अन्तर्धान होकर गोपियों और राधा को विरह संतप्त कर देते हैं। इस संक्षिप्त विरह का उद्देश्य इन नायिकाओं के गर्व को समाप्त करना था ।[4] बड़ा ही सघन मिलन हुआ—

मानो माई घन-घन अंतर दामिनि ।
घन दामिनि दामिनि घन अंतर, सोभित हरि ब्रज भामिनि ।।[5]

रासलीला में कोक-कलाओं का मिलन भी पर्याप्त हुआ हैं।

४.२ पनघटलीला दानलीला—विभिन्न लीलाओं और क्रीड़ाओं में गोपियों की विभिन्न मन स्थितियाँ प्रकट होती हैं। पनघट प्रसंग में गोपियों की विकलता अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। यहाँ गोपियों का संघर्ष बहुमुखी हो जाता है। दर्शन और समागम की लालसा उत्कट है। दूसरी ओर

१. सू० सा० १०।९९८ ।
२ वही, १०।१०११ ।
३. आस जनि तोरहु स्याम हमारी।
वेनु नाद धुनि सुनि उठि धाईं, प्रगटत नाम मुरारी।
× × × ×
प्रीति वचन नौका करि राखौ, अंकम भरि बैठावहु ।
सूर स्याम तुम बिनु गति नाहीं, जुबतिनि पार लगावहु ।।
४. न्याय तजी स्यामा गोपाल।
गोरी कृपा बहुत गरबानी, ओछी बुधि व्रजबाल ।।
(सू० सा० १०।१।१२७)
५. सू. सा. १०।१०४८ ।

कृष्ण की धृष्टता पनघट के रास्ते में अनेक रूप धरती है। गोपियाँ उस धृष्टता भरी छेड़छाड़ से परेशान भी हैं, और परेशानी में मधुरता भी हैं। भीतर से पुलकित और बाहर से कुपित गोपी की छबि देखते ही बनती है। वह कहती है–'जुवती आनि देखिहै कोऊ।' किसी प्रकार छूटती है। पर प्रेम में वशीभूत होकर घर लोटती हैं।[1] पैर घर की ओर चलते ही नहीं—'पग द्वै जात, ठठकि फिरि हेरति।' वह घर का रास्ता ही भूल गई। फिर संघर्ष का एक और पक्ष याद आया— गुरुजन, लोकलाज! इस डर ने उसे रास्ता सुझाया—

घर गुरुजन की सुधि जब आई।
तब मारग सूझ्यौ नैननि कछु, जिय अपने तिय गई लजाई।

इस अन्तर्द्वन्द में शास्त्रीय दृष्टि से जड़ता, उद्वेग चिन्ता, स्मृति आदि सभी का समावेश हो जाता हैं। भय और लज्जा का तत्त्व संघर्ष को और भी जटिल कर देता हैं। गोपी अपने मानसिक संघर्ष को इस प्रकार प्रकट करती है—

कैसें जल-भरन मैं जाउँ।
गैल मेरी पर्‌यौ सखि री, कान्ह जाकौ नाँउँ।।
घर तैं निकसत बनत नाहीं, लोक लाज लजाउँ।
तन इहाँ मद जाइ अटक्यौ, नंदनंदन ठाँउँ।।
जौ रहौ घर वैठि कै तौ, रह्यौ नहिन जाइ।
सीख तैसी देहु तुमहीं, घर न नैंकु सुहाइ।।[2]

अन्त में वह इस जटिल संघर्ष से एक निश्चय के द्वारा त्राण पाती है। वह पतिव्रत धर्म पर दृढ़ रहेगी और समस्त वाधाओं का उल्लंघन करेगी—'सूर प्रभु पतिवर्त्त, राखौं, मेटिकैं कुलकानि।'[3] इस निश्चय में गोपी की अटूट आस्था ही प्रकट होती है।

कृष्ण की छेड़छाड़ दानलीला में चरम पर पहुँच जाती है। कृष्ण अब गोपियों से मनमाना दान लेने के लिये वल का भी प्रयोग करने लगते हैं। न जाने कृष्ण -किस-किस वस्तु का दान माँगते थे। वे तो सर्वस्व ही अर्पण करने के लिए कहते थे। गोपियों में पहले कृत्रिम 'अमर्ष व्यक्त होता है। वे

१. सू. सा २०६७।
२. वही. २०७१।
३. वही २०७७।

कृष्ण को डाटती हैं।[१] यशोदा के पास उपालंभ ले जाने की धमकी भी देती हैं। हास्य और व्यंग्य भी चलता है। धीरे-धीरे अमर्ष के हिमखंड गलकर प्रेम की स्निग्ध धारा में मिल जाते हैं। अन्ततः वे आत्म-समर्पण कर देती हैं। कृष्ण कूटशैली में गोपियों के अंगों के उपमानों का नाम लेकर उनके अंग प्रत्यंग का दान माँगते हैं।[२] गोपियाँ कूटशैली में प्रकट वक्तव्य का अर्थ नहीं समझ पातीं। उन्हें विस्मय सा होता है—'तरुनी सब आपस में बूझति, कहा कहत गोपाल।'[३] अन्त में बात स्पष्ट हुई—'अब समुझीं हम बात तुम्हारी।' एक लंबा वाद-विवाद चला। कृष्ण ने काम संकेत से गोपियों के अवचेतन मन का स्पर्श किया।[४] गोपियों का अपना ही अज्ञात रहस्य मिल गया। वे मग्न हो गईं।[५] वे इतनी प्रेमविभोर हो गईं कि शरीर की सुध भी नहीं रही। अब उनको अपना गर्व चूर-चूर होता दिखलाई दिया। वे रूपगर्विताएँ समर्पण की स्थिति में तो आ गईं, पर अब उन्हें अपना रूप-यौवन तुच्छ प्रतीत होने लगा—

> **जोबन-रूप नहीं तुम लायक, तुमकौं देति लजाति।**
> **ज्यौं बारिधि आगैं जल किनुका, बिनय करति इहि भाँति।**[६]

पहले माखन और दधि का दान दिया गया। राधा से मक्खन माँग-माँग कर कृष्ण ने खाया। गोपियाँ पूछने लगीं कि यदि अभी भी तृप्ति नहीं हुई हो तो और मक्खन लावें। जब वे वापस आईं तो 'उन्माद' में भरी थीं। कुंजभवन में श्यामा-श्याम का विहार भी हुआ।[७] और वही कूटशैली में रति-रभस का चित्र। एक रहस्य संकेत—'राधा हरि आधा आधा, तनु एकै ह्वै द्वै ब्रज में अवतरि।' एक श्लथ सुरतान्त झाँकी—'रैनि जागि प्रीतम कैं संग रंग भीनी।' वही सखियों का सारी बात का भाँप जाना : राधा के बहाने और अन्त में यथार्थ-कथन। वही माता की कहा सुनी। इस प्रकार रस-रंग भरी लीला का उपसंहार हुआ। इस प्रकार गोपियों का मन निर्द्वन्द्व होकर कृष्ण में रम जाता है।

४. ३ **ग्रीष्म लीला**—क्रीड़ाओं का वर्णन करने में कवि कामशास्त्रीय और काव्यशास्त्रीय पद्धति को अपनाता है। ऋतुओं के अनुसार क्रीड़ाएँ की

---

१. सू. सा. २१५१।
२. सू. सा. २१६७।
३. वही, २१६८।
४. वही, २२०६।
५. वही, २२०७।
६. वही, २२०८।
७. वही, २२९७।

गई हैं। लीलाओं में कृष्ण के साथ गोपियों का सामूहिक मिलन भी होता था और राधा के साथ व्यक्तिगत समागम भी। क्रीड़ाओं में युगल-समागम ही विशेष रूप से मिलता है। सुरति इन क्रीड़ाओं का मध्य बिन्दु होता है। सुरति-क्षण से पूर्व परस्पर रागानुराग, परस्पर रूपाकर्षण और तत्संबन्धी वार्तालाप की सरस भूमिका होती है और रति-क्षण के पश्चात् सुरतान्त चित्रों की योजना रहती है। उदाहरण के लिए ग्रीष्म-बिहार को लिया जा सकता है। इसकी संरचना इस प्रकार है:—

क—१. राधा का सखियों सहित यमुना विहार के लिए जाना : मार्ग की बतकही—२ पद

२. सखियों का राधा के साथ जल-बिहार। उसी समय कृष्ण-दर्शन —२ पद
३. कृष्ण का नख-शिख सौन्दर्य-वर्णन— २ पद
४. राधा का कृष्ण की रूप-माधुरी-पान — ५ पद
५. सखियों ने इस ताक-झाँक को समझ लिया : परस्पर बतकही— ४ पद
६. सखियों के जान लेने से राधा का मानसिक संघर्ष— २ पद
७. मार्ग में कृष्ण की रूपचर्चा :
   क— गोपियों द्वारा रूप-कथन— ६ पद
   ख— राधा के द्वारा रूप-कथन, आँखदशा, प्रभाव आदि का कथन— ५ पद
८. सखियों में परस्पर राधा की चर्चा— ३ पद

ख—९. कृष्ण का फिर आगमन : राधा गोपियों का आकर्षण : रूपचर्चा—५३ पद

१०. परस्पर अनुराग की स्थितियाँ : उभय आकर्षण : प्रेमकथा : चर्चा—१०० पद

ग—११. राधा कृष्ण का यमुना के रास्ते में मिलना : पर सखियों का आ जाना : राधा का संकेत करके चला जाना— २ पद

१२. सखियों ने संक्षिप्त मिलन के संबन्ध में राधा के भावों को प्रकट कराना चाहा : इस संबन्ध में राधा और सखियों का चातुर्य— १२ पद

घ १. दूसरे दिन राधा का 'मोतिश्री' आभूषण का बहाना करना :
राधा और उसकी माँ की बातचीत— १५ पद
२. कृष्ण का आह्वान और कृष्ण का आना— ५ पद
३. सुरति-चित्र : कामशास्त्रीय क्रीड़ाएँ— ७ पद
४. सुरतान्त चित्र : परस्पर विदा : गृह गमन— १२ पद
५. सखियों का रति-श्लथ राधा को देख लेना :
तत्संबन्धी वार्तालाप— १५ पद

इस रूपरेखा से सूर के द्वारा चित्रित संभोग-क्रीड़ाओं का वातावरण स्पष्ट हो जाता है। रूपाकर्षण और अनुराग समय के पदों की संख्या सबसे अधिक है। आकर्षण उभयनिष्ठ है। पर राधा और सखियों की रूपासक्ति के पदों की संख्या ही अधिक है। इस विधान में विभाव पक्ष का पूर्ण विकास दिखलाया गया है। दूसरा पक्ष संघर्ष का है। पहला संघर्ष राधा के मन में सखियों को लेकर है। राधा कृष्ण से लुक-छिप कर ही मिलती है, पर न जाने सखियाँ सारी मनः स्थिति को कैसे भाँप जाती हैं। राधा की रति चेष्टा और सुरतान्त झाँकी को लेकर बड़ा ही सरस वार्तालाप होता है। पर सखियाँ अन्ततः समस्या नहीं बनतीं। वे या तो राधा के सौभाग्य की सराहना करती हुई विदा होती हैं या राधा को चेतावनी देकर कि हमसे कोई बात छिपाने का प्रयत्न अब कभी मत करना, हम तो तुम्हारी सहायक हैं—

भोरी-अलबेली राधा ! दूसरा संघर्ष माता को लेकर है। माता वात्सल्याधिक्य के कारण राधा के देर-अबेर आने से चिंतित होती है। राधा देर से आने के न जाने कितने बहाने ढूँढ निकालती है। माँ को अपनी चतुराई में फँसाकर कृष्ण से मिलने जाती है। राधा का सारा झूँठ वात्सल्य के पारावार में छिप जाता है। तीसरे संघर्ष का आधार ब्रज का वातावरण है। राधा के प्रेम की कथा सभी स्थानों पर की जा रही है। पर, राधा की क्रीड़ा के प्रसंग में सूर ने इस संघर्ष को अधिक नहीं उभारा है। सूर की वृत्ति रूपचर्चा और सखियों द्वारा राधा कृष्ण की रतिचर्चा में विशेष रमी हैं। कला भी इन्हीं के विकास विस्तार में सर्वोच्च है। रति-रण की चर्चा संक्षिप्त और सुरतान्त की कुछ अधिक विस्तृत है।

उक्त समागम के प्रसंग का विस्तार सूर ने अत्यन्त ही मानवीय धरातल पर किया है। वातावरण को रंगीन वार्तालाप से सजीव कर दिया है। काम के क्षणों में भोलापन एक चातुर्य में परिणत हो जाता है। चतुराई

गोपन के लिये प्रयुक्त होती है। गोपन के सारे प्रयत्न वास्तव में यथार्थ को ही अधिक प्रकट करते हैं। राधा अपने मन की कोई भी बात तो नहीं छिपा पाती। कामशास्त्रीय और काव्यशास्त्रीय अस्फुट संकेत भी मिल जाते हैं, पर स्वाभाविकता उनके द्वारा बाधित नहीं होती। इनके साथ ही सूर कभी नायक-नायिका के संबन्ध के ताने-बाने में रहस्योन्मुख भी हो जाता है, पर उसकी वृत्ति वहाँ अधिक देर तक नहीं ठहर पाती। शीघ्र ही वह रस की सरल-तरल बीचियों में निमग्न हो जाती है। क्षणिक विरह की वेदना रस को उत्तेजित करती हैं। संयोग के सजीव और व्यावहारिक संदर्भ का सूत्र सूर ने विस्तृत करके मनोवैज्ञानिक धरातल प्रस्तुत किया है।

५. संपन्न संभोग

इस स्थिति में अनुराग प्रगाढ़ हो जाता है। मिलन स्वच्छन्द रूप से होता है। न द्वन्द्व ही रहता है और न अमर्ष ही। शुद्ध आनन्द संभोग-व्यापार से प्राप्त होता है। झूलन, वसन्त, होली, निद्रा, धूर्तता आदि इसी संभोग की कोटि में आती हैं।

५.१ **झूलन**—संयोग का सामूहिक रूप रास में मिलता है। अन्य कुछ लीलाओं में सामूहिक संयोग की स्थितियां है। पर, कवि जैसे युगल समागम और दाम्पत्य बिहार की ओर अधिक प्रवृत्त होता जाता है। सखियों में सहचरी भाव का उदय होता जाता है। वे युगल समागम की दर्शिका और सहायिका भी बन जती हैं। दूती रूप में वे मानिनी राधा को मनाती हैं: दोनों के मिलन की स्थितियों को संपन्न करती हैं। सुरतान्त परिस्थिति में हास-परिहास के द्वारा समागम-संगम के क्षण का उद्घाटन करके, उसका आस्वाद लेती हैं। इस प्रकार राधा-कृष्ण संयोग का मुख्य रूप से और चन्द्रावली, ललिता एवं अन्य सखियों का संगम गौण रूप से, कवि का वर्ण्य विषय बना रहता है।

संयोग की स्थिति ऋतु पर्वों के अवसर पर भी उत्पन्न हो जाती है। वर्षा ऋतु में सावन का महीना संयोग सुख की दृष्टि से साहित्य में प्रसिद्ध रहा है। व्रज का यह एक प्रधान पर्व है। सूर ने इस पर्व का संदर्भ देकर संयोग को स्वाभाविकता में ढाल दिया है। वर्षाऋतु का उद्दीपक प्राकृतिक परिवेश—

बन बननि कोकिल कंठ निरूति, करत दादुर सोर।
घन घटा कारी, स्वेत बग पंगति, निरखि नभ ओर॥

तैसीयै दमकति दामनी तैसोइ अंबर घोर ।
तैसोइ रटत पपीहरा, तैसोइ वोलत मोर ।।
तैसोयै हरियरि भूमि विलसित, होति नहि रुचि थोरि ।
तैसियै रंग सुरंग विधि- वधु वेलि है चित चोरि ।।
तैसीयै नन्हीं बूंद बरषति, झमकि-झमकि झकोरि ।
तैसीयै भरि सरिता सरोवर, उमंगि चलि मति फोरि ।।[1]

विश्वकर्मा ने हिंडोरा वना दिया । गोपियों ने श्याम-श्याम से झूलने के लिए प्रार्थना की । प्रार्थना स्वीकार की गई और झूलना आरम्भ हुआ । सखियाँ उन्हें झुलाने लगीं—'स्याम-स्यामा संग झूलत सखी देति झुलाइ ।'[2] ग्वालों के यूथ भी वातावरण में हैं और ग्वालिनों के भी । जिस हिंडोरे में युगल सरकार झूलेंगे, उसका सौन्दर्य और उसकी रचना का कौन वर्णन कर सकता है ?[3] प्रिया-प्रियतम के रूप, यौवन और शृंगार की छवियाँ भी आज इन्द्र-धनुषी हो रही हैं । आकाश में दर्शक देवताओं की भीड़ लगी है । झुलाने वाली गोपियों का रूप, सौन्दर्य और उल्लास भी असीम होता जा रहा है । सवसे अधिक मधुमय क्षण वह है जब वढ़े हुए पैंगो से डरी हुई प्रियतमा प्रिय की गोद में सिमटने लगती है—

कोउ डरपति, हा हा करि बिनवति प्यारी अंकम लाइ ।
गाढ़ें गहति पियहि अपने भुज पुलकित अंग डराइ ।।[4]

इस प्रकार झूलन संयोग का विचित्र क्षण उपस्थित हुआ । सूर की कल्पना कभी रूप में उलझती है, कभी उद्दीपक प्रवृति में, कभी 'स्पर्श' की छवियाँ उसके सामने आती हैं, कभी उल्लसित भावनाएँ । कृष्ण बारी-बारी से सभी के साथ झूल रहे हैं । झूलने की क्रिया आँखो में अधिक चल रही है—नैननि नैन जोरें झूलें थोरैं-थोरैं ।[5] श्यामा-श्याम स्वयं दामिनी और घन बने हुए हैं ।

५.२ बसंत : होली—वसंत होली का त्यौहार ब्रज में विशेष पद्धति रखता है । इस अवसर पर सामूहिक रूप से मर्यादा का भंग किया जाता है । इससे अधिक स्वच्छन्दता किसी पर्व-त्यौहार में नही मिलती । स्त्री-पुरुष स्वच्छन्दता पूर्वक परस्पर समीप जितने इस त्यौहार में आते हैं,उतने कभी

---

१. सू० सा० ३४४८ ।
२. सू० सा० ३४४९ ।
३. वही ३४५०, ३४५१ ।
४. वही ३४५२ ।
५. वही ३५४७ ।

नहीं मन की भावनाओं के विविध रंग बाह्य रंगों में रूपायित हो जाते हैं । हास, परिहास और उल्लास जैसे पराकाष्ठा पर पहुँच जात हैं। पुरुष और स्त्रियों की रस-विलास परक प्रतियोगिताएँ भी होती हैं । इस सांस्कृतिक पर्व के समय भी सूर ने विचित्र स्थितियाँ चित्रित की हैं।

वसंत, ऋतुराज, की मैत्री रसराज से है। इस रूप में वह सबसे अधिक कामोद्दीपक ऋतु हो जाती हैं। मानिनियों के मान का विमोचन हो जाता है—

'ऐसी पत्र पठायौ बसंत। तजहु मान माननी तुरंत ।[१]

वसंत-राज अपनी समस्त सेना सहित ब्रज में प्रविष्ठ हुआ :[२] प्रिया प्रियतम परस्पर उद्दीपनों के निदर्शक संकेत करने लगे ।[३] गोपियों ने निश्चय किया— 'फागु खेलावहु सग कंत ।' गोपियों की कामना को पूर्ण करने के लिए कृष्ण बसंत-लीला मैं प्रवृत हुए— 'जुबतिनि पूरने करन काम ।[४]' सारा वातावरण मद, रंग, राग और उल्लास से आकुल हो गया ।

एक ओर राधा के नेतृत्व में सखियाँ और दूसरी ओर कृष्ण के नेतृत्व में ग्वाल एकत्र हो गये— 'इत श्री राधा, उत श्री गिरधर, इत गोपी, उत ग्वाल ।' [५] इस प्रकार सांस्कृतिक दृष्टि से विधिवत् होली होने लगी। राधा कृष्ण पर छड़ी लेकर आक्रमण करेती है—'लैं लैं छरी कुमारि राधिका, कमल नैंन पर धाई ।' हुरीहारीं' राधा की सहायता रंग आदि देकर सखियाँ कर रही हैं और कृष्ण सहायक सखा भी अपने दायित्व को समझ रहे हैं। 'वाहर से तो यह होली है, पर वस्तुतः यह प्रेम भावनाओं की अभिव्यक्ति का ही एक प्रकार है – 'इहि मिस करति प्रगट गोपी, उर अंतर को अनुराग ।'[६] आज गोपियों ने अतुलित शृंगार किया है। ढफ, वाँसुरी आदि की झंकारों में उनकी नुपूर ध्वनि मिली हुई है। सारी सखियाँ मिलकर कृष्ण को पकड़ लाती हैं और उसको रँग में डुवो देती हैं—

मिलि दस पांच अली चली कृष्णहिं, गहि लावतिं अचकाइ ।
भरि अरगजा अबीर कनक घट, देहिं सीस तें नाइ ॥
छिरकति सखी कुमकुमा केसरि, भुरकति बंदन-धूरि ।
सोभित है तनु सांझ समैं घन,आए हैं मनु पूरि ॥[७]

---

१. सू० सा० ३४६३ । २. सू० सा० ३४६४,३४६५ ।
३. वही ३४६८ । ४. वही ३४७० ।
५ वही ३४७२ । ६, वही ३४७८ । ७. वही ३४७८ ।

कृष्ण की शोभा संध्या समय के बादल जैसी हो गई। आज तो कृष्ण पर गोपियाँ बल प्रयोग कर रही हैं। वे 'लोक-वेद-कुल-धर्म केतकी नैंकु न मानति कानि।'[१] दोनों दल आनन्द-विभोर हो गये। दोनों ओर से पिचकारियाँ चल रही हैं: कुमकुमा चल रहे हैं। कृष्ण ने यह क्या किया—'नवल छबीले लाल, तनी चोली की तोरी।'[२] राधा कुपित हो गई—'ढीठ सौं खेलैं को री?' अब होली की क्रियाएँ और तीव्र हो गईं। कृष्ण की और भी गति बनाई गई—'इक पट पीतांबर गहि झटक्यौ, इक मुरली लई कर मोरी की।'[३] ललिता, चन्द्रावली आदि सभी सक्रिय हैं। ललिता ने कृष्ण का स्त्री-वेश बना दिया—'सीस बेनी गूँथि, लोचन आँजि करी अनीत।' राधा हँसते हुए इस क्रिया को देख रही है: 'राधिका दूरि हँसति ठाढ़ी, निरख पिय मुख लाज।'[४] गोपियाँ कृष्ण से सभी दाव गिन-गिन कर ले रही हैं। गोपियों ने कह दिया कि यदि पीतांबर चाहते हो, तो हमारे निहोरे करो। पर कृष्ण ने एक सखा को गोपी बनाकर भेजा और पीतांबर प्राप्त कर लिया।[५] गोपियाँ भी कम नहीं। उन्होंने ग्वालों का रूप धारण किया और कृष्ण को पकड़ कर ले आईं और उनकी और भी अधिक दुर्दशा की। राधा के सामने यह सब किया गया—

ब्रज जुवतीं मिलि नागरि, राधा पै मोहन लाईं।
लोचन आँजि भालि बेंदी दै, पुनि पुनि पाइ पराईं॥
बेनी गूँथि माँग सिर पारी, वधू-वधू कहि गाई।
प्यारी हँसति, देखि मोहन मुख, जुवती बने बनाई॥
× × × ×
एक अधर गहि सुभग अँगुरियनि, बोलत नहीं कन्हाई।
नीलांबर गहि खूँट चूनरी, हंसि-हंसि गाँठि जुराई॥[६]

बहुत बनते थे: खूब फंसे बच्चू। अब छूटने का कोई मार्ग नहीं। यशोदा ने यह सब सुना और जैसे-तैसे कृष्ण को आकर छुड़ाया—'पद मेवा दै स्याय छुड़ायौ।' 'लला फिरि आइ हौ खेलन होरी' जैसा सारा वातावरण इस प्रश्न की ध्वनि से भर उठा। इस क्रिया में सूर ने बड़ी रुचि ली है। कभी-कभी कृष्ण को छूटने के लिए हाहा खानी पड़ी—'हाहा करि उबरे।'[७] होली के

१. सू० सा० ३४७९। २. वही ३४८८। ३. सू. सा. ३४९०।
४. वही ३४९४। ५. वही ३४९५।
६. वही ३४९७। ७. वही ३५१५।

साथ संयोग की लीलाएँ भी चल रही थीं। जब कृष्ण को पकड़ लिया, तब—

१. काहू तुरत आइ मुख चूम्यौ, कर सौं छुयौ कपोल।
२. कोउ मुरली लै लगी बजावन, मन भावन मुख हेरि।
३, स्रवननि लागि कहत कोउ बातैं, 'बासन हरे तेइ आप।
४. कोउ गैननि सों नैन जोरि कैं, कहति न मोतन चाहौ।
५. इक बूझति इक चिबुक उठावति, बास पाए हरिनाइ।
६: नख छत छाप बनाए पठय, जानि मानि गुन येहु।[1]

इस प्रकार 'आजु अति बने कन्हाई।' इस रूप में कृष्ण को नन्द-यशोदा के पास भी गोपियाँ ले गईं। कृष्ण के छूटने की दो ही शर्तें हैं—'की हमसें हाहा करौ...की परहु कुँवरि कें पाइ।[2]' इस प्रकार आलिंगन-चुंबन मय सरस संयोग होली के वातावरण में घटित हुआ। होली के पश्चात् गोपियों के साथ कृष्ण ने यमुना में जलक्रीड़ा की।[3] होड़ा-होड़ी में संयोग रस उद्दीप्त होता गया। अन्त में राधा और उसकी सखियों की विजय हुई। कृष्ण राधा पटरानी के सामने खड़े होकर प्रार्थना कर रहे हैं—

छाड़ि देहु गृह जाउँ आपनें, पीतांबर मोहिं दीजै।
कर जोरे गिरिवरधर ठाढ़े, अज्ञा हमकौं दीजै॥[4]

होलीलीला में संयोग परम स्वच्छन्द हो गया। सभी ने सामूहिक रूप से इसमें भाग लिया। रासलीला के पश्चात् सामूहिक संयोग-सुख की यही लीला हुई। 'बसंत' जैसे संयोग का चरम ही बन गया। अष्टमी से लेकर फाल्गुन की पूर्णिमा तक होली का पर्व चला। प्रत्येक दिन के लीला विलास का संक्षिप्त वर्णन भी किया गया है।[5] संभवतः होली के समय ही गोपियों को कृष्ण के मथुरा गमन का आभास मिलता है। कृष्ण से गोपियाँ होली मनाने के लिए कहती हैं। मथुरा जाने से पूर्व इस पर्व को तो घर ही मना लो। लोकगीत की शैली में गोपियों ने कहा—

कछु दिन ब्रज औरौ रहौ, हरि होरी है।
अब जिनि मथुरा जाहु, अहो हरि होरी है॥

---

१. सू० सा० ३५१६। २. सू० सा० ३५२१।
३. वही ३५२६। ४. वही ३५३५।
५. वही ३५३२, ३५३३।

परव करौ घर आपनैं, हरि होरी है।
कुसल छेम निरवाहु, अहो हरि होरी है।।

इस प्रकार संयोग-पक्ष की अन्तिम लीला होली है। इसमें संयोग अपने चरम पर पहुँचकर ठहर जाता है। इसके पश्चात् विरह का अनन्त पारावार उमड़ पड़ता है। उसके लिये सारा संयोग-समागम एक व्यंग्यपूर्ण भूमिका के रूप में उपस्थित हो जाता है।

समृद्धि मान संभोग--

दीर्घकालीक सुदूर प्रवास के पश्चात् के मिलन में संभोग का यह रूप प्राप्त होता है। यह होता तो अल्पकालिक है, पर अत्यन्त घनिष्ट और निर्विघ्न होता है। दीर्घकाल के पश्चात् होने के कारण यह संभोग-क्षण अपने आप में परिपूर्ण होता है। जैसे युग के युग इस क्षण में समाविष्ट होते जा रहे हों। यह संभोग रसोद्गार के रूप में भी हो सकता है। एक स्मृति ही कभी-कभी इतनी तीव्र हो जाती है, कि संभोग का विगत क्षण यथार्थ रूप से घटित प्रतीत होने लगता है। 'राधा' मान के क्षण की स्मृति में समृद्धिमान संभोग की स्थिति का अनुभव करती है --

नहिं बिसरति वह रति ब्रजनाथ।
हौं जु रही हठि रूठि मौन धरि, सुख ही में खेलत एक साथ।।
पचिहारे मैं तऊ न मान्यौ, आपुन चरन छुए हँसि हाथ।।[1]

समृद्धिमान संभोग का दूसरा प्रकार स्वप्न-मिलन है। स्वप्न-मिलन की कई पद्धतियाँ सूर-साहित्य में मिलती हैं। इसी मिलन के समय नींद टूटकर सपत्नी का रूप धारण कर लेती है। इसको एक क्षण का स्वप्न-मिलन भी सहन नहीं है—

सुपने में हरि आए, हौं किलकी।
नींद जु सौंति भई रिपु हमकौं, सहि न सकी रति तिलकी।।[2]

समृद्धिमान संभोग वास्तविक भी हो सकता है। 'सूर' ने कुरुक्षेत्र में राधा-कृष्ण मिलन कराया है। कुरुक्षेत्र के मिलन में राधा और कृष्ण एक दूसरे से अभिन्न होगये। कृष्ण ने राधा से अपने अभिन्न संवन्ध का कथन भी किया। भेंट की स्थिति को सूर ने इस प्रकार वाणी दी है—

राधा माधव भेंट भई।
राधा-माधव, माधव राधा, कीट-भृंग गति ह्वै जु गई।।

१. सू० सा० १०।३२०३।   २. वही १०।३२६१।

\+ \+ \+ \+

बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अंतर, यह कहिकैं उन ब्रज पठई ।[1]

इस प्रकार के मिलने के पहले और पीछे विरह की करुणा ही व्याप्त रहती है । पर विरहणी को विश्वास हो जाता है कि विरह आंतरिक मिलन ही है ।

६. नायिकाएँ--

६.१ वासक सज्जा—संयोग के कुछ रूपों का चित्रण मनोवैज्ञानिक धरातल पर न होकर काव्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि में भी हुआ है । इन संयोग-प्रसंगों में न सखियों की भूमिका ही विशेष है, और न अन्तर्द्वन्द्व की ही कटुता है । कवि की दृष्टि में शास्त्रीय नायिकाओं का रूप रहता है । नायिका का रूप प्रसंग से विच्छिन्न तो नहीं है, पर प्रसंग अत्यन्त लघु अवश्य रहता है । उदाहरण के लिए यमुना के तट पर नागर और नागरी के समागम की सूत्र-संरचना ली जा सकती है :[2]

१. राधा, यमुना को गई : सखियाँ साथ थीं : राधा ने जैसे-तैसे कृष्ण को मिलन और मिलने के स्थान का संकेत दिया । (२ पद)
२. राधा ने भाव-संकेत की क्रिया को गोपनीय रखने की पूरी चतुराई की, पर एकाध सखी ने रहस्य-संकेतों को देख ही लिया । (१ पद)
३. यह समझ कर कि कृष्ण आयेंगे, राधा ने अपने अंग-प्रत्यंग की रुचिर सज्जा की । (२ पद)
४. सूर्यास्त हुआ : बालचन्द्र उदित हुआ : पर, रसिक शिरोमणि आए नहीं । राधा का मन विकल्पों और संदेहों से भर गया—कहीं सारा शृंगार निष्फल न हो जाये । (१ पद)
५. राधा ने सेज रची । इस रचना के समय व्याकुल अभिलाषाएँ राधा के मन में तरंगित होने लगीं । (१ पद)
६. कृष्ण आये : राधा लजा गई । (१ पद)
७. विहार हुआ : एक ओर रति-नागर कृष्ण और दूसरी ओर नागरी राधा । (४ पद)
८. सुरतान्त युगल माधुरी । (२ पद)
९. प्रातःकालीन छटा और विदा । (५ पद)
१०. पर सखियों ने कृष्ण को जाते देख लिया ।

---

१. सू० सा० १०.४२६२ । २. वही २६४१—२६८९ ।

११. राधा का पश्चाताप : अंतर्द्वन्द । (६ पद)
१२. सखियों का वार्ता-विलास : हाउ परिहास । (२२ पद)

इस संरचना में संयोग का क्षण कामशास्त्रीग और काव्यशास्त्रीस विधियों के साथ घटित हुआ है । प्रस्तावना तो लम्वी नही हैं, पर हास-परिहास परक उपसंहार अवश्य लम्बा है । इसमें मिलन के घनीभूत क्षण का भाव-विस्तार ही परिलक्षित है। राधा को शास्त्रीय नायिका के रूप में देखा गया है ।

उक्त प्रसंग में राधा का रूप 'वासकसज्जा' का है।इस नायिका को प्रियतम के आगमन का निश्चय रहता हैं । वासकसज्जा के रूप में राधा को विश्वास है कि यदि मैंने संकेत से उनको आने के लिए कहा है तो कृष्ण अवश्य ही आयेंगे—'भाव दियौ आवेंगे स्याम ।' भोज के अनुसार वासक का अर्थ है—वासगृह या रतिगृह । भोज के लक्षण के अनुसार वासकसज्जा रतिगृह और सेज की सज्जा में तत्पर रहती है । रावा सेज वना रहीं है—

> राधा रचि रचि सेज सँवारति ।
> तापर सुमन सुगंध छिछावति वारंवार निहारति ।।

राधा अपनी भी सज्जा करती है—'प्यारी अंग सिंगार कियौ ।' इन प्रकार रति-रण से सुसज्जित होकर वह कृष्ण की प्रतीक्षा करती हैं—'नागरि नागर पंथ निहारै । भानुदत्त ने वासकसजा के निरूपण' में प्रतीक्षा के तत्व को स्यान दिया है । प्रतीक्षा की तीव्रता और मन की आकुलता को व्यक्त करने के लिये कवि रावा के अन्तर्द्वन्द की अभिव्यक्ति की है—

> कीधौं अवहीं आवत ह्वै हैं, की आवन नहिं पैहैं।
> मातु-पिता की त्रास उतहि, इत मरे घरहि डरैहैं ।।
> अंग सिंगार स्याम हित कीन्हे, वृथा होन ये चाहत ।
> सूर स्याम आवैं की नाहीं, मन-मनहि अवगाहत ।।

इस प्रकार राधा वासकसज्जा के रूप में आती है । शास्त्रीय दृष्टि से तो उसका निरूपण है ही संदर्भ की कल्पना करके शास्त्रीयता को स्वाभाविकता में भीं वदल दिया गया है ।

६.२ माननी—'सूर' ने रावा के माननी रूप का वड़ा ही विस्तार किया है । मानलीला में नागरी राधा की की प्रतिष्ठा वहुत वड़ जाती है । नायक नायिका की कितनी ही मनुहारें करता है । इस रूप में राधा और कृष्ण को प्रस्तुत करके सूर रासेश्वरी राधा का गौरव ही स्थापित करते हैं ।

राधा ने स्वाधीन पतिका के रूप में कृष्ण को अपने वश में कर लिया—'अपने ही बस पिय कौं करिहौं।'[1] उसे इस बात पर गर्व भी हुआ कि श्याम मेरे वशीभूत हैं। गर्व के भाव को समझ कर कृष्ण लौट गये। राधा इस वस्तु स्थिति को समझ गई। अब वह पश्चाताप और विरह की आग में सुलगने लगी। उसने अपनी अंतरंगा सखियों से अपनी पीड़ा की बात कही : अपने मान पर पश्चाताप प्रकट किया— 'भूलि नहीं अब मान करौं।' सखियों ने राधा को विश्वास दिलाया—'धीरज करि री नागरी, अब स्यामहिं ल्याऊँ।'[2] उन्होंने कृष्ण को राधा की ओर आकर्षित किया। अन्त में सघन समागम हुआ। रति रण का विधान बना—

रुपे संग्राम रति खेत नीके।
एक तें एक रनबीर जोधा प्रबल, मुरत नहिं नेंकु अति सलज जी कै॥

इस प्रकार मानलीला का उपसंहार विविध लीला-विलास के रूप में किया गया है।

एक दिन राधा ने अपना ही प्रतिबिंब कृष्ण के वक्षस्थल में देखा: 'इकटक चितै रही प्रतिबिंबहिं, सौति-साल जिय जांनी।' राधा बिगड़ गई : कृष्णको उसने ललकार दिया—'मोहि छुवौ जनि दूर रहौ जू।' जो-जो मुद्राएँ राधा की होती हैं, वही उनके प्रतिबिंब की। इससे राधा का मान और भी प्रगाढ़ होता जाता है।[3] कृष्ण ने लाख समझाया कि तुमको अपनी ही छाया देखकर शंका हो गई है। पर राधा खिचती ही गई। इस प्रकार मानिनी रूप में राधा तमकती हुई मिलती है। कृष्ण का काम इस मान से उत्तेजित होता जाता है। कृष्ण की ओर सखियाँ दूती बन कर आईं। उन्होंने कृष्ण की कामातुरता का वर्णन किया—'अति व्याकुल तन की सुधि नाहीं, विह्वल कीन्हौ काम।' कृष्ण बेसुध हो रहे थे। उनको प्रेमोन्माद हो गया—प्यारी-प्यारी बोलि कै जुवतहिं उर लाए।' जब सखी ने राधा के आने का समाचार दिया, तो कृष्ण ने संभोग-शैया तैयार की। कोमल कलियों की सेज बनाई गई। इस प्रकार मिलन के लिए कृष्ण की आतुरता का विस्तार करके सूर ने मिलन के भावी क्षण की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि तैयार की। आगे राधा के रूप शृंगार का विस्तार करके मिलन को और भी आकर्षणपूर्ण बना दिया — सखी ने राधा के रूप का विरुद गाया—'और त्रिया नख-सिख

---

१. सूरसागर २६९०। २. वही २७२६।
३. नागरि हँसत हँसी उर छाया, तापर अति झहरानी। वही ३०३२।

सिगार सजि, तेरैं सहज न पूरें।' राधा की साज-सज्जा का उद्देश्य था तत्सुख-'स्याम सुख दैन कौं।' इस प्रकार राधा के रूप का बखान करके दूती-सखी राधा से कहती है—'चलौ किन माननि कुंज कुटीर ?' और राधा आई—'मनौं गिरिवर तें आवति गंगा।' विलास का प्रगाढ़ और मदिर क्षण आया। पहले संकोच का सौन्दर्य और फिर काम-विलास की चातुरी। सखियों ने काम-केलि का दर्शन प्राप्त किया। विलास के पश्चात् सुरतान्त की मधुर झाँकी सूर ने अंकित की। राधा को सूर ने 'कोक कला सुजान' बतलाया है। इस प्रकार मानिनी राधा का कुपित चेष्टाओं का पर्यवसान प्रगाढ़ मिलन में हुआ। मान की पृष्ठभूमि, कृष्ण की आतुरता, सखियों का दौत्य, राधा का रूप-विरुद इन सभी की भूमिका में मिलन का क्षण उद्दीप्त हो गया। राधा का मान सूर ने दीर्घ बनाया है।

६.३ खंडिता[1]— मान के साथ ही 'खंडिता' नायिका का भी प्रकरण जुडा हुआ है। कृष्ण क्रम-क्रम से सभी गोपियों के यहाँ जाते हैं। कुछ नायिकाएं वासक-सज्जा के रूप में मिलती हैं, तो कुछ खंडिताओं के रूप में। किसी को संध्या में आने का वचन दे जाते हैं, और प्रातःकाल पहुँचते हैं। कृष्ण रति चिन्हों से अंकित होते हैं—'अंजन अधर; ,कपोलनि वंदन, लाग्यौ काहू त्रिय कौ।' विनोदी गोपी कृष्ण के सामने दर्पण ले आती है—'दर्पण लै प्यारी मुख आगैं, कहति पिया छवि हेरौ जू।' कृष्ण देखने में लजाते हैं। कृष्ण गोपी से आँखें भी नहीं मिला सकते—'काहैं सकुचत, दृष्टि न जोरत।' पर जब कृष्ण कटाक्ष से उसकी ओर देखते हैं, तो वह मोहित हो जाती है। यह क्रम सभी के साथ चलता रहा। 'सुखमा' से रति करके चन्द्रावली के यहाँ कृष्ण गये। उसने टका सा जवाब दिया—'तहँइ जाउ जहँ रैंन बसे हो।' चन्द्रावली के उपालंभ दीर्घ और करारे थे। अन्ततः मिलन-समागम हुआ। न जाने नागरी चन्द्रावली का क्रोध कहाँ चला गया—

> तब नागरि रिस भूलि गई।
> पुलकि अंग अँगिया उर दरकी, अंग अनंग जई।

और फिर सखियों का चन्द्रावली के सुरतान्त रूप को लेकर वाक्-विलास। इस प्रकार खंडिता प्रकरण का भी पर्यवसान 'सूर' ने प्रगाढ़ समागम में किया है। खंडिता के रूप में राधा का मान दीर्घ हो जाता है। कृष्ण की व्याकुलता

१. खंडिता प्रकरण, सूरसागर, ३०९३-३१५१।

भी बढ़ती हैं । सखी-दूती के प्रयत्न भी बढ़ जाते हैं, और मिलन का क्षण भी स्फीत हो जाता है । सुरतान्त के पदों की भी संख्या बढ़ जाती है ।

६.४ अन्य नायिकाओं का रूप—सामान्यतः राधा तथा अन्य गोपियों को स्वकीया के रूप में ही चित्रित किया गया है । पर चन्द्रावलीजी में परकीया भावना का समावेश मिलता है । राधा स्वकीया और चन्द्रावली परकीया के साथ कृष्ण ने साथ-साथ विहार किया । राधा को सूर ने उस प्रसंग में 'रमणी, (खनि) कहा और चन्द्रावली को सखी । राधा, चन्द्रावली और कृष्ण की मदभरी झाँकी यह है—

नंद नंदन हँसे नागरी मुख चितै, हरषि चंद्रावली कंठ लाई ।
वामभुज खनि, दच्छिन भुजा सखी पर, चले बन धाम सुख कहि न जाई ॥
मनौ बिंब दामिनी बीच, नव घन सुभग, देखि छबि काम रति सहित लाजै ॥[1]

अभिसारिका तो मुरलीवादन को सुनकर सभी गोपियाँ हो जाती है । नायिका-भेद के अन्य सूक्ष्म रूप भी मिल जाते है ।

७. व्यंग्य-विनोद—

सूर ने संयोग की समस्त परिस्थितियों को विनोद से विलसित की हैं । कुछ संयोग-लीलाओं में कृष्ण की विनोदी प्रकृति विविध रूप धारण करती है और कुछ गोपियाँ भी विनोद की भूमिकाएँ प्रस्तुत करती हैं । विनोद और व्यंग्य का पुट संयोग-स्थितियों को चटुल और स्वाभाविक बना देता है । संयोग के रूप निर्जीव विवरण मात्र नहीं रह जाते: उनमें जीवन का रंग भर जाता है ।

विनोद-विलास का क्रमिक विकास हुआ है । माखनचोरी, चीरहरण और पनघट प्रसंग में कृष्ण की विनोदी प्रकृति प्रकट होती हैं । माखनचोरी में व्यंग्य–विनोद बालकृष्ण की भोली प्रकृति और चेष्टाओं से सज जाता हैं । किशोर-कृष्ण का क्रीड़ा-कौतुक विनोद में प्रौढ़ता लाता है । चीरहरण में व्यंग्य और विनोद की पृष्ठभूमि में गोपियों का दुहरा व्यक्तित्व है : वह विनोद गोपियों के यथार्थ रूप में प्रकट कर देता है । पनघट प्रसंग का विनोद गोपियों को स्वच्छन्द करने के लिए है । दानलीला में गोपियों और कृष्ण दोनों के ही विनोद-व्यंग्य प्रौढ़ता को प्राप्त करते हैं । इससे पूर्व केवल राधा के व्यक्तित्व में व्यंग्य और विनोद हैं । मिलन के प्रथम क्षण में ही राधा ने कहा था—

१. सू. सा. २७८८

सुनत रहत स्रवनन नँद ढोठा करत फिरत मांखत दधि चोरी।' आगे चलकर खंडिता के प्रकरण और मान के समय राधा का व्यंग्य-विनोद चरम पर पहुँचता है और गोपियों का दानलीला में। होली के प्रसंग में भी विनोदपूर्ण चेष्टाएँ अधिक हुई हैं। विनोद और व्यंग्य कभी उक्तियों में प्रकट होता है और कभी क्रिया व्यापारों में। अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ कृष्ण को नारी के रूप में सज्जित किया गया है। इस विनोद-व्यापार को सूर ने अनेक स्थलों पर व्यक्त किया है।

व्यंग्य और विनोद की सम्मिलित झाँकी तो उक्तियों में ही मिलती है। दानलीला के प्रसंग में गोपियाँ व्यंग्य-वाणों से कृष्ण को वेध देती हैं। जब कृष्ण ने दान माँगा तो गोपियों ने व्यंग्य भरी वाणी में कहा : पहले तो चोरी करते थे। जब चोरी से पेट नहीं भरा तो वटमारी करने लगे। तो, तुम दान लिये बिना मानोगे नहीं : थैली तो मँगा लो, पीताम्बर न फट जाये कहीं—'थैली माँगि पठाइयै, पीतांबर फटि जाइ।'[1] फिर गोपियाँ एक व्यंग्य करती हैं—रिस करते हो, मथुरा जाकर कंस पर करो। हम पर क्या रिस करते हो—'यह रिस जाइ करौ मथुरा पर, जहँ है कंस कसाई।'[2] काली कमली का रहस्य-निरूपण जब कृष्ण ने किया, तो गोपियों ने व्यंग्य कस दिया—

तुम कमरी के ओढ़न हारे, पाटंबर नहीं छाजत।
'सूर' स्याम कारे, तन ऊपर, कारी कामरि भ्राजत॥[3]

कृष्ण ने अपना गौरव दिखलाया, तो गोपियों ने कह दिया—बड़े आए राजा बनने वाले। राजाओं के ठाट-बाट क्या इसी प्रकार के होते हैं।[4] गोपियाँ कृष्ण को चोर, वटमार आदि नामों से संबोधित करती हैं। कृष्ण भी गोपियों को ठगिनी, चोरटी, फँसहारिनि, वटमारिन आदि नामों से पुकारते हैं। गोपियाँ तिलमिला गईं। उन्होंने करारा व्यंग्य किया यदि ब्रज वनिताएँ फँसिहारिन हैं, तो तुम्हारी माँ भी होगी—'ब्रज वनिता फँसिहारिनि जौ सब महतारी काहै न गनायौ।'[5] गोपियाँ किसी बात में चूकती नहीं हैं। सारी अलौकिकता बह जाती है। व्यंग्य और विनोद गोपियों और कृष्ण को बराबरी

१. सू० सा० २०७६।
२. सू० सा० २१२९।
३. वही २१३५।
४. वही २१६४।
५. वही २२००।

के धरातल पर ले आते हैं। कभी-कभी व्यंग्यों में भावी परिस्थितियों की भी सूचना आ जाती है।

समागम की परिस्थितियाँ खंडिता और मानिनी की चोटों से विह्वल हो जाती है। जब रतिचिह्नों से युक्त होकर कृष्ण राधा के यहाँ पहुँचते हैं तो व्यंग्यों के दलदल में फँस जाते है। कृष्ण इन व्यंग्यों के सामने निरुत्तर हो जाते है। व्यंग्य होली और बसंत के समय हास्य में बदल जाते है। हास-परिहास से युक्त होकर व्यंग्य मृदुल हो जाता है। कृष्ण की पूर्व लीलाओं की गोपियाँ याद दिलाती है—'कहो कैसे वस्त्र पहले चुराये थे ?' होली के समय स्वच्छन्द संयोग अपनी चरमावस्था को प्राप्त करता है और वही व्यंग्य, विनोद हास-परिहास पूर्ण रूप से विकसित होता है। विनोद और हास्य के कारण संयोग के प्रसंग यांत्रिक और रूढ़ नहीं हो पाते।

श्रृंगार : (२) विप्रलंभ

१. मिलि विछुरन की वेदन न्यारी ।
जाहि लगै सोई पै जानै, विरह पीर अति भारी ॥

× × ×

२. ऊधौ विरही प्रेम करै ।
ज्यौं विनु पुट पट गहत न रँग कौं, रँग न रसै परै ।
ज्यौं घर दहे वीज अंकुर गिरि, तौ सत फरनि फरै ।
ज्यौं घट अनल दहत तन अपनौ, पुनि पय-अमी भरै ।
ज्यौं रन सूर सर सन्मुख, तौ रवि रथहूँ अरै ।
'सूर' गुपाल प्रेम-पथ चलि करि, क्यौं दुख सुखनि डरै ।

× × ×

३. विरह् वोइ ववूर विरवा, गए है हरि वोइ ।
उठत अंग अनंग चिनगी, दृगनि सींचौ रोइ ।

१० | विप्रलंभ श्रृंगार

नारद ने भक्ति के दो प्रमुख आधार-स्तंभ माने हैं : समर्पण और परम-व्याकुलता।[1] इन दोनों की चरम परिणति गोपियों में मिलती है।[2] परम-व्याकुलता विरह-जन्य होती है। सूर का संभोग-श्रृंगार भक्ति-पद्धति की दृष्टि से सर्व-समर्पण का ही साहित्यिक उपक्रम है। परम-व्याकुलता की अभिव्यक्ति के लिए विप्रलंभ का विस्तार किया गया है। राधा-वादी वैष्णव संप्रदायों में संभोग का जितना वर्णन मिलता है, उतना विरह का नहीं। विरह का अभाव तो वहाँ नहीं है, पर वह संक्षिप्त रूप में है। प्रेम जब घनीभूत हो जाता है, तब संक्षिप्त विरह भी युगव्यापी सा प्रतीत होने लगता है। बंगाली वैष्णव साहित्य या उससे प्रभावित अन्य राधावादी संप्रदायों के साहित्य को इस धरातल पर सूरसाहित्य से पृथक किया जा सकता है। बंगाली साहित्य की परम्परा का रूप जयदेव और विद्यापति के साहित्य में मिलता है। इन्होंने दीर्घ विरह की परिस्थितियों का चित्रण नहीं किया। अन्य पदकर्त्ताओं ने भी यदि विरह का वर्णन किया है तो, शास्त्र की पूर्णता के आग्रह से ही किया है, उसमें उनकी वृति नहीं रमी।[3] उन्होंने

१. नारद भक्तिसूत्र, १।१९—'नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति।'

२. 'यथा व्रजगोपिकानाम्, वही १।२१।

३. "गोड़ीय पदकर्ताओं का प्रवासजनित विरह वर्णन शास्त्रोक्त रूप में बंधा बंधाया सांगोपांग वर्णन है। हिन्दी पदावली का विरह-वर्णन अधिक स्वतंत्र है। उसमें राधा और गोपियों की विरह वेदना का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक मर्मस्पर्शी और स्वाभाविक सा है। सूरदास के विरह संबन्धी पदों में अपेक्षाकृत अधिक सौन्दर्य है।"

—डा० रत्नकुमारी 'हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि', पृ० ४०८।

अदूर प्रवास की स्थितियों को ही स्फीत बनाने की चेष्टा की है। सूरसाहित्य में अदूर प्रवास की व्याकुलता भी कम नहीं है, पर सुदूर प्रवास तो करुणा से विगलित ही हो उठा है। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि संभोग का निरूपण तो एक विशद विरह की भूमिका मात्र है। संयोग कालीन भावपटल जितना ही अधिक घनिष्ट और विस्तृत होगा, उतना ही विरह आत्मचुम्बी हो सकेगा। "कवि ने वात्सल्य और संयोग रति के द्वारा कृष्ण को गोपियों के तन-मन में रमा दिया है, उनसे अभिन्न कर दिया है; गोपियों से ही नहीं ब्रज के पशु-पक्षियों से भी, ब्रज की लता-पताओं से भी। जैसे ही संयोग भाव की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है, वियोग आ उपस्थित होता है।"[1] सूर के संयोग के विकास की गति ब्रज की भूमि पर भी रही और मानसिक धरातल पर भी। उनका विरह वर्णन अधिकांश मानसिक धरातल पर ही चला है। कृष्ण संभोग की स्थिति को 'दानलीला' पर समाप्त करके मथुरा गमन करना चाहते थे। कृष्ण ने दानलीला के अंत में गोपियों को बतलाया—'कंस सँहारन मथुरा जहौं। बहुरौ फिरि ब्रज कौं नहीं ऐहौं।'[2] इस कथन से भावी स्थितियों की कल्पना गोपियों ने की। और 'ब्रज जुवती सब गईं मुरझाई।' संकीर्ण संभोग के पश्चात् ही विरह—चिर विरह—की छाया संभोग-व्यापारों पर छाने लगी। किन्तु आगे संपन्न-संभोग की क्रीड़ाएँ बढ़ती रहीं। गोपियों ने दान-लीला की स्थिति पर रुक जाना स्वीकार नहीं किया। अन्त में होली में संभोग का परिपूर्ण क्षण आया। होली से पूर्व कृष्ण जाना चाहते थे, पर गोपियों ने होली ब्रज में ही मनाने का आग्रह किया—'कछु दिन ब्रज औरौ रहौ, हरि होरी है।'[3] इस प्रकार की होली को संभोग का चरम माना जा सकता है। अक्रूर के ब्रज आगमन से विरह की स्थिति विकसित होने लगी।

१, संयोगकालीन संक्षिप्त विरह—

गोपियाँ कृष्ण के बालरूप को देखकर ही रतिभाव के अंकुरण का अनुभव करने लगी थीं। कृष्ण के प्रति उनकी अभिलाषाएँ भी होने लगीं।[4]

---

१. डा० सत्येन्द्र, सूर की झाँकी, पृ० १७८।

२. सू० सा० २२३७।

३. वही, ३५३२।

४. ब्रज वनिता यह सुन मन हरिपत, सदन हमारे आवें। सू० सा० ८६०।

माखनचोर भी गोपी के रूप और यौवन की ओर आकर्षित होने लगे थे।[1] राधा के साथ तो और भी प्रगाढ़ता होने लगी थी।[2] ऐसी स्थिति में संक्षिप्त विरह भी स्वाभाविक हो जाता है। एक क्षण भी कृष्ण से अलग रहना, विरह समाज को निमंत्रित करने जैसा हो गया। राधा विरह से व्याकुल होने लगी।[3] जब कृष्ण से संक्षिप्त संभोग के पश्चात् राधा विदा होती है—'डग न परत व्रजनाथ साथ बिनु, विरह बिथा में जाति चली।'[4] क्षणिक विरह की समाप्ति के लिये राधा ने साँप से डसे जाने का बहाना किया। गोपियाँ भी कृष्ण के जाते समय कामपीड़ा का अनुभव करने लगीं—'गए श्याम व्रज-धाम आपुने, जुवति मदन सर मारि।'[5] इसी आरम्भिक विरह की स्थिति में गोपियाँ देवताओं से विनय करने लगीं कि कृष्ण हमें पति रूप में प्राप्त हों। प्रार्थना की एक कड़ी में विरह की झंकार मिल जाती है—'काम अति तनु दहत, दीजै, 'सूर' हरि भरतार।'[6] और घर आकर—'नैंकहूँ कहुँ मन न लागत, काम धाम बिसारि।'[7] राधा और गोपियों की स्थिति संक्षिप्त विरह में भी अलग-अलग हो जाती है। राधा विरह निवारण के लिए बहाना करती है और गोपियाँ साधना—'अति तप करति घोष-कुमारि।' इस प्रकार संक्षिप्त विरह और संक्षिप्त संभोग की स्थितियाँ साथ-साथ विकसित होती रहीं।

इस संक्षिप्त विरह से प्रेम उद्दीप्त होता था। प्रेम के आधिक्य की अभिव्यक्ति संक्षिप्त विरह की पद्धति से ही होती है। इससे कुछ दीर्घ विरह 'गोपाल' कृष्ण के साथ होता है। कृष्ण गोचारण के लिए प्रातःकाल जाते हैं और सायंकाल, गोधूलि बेला में लौट कर आते हैं। सारे दिन वियुक्ता गोपियाँ

१. जोबन मदमाती इतराती, बेनि दुरति कटि लौं छबि बाढ़ी।
× × × ×
सूरदास प्रभु रीझि थकित भए, मनहुँ काम साँचे भरि काढ़ी॥
सू० सा० ६१८।

२. नैन नैन कीन्हीं सब बातैं, गुप्त प्रीति प्रगटान्यो। सू० सा० १२९२।

३. 'अति विरह तनु भई व्याकुल, घर न नैंकु सुहाइ।' वही १२९६।

४. वही, १३५७।

५. वही, १३८२।

६. वही, १३८५।

७. वही, १३९५।

विरह की लहरों में डूबती-उतराती रहती हैं। ब्रज की इन युवतियों के दिनान्तर विरह को मिटाते हुए धूल-धूसर गोपाल ब्रज में प्रवेश करते हैं—

मेरे नैन निरखि सुख पावत ।
संध्या समय गोप-गोधन सँग, बनते बने ब्रज आवत ।।
× × × ×
'सूर' स्याम नागर नारिन कौ बासर विरह नसावत ।।

गोपियाँ कह उठती हैं—'हम सब मरत जिवाए ।' ज्यों-ज्यों विरह का समय बढ़ता है, त्यों-त्यों प्रेम की वेल भी चेतना पर घनी होती जाती है।

१.१ अदूर विरह—कृष्ण किसी विशेष कार्यवश चले जाते हैं। कृष्ण की इस अनुपस्थिति से गोपियाँ हार्दिक क्लेश का अनुभव करती हैं। सुन्दर प्रवास के विरह की तुलना में अदूर विरह अल्पकालीन भी होता है और उसकी तीव्रता भी कम होती है। फिर भी प्रेमाधिक्य के कारण यह क्लेश विरह जैसा ही प्रतीत होता है। इस विरह की स्थितियाँ कुछ लीलाओं में प्रकट हुई हैं।

कालियदमन में इस क्लेश-विरह की स्थिति आती है। ग्वाल-बालों ने यह सूचना दी कि कृष्ण कालीदह में प्रविष्ट हो गये हैं और अभी तक नहीं निकले। इस सूचना से नंद, यशोदा और ब्रजवासी क्लेश-विरह का अनुभव करने लगे।[1] इस समय अधिक वात्सल्य विरह प्रकट हुआ है। जब यशोदा यमुना में कूद जाना चाहती है, तो गोपियाँ कहती हैं 'नैंकु रहौ सब मरहिंगी, को है जीवन हारि।'[2] इन अवसरों पर नंद और यशोदा की ही व्याकुलता अधिक दिखलाई गई है, राधा और गोपियों की नहीं।

१.२ सोद्देश्य विरह—राधा और सखियों की विह्वलता रासकालीन विरह के अवसर पर अत्यधिक प्रकट हुई है। रास का विरह एक विशेष उद्देश्य से नियोजित है। गोपियों को गर्व हुआ। इस प्रकार की विकृत मनःस्थिति से रास में गोपी भाग नहीं सकतीं। अतः राधा को लेकर कृष्ण अन्तर्धान हो गए।[3] गोपियाँ हाहाकार कर उठीं। वृक्ष-वृक्ष से पूछने लगीं—

---

१. त्राहि त्राहि कर नंद, तुरत दौरे जमुना तट।
जसुमति सुन यह बात, चली रोवति ततोरति लट ।।
ब्रजवासी नर-नारि सब, गिरत परत चले धाइ ।। (सू० सा० १०।५८९)

२. सू० सा० ५८९।

३. गरब भयौ ब्रजनारि कौं, तबहीं हरि जाना।
राधा प्यारी सँग लिये, भए अंतर्धाना ।। (वही, १७०३)

'तुम कहूँ देखे स्याम बिसासी।'[१] कृष्ण को देखे बिना गोपियाँ बेचैन हो गईं—'अब बिनु देखे कल न परत छिनु।[२] इस प्रकार के वर्णनों में गोपियों की उन्माद दशा की ही अभिव्यक्ति होती है।

अब राधा को भी गर्व हुआ।[३] कृष्ण उन्हें भी छोड़ गये।[४] गोपियों ने देखा—राधा पेड़ के नीचे मुरझाई पड़ी है।[५] राधा करुण रुदन कर रही थी—'रुदन करत वृषभानुकुमारी।' सूर ने राधा की विरह दशा का विस्तार से वर्णन किया है।[६] सखियाँ राधा को धैर्य देने लगीं: 'धरि धीर री।' फिर वे कृष्ण के चरित्र राधा के सामने करने लगीं—

इक भई गोपाल कौ वपु, इक भई बनवारि।
इक भई गिरिधरन समरथ, इक भई दैत्यारि॥
एक इक भई धनु बछरा, इक भई नँदलाल।
इक भई जमला उधारन, इक त्रिभंग रसाल॥

सब कृष्ण से प्राकट्य के लिए प्रार्थना करने लगीं—'अहो तुम आनि मिलौ नन्दलाल।' अन्त में उन्होंने पश्चाताप किया: हमको इतना गर्व नहीं करना चाहिये—'थोरी कृपा बहुत गरवानी, ओछी बुधि ब्रजबाल।' इस पश्चाताप ने कृष्ण को प्रकट कर दिया। विरहणियों को उन्होंने हृदय से लगा लिया—'राखी कंठ लगाइ।' इस विरह ने गोपियों को निष्कलुष कर दिया। इसके पश्चात् सघन रास हुआ। इस विरह की पृष्ठभूमि में एक नैतिक उपदेश भी है। इसके कारण विरह शुद्ध नहीं रहा। विरह को यह अभिप्राय भागवतकार ने स्वीकार किया है। वैसे अब तक के सभी विरह प्रसंगों से यह दीर्घतर है। इससे पूर्व के विरह प्रसंगों में नंद और यशोदा की विरहाकुलता का ही अधिक उद्घाटन हुआ था। रासांतर्गत विरह में पहली पर राधा विरहोन्माद से उत्पीड़ित मिलती हैं। राधा गोपियों के बराबर इस विरह के समय में भी

---

१. वही, १७०८।
२. वही, १७१२।
३. 'तब नागरि जिय गर्व बढ़ायौ'—वहीं, १७१८।
४. तब हरि अन्तर्धान भए। वही, १७२०।
५. जो देखैं द्रुम के तरें, मुरझी सुकुमारी। वही, १७२४।
६. वही, १७३०—१७३५।
७. वही, १७३६।

मुखर नहीं है। वह मूर्छित ही अधिक है। आगे की दीर्घकालीन विरह की अवस्थाओं में भी राधा का यही मौन मूर्छित रूप मिलता है।

२, सुदुर प्रवास विरह—

कृष्ण व्रज की इन नवेलियों को छोड़कर मथुरा चले जाते हैं। यह विरह नहीं, चिर-विरह है। कृष्ण कभी लौट कर व्रज नहीं आते। गोपियाँ भी मथुरा नहीं जातीं। दोनों ही तने रहते हैं और विरह अपना साम्राज्य फैला देता है। यहाँ 'सुदूर' का तात्पर्य क्या है? यह दूरी भौगोलिक है अथवा मानसिक? शुक्ल जी ने भौगोलिक दूरी को लेकर, इस वियोगावस्था को कृत्रिम कहा था। यदि प्रेम था तो गोपियाँ कृष्ण से मिलने मथुरा क्यों नहीं चली गईं। डा० सत्येन्द्र ने इस स्थिति पर इस प्रकार विचार किया है—"आलोचकों का कहना है कि गोपियों और व्रजवासियों का यह दीर्घ विरह उत्ताप अस्वाभाविक है। कृष्ण गोकुल नहीं आये तो गोपियाँ मथुरा जा सकती थीं। कितनी उपहासास्पद युक्ति है। समस्त गोकुल मथुरा पर आक्रमण करदे। वहाँ क्या कृष्ण को वे उसी रूप में पा सकते थे जिसमें उन्होंने गोकुल में पाया था। नहीं, नहीं, प्रेम कितना ही अन्धा अथवा पागल क्यों न हो, वह अपनी प्रतिष्ठा नहीं गँवा सकता। मान प्रेम का सबसे दृढ़ आधार है, वही प्रेम को पुंश्ल होने से बचाता है। गोपियाँ मथुरा नहीं जा सकती थीं, यही कारण है कि गोपियों के विरह की तीव्रता और उग्रता को समझते हुए भी कृष्ण ने कभी यह सन्देश गोपियों के पास नहीं भिजवाया कि वे मथुरा आ जायें।"[1] कुब्जा, वसुदेव, देवकी के कारण मथुरा में जो परिस्थिति बन गई थी, उस परिस्थिति के व्यंग्य को राधा, गोपी, नन्द और यशोदा कैसे सहते? वहाँ नागरिकों की भीड़ में ये ग्वालिनी-गँवारिनी कैसी लगतीं। मथुरा में इनकी भावना की गहराई और प्रेम की ऊँचाई को कौन समझता? ये ही सारी बातें हैं, जिनके कारण गोपियाँ विरह में जलती रहीं, संदेश भेजती रही, पर मथुरा नहीं गईं। उनकी मनःस्थिति न जाने कितने संघर्षों की कटुता से भर गई। यह सारा संघर्ष 'सूर' ने बड़े कौशल से व्यक्त भी किया है। जिन गोपियों की व्यंग्योक्तियां हमें सुनाई पड़ती है, उनके ऊपर परिस्थिति कितनी दारुण व्यंग्य कर रही थी, यह देखना चाहिए। विरह की सारी शास्त्रीय दशाएँ तो सूर के विरह वर्णन में मिलती ही हैं, उनकी अन्तर्दशा के कितने ही मार्मिक चित्र मिलते हैं। जिस मधुपुरी को वे नित्यप्रति गोरस बेचने जाती

१. सूर की झाँकी, पृ० १७६।

थीं, वही उनके लिये परदेश हो गया।[1] यमुना 'यम' बन गई है। मथुरा और गोकुल में दूरी ही कितनी है [2]

२.१ विदा : चिरविदा—अक्रूर कृष्ण और बलराम को लेने के लिए। व्रज के लोगों ने यह बात सुनी और—'व्याकुल भए व्रज के लोग।' व्रज-युवतियाँ नन्द-भवन की ओर दौड़ पड़ीं। वे चित्र लिखी सी हो गईं। किसी ने कहा : 'अब देखि लै री स्याम कौ मिलनौ बड़ी दूरि।' किसी ने कहा : कृष्ण के जाने पर हमारे प्राण रह सकेंगे ?—'स्याम गएँ सखि प्रान रहेंगे ?' अनेक प्रकार से गोपियाँ विसूरने लगीं। पर कृष्ण का जाना तो निश्चित ही हो गया था। कृष्ण के गमन की बात व्रज के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गई। जब कृष्ण रथ में बैठे, तब—

धुकि-धुकि सब धरनि परीं, ज्वाला झर लता गिरीं,
मनौं तुरत जलद बरषि सुरतिनीर परसो।

विदा के समय कृष्ण का उपदेशक रूप भी प्रकट हुआ था। कुछ ऐसा भाव कृष्ण ने प्रकट किया—'कौन माता, पिता को है, कौन पति, को नारि।'[3] सारे प्रेम को भूलकर कृष्ण अक्रूर के पास बैठे हँसते रहे। कृष्ण के इस बदले हुए रुख को देखकर व्रजवासियों की व्याकुलता और बढ़ गई—कृष्ण ने सारे प्रेम संबन्धों को तिनके की तरह तोड़ डाला।[4] कृष्ण का यह रूप गोपियों को अतिशय पीड़ा देने लगा। पर उन्होंने जैसे कुछ नहीं देखा। उनकी दृष्टि में तो बस विदा का वह करुणा-कलित क्षण था। रथ पवन गति से चला गया। आने की एक अवधि अवश्य कृष्ण दे गये।[5] बस इसके बाद कृष्ण ने व्रज की ओर नहीं देखा। गोपियों के मन में यह पीड़ा बनी ही रही कि चलते समय ठीक प्रकार से उस निष्ठुर का मुँह नहीं देख पाईं।[6] गोपियों

---

१. भयौ बिदेस मधुपुरी हमकौं, क्यों हू होत न जान। (सू० सा० ३८६६)
२. मौकों भाई जमुना जम ह्वै रही।
× × ×
कितिक बीच मथुरा और गोकुल, आवत हरि जु नहीं।
(सू० सा० ३८९२)
३. सू० सा० ३५७६।
४. कौन पिता, कौन मात, आपु ब्रह्म जगत घात, राख्यौ नहि कछू नात,
नैंकु चित्त माहीं। वही ३६०३।
५. दीन्हीं अवधि बताइ। वही, ३६१०।
६. नीकैं करि हरि-मुख न बिलोक्यौ, यहै रह्यौ, उर साल। सू० सा० ३६१३

को आशा थी कि कम से कम एक वार तो चलने से पूर्व कृष्ण इस ओर मुँह फेरेंगे। पर गोपियाँ हाथ मलती रह गईं। रथ को प्यासे क्षितिज की ओर दौड़ते देखती रह गईं। एक ने पूछा—'केतिक दूर गयौ रथ माई।' दूसरी ने उत्तर दे दिया—'सखी री वह देखौ रथ जात।' और अब रथ भी दिखलाई नहीं देता—'जब रथ भयौ अदृश्य अगोचर, लोचन अति अकुलात।'[१] यशोदा ने पहले ही कहा था—'वहुरौ व्रज में होत अँधेरौ।' इस प्रकार कृष्ण की निष्ठुरता, उदासीनता की दृष्टि करके विदा के समय गोपियों की मनःस्थिति को सूर न जाने कितने फफोलों से भर देते हैं।

विदा के पश्चात् गोपियाँ पश्चताप करने लगीं: चलते समय प्रिय को भर नजर क्यों न देख सकीं? कृष्ण ने हमसे चलते समय कुछ नहीं कहा। उस विदा के समय—'फाट्यौ न हियौ।' हमने उस समय विषपान क्यों नहीं कर लिया? आँखों ने उनका साथ क्यों नहीं दिया और अन्त में उनकी यह अभिलाषा—

पवन न भईं पताका अंबर, भई न रथ के अंग।
धरि न भईं चरन लपटातीं, जातीं उह लौं संग॥[२]

मन में ही रह गई। हम कृष्ण को पकड़कर रख भी तो सकती थीं।[३] व्रज अँधेरे में डूब गया।

२.२ विरह की व्यापकता—संयोग की व्यापकता अब विरह की व्यापकता बन गई। व्रज में कौन मलिन नहीं हो गया।[४] गायों ने दूध देना ही बन्द कर दिया। न वे घास ही चरती हैं।[५] वे नाम लेने मात्र से हुंकार कर उठती हैं। यमुना भी विरह के कारण काली पड़ गई है—

देखियति कालिंदी अतिकारी।
अहौ पथिकु कहियौ उन हरि सौं, भई विरह जुर कारी।[६]

विरह के कारण दूध-दही का स्वाद भी समाप्त हो गया—'स्वाद न दूध दही।'

---

१. सू० सा० ३६१६।
२. वही, ३६१७।
३. चलत न फेंटि गही मोहन की, अब ठाड़ी पछितात। सू० सा० ३६१६
४. गोपी, ग्वाल गाइ गोसुत सब, दीन मलीन चिनहिं दिन जीजैं।
सू० सा० ३८०८।
५. धनु नहीं पय स्त्रवहि रुचि मुख, चरति नहीं तृण कंग। वही, ३७७५।
६. वही, ३८०९।

ब्रज के घरों में तो सर्वत्र विरह भर गया है।[१] ब्रज के अन्य विरहियों की सूची देखिए--

त्रिम न चरत गो, पिवत न सुत पय, ढूँढ़त बन डोलें।
अलि, कोकिल, दै आदि बिहंगम, भाँति भयानक बोलें॥
जमुना भई स्याम, स्यामहिं बिनु, इंदु छीन छय रोगी।
तरुवर पत्र-बसन न सँमारत, बिरह बृच्छ भये जोगी॥[२]

विरहिणी गायों की दशा देख कर तो हृदय फट ही जाता है--उद्धव से गोपियाँ कहती हैं कि इन गायों की विरह-दशा का वर्णन तुम अवश्य कृष्ण के सामने कर देना—

ऊधौ इतनी कहियौ जाइ।
अति कृसगात भईं ये तुम बिनु, परम दुखारी गाइ:
जल समूह बरसति दोउ अँखियन, हूँकति लीन्हे नाँउँ॥
जहाँ जहाँ गोदोहन कीन्हौं, सूँघति सोई ठाउँ।
परति पछार खाइ छिन हो छिन, अति ह्वै दीन।
मनहुँ 'सूर' काढ़ि डारी है, वारि मध्य तें मीन॥[३]

विरह में अंग दशा : आखें—

आँखें तो आँसू की बरसात किए रहती हैं। वर्षा तो समय पर होती है, यहाँ तो अश्रु-वर्षा का कोई समय ही नहीं।[४] आँसुओं से गोपियों के वस्त्र सदा भींगे रहते हैं। आज ये आखें अनाथ हो गई हैं।[५] ये ही वे आँखें हैं, जो सदा रसलंपट रहीं।[६] अब कृष्ण की एक झाँकी के लिए वे तरस रही हैं।[७] दर्शन की लोभी आँखों से अब रहा नहीं जाता इनको महादुख

---

१. वही, ४०११–'बिरह भर्‌यौ घर आँगन कोने।'

२. वही, ४४१६।

३. वही, ४६७०। गायों की दशा के लिए और भी, ४६७१ ४६७२।

४. सखी इर नैननि नें घन हारे।
बिनही रितु बरसत निसी बासर, सदा मलिन दोउ तारे।
सू. सा. ३८५२, ३८५३, ३८५४।

५. तब तें नैन अनाथ भए। (वही, ३८५५)

६. अति रस-लंपट मेरे नैन। (३८५७)

७. हरि दरसन कों तरसति अँखियाँ। (३८५८)

है। इन आँखों की दशा को सोच कर ही कृष्ण अल्प समय के लिए पाहुने बन जायें। इनको निराशा ही मिल रही है। पर ये अपने लालच को छोड़ते ही नहीं।[२] चातक की भाँति निर्निमेष ये देखती रहती हैं। आज इनको पश्चाताप हो रहा है कि बिछुड़ते समय हम क्यों भर आईं। भर नजर प्रियतम को देख भी नहीं पाईं।[३]

अब गोपियाँ आँखों में काजल भी नहीं लगातीं। काजल तो उस दिन लगेगा, जब कृष्ण की आँखों से इन आँखों का मिलन होगा।[४] आँखें यदि रोती ही रहती हैं, तो इनका कोई अपराध नहीं। जीभ और कान तो कृष्ण की बातें कह सुन कर कुछ तृप्त हो जाते हैं। पर इनको तो निराशा के अतिरिक्त कुछ दिखलाई ही नहीं पड़ता।[५] इस निराशा में इनकी दिनचर्या यह है कि अपलक मधुबन की ओर लुटी सी देखती रहती हैं। बिना दर्शन के आँखें जलती रहती हैं। रात को नींद भी इनको नहीं आती। मधुबन की ओर आँखें देखती रहीं : अब वे धूँधरी पड़ने लगीं—'धूँधर भए मेरे नैन।'

जब नींद नहीं आती, तो स्वप्न कैसे आवेंगे ? इससे स्वप्न में मिलने की संभावना भी समाप्त हो गई है। स्वप्न हो तो मिलन भी हो सकता है—'सुपनैं हुँ मैं देखियै, जो नैंन नींद परै।'[६] यदि स्वप्न में कभी मिलते भी हैं, तो कोकिल बोल उठती है : स्वप्न भंग हो जाता है।[७] स्वप्न मिलन के पश्चात् प्रकट मिलन की अभिलाषा और भी तीव्र हो जाती है—'प्रकट मिलन कौं चातक ज्यौं रट लागी।[८] स्वप्न मिलन के समय कभी नींद ही सपत्नी बन जाती है। मिलन नहीं होने देती—'नींद जु सौति भई रिपु हमकौं, सहि न सकी रति तिलकी।[९] और नीति कथन हुआ —'सुपनैं हूँ

१. वही, ३८६१।
२. लोचन लालच तैं न टरैं। वही, ३८६२।
३. नैना अब लागे पछतान। ३८६६।
४. हौं, ता दिन कजरा मैं दैहौं।
जा दिन नदनन्दन के नैननि, अपने नैन मिलैहौं। (३८६७)
५, सू० सा० ३८६८।
६, सू० सा० ३८७६।
७, सू० सा० ३८७८।
८. वही, ३८७८।
९, वही. ३८७९।

संजोग सहित नहिं, सहचरि सौति भई।' (३८८४) कभी विधाता ही निष्ठुर हो जाता है। स्वप्न-जल में गोपी ने अपना ही प्रतिबिंब देखा। उसने समझा, प्रिय हैं। इस भ्रम का आनन्द भी उसे नहीं मिल सका : पानी हिल गया : बिंब समाप्त हो गया—

ज्यौं चकई प्रतिबिंब देखिकै; आनंदै पिय जानि।
'सूर' पवन मिलि निठुर बिधाता, चपल कियौ जल आनि॥

(३८८६)

वास्तव में वे सुन्दरियाँ धन्य हैं, जो स्वप्न में भी अपने 'परदेसी' से मिल लेती हैं।

आँखों की विकलता के चित्र भ्रमरगीत में पर्याप्त हैं।[1] कभी आँख की भूख का अनुभव किया गया है—'अखियाँ हरि दरसन की भूखी' और कभी प्यास का—'अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी।' विरहिणी के यों तो सारे अंग की विरह की पीड़ा से व्याकुल हैं, पर आँखों की पीड़ा तो सभी से अधिक है—'और सकल अंगनितें ऊधौ अँखियाँ अधिक दुखारी।' विरह में इनकी दशा इतनी उलटी हो गई है कि संयोगकालीन उपमान अनुपयुक्त लगते हैं—'उपमा नैन न एक रही।' अहर्निश प्रतीक्षा में ये आँखें कृष्ण का मार्ग देखती रहती हैं। पर उस क्रिया की अपेक्षा उद्धव की शुष्क बातें इनको अधिक पीड़ा देती हैं।

अबधि गनत, इकटक मुख जोवति, तव इतनी नहिं झूर्खीं।
अब वह जोग सँदेसनि ऊधौ, अति अकुलानी दूर्खीं॥

आँखों के वर्णन से सभी अंग प्रत्यंगों की पीड़ा का प्रतिनिधित्व हो जाता है। आँखों को रूप-रसपान का माध्यम मानकर ही सूर ने आँखों पर आधारित उक्तियाँ की हैं।

४. गोपियों की मनःस्थितियाँ—

४·१ दैन्य—विरह-काल में अनेक संकोचनकारी भावनाएँ भी प्रकट होती हैं। इनमें दैन्य, ग्लानि, वितर्क आदि मनोविकार आते हैं। रति के संचारी के रूप में 'दैन्य' का विस्तार 'सूर' ने किया है। दैन्य की प्रवृत्ति उद्धव के आने के पश्चात् कम होती है।

जब कृष्ण जा रहे थे, तो एक 'जड़ता' ने गोपियों को किंकर्तव्य विमूढ़ कर दिया था। जीवन भर गोपियों को पश्चाताप रहा कि हमने चलते समय

१. सू० सा० ४१७५-४३०३।

कृष्ण को पकड़ कर क्यों नहीं रख लिया ? इस पश्चाताप के पीछे उनका एक विश्वास था—शायद रोकने पर रह ही जाते। पश्चाताप का दूसरा पक्ष 'आत्मग्लानि' का है : हम जीते क्यों रहे ? हमारी आँखें उनके साथ क्यों नहीं चली गईं ? हमने विषपान क्यों नहीं कर लिया ? अपना हृदय गोपियों को वज्र सा कठोर दिखाई पड़ता है। 'गुण स्मरण' तो विरहिणी की प्रमुख चर्या बन जाती है। 'इसके पश्चात् एक निराशापूर्ण 'विस्मय' की स्थिति आती है—क्या जीवन के शेष अब इसी प्रकार व्यतीत होंगे ? गोपियों का पश्चाताप दैन्य और आत्मग्लानि 'स्वप्नदर्शन', 'पावस-प्रसंग' और 'चन्द्रोपालंभ' के प्रसंगों में चरम पहुँच जाता है। गोपियाँ इसके पश्चात् विभिन्न अभिलाषाओं और कल्पनाओं में डूब जाती हैं। भ्रमरगीत में व्यंग्य-विनोद के बीच भी दैन्य आदि विरह संचारियों की अभिव्यक्ति हो जाती है।

उद्धव जब ब्रज से लौटकर जाते हैं तो ब्रज के विरहियों के 'दैन्य' के मार्मिक चित्र ही उनके सामने रखते हैं। एक-एक करके वे ब्रज की दशा के ऐसे चित्र कृष्ण के सामने रखते जाते हैं कि कृष्ण का भी धैर्य छूट जाता है। उद्धव पर ब्रज के इस प्रेम-जन्य दैन्य का अमित प्रभाव दिखलाता गया है। दैन्य केवल गोपियों का नहीं, यशोदा, सखा, गाय, पक्षी आदि सभी का है। इस पद्धति ने विरह की व्यापकता और तीव्रता को और भी बढ़ा दिया है। पर 'कवि की मनोवृत्ति दीनता की ऐसी स्थिति को स्वीकार नहीं कर सकती जिसमें उबरने का कोई साधन न हो। वह निराशा में भी आशा का दर्शन कर लेता है और रुदन को भी हास्य से ढकने का प्रयत्न करता है।'[1] सूर की मूल प्रवृत्ति विनोद की है। यह विनोद 'सूर' के प्रत्येक भाव को अनुरंजित करती है। वियोग का दैन्य भी अन्ततः विनोद और व्यंग में परित हो जाता है। हास्य और विनोद के लिए उन्हें उद्धव मिल गया। उद्धव के आने से पूर्व इसके लिए कोई उचित पात्र ही नहीं था। उद्धव में गोपियों की दैन्य से आवृत विनोद-वृत्ति जग जाती है। उद्धव से बातचीत में गोपियों ने यह कह भी दिया कि आपने अच्छा किया कि आ गये। कम से कम कुछ हँसने का अवसर तो मिला—'ब्रज के लोग हँसाए।' भ्रमर गीत एक प्रकार से व्यंग्य-विनोद का ही काव्य बन गया है।

४·२ काम दशाएँ—काम की दश दशाएँ मानी जाती हैं। विरह काल में इनकी अभिव्यक्ति होती रहती है। ये दश दशाएँ इस प्रकार हैं :

---

१. डा० ब्रजेश्वर वर्मा, सूरदास, ४७१-७२।

चिंता, जागरण, उद्वेग, तानव, मलिन, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु। 'सूर' के विरह वर्णन में इन सभी से संबन्धित पद मिल जाते हैं। चिन्ता दशा में प्रिय का ध्यान विरहिणी को होता रहता है। राधा अपने अंगों पर प्रियतम द्वारा अंकित रतिचिह्नों को देखकर कृष्ण के ध्यान में मग्न हो जाती हैं। यही चिन्ता दशा की स्थिति है।[1] विरह की पीड़ा और स्मृतियों के आधिक्य के कारण विरहिणि को नींद भी नहीं आती, रात-रात जगते बीतती हैं। ब्रज की बिरहिणियों के लिए तो 'नींद' भी सौत बन गई है।[2] उद्वेग दशा में प्रकृति का प्राकृतिक या संयोगकालीन सुखद रूप भी दुखद हो जाता है। इसी प्रकार अन्य बातें भी विपरीत ही प्रतीत होती हैं।[3] तानव दशा में मिलने के प्रयत्न असफल हो जाते हैं और मिलने की आशा निराशा में परिणत होने लगती है। मन एक विचित्र तनाव का अनुभव करता है।[4] मलिन दशा उस अवस्था का नाम हैं जब अंग की कान्ति क्षीण हो जाती है, पहनने, ओढ़ने, साज-सज्जा के प्रति एक उदासीनता आ जाती है। 'अति मलीन वृषभानु कुमारी' पद में राधा की मलिन दशा का ही एक चित्र है, और भी पद इस दशा के द्योतक है।[5] 'प्रलाप' दशा के भी अनेक पद

---

१. कर कपोल भुज धरि जंघा पर, लेखति माइ नखनि की रेखनि।
सोच विचार करति वह कामिनि, धरति जु ध्यान मदन मुख भावनि॥
(सू० सा० १०।३४०५)

२. हमकौं जागत रैनि बिहानी।
कमल नैन जग-जीवन की सखि गावत अकथ कहानी॥
विरह अथाह होत निसि हमकौं, बिनु हरि समुद समानी॥
(सू० सा० १०।२३७१)

३. अब वे बातें उलटि गईं।
जिन बातन लागम सुख आली, तेऊ दुसह भईं॥ (वही १०।३१९८)

४. बहुरि न कबऊँ सखी मिलें हरि।
कमल नैन के दरसन-कारन, अपनी सो जतन रहीं बहुतै करि॥
(वही १०।३२९५)

५. सखी री काहे रहत मलीन।
× × × ×
कुचिल वस्त्र, मलकै अति रूखी, दिखियत है तन छीन॥
(वही१०।३२६७)

हैं।[1] व्याधि में विरह जन्य शारीरिक विकृति और दुर्दशा का वर्णन होता है। विरह के कारण जैसे शरीर व्याधि-ग्रस्त हो जाता है।[2] उन्माद दशा में विक्षिप्तता के चिह्न प्रकट होते रहते हैं। कारण-कार्य संबन्ध शिथिल हो जाता है, उसके कार्य व्यापारों की वाह्य परिस्थिति के साथ सांगत्य नहीं रह पाता—

सुनहु स्याम वै सब ब्रज बनिता, बिरह तुम्हारैं भई बावरी।
नाहीं बात और कहि आवत, छाँड़ि जहाँ लगि कथा रावरी॥
कबहुँ कहति हरि माखन खायौ, कौन बसै या कठिन गाँवरी।
कबहुँ कहत हरि ऊखल बाँधे, घर-घर तैं लै चली दावरी॥
(सू० सा० १०।४१०३)

इस प्रकार अन्य सभी दशाओं का भी विवरण मिल जाता है। पर सूर ने कभी शीर्षक देकर या शास्त्र-निर्वाह को एक दायित्व समझकर इस प्रकार के पदों की रचना नहीं की। इन दशाओं का भी स्वाभावतः वर्णन हो गया है। 'चिन्ता' और उद्वेग का ही वर्णन उन्हें रुचिकर है।

४·३ गोपियों की कल्पना—गोपियाँ कहती हैं, वह देश कहाँ है, जहाँ कृष्ण रहते हैं ? मुझे योगिनी का वेश धारण करके उसकी खोज करनी है।[3] गोपियाँ यह भी सोचती हैं कि सम्भवतः हमने कृष्ण से बहुत काम लिया, इसलिये वे नहीं आते। अब वे कृष्ण को कोई कष्ट नहीं देंगी, बस एक बार यहाँ आ तो जायँ।[4] कृष्ण से एक बार तो भेंट होनी चाहिए। चाहे वे नन्द के यहाँ पाहुने के रूप में ही आयें।[5] गोपियों के मन में पंख लगाकर मथुरा उड़ जाने की साध भी है।[6]

---

१. गृह कंदरा समान सेज भई, सिंह हू चाहि बली।
सीतल चंद सु तौ सखि कहियत, तातैं अधिक जली॥
(सू० सा० १०।३१६७)

२. हरि तिहारे विरह राधा, भई तन जरि छार।
बिनु आभूषन मैं जु देखी, परी है बिकरार॥ (वही १०।४१०८)

३. सू० सा० ३८४४।

४. फिरि ब्रज बसौ गोकुलनाथ।
अब न तुम्हहिं जगाइ पठवैं, गोधननि के साथ॥ (वही, ३८४६)

५. सू० सा० ३८५०।

६. जौ तन पंख होइँ सुनि सजनी, अबहिं उहाँ उड़ि जाउ। वही ३८७१।

आँखों से इतने आँसू बरसे हैं कि नदी बह चली है। सेज धन्नई जैसी हो गई है। मेरा तो ऐसा मन करता है कि इसी पर बैठकर कृष्ण के पास चली जाऊँ—

इन नैननि के नीर सखी री, सेज भई घर नाउँ।
चाहति हौं ताहीं पै चढ़ि कै, हरिजू के ढिग जाउँ॥[१]

गोपियाँ बिछुड़ने के क्षण की याद करती हैं। हमने उनकी 'फेंट' क्यों नहीं पकड़ ली (३८९३) ? मन की मन में ही रह गई। हम भी कैसी अजान हैं— 'मन की मन ही माँझ रही।' (३८९८)। अब परिस्थिति का वैपरीत्य यह है कि कृष्ण रूपी कल्पतरु तो चला गया। उसके स्थान पर विरह की बेल पैदा हो गई : 'इक हरि गए कल्पतरु, दूजे उपजी बिरह जई।'[२]

इस प्रकार की और भी अनेक उक्तियाँ मिलती हैं, जिनमें गोपियों की व्याकुलता की व्यंजना बड़ी मार्मिक हुई है। वे उस व्याकुलता में मिलन के लिए कल्पनाएँ करने लगती हैं। कभी पश्चाताप होता है—विरह के क्षण में अपनी भूलों को याद करके, कभी अपने वर्तमान पर खीझती हैं। भावी मिलन की संभावनाओं के रूप में भी उनकी अभिलाषाएँ होने लगती हैं।

४.४ यादें—विदा के पश्चात् ही गोपियों को कृष्ण की सुधि आने लगी। यादें संयोगकालीन प्रसंगों को कल्पना में लाने लगीं। संध्या समय कृष्ण ब्रज से गाय चराकर, वंशी बजाते हुए आते थे।[३] जिस दिन कृष्ण वन को नहीं जाते थे, उस दिन वन की सारी प्रकृति विकल हो जाती थी।[४] गोपियों को मान की याद आती है : मान जब किसी प्रकार नहीं छूटा तो, कृष्ण ने चरण स्पर्श किया था।[५] उन्होंने ब्रज को बचाने के लिए गोवर्धन धारण किया था।[६] गोपाल का रूप तो बार-बार कल्पना में आता है।[७] वर्षा उन्हें घनश्याम की याद दिला देती है।[८] अचानक गोपी को वर्षा का एक दिन याद आ गया। वन में वर्षा होने लगी। कृष्ण ने वर्षा में भीगने से उसे बचाया था—'कंपत देखि उठाइ पीतपट, लै करुनामय कंठ लगाई।'[९]

---

१. सू० सा० ३८९३।
२. सू० सा० ३९१४।
३. वही, ३८१९।
४. वही, ३८२०।
५. वही ३८२१-४०१३।
६. वही, ३८२२-३९३८।
७. वही ३८३५, ३८९९, ४२४४।
८, वही ३९३३, ४००५।
९, ४००२।

कृष्ण के साथ क्रीड़ा करते समय जो कपड़े पहिने थे, उनको राधा धोती नहीं : उस कपड़े में न जाने कितनी यादें उलझी हैं।[1] ब्रज का प्रत्येक स्थान, समय का प्रत्येक खंड, प्रत्येक घटना गोपियों को यादों में मग्न कर देती थी। उन्हें दानलीला की याद तो बेहद सताती है।[2] एक दिन स्वयं कृष्ण ने अपने हाथों से पत्तों की सेज बनाई थी।[3] कृष्ण की वे बातें कैसे भुलाई जा सकती हैं—'बिसरति क्यों गिरिधर की बातें।' (४२६७) जब वे बातें याद आती हैं, तो कितनी पीड़ा होती है, यह कोई नहीं जान सकता। केवल हमारा तन-मन उस पीड़ा को जानता है—

सुरति जब होति है वह बात।
सुनौ मधुप वा वेदन की गति, मान जाने की गीत। (४३५७)

एक याद तो काँटे से चुभा रही है। एक दिन कृष्ण ने एक गोपी के पैर में लगे हुए काँटे को काँटे से निकाला था : भूख लगने पर स्वयं पके फल तोड़ कर खिलाए थे :

एक बेर खेलत वृंदावन, कंटक चुभि गयौ पाइँ।
कंटक सौं कंटक लै काढ़्यौ, अपने हाथ सुभाइ॥
एक दिवस विहरत बन भीतर, मैं जु सुनाई भूख।
पाके फल वै देखि मनोहर, चढ़े कृपा करि रूख॥४

हमारी सुख-सेज अब दुःख रूप हो गई है। उन मधुमय क्षणों में कृष्ण ने जो मधुमय बातें की थीं, वे अब कलेजे में छिदी जा रही हैं—

हमकौं दुःख भई ये सेजैं।
ऊधौ कमल नयन की बतियाँ. छिदि छिदि जाति करेजैं॥५

राधा के सुख-विलास की भी गोपियाँ याद करती हैं। युगल-समागम की दर्शिका गोपियों को उस सुख की याद भुलाए नहीं भूलती। उद्धव के सामने उस समागम का वर्णन कूटशैली में उन्होंने किया।[6] होली के विनोद की याद भी गोपियों को आती है—'ए सब ब्रज-नारि गोकुल कीं, खेलि फागि मुख मींड़ति रोरी।' (सू. सा. ४६९५)

---

१. सू. सा ४२२१ —'जे जे बसन स्याम सँग पहिरे, ते अजहूँ नहिं धोवति।'
२. वही, ४२०४ और भी ४२४१।
३. वही, ४२५० और भी ४२५१।
४. वही, ४४४०।
५. वही, ४४६५।
६. वही, ४४८५।

५. संदेश—

नंद कृष्ण का संदेश लेकर व्रज आए थे। व्रजवासियों ने अनेक संदेश भेजे। सबमें पहला संदेश यशोदा ने एक पथिक के द्वारा कृष्ण और देवकी के लिए भेजा।[1] यह संदेश पंथी ने देवकी को दे भी दिया।[2] फिर गोपियों ने भी अनेक संदेश भेजे। एक संदेश में उन्होंने कहा 'देखियति कालिन्दी अति कारी।'[3] यमुना जी की विरह दशा हृदय-विदारक हो गई है। पर कृष्ण ने कोई संदेश नहीं भेजा।[4] कम से कम दो बोल तो लिखकर भेजते। पत्र लिखने में किनता खर्च हो जाएगा।[5] गोपियों ने संदेश-पत्र इतने भेजे कि 'सँदेसनि मधुवन कूप भरे।'[6] पर वह 'बिसासी' इतना निष्ठुर होगया कि एक भी संदेश नहीं भेजा। क्या संदेश उन्हें मिले नहीं? अथवा वहाँ लिखने की सामग्री का ही नितान्त अभाव हो गया है—

सँदेसनि मधुवन कूप भरे।
अपने तौ पठवत नहिं मोहन, हमरे फिरि न फिरे॥
जिते पथिक पठए मधुवन कौं, बहुरि न सोध करे।
कै वै स्याम सिखाइ प्रबोधे, कै कहुँ बीच मरे॥
कागद गरे मेघ, मसि खूटी, सर दब लागि जरे।
सेवक 'सूर' लिखन को आँधो, पलक कपाट अरे॥

कितनी विडंबना है। गोपियाँ कितने बड़े व्यंग्य को झेल रही हैं। संदेश ले जाने वाला पंथी लौटा नहीं। वर्षा के कारण पथिकों ने मथुरा जाना छोड़ दिया—'सूरदास प्रभु पथिक न चलहीं, कासौं कहौं सँदेसनि।'[7] तब उसने चातक से संदेश ले जाने के लिए कहा—

सारँग स्यामहिं सुरति कराइ।
पौढ़े होंहि जहाँ नंदनंदन, ऊँचे टेर सुनाइ॥

१. पंथी इतनी कहियौ बात। सू. सा. ३७८६, ३७६५।
२. सू० सा० ३७६६-३७६८।
३. वही ३८०६।
४. अतिहिं निठुर पतियाँ नहिं पठईं, काहू हाथ सँदेस। (३८४२)
५. लिखि नहिं पठवत हैं द्वै बोल।
द्वै कौड़ी के कागद मसि कौ, लागत है बहु मोल॥ (३८७२)
६. वही ३६१८।
७. वही ३६२६।

× × ×

तुम्हरौ कहौ मानहैं मोहन, चरण पकरि लै आइ ॥[1]

बादल को भी दूत बनाकर भेजा।

कोकिल से भी विरहिणी गोपी ने संदेश ले जाने के लिए कहा।[2] कोकिल कुछ उपकार कर : 'मधुबन तैं उपहारि स्याम कौं, इहि ब्रज कौं लै आउ।' संदेश की भाषा यह है—

सुनि री सखी समुझि सिख मोरी।
जहाँ बसत जदुनाथ जगतमनि, बारक तहाँ आउ दै फेरी ॥
तू कोकिला कुलीन कुसलमति, जानति बिथा बिरहिनी केरी।
× × × ×
ब्रज लै आउ सूर के प्रभु कौं, गाऊँगी कल कीरति तेरी ॥

गोपियाँ यह सब करती रहीं, पर उस बिसासी मथुरिया ने कोई संदेश नहीं भेजा। गोपियाँ संदेश भेजती ही रहीं—

१. बीर बटाऊ पंथी हौ तुम, कौन देस तैं आए।
यह पाती हमरी लै दीजौ, जहाँ साँवरे छाए ॥ ४०००)
२. पँथी एक देख मारग में राधा, बोलि लियौ। (४०१४)

इस प्रकार प्रेम-संदेश और प्रेम-पत्रों की परम्परा गोपियों की ओर से बनी रही। पर, उस ओर से उदासी ही मिली।

गोपियों को अब भी यह विश्वास है कि यदि कोई भगवान के पास हमारा संदेश ठीक प्रकार से पहुँचादे, तो निश्चित रूप से वे आ सकते हैं।[3] पर कोई शायद संदेश लेकर पहुँचता ही नहीं है। अन्त में एक दिन उन्हें उद्धव के द्वारा संदेश मिला। यह संदेश नहीं गोपियों के विरह पर एक करारा व्यंग्य था। जो गोपियाँ प्रिय की पाती के लिए तड़फती रहीं, उन्हें एक पत्र मिला। उस पत्र को किसी ने आँखों से लगाया, किसी ने छाती से सारे ब्रज में पत्र का हल्ला ही मच गया। पर जब पत्र पढ़ा गया तो उसमें योग और

---

१. सू. सा. ३६५१।
२. वही ३६५८-५६।
३ जौ पै कोउ माधौं सौं कहै।
तौ यह बिथा सुनत नँद नंदन कत मधुपुरी रहै ॥
पहिलैं ही सब दसा बतावै, पुनि कर चरन गहै ॥ [सू. सा. ४०१२]

ज्ञान का संदेश लिखा हुआ मिला। गोपियों का हृदय टूटने गला। उनका विरह व्यंग्योक्तियों और उपालंभ में बदल गया।

जब उद्धव उनकी भावभक्ति से अभिभूत होकर प्रेमपथ में दीक्षित गया, तो उद्धव के रूप में गोपियों को एक संदेश-वाहक मिला। गोपियों ने अपना संदेश उद्धव को दिया—'ऊधौ इतनी कहियौ जाइ।' बस वही एक संदेश कृष्ण तक पहुँचा। इस संदेश के साथ उद्धव ने ब्रज की विरह दशा का ऐसा करुण रूप सामने रखा कि कृष्ण ब्रज की याद से विह्वल हो गए। उनके मुँह से निकल पड़ा—'ऊधौ मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।' कृष्ण का विरही रूप सामने आया। इस प्रकार संदेश के अभिप्राय को लेकर 'सूर' ने विरह के चित्रण को व्यापक बनाया है। जब कोई संदेश ले जाने को तैयार नहीं होता, विरहिणी लोभ देती है: जो मेरे प्रेम-पत्र को मथुरा तक ले जायगा, उसे अपना कंकण दूँगी—

> **जौ पै कोउ मधुबन लौं जाइ।**
> **पतियाँ लिखी स्याम सुंदर कौं, कंकन देहौं ताहि ॥**[1]

गोपी उसे अपते प्राण भी दे सकती है—'जो कोउ उनसों सुधि कहै, दूँऊ प्रान अकोर।'[2]

६. विरह की स्थिति के कुछ विशेष अप्रस्तुत—

गोपियों ने अपनी स्थिति उन मधु-मक्षिकाओं के समान बतलाई जिसका मधु छीन लिया गया है।[3] गोपियाँ यज्ञ के पशु के समान मूक होकर विरह व्यथा को सह रही हैं।[4] विरह घर-आँगन में भर गया है। यह दिनों-दिन इस प्रकार बढ़ रहा है जैसे कुरुक्षेत्र में दान किया हुआ सोना बढ़ता है।[5] चलते समय कृष्ण ने कुछ मधुर वचन कहे: वे वचन ही ठग के लड्डू बन गये।[6] कृष्ण ने रस की ऊख को तो उखाड़ दिया और विरह की वाड़ी

१ सू. सा. ४५६१।
२. वही ४५६२।
३. जैसे मधु तोरे की माँखी, त्यों हम बिनु ब्रजनाथ। (सू. सा. ३७७८)
४. 'मूक जु भए जज्ञ के पसु लौं, का लौं दुख सहियै।' (वही ४००८)
५. दिन दिन बाढ़त जात सखी री, ज्यों कुरुखेत के सोने। (४०११)
६. तेई ठग मोदक भए, धीरज छिटकाए। (४०१५)
जैसे ठग खवाइ मृद-मोदक, पथिकर कौं सुख दीन्हौं।' (४४५०)

लगादी ।[१] हमारे शरीर रूपी वृक्ष को विरहाग्नि जला रही है। पर न वह जल पा रहा है और न आग वृक्ष ही पा रही है : प्रतिक्षण सुलग रहा है।[२] इस प्रकार की अनेक उक्तियाँ हैं, जिनमें विरहिणी की स्थितियों के सजीव चित्र हैं।

७, विरह में ऋतुओं का व्यंग्य—

७.१ पावस—यह वही पावस है जब कृष्ण के साथ सारे व्रज की स्त्रियाँ झूमती थीं, और ऋतुएँ तो आती-जाती हैं, पर पावस तो टलता ही होड़ ले रही हैं। और ऋतुअँ तो आती-जाती हैं, पर पावस तो टलता ही नहीं।[३] यह वैरिन ऋतु आ गई। इस वर्षा में भी कृष्ण का कोई संदेश नहीं मिला। इतनी भी क्या निष्ठुरता ?[४] कवि ने पावस ऋतु को कामोद्दीपन रूप में चित्रित किया है। वर्षा की सेना और काम की सेना को अनेक रूपकों से व्यक्त किया गया है।[५] बादल कामदेव के मत्त हाथियों जैसे लगते हैं। बिजली कामदेव की तलवार है। ये बदरिया गोपियों को मारने के लिये आई है। अब तो कृष्ण की बहुत याद आने लगी।[६] जिस मन्मथ को कृष्ण ने कभी पराजित कर दिया था, वह अब व्रज को घेरे ले रहा है।[७] काम ही नहीं, इन्द्र भी अब अपना दाँव ले रहा है।[८] काम और इन्द्र में अब समझौता हो गया है : सुरपति ने व्रज को काम को समर्पित कर दिया है।[९] इस प्रकार विभिन्न प्रकार से कामोद्दीपक पावस के संबन्ध में उक्तियाँ की गई हैं।

गोपियाँ बादलों को देखकर उनसे कहती हैं कि आज हम तुमसे भयभीत हो रही हैं। यदि आज यहाँ कृष्ण होते तो हम तुमसे नहीं डरतीं।

---

१. 'रस की ऊँख उखारि सूर प्रभु, भई विरह की बारी।' (सू०सा०.४४५०)

२. 'नहि सिरात नहि जात छार ह्वै, सुलगि सुलगि भए कारे। (वही ४४५२)

३. व्रज तें पावस पै न टरी। वही ३९१५।

४. ऐसे भए निठुर नंदनंदन, संदेसौ न पठायौ। (वही ३९१७)

५. सू० सा० ३९१९, ३९२०, ३९२१, ३९२२, ३९३२।

६. 'देखौ माई स्याम सुरति अब आवै।' (वही ३९३०)

७. घेर्यौ है अरि मन्मथ लै, चतुरंगिनि सेना साथ। (वही ३९३१)

८. सू. सा. ३९४०।

९. यह ब्रज सकल सुरपति सौं, मदन मिलिक करि पाई। (वही ३९४२)

अब तुम अबला समझ कर हम पर आक्रमण करते हो। सम्भवतः कामदेव ही तुम्हें अबला-विजय के लिये यहाँ भेज रहा है।[1] कभी गोपियाँ बादलों से कहती हैं कि तुम मधुबन पर जाकर बरसो। यहाँ तो कृष्ण रूपी घनश्याम को वर्षा चाहिए, जिसके बिना हमारी जीवन-बेलि ही मुरझा रही है।[2]

अब बादलों के ऊपर दूसरे प्रकार की उक्तियाँ होने लगीं। बादल कितने मृदुल हृदय के है। अपने प्रियजनों की याद करके स्वर्गलोक से यहाँ आ गये हैं। एक हमारे निष्ठुर घनश्याम हैं कि मथुरा से भी यहां तक नहीं आया जाता—

बरु ए बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि नँदनँदन, गरजि गगन घन छाए॥
कहियत हैं सुरलोक बसत सखि, सेवक सदा पराए।
चातक पिक की पीर जानि कैं तेउ तहाँ तैं धाए॥
द्रुम किए हरित हरषि बेली मिलीं, दादुर मृतक जिवाए।
× × × ×
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, मधुबन बसि बिसराए॥[3]

आश्चर्य यह होता है कि कृष्ण को यह ऋतु उद्दीप्त क्यों नहीं करती। यह तो असंभव है कि इस ऋतु में उन्हें हमारी याद न आए। गोपियाँ संदेह करती हैं कि शायद उस देश में बादल बरसते ही नहीं। दादुर, चातक, मोर, कोकिल वहाँ बोलते ही नहीं : संभवतः उस देश में न तो कोई बाला झूलती ही है और न कोई मल्हार गाती है।[4] अथवा यह भी हो सकता है कि उस देश में कोई कृष्ण को ऋतु-परिवर्तन की सूचना ही नहीं देता है। वहाँ ऋतुसूचक उपकरण ही प्रकट नहीं होते।[5] अन्यथा ऐसा नहीं हो सकता है कि कृष्ण

१. जो पै नंद सुवन ब्रज होते।
तौ पै नृप पावस सुनि बिनती, कहत न डरतीं बोते।
× × ×
हम पर गरजि गरजि घन पठवत, मदन मनावत पोते।
२. हरि घनश्याम बिना सब बिहहिनि, बेलि गईं कुम्हिलाइ। वही (३९२९)
३. सू० सा० ३९२६।
४. किधौं घन गरजत महिं उन देसनि। (सू. सा. ३९२८)
५. अब उँहि देस स्याम सुंदर कहँ कोउ न समौ सुनावत। (वही ३९४१)

ब्रज को नहीं आते। इन युक्तियों में एक अर्थवैचित्र्य ही प्रकट हुआ है जिसका आधार कृष्ण और बादल की तुलना है।

बादलों को देखकर गोपियों को कृष्ण की याद भी आती है। वर्षा ऋतु ने कृष्ण का ही रूप प्रकट कर दिया। कृष्ण का रूप-दर्शन कराके पावस ने गोपियों के साथ कुछ उपकार किया—

आजु घन स्याम की अनुहारि।
आए उनइ साँवरे सजनी, देखि रूप की आरि॥
इंद्र धनुष मनु पीतबसन छबि, दामिनि दसन बिचारि।
जनु बगपाँति माल मोतिनि की, चितवत चित्त निहारि॥
गरजत गगन गिरा गोविंद मनु, सुनत नयन भरे बारि।
सूरदास गुन सुमिरि स्याम के, बिकल भई ब्रजनारि॥[1]

कृष्ण का रूप-स्वरूप गोपियों के स्मृति-पटल पर अंकित हो गया। साथ ही उन्हें गोवर्धन-धारण लीला की भी याद आ गई। उस दिन भी इसी प्रकार के बादल घिरे थे।[2] इस प्रकार पावस पुरानी यादों को जगाकर पीड़ित करता है।

मोरों की ध्वनि तो उनके हृदय को चीरे डाल रही है। मोर की ध्वनि कामबाण जैसी लगती है।[3] इनकी आवाज को सुनकर कितनी ही पूर्व स्मृतियाँ जग जाती हैं। फिर हृदय अधीर हो उठता है।[4] मोर जैसे अपनी ध्वनि से पावस के आगमन की सूचना देकर विरहिणी को सावधान कर रहा है।[5] आज मोर वैरी बन गये हैं। हारकर वे पुकार करती हैं—

कोउ माई बरजै री इन मोरनि।
हेरत बिरह रह्यौ न परै छिन, सुनि दुख होत करोरनि॥[6]

मोर के पश्चात् उनकी दृष्टि चातक पर जाती है। उसकी ध्वनि ने भी प्रिय की याद दिला दी। चातक के साथ गोपियों की कुछ सहानुभूति है।

---

१. सू० सा० ३९३३।
२. ऐसे बादर ता दिन आए, जा दिन स्याम गोवर्धन धार्यौ। (वही ३९३८)
३. सू० सा० ३९४४।
४. सू० सा० ३९४५।
५. बिरहिनि सावधान ह्वै रहियौ, सजि पावस दल आयौ। (वही ३९४६)
६. वही, ३९४८।

चातक से उन्हें जीवन मिलता है। दोनों प्रिय की याद में समानधर्मा हैं।[1] इसी समय वे समझती हैं कि यह चातक नहीं है, कोई विरहिणी है।[2] चातकी को विरहिणी रूप में देखकर गोपी को उससे मैत्री होती है। वह उसे चिर-जीवी होने का आशीर्वाद देती है:—

बहुत दिन जीवौ पपिहा प्यारौ।
बासर-रैनि नाम लै बोलत, भयौ विरह जुर कारौ ॥[3]

दूसरे ही क्षण में उसे पपीहा 'पापी' सा लगता है कि विरहदग्धा को और जल रहा है।[4] अन्त में वह संदेशवाहक बनाकर कृष्ण के पास भी उसे भेजना चाहती है।[5] कोकिल को भी वह संदेश लेकर जाने को कहती है।

और, 'अब यह बरषौ बीति गई।'

७·२ शरद—'भली रितु शरद भई'। शरद की इन्दिरा कौन्दर्य कमल, स्वच्छ जल, चाँदनी आदि के रूप में फैलने लगा। पर कृष्ण अब भी नहीं आए। शरद में तो उन्हें आना ही चाहिए था। पर न जाने किस वैरिन ने उन्हें विरमा लिया है? अब तो मिलने की आशा क्षीण से क्षीणतर होती जाती है।[6] यद्यपि शरद ने जगतीतल को शीतल कर दिया है, पर गोपियों की जलन तो बढ़ गई है। चंद्रमा दाहक बन गया है। अब सारी ऋतुओं का रूप और प्रभाव ब्रजराज के बिना कुछ और ही हो गया है—'सबै रितु और लागति आहि।[7] कृष्ण के चित्रों की रचना करके गोपियाँ कालक्षेप करती हैं।[8] इस ऋतु ने रास की स्थिति को स्मृति-पथ में ला दिया। कानों को मुरली-माधुरी की याद पीड़ित करने लगी। उस मुरली में आह्वान था। रास

१. सखी री चातक मोहिं जियावत।
जैसेंहि रैन रटत हौं 'पिय पिय', तैसेंहि वह पुनि गावत। (सू.सा. ३९५२)
२. चातक न होइ कोउ विरहनि नारि। (वही ३९५३)
३. सू० सा० ३९५५।
४. रे पापी तू पंख पपीहा, पिय पिय करि अधराति पुकारत।'
सू०सा० ३९५६।
५. वही, ३९५१।
६. वही, ३९६१।
७. वही, ३९६२।
८. वही, ३९६४।

की माधुरी से स्मृतियाँ सिंचित हो गईं। पर 'मुरली कौन बजावै आज।'[1] और गोपियों का तन-मन व्याकुल हो गया।

'चन्द्रोपालंभ' के प्रसंग में गोपियों की उक्तियाँ अधिक कल्पनामयी हो गई हैं। चन्द्रमा तो विरहिणियों को भस्म ही कर देना चाहतां है। बिरहिणी को मारकर चन्द्रमा जैसे अपने सिर दूसरा कलंक लेना चाहता है।[2] अनेक उक्तियाँ चन्द्रमा के प्रति गोपियों की फूट पड़ती हैं—समुद्र को मथकर चन्द्रमा को क्यों निकला गया ? इसके बिना संसार का कौन सा काम रुका पड़ा था ?[3] जिसके सिर पर चन्द्रमा जैसा शत्रु हो, उसे नींद कैसे आये,[4] आदि। कुछ उक्तियाँ तो ऊहापरक हो गई हैं। इनमें चन्द्रमा को नष्ट करने की योजना भी है और उसे जल्दी से टालने की भी। चन्द्रमा को नष्ट करने का उपाय यह है—

उठि हरुवाइ जाइ मन्दिर चढ़ि, ससि सनमुख दरपन बिस्तारि।
ऐसी भाँति बुलाइ मुकुर मैं, अति बल खंड खंड करि डारि॥[5]

चन्द्रमा तब तक नहीं टलेगा जब तक वीणा-वादन होता रहेगा। इस वीणा के स्वर से चन्द्रमा के रथ के हरिण मोहित हो जायेंगे और रथ चलेगा नहीं—

दूरि करहु बीना कर धरिबौ।
रथ थाक्यौ, मानौ मृग मोहे नाहिन होत चन्द्र कौ ढरिबौ॥[6]

अन्त में एक विचित्र उक्ति की गई हैं—'चंद चितै जनि, 'चन्द्र जरैगौ।'

७.३ अन्य ऋतुएँ—विरह में एक-एक करके सभी ऋतुओं के वैपरीत्य का चित्रण सूर ने विस्तार के साथ नहीं किया है। इस प्रकार की साहित्यिक रूढ़ि का पालन सूर को आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ। परम्परा के अभाव को उन्होंने एक सीमा तक ही ग्रहण किया हैं। वैसे एक ही पद में सभी ऋतुओं का सामान्य उल्लेख सूर ने कर भी दिया है।[7] वर्षा और शरद का विस्तार

---

१. सू. सा. ३९६६।
२. वही, ३९७०।
३. वही, ३९७४।
४. वही ३९७६।
५. वही ३९७१।
६. वही ३९७५।
६. वही, ३९६३—सबै रित औरै लागति आहि।

इसलिये अधिक किया गया हैं कि इन ऋतुओं का संबन्ध कृष्णलीलाओं से घनिष्ट था। इन ऋतुओं के आने पर गोपियों के मन में यादों की आँधी चलने लगती थी।

७.४ बारहमासा—विरह वर्णन की बारहमासा पद्धति का भी पालन सूर ने नहीं किया। इसका वर्णन पहले कुछ प्रबन्ध काव्यों में भी था। केवल एक स्था पर दो महीनों का उल्लेख किया है : माघ और सावन। जब दो माघ[1] या दो सावन हुए, तो गोपियों को विरह का काल और भी दीर्घ प्रतीत होने लगा। दो वैशाख भी एक पद में आए है—(सू० सा० ४५५५)

७.५ विरह में प्रकृति—विरह के कारण प्रकृति के विपरीत प्रभाव की व्यंजना भी अनेक पदों में की गई है।[2] यदि प्रकृति में गोपियों को प्रफुल्लता मिलती है, तो इन्हें आश्चर्य होता है : यह उन्हें एक अनहोनी बात प्रतीत होती है :

> मधुबन तुम क्यौं रहत हरे ?
> बिरह बियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ॥[3]

विरह में रातें नागिनि बन गईं—

> पिय बिनु नागिनि कारो रात।
> जो कहुँ जामिनी उवति कन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात ॥
> जंत्र न फुरत मंत्र नहि लागत, प्रीति सिरानी जात।
> 'सूर' स्याम बिनु बिकल बिरहिनी, मुरि मुरिलहरें खात ॥[4]

रात बीतती ही नहीं। रात को समाप्त करने के लिए विरहिणी को उपाय सोचने और करने पड़ते हैं।[5] और दिन जब बीत जाता है, तो गोपियाँ सोचने लगती हैं कि क्या जीवन के रहे सहे दिन ऐसे ही बीत जायेंगे ? 'अब यों ही लागे दिन जान।' यमुना यम के समान हो गई है।[6] विरह में प्रकृति का प्रभाव उलटा हो जाता है—इस बात को सूर ने अनेक स्थानों पर प्रकट किया है।

---

१. सू. सा. ३९८४—'ऐसो सुनियत है द्वै माह।'
२. वही, ३९८५।—'ऐसो सुनियत है द्वै सावन।,
३. वही, ३८१५-१६।
४. वही, ३८२८।
५. वही, ३८९०।
६. जचल लिखति स्वान की मूरति, उड़गन पर्यहि दिखावै। वही ३८९१

८. प्रेमदर्शन और विरह—

एक तो प्रेम वह है जो आकस्मिक होता है। दूसरा प्रेम वह होता है, जिसका क्रमशः विकास होता है। यह प्रेम बाल्यकाल से ही आरम्भ होकर गहरा होता जाता है। इसकी जड़ें चेतना में बहुत गहरी चली जाती हैं। इस प्रेम का छूटना कठिन है। इस बात को गोपियों ने अनेक बार कहा—

१. बिछुरे री मेरे बाल सँघाती। (३९९९)

२. बालदसा की प्रीति निरंतर, परी रहति ही ढोरी। (३९८९)

३. बारे तें बर बारि बढ़ी हैं, अरु पोषीं पिय पानि। (४१२६)

४. जा दिन तें जसुदा गृह जनमें, सुन्दर कुँअर कन्हाई।
ता दिन तें वा दरस परस बिनु, और न कछू सुहाई। (४६४९)

५. लरिकाई कौ प्रेम कहौ अलि कैसें छूटत। (४६६४)

विकसित प्रेम का संभोग पक्ष भी क्रमशः चेतना को अभिभूत करता जाता है। संभोग की इन भरी-पूरी स्थितियों में मिल करके बिछुड़ने का दुःख अत्यन्त असह्य होता है। जो उसे भोगता है, वही उसे समझ सकता है।[1] संयोग और वियोग में काल-गति कितनी विपरीत हो जाती हैं। तब समय यों ही जाता था, अब समय इतना लम्बा हो गया है।[2] क्या अब जीवन के शेष दिन इसी प्रकार व्यतीत होंगे ?[3] अनेक प्रेमी-विरही इसकी कल्पना में आते हैं : राम-सीता, दूध-पानी, दशरथ-राम, तरु-पत्र, पानी-मीन[4] आदि। प्रेम की बेल को आँसुओं की धारा सींचती रहती है। इसीलिए इस प्रेम की जड़ इतनी गहरी चली जाती है।[5] पर प्रेम है एक बड़ा दारुण दुःख। मीरा ने कहा था : 'प्रीति न करियौ कोइ।' गोपियाँ भी कह रही हैं : 'मति कोउ प्रीति कैं फंद

---

१. मिलि बिछुरन की बेदन न्यारी।
जाहि लगै सोई पै जानै बिरह पीर अति भारी॥
(३८२४ और भी ३८४७)

२. बरष होत न एक पल सम, अब सु जुग बर याम। (३८२९)

३. सू० सा० ३८४१।

४. वही, ३८४७।

५. नैना बिरह की बेलि बई।
सींचत नैन-नीर के सजनी, मूल पताल गई॥

परै।'[1] प्रेम तो मरण है। जो प्रेम करता है, उसे मरण या बलिदान से भय क्या ?—

प्रीति तौ मरिबौऊ न विचारै।
निरखि पतंग ज्योति पावक ज्यौं, जरत न आपु सँभारै ॥[2]

अन्त मे गोपियाँ इस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं—

प्रीति करि काऊ सुख न लह्यौ।
प्रीति पतंग करी पावक सौं, आपै प्रान दह्यौ ॥
अलि-सुत प्रीति करी जलसुत सौं, संपुट माँझ गह्यौ।
सारँग प्रीति करी जु नाद सौं, सन्मुख बान सह्यौ ॥
हम जो प्रीति करी माधौ सौं, चलत न कछू कह्यौ।
सूरदास, प्रभु बिनु दुख पावत, नैननि नीर बह्यौ ॥[3]

इस प्रकार प्रेम करना वास्तव में 'तरवारि की धार पै धावनौ है।'

इस प्रकार प्रेम का विरहकालीन दर्शन गोपियों ने जाने-अनजाने प्रकट किया है। प्रेम-विरह में एक कठिन परीक्षा बन जाता है। प्रेम की परीक्षा अधिक कठोर जब होती है, जब द्वितीय पक्ष उदासीन और निष्ठुर हो। कृष्ण की निष्ठुरता ही गोपियों पर प्रकट हुई है। कृष्ण जैसे निष्ठुर का प्रेम तो तलवार ही है—

तुम्हारी प्रीति, किधौं तरवारि।
दृष्टि धारि धरि हतीं जु पहिलैं घायल सब ब्रजनारि ॥[4]

प्रेम में गोपियों की निष्ठा शिथिल नहीं होती। वे इसके सामने मुक्ति का भी तिरस्कार कर देती हैं—'मुक्ति रहौ घर बैठि आपने।'[5] अन्त में गोपियाँ अपने मन की एकाग्रता के संबन्ध में कथन करती हैं। मन के संबन्धों में गोपियाँ अनेक उक्तियाँ करती हैं।[6] उन उक्तियों का सार यह है कि हमारा मन प्रेम से आपूरित हैं। मन में अन्य किसी भाव के लिए स्थान नही रहा।

---

१. सू. सा. ३६०५।
२. वही ३६०८।
३. वही ३६०६।
४. वही ४२८०।
५. वही ४३७०।
६. सू. सा ४३३३-४३५१।

मन में कृष्ण की मूर्ति व्याप्त है। मन यदि एक से अधिक होते तो योग-साधना भी कर सकती थीं। अब मन हमारे नियंत्रण में नहीं है। और मन अब हमारे पास है भी नहीं, वह तो कृष्ण के साथ मथुरा चला गया है—'मधुकर ह्याँ नाहीं मन मेरौ।' मेरे पास तो एक ही मन था 'ऊधौ मन तौ एकहि आहि।' कृष्ण के अतिरिक्त इस मन में और कोई आ नहीं सकता। कृष्ण इसमें से अब निकल नहीं सकते—

ईंहि उर माखन चोर गड़े।
अब कैसें निकसत सुनि ऊधौ, तिरछे ह्वै जु अड़े॥

जो भाव विरह या संकटकाल में फीका हो जाता है, वह वस्तुतः प्रेम नहीं है। प्रेम तो कभी पुराना नहीं पड़ता। वह तो नित्य नवीन रहता है। हमारा प्रेम भी वैसा ही है—

नेह न होइ पुरानो रे अलि।
जल-प्रवाह ज्यौं सोभा-सागर, नित नव तन ब्रजनाथ इहाँ वलि॥[1]

इस प्रकार गोकुल का प्रेम भी शाश्वत है। सारा ब्रज इसी प्रेमोपासना में निरत है। वे स्पष्ट उद्धव को बतला देती हैं:—

१. हम तौ नंद-घोष के बासी।
   नाम गुपाल जाति कुल गोपक, गोप गुपाल उपासी॥[2]
२. यह गोकुल गोपाल उपासी।[3]
३. ब्रज जन सकल स्याम व्रतधारी।
   बिना गुपाल और जिंहि भावै, तिंहि कहियै बिभिचारी॥[4]

अब कोई क्या कहता है, हमें इसकी चिन्ता नहीं है—'ऊधौ अब कोउ कछू कहौ।' अन्त में वे उद्धव को समझा देती हैं, कि प्रेम-भक्ति राजमार्ग है। निर्गुण एक कंटक है। इस राजमार्ग पर इस कंटक को क्यों बोते हो?—

काहे कों रोकत मारग सूधौ।
सुनहु मधुप निरगुन कंटक तैं, राजपंथ क्यौं रुंधौ॥

गोपियों का प्रेम मधुप-वृत्ति से भिन्न है। 'भ्रमर' के प्रतीक के आधार पर

---

१. सू. सा. ४४७८।
२. वही ४५४५।
३. वही ४५४६।
४. वही ४५४७।

उस वृत्ति पर अनेक उक्तियाँ की गई हैं, उनसे प्रेम का समग्र रूप स्पष्ट हो जाता है। बिना दूसरे पक्ष के दर्शन अधूरा ही रहता।

पहला व्यंग्य मधुव्रत पर है। एक बार रस पीकर चला जाता है, पीछे अपनी प्रेमिका को लौट कर भी नहीं देखता—

जो तू कितक सुमन रस लै, तजि जाइ वहुरि आवहि।[१]

दूसरे प्रकार की उक्तियाँ इस प्रकार की हैं : यदि तू ज्ञान ही बतलाता है, तो स्वयं कमल के बंधन में क्यों बँध जाता है ?—

सब सुमननि फिरि फिरि नीरसि करि, काहे कमल बँधावत ?[२]

भ्रमर का प्रेम स्थिर नहीं हैं : अभी इस कली पर, अभी उस कली पर—

मधुकर का के मीत भए।
त्यागे फिरत सकल कुसुमावलि, मालति भुरै लए॥[३]

मधुकर इस संसार में किसी के मित्र नहीं हुए।[४] वे स्वभाव से ही रस-लंपट है। उनका स्वभाव तो ऐसा है ही, हमको योग का उपदेश और भेजते है—'कमल कोष वस रहत निरंतर, हमहि सिखावत जोग।'[५] वास्तव में भ्रमर के आधार पर हुई उक्तियाँ कृष्ण और उद्धव के प्रति ही हैं। पर इनसे प्रेम और मधुप-वृत्ति का अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

उपसंहार—

सूर का विरह वर्णन हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। शास्त्रीय पद्धति के तत्त्व भी खोजने पर मिल जाते हैं। पर शास्त्रीयता कहीं भी स्वाभाविक अभिव्यक्ति पर भार नहीं वनी है। अधिक शौन्दर्य लोकोक्तियों और लोक-मानस की अभिव्यंजना पद्धति के द्वारा ही प्रकट हुआ है। विरह की जितनी भी संभव आकुलताएँ हो सकती हैं, 'सूर ने सभी को प्रकट कर दिया है। अन्त में विरह के चित्रण के द्वारा, शुद्ध मानवीय धरातल पर प्रेम के दर्शन की स्थापना की गई है।

---

१. सू. सा. ४११६, ४१२२, ४१६७, ४२११।
२. वहीं ४१२१।
३. वही ४१२४, ४१२५, ४६०१।
४. वही ४६००।
५. वही ४५९९।

ग्यारह | काव्य-रूप

"गीतिकाव्यात्मक मनोरागों पर आधारित विशाल महाकाव्य ही 'सूरसागर' है।"

—डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी

११ | काव्य रूप

'सूर सागर' भावों का ही सागर नहीं, काव्यरूपों की दृष्टि से भी उसमें प्रगल्भ प्रयोग मिलते हैं। मुख्यरूप से सूर-साहित्य की प्रसिद्धि गीति काव्य के रूप में है। इन गीतों को 'कीर्तन', 'हरिकथा', 'लीला', 'फाग', 'रास' आदि काव्यरूपों में भी हम नियोजित पाते है। 'लोकगीतों' के काव्यरूप को भी सूर ने यथा अवसर ग्रहण किया है।

१. कीर्तन काव्य—

भक्ति साधना में 'कीर्तन' का महत्त्वपूर्ण स्थान था। नवधा भक्ति में भी इसको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह भावात्मक और क्रियात्मक दोनों प्रकार की सेवा का अंग है। कीर्तन दो प्रकार का हो सकता है: नाम-संकीर्तन और लीला संकीर्तन। नाम-संकीर्तन तो 'जप' का ही एक भावात्मक रूप है। इसमें भी लय, संगीत और वाद्य का योग किया गया। नाम संकीर्तन की भावात्मकता इस बात से स्पष्ट है कि इसके साथ नृत्य भी हो सकता है। चैतन्य संप्रदाय में नाम-मन्त्रों के संकीर्तन का बहुत ऊँचा स्थान है। लीला-संकीर्तन भी वैष्णव मन्दिरों और सेवा विधान का एक अनिवार्य अंग है। दक्षिण के मन्दिरों में प्रवन्धमों का तो गायन पाठ होता ही है, त्यागराज कीर्तन भी अत्यन्त लोकप्रिय है। अन्नमाचार्य जी के कीर्तन भी परिमाण और भावात्मकता में कम नहीं—इनकी रचना श्री वेंकटेश्वर जी के मन्दिर (तिरुपति) में हुई थी। यदि त्यागराज संकीर्तन शास्त्रीय संगीत की सूक्ष्मताओं को अधिक लिए है, तो अन्नमाचार्य जी ने वात्सल्य, शृंगार आदि भावों को गीतिकाव्यात्मक स्फीति दी है। उत्तर भारत के भी सभी वैष्णव मन्दिरों में संकीर्तन सेवा का अनिवार्य अंग बना हुआ है। इन मन्दिरों से संवद्ध कवियों ने संकीर्तन के लिए ही अधिकांश काव्य-रचना की है। श्रीनाथ जी के मन्दिर

में सेवा के दो ही मुख्य अंग हैं : भोग और राग। 'राग' से तात्पर्य संगीतमय और कीर्तन परक चर्या है। 'सूर' का संबन्ध इसी चर्या से घनिष्ट था। इसी आधार पर 'सूरसागर' एक कीर्तनकाव्य कहा जा सकता है। इसमें नित्योत्सव, वर्षोत्सव, अष्टयाम झाँकियों आदि से संबन्धित 'कीर्तनों' का संग्रह है।

'कीर्तन' काव्यरूप इतना लोकप्रिय हो गया था कि आईन अकबरी के १७ प्रकार के गायकों की सूची में 'कीर्तनियाँ' भी एक प्रकार माना गया है। एक ओर इसका वैसा दृश्य दरबारी संगीत से था, और दूसरी ओर राज प्रशस्ति से। शास्त्रीयता और राग-रागनियों के विधान में चाहे दरबारी संगीत और कीर्तन संगीत समान हों पर भावभूमि नितांत भिन्न थी। दरबारी संगीत में पद या गीत के अर्थ भाग की उपेक्षा की जाती थी। संगीत लहरी और प्रशिक्षण-जन्य सुर-संयम की बारीकियों की ही प्रशंसा दरबार में होती थी। इसके विपरीत संगीत की सभी सूक्ष्म सरणियों का निर्वाह करते हुए भी कीर्तनियां अर्थ की उपेक्षा नहीं करता था। उसमें भावाभिव्यक्ति का भी राग-विधान के समान ही या उससे अधिक महत्व था। 'अर्थ' की साधना में ही ये कीर्तनियाँ उच्चकोटि के कवि भी हो जाते थे। ये 'कीर्तन' अपनी भावात्मकता और लयात्मकता के सामंजस्य के कारण ही भक्तों की भावात्मक साधना के अंग बन सके।

आईन अकबरी में कीर्तनियाँ का परिचय इस प्रकार दिया गया है: 'कीर्तनियां ब्राह्मण होते थे। ये प्राचीन वाद्य-यन्त्रों का उपयोग करते थे। ये सुन्दर बालकों को स्त्रियों का वेष धारण कराके उनसे कृष्ण की स्तुति और उनकी लीलाओं का गान करते थे।' इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि इनकी रचना में अभिनय और नृत्य की प्रविधियों और उसके तालों के बंधान को भी ध्यान में रखा जाता था। इन अतिरिक्त कलाओं की प्रविधियों के भार को दरबारी संगीत नही सम्हालता था। उसमें सामूहिकता का अभाव था। राग-रागिनियों की बारीकियाँ तथा उसके लिए व्यक्तिगत साधना ही उसमें रहती थी। इस प्रकार के गीत 'तेलगु' क्षेत्र में क्षेत्रय्या ने लिखे थे। उनके साथ अभिनय भी होता था। ब्रज में इस संगीत, राग, अभिनय और नृत्य ने मिलकर 'रास' नामक विधा को जन्म दिया। 'सूर' के पदों के आधार पर भी 'रास' होता है। 'सूरदास' भी एक कीर्तनियाँ थे : महाप्रभु जी ने सूरदास को श्रीनाथ जी का कीर्तनियाँ नियुक्त किया। 'इन्हीं कीर्तनियों की प्रणाली में लिखा गया काव्य 'कीर्तन काव्य' कहलाता है। 'सूर' ने इसी परिपाटी में

'सूरसागर' प्रस्तुत किया। कीर्तन-काव्य का प्रमुख उद्देश्य तो भावोद्रेक और रस-परिपाक ही होता है, किन्तु रास अथवा रासक की भूमि पर खड़े होने के कारण कथा का सूक्ष्म तंतु भी रहता है।"[१]

कथा के नाम पर कीर्तन-काव्य में एक लीला प्रसंग ही रहता है। यह प्रसंग अपने आप में अत्यन्त लघु और भावोद्रेक की संभावनाओं से युक्त होना चाहिए। इस कथा सूत्र की पूर्णता पर ध्यान नहीं रहता है। जहाँ कथागत भाव अपनी चरमावस्था को प्राप्त कर लेता है, वहाँ यह सूत्र विसर्जित हो जाता है। अतः कथा विन्दु भाव-विकास को अभिभूत नहीं करता : भाव-कण ही इसके नियोजन को नियंत्रित करता है। किसी कथा-बिन्दु के एक खंड को ही लेकर उसका भावात्मक विकास किया जा सकता है। कथासूत्र की आवृत्तियों से कीर्तनकार घबराता नहीं है : प्रबन्धकार की भाँति वह उसे दोष नहीं मानता। उसका लक्ष्य भावात्मक सरणियों का पूर्ण अनुसंधान ही होता है। एक पद में आये हुए भाव को आगे के पद में फिर से उठाया जा सकता है। इस पुनर्वचन का क्रम जब तक चलता रहता है, तब तक सीमित भाव-बिन्दु असीम नहीं हो जाता। 'सूर' के पदों में यही विधान दृष्टिगत होता है। एक ही कथा-सूत्र विविध प्रकार से, अनेक पद्धतियों से, विभिन्न परिवेश में होता हुआ भाव-विकास की सरणियों का प्रकट करता है। एक ही भाव की आवृत्तियाँ साधना के भावाकुल क्षणों को उद्रिक्त बनाती हैं। डा० सत्येन्द्र ने इसके सबन्ध में कहा है : "कीर्तनकाव्य में दो ही अंग स्पष्ट परिलक्षित होते हैं, एक तो प्रधान पद-समूह जो विविध रागों में होते हैं। दूसरा अंग है कथा पीठिका। कथा-पीठिका विवरणात्मक होती है। अतः बँधी सधी १ पद समूह वाला भाग अत्यन्त लचीला होता है, उसमें चाहे जितने पद उसी भाव को परिपुष्ट करने वाले सन्निकट रह सकते हैं। इन पदों ही कीर्तन काव्यकार कवि की प्रतिभा प्रकट होती है।"[२]

आगे यह समस्या रह जाती है कि कथासूत्र वाले, लम्बे और दोहा चौपाई आदि भिन्न छन्दों वाले पद 'सूरसागर' के काव्यरूप के अंग हैं अथवा पीछे जोड़े हुए। इसका निर्णय इस बात पर आधारित है, कि सूरसागर' की मूल रचना द्वादश-स्कंधात्मक थी, अथवा संग्रहात्मक। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कथा सूत्रात्मक पदों को पीछे जोड़ा हुआ भाग माना है। "सूरदास के नाम

---

१. डा० सत्येन्द्र, सूर की झाँकी पृ० १४४।

२ साहित्य की झाँकी, पृ० १४५।

पर बहुत से पद चौपाई छन्दों में बद्ध मिलते हैं। कई प्रतियों में ये चौपाई वाले पद प्राप्त नहीं होते और कई में मिल जाते हैं। सूर-साहित्य समालोचकों के लिए यह एक समस्या ही रही है। मुझे लगता है कि भावपूर्ण पदों के बीच रासलीला आदि के समय कथासूत्र को जोड़ने के लिए ये चौपाई बद्ध पद जोड़े गये होंगे।"[१] इससे इन अंशों की अप्रामाणिकता भी ध्वनित होती है। जब 'कीर्तन' साहित्य के आधार पर 'रास' नामक संगीतमय लीलाभिनय होते होंगे, तो इन कथात्मक या विवरणात्मक पदों की सार्थकता होगी। इसी आधार पर द्विवेदी जी ने अपना मत इस प्रकार दिया है। द्विवेदी जी की दृष्टि में 'सूरसागर' लघु कीर्तनों का एक संग्रहात्मक काव्य है। इसकी मूल संरचना इसी प्रकार की थी। साथ ही जितने संस्करण 'सूरसागर' के मिलते हैं, उनमें से अधिक संख्या संग्रहात्मक संरचना वाले ग्रन्थों की ही है। सबसे प्राचीन उपलब्ध पाठ भी संग्रहात्मक है। संप्रदाय में कीर्तन-संग्रह की परिपाटी भी है। 'सूर' ने सम्भवतः द्वादश स्कंधात्मक प्रबन्ध योजना नहीं की थी।

पर सभी विद्वान् इन तर्कों से सहमत नहीं। डा० सत्येन्द्र ने अपनी असहमति इस प्रकार प्रकट की है :[२] "वस्तुतः इनमें से कोई भी कारण संतोष-जनक नहीं। संग्रहात्मक प्रतियों की अधिक संख्या का कारण उपयोगिता और सुविधा हैं। सूरसागर का एक उपयोग तो संगीतज्ञों के लिये था, दूसरा भक्तों के लिए, तीसरा कीर्तनियों के लिए। स्पष्ट है कि संगीतज्ञों और भक्तों के लिए किए गये संग्रहों में चुने गये पद लेकर काम चलाया जा सकता था। ऐसे व्यक्तियों की संख्या ही अधिक होती है, फलतः संग्रहात्मक सागर अधिक प्रस्तुत हुए। कीर्तनियों की संख्या कम है, अतः द्वादश स्कंधात्मक प्रतियाँ कम हैं। सबसे प्राचीन प्रति संग्रहात्मक है इसलिए सूरदास के सागर को संग्रहात्मक माना जाय यह तर्क इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता कि ऐसे संग्रहों में बहुत थोड़े पद ही मिलते हैं। निश्चय ही वे थोड़े पद किसी बृहत् ग्रन्थ से लिये गये होंगे।" इस प्रकार डा० द्विवेदी जी से अपने मत को भिन्न रखते हुए डा० सत्येन्द्र ने अपनी मान्यता इस प्रकार प्रकट की है। "प्रबन्ध योजना सूर के समक्ष नहीं थी ऐसा नहीं माना जा सकता। एक तो वार्ता में उल्लेख

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ९७।
२. सूर की झाँकी, पृ० १४६।

है कि दीक्षा के समय सूरदास को भागवत की सचित्र लीला स्फुरित हुई। दूसरे कृष्ण की लीलाओं का तो एक क्रम भागवत के अनुसार निश्चित है। जो लीला-पद रचने चलेगा, उसे समस्त लीला क्रम का ज्ञान होगा ही। वह पद किसी भी समय के लिखे, लीलाक्रम के अन्दर उसका स्थान निश्चित हो ही जायेगा। अतः कृष्ण चरित्र के संवन्ध में किसी प्रबन्ध योजना को पूर्वतः बनाने का प्रश्न ही व्यर्थ है, वह योजना तो प्रस्तुत थी, और भागवतानुयायी संप्रदाय के कवियों को उसी योजना के अन्तर्गत रचनायें प्रस्तुत करनी थी। उसी के अनुसार सूरदास जी ने भी अपने पद प्रस्तुत किये।"[1] यदि पूरे 'सूरसागर' में क्रम न भी माना जाय तो दशम स्कंध का स्वरूप तो प्रवन्ध योजना के अनुरूप होगा ही। 'दशावतार' लीला की परिपाटी में भी कृष्ण के चरित्र की योजना आवश्यक थी। इष्ट होने के कारण 'सूर' ने या भागवतकार ने कृष्ण चरित्र को अधिक विस्तार दिया। सूर-पूर्व साहित्य में कथानक के लिए पद्धति का या पद्धरी छन्द को उपयोगी माना जाता था। सूरदास का 'राग विलावल' ही ऐसे प्रसंग पदों में प्रयुक्त हुआ है। इसमें १६ मात्राएँ रहती है। यह भी एक प्रकार की पद्धटिका ही है। इस प्रकार 'सूरसागर' को एक कीर्तन-संग्रहात्मक ग्रंथ न मानकर उसको एक नवीन काव्यरूप 'कीर्तन काव्य' मानना चाहिए। यह एक नया काव्यरूप है। इसकी उद्भावना सूर ने की। इस काव्यरूप का संवन्ध मुख्यतः संगीत के क्षेत्र से था। सूर ने इसकी स्थापना साहित्य के क्षेत्र में की। इसका ढाँचा भागवत का है। भावना स्फीति और कल्पना-विलास सूर का।

'सूर-निर्णय' के लेखकों का एक और विकल्प है।[2] इनके तर्कों की संक्षिप्ति इस प्रकार दी जा सकती है। यह तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि सूरसागर भागवत का अनुवाद नहीं है। पर यह भी ज्ञात होता है कि द्वादश स्कंध पर्यन्त की कथाओं का गायन सूर ने अवश्य किया—'सूरदास सोई कहै पद भाषा करि गाइ।' 'तब संभव है उन्होने समस्त श्रीमद्भागवत का ही अनुवाद किया हो। उसके सहस्त्रावधि पद होने के कारण उसकी आद्योपान्त प्रतिलिपि न हो सकने से उसमे से मुख्य-मुख्य अंशों को किसी ने संग्रहीत कर लिया हो और उसी की अनेक प्रतिलिपियाँ होती रही, जो आजकल उपलब्ध

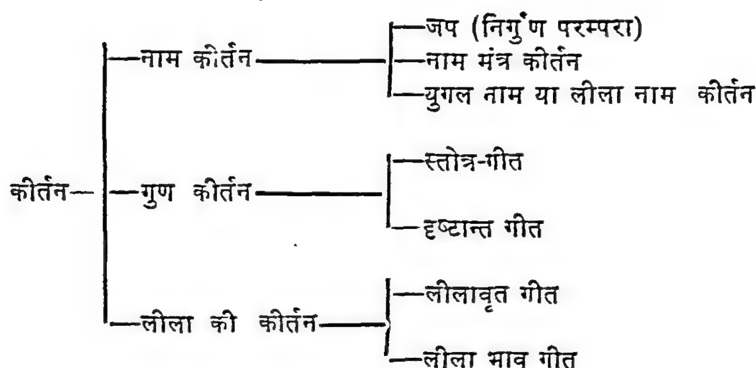
---

1. साहित्य की झाँकी पृ० १४७।
2. सूर निर्णय : १६०-१६३।

हैं।' सूरसागर की उपलब्ध प्रतियों में दशम स्कंध के ही पद विशेष रूप से मिलते हैं। पर, एक ऐसी प्रति का विवरण भी प्राप्त होता है जिसमें दशम स्कंध का केवल एक पद है और द्वादश स्कंध के १७४५ पद। इससे ज्ञात होता है कि अन्य स्कंधों के पद भी अनुपात में ही रचे गये होंगे। वे अब अप्राप्य हैं। लीलाएँ कथात्मक शैली की हैं। 'ऐसा ज्ञात होता है कि इनको उन्होंने अपने सेवकों के उपदेशार्थ गाया था। संप्रदाय की नित्य और वर्षोत्सव की लीलाओं को प्रतिवर्ष नवीन भाव, छन्द और वर्णन की विभेदता से सूरदास ने श्रीनाथ जी के सन्मुख स्तवः उद्‌गार रूप से गाया था। संभव है ये दोनों संग्रह प्रारम्भ में भिन्न-भिन्न रूप में लिखे जाते हों और पीछे किसी ने उन्हें एक कर दिया हो, जो आज द्वादश स्कंधात्मक और दशम पूर्वार्द्ध के रूप में उपलब्ध होते हैं।" द्वादश स्कंधात्मक उपलब्ध संस्करण सूरदास के बाद का निश्चित होता है। आगे की संपादन योजना के संबन्ध में इसी दृष्टि से सुझाव दिया गया है: 'इस प्रकार के संपादन में विनय तथा नित्य एवं नैमित्तिक वर्षोत्सव वाले लीला पदों को भिन्न-भिन्न रूप से परिशिष्टों में देना होगा। इनके अतिरिक्त प्रासंगिक एवं स्फुट रचनाओं का संपादन उनके वृत्त के साथ स्वतंत्र रूप से करना उचित है।

अन्त में इतना ही कहा जा सकता है कि सूर 'कीर्तनियाँ थे: उन्होंने कीर्तन काव्य लिखा। भक्ति के प्रकारों में स्मरण, श्रवण, कीर्तन आदि का विधान है। स्मरण मानसिक भी हो सकता है और मुखर भी। मुखर स्मरण बहुधा नाम कीर्तन का रूप ग्रहण करता है। 'श्रवण' नामक भक्तिरूप ने 'हरिकथा' काव्यरूप को जन्म दिया। 'हरिकथा' में भगवान के गुणों और माहात्म्य का दृष्टान्त-परक गायन रहता है। 'कीर्तन' भक्त की सेवा-चर्या का भाग भी है। महात्म्य कीर्तन विनय और दास्य के गीतों में रहता है और लीला कीर्तन भाव गीतों में। लीला-कीर्तन और 'लीला' काव्यरूप में अन्तर यह है कि लीला-कीर्तन में इतिवृत्त का सूत्र अत्यन्त झीना रहता है, उसके प्रबन्धात्मक विकास, अन्त या चरम की कोई अनिवार्यता नहीं रहती, केवल भाव विलास रहता है। भाव को सूक्ष्म प्रसंग के संदर्भ में स्फीत तो किया जाता है, पर अन्ततः भाव-स्फीति ही रह जाती है, प्रसंग-वृत्त छूट जाता है। यह भाव-कीर्तन का रूप है। 'लीला' काव्यरूप 'श्रवण' से संबन्धित है और लीला-कीर्तन भावना से। इस प्रकार कीर्तन एक व्यापक और मिश्रित काव्य रूप हो जाता है। इसकी सरणियाँ इस प्रकार हैं: १. नाम कीर्तन—यह

वस्तुत जप या अजपाजप का वैष्णव रूपांतर हैं। इसमें संगीत का समावेश हो जाता है। इसी अर्थ में यह कीर्तन है। २. गुण-कीर्तन—गुणों से संबन्धित नामों की श्रृंखला वाले स्तोत्र इसका एक रूप है और गुणों को प्रकट करने वाले दृष्टान्तों का कथन इसका दूसरा रूप है। ३. लीला-कीर्तन—इसके भी दो रूप हैं-लीलावृत्त का गायन, तथा लीलाभाव का गायन। इनकी तालिका इस प्रकार होगी :



इस प्रकार वैष्णव संप्रदायों में 'कथा' और 'कीर्तन' काव्यरूप और उनके विविध प्रकार चलते रहे। ये काव्यरूप न रूढ़ होते थे और न सीमित। इनमें विविध छन्दों और विविध काव्यरूपों का मिश्रण रहता है। 'सूरसागर' में भी विविध काव्यरूप मिलते हैं। सूर के 'कीर्तन' में लीला-प्रसंग पर आधारित भाव-गीतों का बाहुल्य हैं। इसी भाव-कीर्तन में सूर की प्रतिभा का वैशिष्टय हैं : यही मध्यकालीन प्रेमाभक्ति साहित्य का ऋतुराज है। वैसे हरिकथा और कीर्तन काव्य के सभी रूप सूर में मिल जाते है। हरिकथा के बीच में भी भावपरक कीर्तन गीतों की योजना हो सकती है ओर भावगीतों के बीच भी हरिकथा का संक्षिप्त सूत्र-विधान आ सकता है। दोनों की शैली को अलग करना कठिन नहीं है। हो सकता है कि सूरकृत हरिकथा के कुछ अंश लुप्त भी हो गये हों, पर यह आवश्यक नहीं कि 'सूरसागर' के विधान को देखकर यह कल्पना की जाय कि भागवत-कथा सूर की कोई अलग रचना थी और पदावली दूसरी। सूर में प्राप्त काव्यरूपों पर अलग से विचार किया जाना चाहिए। फिर मिश्रित काव्यरूप मान्य होना चाहिए। जिस प्रकार यह भावों का सागर है। उसी प्रकार काव्यरूपों का...

२. भागवत कथा : 'हरिकथा'—

सूरसागर की विषयवस्तु का मुख्य आधार भागवत है।[1] इसके काव्यरूप को भी भागवत ने प्रभावित किया है। 'सूर' की ही कुछ उक्तियों से ऐसा आभास मिलता है कि सूरसागर कहीं भागवत का अनुवाद न हो। पर इस अनुवाद वाली बात के विपक्ष में ही अधिक सामग्री मिलती है: सूरसागर के द्वादश स्कन्धों की भागवत के द्वादश स्कन्धों से वस्तुतः आकार में ही विषमता नहीं है, अनुमान में भी उसमें कोई समानता नहीं दिखाई देती। कथावस्तु के विवेचन से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी अर्थ में सूरसागर भागवत का अनुवाद नहीं कहा जा सकता और न सम्पूर्ण भागवत की यथातथ्य कथा कहना ही कवि का उद्देश्य जान पड़ता है।[2] सूर ने अन्य पुराणों से भी सहायता ली है: महाभारत, रामायण आदि की सहायता भी कुछ प्रसंगों में ली गई दीखती है।

पुराण वास्तव में स्वयं एक काव्यरूप है अपभ्रंश तक यह काव्य रूप चलता रहा। इस काव्यरूप का वैशिष्ट्य एक ओर तो इससे इतिहास से पृथक रहता है, दूसरी ओर महाकाव्य से। न इतिहास की भाँति तथ्यान्वेषण ही इसमें होता है, और न महाकाव्य की सी शास्त्रीय विधि। इतिहास की भाँति इसमें अनेक वृत्त होते हैं और एक कालक्रम भी रहता है। इसलिए इस विधा को इतिहास के साथ संबद्ध करके देखा गया: पुराणेतिहास एक शब्द ही चल पड़ा। इसमें एक उद्देश्य निहित रहता है: धार्मिक दृष्टि से किसी संप्रदाय, महापुरुष या अवतार के माहात्म्य-प्रतिपादन के लिए ही पुराणों की रचना होती है। इस माहात्म्य-प्रतिपादन के लिए ही सृष्टि-क्रम, अन्य सामाजिक वर्ग और संघर्ष इसमें वर्णित होते हैं। इन्हीं के बीच अभीष्ट चरित्र को स्थापित किया जाता है। पुराण का नाम भी बहुधा किसी चरित्र या एक महान् वंश के अनुसार ही रखा जाता है।[3] पुराणों का काव्यरूप दो दिशाओं में विकसित हुआ: एक तो ऐसे पुराण रहे, जिनमें शुद्ध माहात्म्य-कथन रहता था। दूसरी परम्परा में वे पुराण आते हैं जिनमें माहात्म्य के स्थान पर शुद्ध

१. 'व्यास कहे सुकदेव सों, द्वादश स्कंध बनाइ।
सूरदास सोइ कहे पद भाषा करि गाइ॥
२. डा व्रजेश्वर वर्मा, सूरदास, १०३-१०४।
३. वाराह पुराण, वायु पुराण, अग्नि पुराण, पद्म पुराण, विष्णुपुराण, हरिवंश आदि नाम इसी तथ्य के द्योतक हैं।

भाव और भावात्मक संबन्धों का ही विधान रहता था। वैष्णव पुराणों में यही बात अधिक मिलती है। इन पुराणों का 'काव्यरूप' बाह्य-संरचना में तो इतिवृत्त या कथापरक ही रहे। पर, आत्मतः वे गीति-प्रधान हो गए। काल-क्रम और घटनापरक वृत्तों में शिथिलता आई और भावपरक, संबन्धों की उष्णता, उनमें अधिक आने लगी। अनेक महाकाव्यों के लिए विषय वस्तु दी, वहाँ भागवत ने गीतिकाव्य के लिए प्रेरणा दी।

पुराण और गीति के समन्वय को लेकर चलने वाला एक काव्यरूप 'हरिकथा'—विकसित हुआ। इसमें एक झीना कथासूत्र रहता था। जनमास इस सूत्र से बहुधा परिचित रहता था: मात्र संकेत इसको झंकृत करने के लिए पर्याप्त था। इस कथासूत्र का विशदीकरण भाव-विस्तार के द्वारा किया जाता था। 'श्रोता', वक्ता के पास ज्ञान-विस्तार की दृष्टि से नहीं, भाव-विस्तार की खोज जाता था। इस 'काव्यरूप' को एक मिश्रित काव्यरूप ही कहना चाहिए: प्रबन्ध सूत्र भी, गीतिपरक भावविस्तार भी, कथा का एक सामान्य छन्द भी, कथा में भक्ति या भाव का माहात्म्य-प्रतिपादन भी, अन्त में फल-कथन भी सभी कुछ इसमें समा जाता था। इस काव्यरूप का संबन्ध जनता से होता था। पर कहीं-कहीं अभिजात संस्पर्श और शास्त्रीय विधान भी इसमें वर्जित नहीं है। कभी-कभी यह अधिक शास्त्रीय भी हो जाता है।

कथा रूप का लक्षण निरूपण संस्कृत काव्यशास्त्र में मिलता है। इसमें गद्य और पद्य का मिश्रण रह सकता था। प्राकृत में ऐसी बहुत सी रचनाएँ मिलती हैं, जो मुख्यतः पद्य-बद्ध हैं और उनमें नाममात्र को ही गद्य का प्रयोग मिलता है।[१] संस्कृत के आचार्यो ने कथा और आख्यायिका में भेद किया है। रुद्रट ने कथा का लक्षण निरूपण इस प्रकार किया है: आरम्भ में देव और गुरु की बन्दना होनी चाहिए। फिर ग्रन्थकार अपना और अपने काव्य का परिचय देता है। कथा का उद्देश्य भी बतलाया जाता है। इसका फल होता है सभी शृंगारों से विभूषित कन्या की प्राप्ति।[२] साथ ही उन्होंने कथा को गद्य में माना है। भामह[३] और दंडी[४] ने भी कथाओं और आख्यायिकाओं

१. उदाहरण के लिए लीलावई कहा, समराइच्च कहा, भविसयत्त कहा आदि को लिया जा सकता है।

२. काव्यालंकार १६।२०-२३।

३, काव्यालंकार १।२५-२८, २।२५-२८।

४. काव्यादर्श, १।२३-२८।

का स्वरूप निश्चित किया है। पर बहुत अधिक स्पष्टता नहीं है। गद्य में छन्द प्रयोग रह सकता है। इस साहित्य रूप का निर्धारण करने में संभवतः संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत का कथा साहित्य इन आचार्यों की दृष्टि में अधिक रहा होगा।[1] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं: "कथा संस्कृत से भिन्न भाषाओं (प्रकृतादि) में पद्य में लिखी जाती थी। प्राकृत अपभ्रंश में इन दिनों निश्चय ही पद्य में लिखा हुआ ऐसा साहित्य वर्तमान था जिन्हें कथा कहा जाता था।"[2] हेमचन्द्र ने भी इसी तथ्य की ओर संकेत किया था।[3] मध्यकाल में पद्यबद्ध कथाएँ अधिक प्रचलित रहीं। यह काव्यरूप अत्यन्त लोकप्रिय था। इसने संस्कृत के कवियों को भी आकर्षित किया और संस्कृत में भी पद्यात्मक कथाएँ लिखी जाने लगीं। कथानक सरस और प्रवाह युक्त होना चाहिए। इसमें अलङ्कारों का प्रचुर प्रयोग रहता था।

धार्मिक क्षेत्र में भी कथाओं की परम्परा रही। पुराण साहित्य की कथा तो होती ही थी। सूत-शौनक आदि के संवाद इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं। भक्ति के सम्प्रदायों में भी भागवत या पुराणों की कथाएँ होती रहती थीं। जब संप्रदायों में साहित्यिक रूपों और प्रवृत्तियों का प्रवेश हुआ, तब लोक-प्रचलित कथा-रूप भी गृहीत होने लगा। धार्मिक या पौराणिक कथाओं को काव्यबद्ध करके सुनाया जाता था। इन कथाओं के भावात्मक अंशों को गीति परक शैली में उभारा जाता था। भावोत्तेजना के लिए दृष्टान्त रूप में अन्य प्रसंग भी इसमें अनुस्यूत हो जाते थे। वाद्य और गायन का योग भी होने लगा। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भागवत और अन्य पुराणों के पद्यात्मक अनुवाद भी होने लगे।[4] इस प्रकार मौखिक कथाओं का काव्यरूप हरिकथाओं में ढलने लगा। दक्षिण में तो हरिकथा शास्त्रीय संगीत में बँध गई। कुछ संगीत के महाविद्यालयों में 'हरिकथा' को संगीत के पाठ्यक्रम में भी स्वीकृत किया गया है। इसे 'कालक्षेप' भी कहा जाता है। वैसे सभी भक्ति संप्रदाय के मन्दिरों में इस प्रकार के कथारूप लोकप्रिय थे। 'रास' काव्यरूप की भाँति इसमें नृत्य या अभिनय का संयोग नहीं था। चैतन्य

---

१. संस्कृत में कादम्बरी और दशकुमार चरित को कथा माना गया है।

२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ५४।

३. काव्यानुशासन, अध्याय ८।

४. आन्ध्रप्रदेश में पुराणों के अनुवादों की एक दीर्घ परम्परा मिलती है। अन्य क्षेत्रों में भी ऐसे प्रयत्न हुए।

संप्रदाय में प्रायः कथात्मक काव्यरूपों की अपेक्षा गीति शैली का ही अधिक प्रचल था, क्योंकि उनमें एक मात्र माधुर्य की ही प्रतिष्ठा थी और 'भाव' तथा 'महाभाव' के विकास की सरणियाँ कथाबद्ध नहीं हो सकती थीं। पर वल्लभ संप्रदाय में भागवत की कथा मान्य थी। 'सूर' को वल्लभाचार्य जी ने भागवतकी कथा का मर्म-बोध कराया। सूर ने उस कथा को भाषाबद्ध किया। जिस प्रकार तुलसी ने 'भाषाबद्ध करबि मैं सोई' कहा, उसी प्रकार सूर ने कहा—

व्यास कहे सुकदेव सौं द्वादस स्कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पदभाषा करि गाइ।।

भागवत को भाषाबद्ध करने का तात्पर्य उसका अनुवाद करना नहीं था। ना० प्र० सभा के सूरसागर के प्रथम आठ स्कंधों तक 'हरिकथा' की ही शैली चलती है। प्रत्येक स्कंध का आरम्भ इन पंक्तियों से किया गया हैं—

हरि हरि हरि सुमिरन करौ।
हरि चरनारविंद उर धरौ।।

साथ ही हरिकथा का माहात्म्य भी बतलाया गया है—

हरि की कथा होइ जब जहाँ। गंगा हू चलि आवैं तहाँ।।
जमुना, सिधु, सरस्वति आवैं। गोदावरी विलंब न लावैं।।
सर्व तीर्थ कौ बासा तहाँ। सूर हरिकथा होवैं जहाँ।।[१]

शुकदेव ने भी परीक्षित को हरिकथा ही सुनाई थी। इस बात को भी सूर प्रायः दुहरा देने हैं।[२] हरिकथा के अन्त में फल-कथन की पद्धति मिलती है। प्रत्येक प्रसंग के पश्चात् उसके श्रवण का फल बतला दिया जाता है। 'सूर' ने प्रत्येक स्कंध की कथा के अनन्तर फलकथन नहीं किया। तृतीय स्कंध में कपिलदेव हूति के संवाद में भक्ति का निरूपण किया गया है। इसके अन्त में फल-कथन मिलता है।[३] इसी प्रकार नारद-उत्पत्ति प्रसंग के पश्चात् हरि-

१. सूरसागर, १।२२४। अन्य स्कंधों का आरंभ भी इन्हीं पंक्तियों से हुआ है।

२. कहौं हरिकथा सुनौं चितलाइ। सूर तरौ हरि के गुन गाइ।।
सू० सा० ३।१, ४।१, ५।१, ६१, ७।१, ८ १, ९।१।

३. कपिलदेव सांख्यहि जो गायौ। सो राजा मैं तुम्हैं सुनायौ।।
याहि सनुझि जो रहै लवलासु। सूर बसै सो हरिपुर जाइ।।
(सू० सा० ३।१३)

भक्ति का माहात्म्य कथन है।[1] इस प्रकार हरिकथा के कुछ अभिप्रायों और रूढ़ियों का परिपालन सूर ने किया है।

सूर ने हरिकथा कहने के लिए प्रायः चौपाई छन्द को अपनाया है। कथात्मक काव्यरूपों में चौपाई या दोहा-चौपाई की मिली जुली पद्धति का प्रयोग पुराना है।[2] कथाकाव्य के साथ यह छन्द अपनी गति के कारण उपयुक्त रहता है। 'सूर' ने अनेक पदों और लोक गीतों की रचना में नियमित रूप से दोहों का प्रयोग किया है, पर हरिकथा भाग में दोहों के प्रयोग की मानस जैसी नियमित प्रणाली नहीं मिलती। वैसे दोहों का प्रयोग कुछ स्कंधों के आरम्भ में मिलता अवश्य है।[3] इस प्रकार कथाकाव्यों में प्रचलित और लोकप्रिय छन्द को ही सूर ने अपनाया है।

इस छन्द के प्रवाह को कभी-कभी गेय पद अवरुद्ध या विलंबित कर देते हैं। हरिकथा के दो होते हैं: एक तो विवरणात्मक अथवा इतिवृत्तात्मक, तथा दूसरा भावात्मक। विषय की यह दुहरी छाया काव्यरूप में भी झलक उठती है। इतिवृत्तात्मक या विवरणात्मक भाग को सूर चौपाई के विधान से अभिव्यक्त करते है। भावात्मक अंश गेय पदों में बँध जाता है। प्रथम स्कंध के आरम्भ में विनय के पद संगृहीत है। वास्तव में वे सूरोक्त हरिकथा के भाग नहीं है। जहाँ से 'भागवत' प्रबंध आरंभ होता है, वहाँ से चौपाई और पदों की समन्वित योजना भी आरंभ होती है। प्रथम स्कंध में कवि की दृष्टि भगवान के भक्त-वत्सलता जैसे गुणों पर ठहर जाती हैं। इन गुनों को प्रकट करने वाले प्रसंगों को इति वृत्तात्मक, चौपाई शैली में कहने के पश्चात् गुणों की भावात्मक स्फीति पदों में की गई है। प्रथम स्कंध की रूप-रेखा इस प्रकार है।

चौपाईबद्ध इतिवृत्त या प्रसंग		:	भावात्मक पद
१. प्रस्तावना	— १ पद	:	×
२. भागवत वर्णन	— १ पद	:	×

१. हरि की भक्ति करैं जो कोई। सूर नीच सौं ऊँच सो होई॥ (वही ७१८)

२. सरहपा ने दोहा चौपाई का प्रयोग किया है। कबीर की रमैनियों की छन्द शैली भी इसी प्रकार की है। अपभ्रंश के चरित-काव्यों में भी यही छन्द प्रयुक्त है।

३. सू० सा० १।२२५।

३. श्री शुकजन्म कथा	:	×
४. श्री भागवत के वक्ता श्रोता	:	×
५. सूत शौनक संवाद	:	×
६. व्यास अवतार	:	×
७. श्री भागवत अवतरण कारण	:	भागवत माहात्म्य १ पद, नाम माहात्म्य ४ पद।
८. क–विदुर गृह भगवान भोजन ख–कृष्ण का सन्धि प्रस्ताव	:	विदुरभाव की स्फीति में ६ पद। भगवान प्रेम के भूखे हैं और भक्तवत्सल हैं।
९. द्रौपदी-सहाय	:	द्रौपदी की करुणा और भगवान के आग्रह से संबन्धित १३ पद।
१०. पाण्डव राज्याभिषेक	:	×
११. युधिष्ठिर को भीष्मोपदेश	:	क–सर्वसमर्थ भगवान की भावना में ५ पद। ख–भीष्म प्रतिज्ञा, भगवान के शस्त्रग्रहण और अर्जुन के रथ-संचालन में भक्तवत्सलता
१२. भीष्म का देहत्याग	:	देहत्याग के समय भीष्म के कृष्ण ध्यान संबन्धी २ पद। संबन्धी १० पद
१३. भगवान का द्वारिका गमन	:	कुन्ती के कृतज्ञता-ज्ञापन के दो भावात्मक पद।
१४. राजा धृतराष्ट्र का वैराग्य तथा वनगमन	:	×
१५. हरिवियोग, पाण्डव राजत्याग, उत्तर-गमन	:	×
१६. अर्जुन का द्वारिका जाकर कृष्ण की कुशलता लाना	:	कृष्ण के विरह में अर्जुन का पश्चाताप २ पद
१७. गर्भ में परीक्षित की रक्षा तथा उसकाजन्म	:	×

१६. परीक्षित कथा	: परीक्षित के अन्तिम समय में मन-प्रबोध चेतावनी आदि के ४६ पद। चित्त-बुद्धि संवाद के ४ पद।
१६. फिर परीक्षित कथा का शेषांश	: ×

इस तालिका से स्पष्ट होता है कि सूर की 'हरिकथा' की संरचना चौपाई और गेय पदों की है। जहाँ भक्तिपरक, भगवान के गुणों से सम्बन्धित या व्यक्तिपरक भावनाओं के सूत्र सघन हो गये हैं, सूर की हरिकथा उनमें उलझ गई है। जब उन भावों के साथ गेय पदों के द्वारा पूर्ण न्याय हो गया है, तब कहीं कथा-सूत्र आगे बढ़ सका है। साथ ही हरिकथा या भागवत कथा के प्रस्ताविक सूत्रों का समावेश 'सूर' ने करना चाहा है। कथात्मक सूत्र संकेत मात्र देते हैं। उनका पूरा विवरण नहीं दिया गया है। परीक्षित कथा के अर्द्धांश के पश्चात् पदों की एक लम्बी शृङ्खला है। इस कथा के पूर्वार्द्ध की अन्तिम पंक्ति यह है—'इत उत देखन जनम गँवायौ।" इसके पश्चात् जो पदों की शृङ्खला है, उसमें से प्रथम पद की प्रथम पंक्ति इस प्रकार है—'इत उत देखत जनम गयौ।' इस प्रकार समग्र सूत्र संवद्ध हो जाता है: विवरणात्मक भाग और भावात्मक भाग की यहाँ संधि हो जाती है। जब आत्म प्रबोधन के भावात्मक पदों का अन्त होता है तो कथासूत्र को उत्तरार्द्ध में इस प्रकार संवद्ध किया गया है—'या विधि राजा कर्‌यौ विचारि।' इन्हीं के आधार पर कहा जा सकता है कि सूर ने 'हरिकथा' काव्यरूप को समग्र रूप से ग्रहण किया है। इतिवृत्त की प्रकृति के अनुसार शान्तरस, वैराग्य, आत्म-प्रबोधन आदि के भावों की ही सूर ने स्फीति की है।

द्वितीय स्कंध से इतिवृत्तात्मक भाग का ह्रास हो गया है। प्रास्ताविक चौपाई पद के पश्चात् नाम महिमा, अनन्य भक्ति हरिविमुख निंदा, सत्संग महिमा, भक्ति साधन, वैराग्य वर्णन, आत्मज्ञान, विराट रूप वर्णन, आरती, भगवान के विश्वास आदि के भक्ति भावात्मक गेय पद हैं। नाम महिमा, भक्ति महिमा और ब्रह्मा की उत्पत्ति के प्रसंग चौपाई पद में हैं। चौबीस अवतारों का वर्णन, दोहा और एक अन्य छन्द के आधार पर बने लम्बे पद में किया गया है। इस प्रकार भक्तिभाव तथा भक्ति के उपकरणों की शृङ्खला द्वितीय स्कंध की हरिकथा में है। इसमें इतिवृत्त का आश्रय बहुत कम लिया गया है।

तृतीय स्कंध में भावात्मक गेय पद बहुत कम हैं। इतिवृत्त और भक्ति निरूपण का शास्त्रीय पक्ष चौपाई या दोहे पर आधारित दीर्घ पदों में है। इसका विधान इस प्रकार है :—

इतिवृत्त	:	भावात्मक गेय पद
१. प्रास्ताविक	:	उद्धव के पश्चाताप के दो पद।
२: मैत्रेय विदुर संवाद	:	×
३. विदुर जन्म	:	×
४. सनकादिक अवतार	:	×
५. रुद्र की उत्पत्ति	:	×
६. सप्तर्षि, दक्ष प्रजापति, मनु की उत्पत्ति	:	×
७. सुर असुर उत्पत्ति	:	×
८. वाराह अवतार	:	×
९. जय विजय की कथा (दोहे पर आधारित)	:	×
१०. कपिल-अवतार : कर्दम का शरीर त्याग	:	×
११. देवहूति कपिल संवाद	:	×
१२. भक्ति विषयक प्रश्नोत्तर	:	×
१३. भगवान का ध्यान	:	×
१४. चतुर्विध भक्ति	:	×
१५. हरि विमुख की निन्दा	:	×
१६. भक्त महिमा	:	×

इस प्रकार भक्ति का निरूपण इसमें कवि का लक्ष है। इतिवृत्त और भावविस्तार दोनों ही अत्यल्प हैं।

चतुर्थ स्कंध की सूत्र-रचना इस प्रकार हैं—

१. प्रास्ताविक	:	×
२. यज्ञपुरुष अवतार	:	यज्ञपुरुष संबन्धी एक भाव-पद
३. पार्वती विवाह	:	×
४. ध्रुवकथा	:	ध्रुव संबन्धी एक भाव-पद
५. पृथु अवतार (अन्य छन्द का पद)	:	×
६. पुरंजन कथा	:	आत्मज्ञान संबन्धी एक भावपद

इस भाग में इतिवृत्त ही प्रधान है। भावपदों में इन्हीं की संक्षिप्ति करदी गई है। पंचम स्कंध शुद्ध इतिवृत्तात्मक है। इसमें ऋषभदेव अवतार, जड़ भरत कथा, जड़ भरत रहूगण संवाद, के प्रसंग केवल चौपाई पदों के माध्यम से व्यक्त हुए हैं। इसी प्रकार षष्ठ स्कंध में केवल चौपाई पदों का ही निबंधन मिलता है। इनमें परीक्षित-शुक प्रश्नोत्तर, अजामिलोद्धार, श्री गुरु महिमा, नहुष कथा, इन्द्र अहिल्या कथा के प्रसंग हैं। इसमें केवल एक भाव-पद गुरु-महिमा का है 'गुरु बिन ऐसी कौन करै।' सप्तम स्कंध मे नृसिहावतार की कथा दीर्घ चौपाई पदों में निबद्ध है। आगे प्रहलाद भक्त की भावना में कवि की वृत्ति रम गई है। परिणामस्वरूप चार भाव पद जुड़ गये हैं। आगे भगवान की शिव को सहायता, और नारद की उत्पत्ति के प्रसंग हैं। इस प्रकार सप्तम स्कंध भी प्राय: इतिवृत्तात्मक है :

अष्टम स्कंध में अवतारों से संबद्ध अवतार प्रसंग हैं। इसका सूत्र विधान इस प्रकार है :—

इतिवृत्त : चौपाई या दीर्घ पद	:	भावपद
१. गजमोचन अवतार	:	चार भावपद
२. कूर्म अवतार : दो दीर्घ पद	:	एक भावपद
३. मोहनी रूप शिव-छलन	:	×
४. सुंद उपसुंद-बध	:	×
५. वामन अवतार	:	३ भाव-पद
६. मत्स्य अवतार	:	१ भाव-पद

नवम स्कंध में कवि कुछ प्रसंगों के पश्चात् रामकथा में प्रविष्ट होगया है। इसमें भाव पदों की ही संख्या अधिक है। इसकी रचना-पद्धति इस प्रकार है—

१. राजा पुरुरवा का वैराग्य	:	×
२. च्यवन ऋषि की कथा	:	×
३. हलधर विवाह	:	×
४. अम्बरीष कथा	:	२ भाव पद
५. सौभरि ऋषि की कथा	:	×
६. गंगावतरण	:	गंगा संबन्धी तीन भाव-पद
७. परशुराम अवतार	:	एक भाव-पद
८. रामावतार	:	सारा वृत्त गेय पदों में

९. कचदेवयानी कथा : ×
१०. देवयानि ययाति विवाह : ×

इस प्रकार सूर ने राम के समस्त वृत्त को पहले पहल समग्र रूप से गेय पदों में बाँधा। राम की जैसे एक 'गीतावली' ही सूर ने रच दी है। इन गेय पदों में कुछ लम्बे पद भी हैं।[1] पर बीच में एक भी चौपाई वाला इतिवृत्त पद नहीं आया हैं। लम्बे पदों में संवाद-वाले प्रसंग ही अधिकांश मिलते हैं।

इस विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूर ने हरि-कथा की शैली पर भी काव्य रचना की थी। इसके लिए भागवत कथा को आधार बनाया गया था। नवम स्कंध तक सूर की दृष्टि कथा पर भी रही। भक्तों की और अवतारों की कथाएँ कही गई हैं। दोनों ही कथाओं के कहने का उद्देश्य भक्ति का तात्त्विक विश्लेषण, भगवान के गुणों में दृष्टान्तों के सहारे विश्वास उत्पन्न करना और भगवान के माहात्म्य का बोध कराना प्रतीत होता है। उद्धार कथाओं में प्रहलाद, गजेन्द्र, द्रौपदी, विदुर और अम्बरीष की कथाएँ आती हैं, जिनमें सूर ने भावात्मक पदों को भी संग्रथित किया है। मानवीय स्तर पर भावों का विस्तार भीष्म, अर्जुन और कुन्ती के प्रसंगों में हुआ है। कथा को आरम्भ करने की शैली सी विशिष्ट है। अन्त में उन प्रसंगों के कहने और सुनने के फल का भी कथन कहीं-कहीं है। इनका फल लौकिक नहीं, भगवान की भक्ति की प्राप्ति बतलाया गया है।[2] जहाँ इस प्रकार का फल कथन नहीं किया गया है, वहाँ कथा की समाप्ति या तो भगवान के माहात्म्य कथन में, या भक्ति-महिमा में या भक्ति के प्रभाव कथन में की गई है। कहीं-कहीं कहा गया है कि जिस प्रकार शुक ने यह कथा कही

---

१. ऐसे दीर्घ पदों में हनुमान की लंका यात्रा, त्रिजटा स्वप्न, अशोक वन भंग, हनुमान रावण संवाद, हनुमान-राम संवाद, राम-सागर संवाद तथा अंगद रावण संवाद मुख्य हैं।

२. 'जो यह लीला सुनै-सुनावै। सो हरि भक्ति पाइ सुख पावै।।
(सू० सा० ९।५)
जो यह लीला सुनै-सुनावै। सूरदास हरि भक्ति सो पावै।।
(वही, ७।२)
जो यह लीला सुनै सुनावै। सोऊ ज्ञान भक्ति कों पावै।।
(वही, ५।४)
यह लीला जो सुनै-सुनावै। सो हरि कृपा ज्ञान कों पावै।। (वही४।१२)

है, उसी प्रकार मैंने भी कह दी है।[1] इससे कथा का प्रामाण्य घोषित किया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सूर ने समस्त भागवत की कथा को 'हरि-कथा' के रूप में गाया होगा। उसके कुछ ही खंड आज प्राप्त हैं। शेष खंड लुप्त हो गये। अथवा यह भी संभव है कि सूर ने केवल नवम् स्कंध तक के कुछ प्रसंगों को ही 'हरिकथा' के रूप में रखा हो और दशम स्कंध तक आते-आते उनका दृष्टिकोण बदल गया हो। दशम स्कंध को उन्होंने अलग इकाई मानकर ही काव्य लिखा हो। इसस्कंध में इतिवृत्त की रही सही छाया भी लुप्त हो जाती है। भाव का एक प्लावन सा आ जाता है। बीच-बीच में दुष्ट वध या उद्धार से संबन्धित जो प्रसंग आये भी हैं वहाँ हरिकथा की शैली को त्यागकर सूर ने 'लीला' या 'रास' काव्यरूपों का प्रयोग करके इतिवृत्त को कह दिया है। 'हरिकथा' में भी सूर ने कथा भाग को अत्यन्त संक्षिप्त कर दिया है। जो प्रसंग हरि हरि हरि सुमिरन करौ' से आरंभ होते हैं और 'सूरदास' की छाप वाली पंक्ति के साथ समाप्त होते हैं, वे तो पूर्ण कहे जा सकते हैं। जहाँ इस प्रकार के आदि-अन्त का अभाव है, वहाँ प्रसंग के पूर्ण होने में संदेह रह जाता है। इस दृष्टि से प्रथम स्कंध के प्रसंग तो पूर्ण प्रतीत होते हैं। लघुता के आधार पर कथा को अपूर्ण नहीं कहा जा सकता। हरि वियोग, पाण्डव राज्य-त्याग तथा उत्तरगमन के प्रसंग को तीन-पंक्तियों में समाप्त किया गया है। इनमें से प्रथम और अन्तिम पंक्तियाँ हरिकथा की औपचारिक पंक्तियाँ हैं, और कथा केवल एक ही पंक्ति में हैं।[2] संक्षेप में सूरसागर के कुछ भाग में 'हरिकथा' काव्यरूप की स्थापना की जा सकती है। 'दशम स्कंध' में तो यह काव्यरूप गीति-तत्व के आप्लावन में अपने अस्तित्व को सुरक्षित नहीं रख पाता। इससे पूर्व के और इसके बाद के स्कंधों में हरिकथा काव्यरूप मिलता है। इस काव्यरूप की सूचना आरम्भ और अंत की शैली से मिल जाता है। आरम्भ 'हरिस्मरण' से होता है और अन्त में या तो फल-कथन रहता है या 'भागवतानुसार' कथा की सूचना रहती है। यदि बीच में भाव सघन हो जाता

---

१. ज्यौं सुक नृप सौं कहि समुझायौ। सूरदास त्यौं ही कहि गायौ ॥

(वही ५।३)

बरन्यौ रिषदेव-अवतार। सूरदास भागवतानुसार ॥ (वही ५।२)

२. सू. सा. १।२८५।

है, तो प्रगीत इतिवृत्त के प्रवाह को कुछ देर के लिए रोक देते हैं और अपना वृत्ताकार विकास करने लगते हैं।

३. रास : लीला—

जहाँ आदिकालीन हिन्दी साहित्य में 'रासो' साहित्य की प्रमुखता थी, वहाँ जैन कवियों ने भी कुछ 'रास' गीतों की रचना की थी। इस काव्य-विधा का आधार मुख्यरूप से लोकगीत है। इस विधा पर धार्मिक मान्यताओं का प्रभाव तो अधिक है, पर इनकी साहित्यिकता के विषय में भी संदेह नहीं करना चाहिए। 'संदेशरासक' भी रास-विधा का ही एक रूपान्तर है। यह भी हिन्दी की आरम्भिक कृतियों में से एक है।[१] 'रासो' साहित्य भी इसी विधा का एक रूप है, जो प्रबन्ध शैली से अधिक प्रभावित होने के कारण इस मूल विधा से बहुत भिन्न हो गया। 'रासो में पुराण चरित्र और महाकाव्य की विधाओं का सम्मिलित प्रभाव माना जा सकता है। इसी दृष्टि से 'रास' विधा अलग होती गई। जैन रास-साहित्य में इस काव्यरूप का शुद्ध रूप मिलता है। इन रासों की एक परम्परा मिलती है।[२] इनकी भाषा गुजराती-रास्थानी व्रज की भाषात्रयी की आरम्भिक स्थिति का परिचय देती है। पूर्व में यदि बौद्ध सिद्ध काव्य और चैतन्य-संप्रदाय की माधुर्य भावना लोकवाणी का माध्यम ग्रहण कर रहे थे, तो पश्चिम में जैन कवि 'रास' जैसी लोक-विधाओं के माध्यम से धर्म और साहित्य का समन्वय कर रहे थे। "रास काव्यों में जैन पुराणों या चरित काव्यों की किसी कथा को आधार बनाया जाता है। इन्हें हम प्रबन्धकाव्य भी कह सकते हैं।"[३] वास्तव में इस विधा में इतिवृत्त भावाकुल होकर ही रहता था। इसमें गीतितत्त्व का भी समावेश रहता था। ये गेय होते थे। गेयता के आधार पर ही 'रास' को अन्य प्रबन्ध-विधाओं से पृथक किया जा सकता है। इनकी दूसरी विशेषता लोकशैली का प्रयोग है।

---

१. डा० द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृ० ७१।

२. शालिभद्र सूरिका 'बाहुबलि रास' प्राचीन प्रमाण है। कई अप्रकाशित रास-काव्यों की खोज हो चुकी हैं : जंबुस्वामि रास, (१२६६ वि०) रेवंत गिरिरास (१२८८ वि०) कछूलीरास (१३६३ वि०) गौतम रास (१४१३ वि०)। (हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ३६६)

३. वहीं।

इसका प्रेरणास्रोत लोकनृत्य मिश्रित लोकगीतों में माना जाता है। नृत्य और अभिनय के साथ गीत का संयोग लोकसाहित्य की अनेक विधाओं में मिलता हैं। रास-काव्य की परम्परा गुजराती में बनी रही। राजस्थान में एक नवीन सज्जा के साथ यह 'रासो' में अवतरित हुई। व्रज में आज वैष्णव मन्दिरों और यात्राओं रास की विधा लोकप्रिय है। जैन कवियों के भी कई 'रास' व्रजभाषा और व्रजभूमि में ही लिखे गए। 'वाचक सहज-सुन्दर के व्रजभाषा में लिखे रतनकुमार रास...में गेयता और भाव प्रवणता अपनी चरम सीमा पर दिखाई पड़ती है।"[1] इन रचनाओं में भक्ति-रस का समावेश है।

कृष्णश्रयी भक्तिशाखा में इस काव्य रूप का बहुत प्रचलन था। कृष्ण लीलाओं से संबद्ध होने के कारण इसे 'रासलीला' कहा जाता था। भागवत के 'रास पंचाव्यायी' से इसका विषय और नाम लिया गया होगा। रासलीला संबन्धी कृष्णकाव्य गुजरात और राजस्थान में भी बना। पर वहाँ इसका रूप जैन-प्रभाव से युक्त बना रहा। व्रज और बंगाल प्रदेश में कृष्ण-भक्ति का प्रचार तेजी से हुआ और माधुर्य-संयुक्त उक्ति भी मान्य हुई। बंगाल में जयदेव का गीत गोविन्द भी रासाभिनय के साथ गाया जाता था। इसमें निश्चित ही भागवत की रासलीला का प्रभाव प्रगाढ़ था। "बारहवीं शताब्दी में श्री वोपदेव रचित श्रीमद्भागवत में कृष्ण रासलीला के प्रमाण से तथा राजस्थानी रास की उपलब्धि से तत्कालीन कृष्ण रासलीला की रास पद्धति का अनुमान किया जा सकता है।"[2] इस प्रचलित रासलीला नाम से यह नहीं समझना चाहिए कि इसमें भागवतोक्त रास-प्रसंग ही रहता था। कृष्ण की अन्य लीलाएँ भी रहती थीं। प्राकृत पैंगलम् में 'नौका लीला, का एक पद्य उद्‌वृत है।

भक्ति संप्रदायों में कभी-कभी केवल 'लीला' शब्द भी प्रयुक्त होता था। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि कृष्णकाव्य में 'रासलीला' तो एक विशिष्ट प्रसंग की सूचना देती है। अन्य लीलाओं को इससे पृथक रखने के लिए केवल 'लीला' शब्द भी प्रयुक्त होता था। कई भक्त कवियों ने लीलाएँ

---

१. डा० शिवप्रसादसिंह, सू० पू० व्र० भा०, पृ० ३३०-३३।
२. डा० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास। (दिल्ली. १९५४) पृ० १०१।

लिखीं। सूर-पूर्व ब्रजभाषा साहित्य में भी अनेक लीलाएँ लिखी गईं।[1] आरम्भ में काव्यरूप की दृष्टि से 'लीला' और 'रास' में कोई भेद नहीं रहा होगा। पर पीछे लीलाएँ पाठ्यरूप में भी लिखी गईं। इन पाठ्यलीलाओं का उपभोग भी रासाभिनय में हो सकता होगा। लीलाकाव्यों की कुछ पारिभाषिक विशेषताओं की ओर संकेत किया जा सकता है। इनमें गेयता प्रधान गुण था। विरह और संयोग दोनों ही विषयों पर लीलाएँ लिखी जा सकती थीं। अभिनय की दृष्टि प्रमुख रहने के कारण कथोपकथनों की योजना रहती थी। नृत्य भी इसका एक प्रधान तत्त्व था। जैन रासों में भी नृत्य-गीत रहते थे। ब्रज के लीलाकाव्यों में भक्ति और शृंगार का मिश्रण रहता था। जैन रासो रूप से लीलाओं का यह वैशिष्ट्य है।

ब्रज में प्रचलित भक्ति संप्रदायों में रास लीलाओं का बहुत चलन है। इसको पहले किस संप्रदाय ने आरम्भ किया, इस पर मतभेद है। रासलीला का आध्यात्मिक प्रतीकत्व भी मान्य होता चला गया।[2] माधुर्यमात्र को सर्वोपरि मानने वाले संप्रदायों में इसका विषय शृङ्गार या भागवत की रास पंचाध्यायी तक सीमित हो गया। पर वल्लभ संप्रदाय में लीलाकाव्य की यह सीमा नहीं मिलती। किसी भी प्रसंग की लीला अभिनीत हो सकती है। वल्लभाचार्य जी ने 'सुबोधिनी' में रास के दिव्य और आध्यात्मिक पक्ष का निरूपण किया है। इसके साथ ही उन्होंने अनुकरणात्मक रास की भी चर्चा की है। अनुकरणात्मक रासलीला अभिनेय होती है। इस लीला का वर्णन 'टाड, ने किया है।[3] इसमें उन्हने लिखा है कि इसके पात्र किशोरावस्था के ब्राह्मण होते थे। इनकी शिक्षा मथुरा में होती थी। शरद ऋतु में ये विभिन्न स्थानों पर, राजाओं के दरबारों में प्रदर्शन करते थे। ग्रोटन ने अपने

---

१. डा० शिवप्रसाद सिंह ने परशुराम देव की लीलाओं की सूची दी है (सू. पू. ब्र. भा., पृ. २०५)। 'यदि विष्णुदास की स्नेहलीला (संवत् १४९२) प्रामाणिक कृति मानी जाय, तो लीलाकाव्य का आरंभ अष्टछापी कवियों से बहुत पहले का साबित होता है।' (वही, पृ. ३३२)

२. इसकी ज्ञानमार्गीय, योगमार्गीय, कर्ममार्गीय तथा भक्तिमार्गीय व्याख्याएँ की गईं।

३. यह और कुछ आगे तक का विवरण श्री नारबिन हईन हेवन के 'रासलीला के विदेशी दर्शक' लेख (पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ) के आधार पर दिया गया है।

रासलीला संबन्धी प्रभावों को इस प्रकार व्यक्त किया है : 'रास (बैले) समूह नृत्य के समान हुआ। इसमें प्रेम की भावना और चांचल्य का प्रादुर्भाव था, किन्तु सब कुछ रोचक और दिव्य था। गोपियों के साथ...भाषा में, जो ब्रज प्रान्त में बोली जाती है, गायन हुआ।' अपने 'मथुरा मैमोयर्स' में ग्राउज महोदय ने भी रास का कुछ आँखों देखा हाल लिखा है। अन्त में हेवन साहब ने अपने निष्कर्ष दिये हैं। उन्होंने लिखा है कि नाटक की दृष्टि से जो अन्धकार युग था, उसमें भी इन रूपकों का प्रचार रहा। उनकी दृष्टि में यह धार्मिक रूपक है। इसमें भावपूर्ण भावावेश रहते हैं। दर्शक भी भक्त हृदय होते हैं।[१]

इस प्रकार रास नाटक की ही विधा थी, जिसमें संगीत का मेल रहता था। भक्ति आन्दोलन ने इस रूप को ग्रहण किया। इसकी लोकप्रियता बंगाल से गुजरात तक हो गई। इसी आन्दोलन के प्रभाव स्वरूप इस 'रूपक' के साथ उच्चकोटि का काव्य और भावोन्मेष सम्मिलित हुआ। संस्कृत काव्यशास्त्रों में इस रूपक के लक्षणों का निर्देश मिलता हैं। अभिनव गुप्त ने इस रूप का उल्लेख किया है। यहाँ कुछ गेय रूपकों की चर्चा है।[२] इसी संबन्ध में रास की परिभाषा भीं दी गई है।[३] इस परिभाषा से यह ज्ञात होता है कि इसमें अनेक नर्तकियाँ भाग लेती थीं। यह विचित्र ताल और लयों से समन्वित होता था। इसमें चौंसठ नर्तक युग्म भाग लेते थे। इसके दो प्रकार होते हैं : मसृण और उद्धत। हेमचन्द्र ने पूर्व विभावन को स्वीकार करते हुए, इसे एक गेय रूपक माना है।[४] इसका लक्षण निरूपण 'नाट्यदर्पण' में भी मिलता है।[५] इसके लेखक ने भी गायन और नृत्य के तत्त्वों को स्वीकार किया है। वाग्भट द्वितीय (काव्यानुशासन) ने भी इसी लक्षण-क्रम को स्वीकार किया है।

---

१. पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ पृ० ७१३-१७।

२. गेय रूपक ये हैं:—डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, भाणिका, रामाक्रीड़, हल्लीसक और रासक।

३. अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितं।
आचतुष्षष्ठियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्॥

४. काव्यानुशासन, ८।४।

५. रामचन्द्र गुणचन्द्र, नाट्य दर्पण, (ओरियंटल इंस्टिट्यूट, बड़ौदा, १९२९) भाग १, पृ० २१४-१५।

विश्वनाथ ने भी इस रूपक पर विचार किया है।[१] मूलरूप से सभी ने अभिनवगुप्त के विभाजन और लक्षणों को स्वीकार किया है। विश्वनाथ के लक्षणों के अनुसार रासक एक लोक-गेयरूपक (Folk Opera) ही ठरहता है। आरम्भ में इसकी गिनती अभिजात नाट्यरूपकों में नहीं होती थी। जनता में यह शैली लोकप्रिय थी। धीरे-धीरे शिष्टवर्ग भी इसकी ओर आकर्षित हुआ। इसी रूप का परिष्कृत अभिजात रूपक 'नाट्यरासक' है। लोकगीतों का स्थान शास्त्रीय संगीत, और लोकनृत्य का स्थान शास्त्रीय नृत्य ने लिया। आज व्रज में जो रासलीलाएँ चलती हैं, उनमें शास्त्रीय वाद्य-गायन विधान अधिक है। यहाँ वहाँ लोक-संस्पर्श भी मिलते हैं। पीछे जब यह भक्ति आन्दोलन का एक काव्य रूप बना तब इसका संवन्ध भागवतोक्त रास-विषय से हो गया।

जिस प्रकार कृष्ण की व्रजलीलाओं की संधारणा में आभीर प्रभाव माना गया, उसी प्रकार इस गेयरूपक पर भी आभीर प्रभाव स्वीकृत किया गया। विश्वनाथ ने इसमें 'भाषा-विभाषा' का योग माना है। रासग्रन्थ भी प्रायः अपभ्रंश भाषा में लिखे मिलते हैं। "यह मानना अनुचित न होगा कि रासनृत्य आभीरों में प्रचलित था। उनके संपर्क में आने के बाद में यही नृत्य शैली गेयनाट्य के रूप में विकसित होकर रास के नाम से अभिहित हुई।"[२] आभीर भागवत हो गये थे। इनका योगदान वैष्णव मत की लोकप्रिय भूमिका के निर्माण और प्रचार में प्रायः सर्व-स्वीकृत है। "बहुत से पंडितों का विश्वास है कि प्राकृत और उससे होकर संस्कृत में जो यह ऐहिकतापरक सरस रचनाएँ आईं उसका कारण आभीरों का संसर्ग था।"[३] आभीर संस्कृत का विकास तथा इनका मध्यदेश में प्रमुख होना सिद्ध है।

शैव संप्रदायों में शिव के साथ भी नृत्य का संयोग किया गया है। शिव का तांडव-नृत्य उग्र (प्रलयंकर) माना गया है। दक्षिण में 'नटराज' का मन्दिर प्रसिद्ध है। इसकी भित्तियों पर भरतनाट्यम् की अनेक मुद्राएँ शिल्पांकित हैं। भरतनाट्यम् का संवन्ध भी प्रायः शैव संप्रदायों से माना जाता है। तांडव नृत्य का मूल भाव 'भय' या आतंक माना जा सकता है। इस भयंकर

१. साहित्य दर्पण, डा० काणे द्वारा संपादित, पृ० १०४-५।
२. शिवप्रसाद सिंह, सू० पू० व्र० भा०, पृ० ३२८।
३. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका (बम्बई, १९४०) पृ० ११४।

नृत्य के साथ पार्वती के लास्य-नृत्य की कल्पना की गई। शिव के प्रलयंकर नृत्य की शांति के लिए पार्वती को लास्य-नृत्य करना पड़ता है। इस प्रकार तांडव और लास्य का पूर्ण रूप शैव परम्पराओं में मान्य है। नृत्य तत्त्व वैष्णव संप्रदायों का विकास होने पर, कृष्ण के साथ सम्बद्ध कर दिया गया। एक अनुश्रुति के अनुसार तो 'रास' का उद्गम शैव परम्परा के 'लास' से ही है।[१] यदि शिव का तांडव सृष्टि-विनाश करता है तो पार्वती का लास्य लोक-मंगल और लोक-रंजन का विधायक है। पार्वती ने 'लास्य' की शिक्षा अनिरुद्ध-पत्नी उषा को दी। उषा से द्वारावती की गोपिकाओं ने इस नृत्य को सीखा। इन गोपियों के द्वारा यह नृत्य सारे सौराष्ट्र और गुजरात में फैला।[२] इस प्रकार इसका आरम्भ भी पश्चिम के आभीरों से हुआ सिद्ध होता है।[३] आभीर संस्कृति व्रज तक फैली हुई थी। अतः 'रास' रूपक वहाँ तक लोकप्रिय हुआ। भक्ति-आन्दोलन लोकप्रचलित काव्यरूपों को माध्यम के रूप में स्वीकार करके चला। अतः यह काव्यरूप भी गृहीत हुआ। बंगाल तक इसकी लोकप्रियता हुई। एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन से सम्बन्धित होकर कई काव्य-रूपक व्यापक हुए। इस प्रकार इस गेय रूपक का सम्बन्ध लोक-जीवन, आभीर संस्कृति और भाषा-परम्परा से सिद्ध हो जाता है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, रास गेय तो मूलतः थे ही, ये पाठ्य भी होने लगे थे। 'लीला काव्य' वास्तव में पाठ्य रास का ही रूप है। 'मसृण' रास कोमल प्रसंगों से संबद्ध थे और 'उद्धत' रास युद्ध प्रसंग से संबद्ध होते थे। कृष्ण-लीलाएँ भी दोनों प्रकार की हैं। आज की प्रचलित रास-लीलाओं में दोनों ही प्रकार की लीलाओं का अभिनय रहता है। पर मूलतः ये 'मसृण' के अन्तर्गत ही हैं। 'रास-विहार' के सीमित अर्थ में प्रत्येक रासलीला का आरंभ कोमल नृत्य-संगीत से ही होता है। पीछे मसृण और उद्धत किसी प्रकार की लीलाएँ आ सकती है। लोक-साहित्य में 'रासौ' या 'पमारा' काव्यरूप भी

---

१. लास-रास भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी सिद्ध होता है।

२. शारंगदेव 'संगीत रत्नाकर' ७१४-८

३. अभिधान कोशों से भी रास का सम्बन्ध आभीरों से सिद्ध होता है। 'रासः क्रीडासु गोदुहाय भाषा शृंखलके' (अनेकार्थ संग्रह, हेमचन्द्र)। भाषा शृंखलके रासः क्रीडायामपि गोदुहाम्' (पुरुषोत्तम, त्रिकाण्डशेषे)। इनसे दो बातें प्रकट होती हैं : रास=ग्वाल क्रीड़ा; रास=भाषा में शृंखला-बद्ध रचना।

ब्रज में प्रचलित है। इनमें किसी राजा के शौर्य का ही वर्णन रहता है। इनके साथ अंगभंगियों का नर्तन भी रहता है। इनको गाया भी जाता है। पर यह शैली कृष्ण-भक्ति की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। इनमें घटना की प्रधानता रहती है : विवरण ही अधिक होते हैं। पर मसृण पद्धति की रासलीलाओं में भाव-प्रवणता ही अधिक पाई जाती है।

सूरदास और नन्ददास ने रासलीला का विस्तृत वर्णन किया है। 'रास पंचाध्यायी' में एक कथानक भी प्रस्तुत हो जाता है। वेणुवादन से लेकर रासलीला तक एक हलका-सा कथानक सूर में भी है। पर अनुकरणात्मक रास की सूचना संप्रदाय के पुराने उल्लेखों में नहीं मिलते। पर, वल्लभाचार्य जी ने लौकिक अनुकरणात्मक रास को सिद्धान्ततः स्वीकार किया था। आज भी वल्लभ संप्रदाय की ब्रज-यात्रा के समय नित्यप्रति अनुकरणात्मक रास सम्पन्न होता है। हो सकता है अनुकरणात्मक रास का प्रचलन पीछे संप्रदाय में हो गया हो। 'रास' के साथ 'सूर' या अष्टछाप के कवियों के पदों का गायन भी मिलता है। इन संप्रदायों में रास का रूप पूर्व प्रचलित 'रास' या 'रासो' के रूप में नहीं रहा। कथानक तो अत्यन्त शिथिल हो गया। भावात्मक सम्बन्धों का विकास ही इसमें मिलता है। जिस 'लीला' में संवादों की योजना कवि ने की हो, उसे 'रास' 'काव्य-रूप' के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

'रास' और अन्य लीलाओं का पारिभाषिक अन्तर यह माना जा सकता है कि प्रथम दृश्य है और द्वितीय श्रव्य या पाठ्य। दृश्य कहने का तात्पर्य यह नहीं कि वह श्रव्य या पाठ्य नहीं हो सकता। दृश्य (रास) में अभिनेयता और संवाद के तत्त्व अधिक रहते हैं। यों तो कथ्य और श्रव्य 'लीला' में भी थोड़े-बहुत संवाद रहते ही हैं और उन्हीं के आधार पर उस 'लीला' को 'रास' के रूप में परिणत किया जा सकता है, किन्तु कुछ लीलाओं में संवादों का आधिक्य रहता है। इसलिए पात्रों के द्वारा ही प्रसंगों का अभिनय हो सकता है। कवि-कथन या लुप्त कड़ियों को जोड़ने वाले रास-सहायकों का कार्य अपेक्षाकृत कम रह जाता है। 'दानलीला' इसी प्रकार की लीला मानी जा सकती है।[1] इस प्रसंग में कृष्ण-गोपी संवाद भी है और गोपियों का यशोदा को उलाहना देने के सम्बन्ध में भी नाटकीय कथोपकथन हैं। भ्रमरगीत प्रसंग का उद्धव-गोपी संवाद भी 'रास' के समकक्ष है। 'रास' से पूर्व गोपी-कृष्ण संवाद में भी रास के तत्त्व अधिक हैं। कहीं-कहीं समस्त प्रसंग ही संवादों में

---

१. सू० सा० १०।१४६१; १४९१ आदि पद।

वद्ध है। 'मानलीला' शुद्ध संवाद-परक है[1] : इसमें कवि को अपनी ओर से टिप्पणी करने का अवसर नहीं मिला। इस लीला में भी संवाद त्रिकोणात्मक है, राधा, कृष्ण और दूती इन सम्वादों को चलाते हैं। 'दूती वचन'' 'राधा वचन' और'कृष्ण वचन'में ही समस्त प्रसंग उद्‌घाटित हुआ है। 'उपसंहार' में राधा-माधव मिलन है। इसका रास-सहायकों द्वारा गायन किया जा सकता है। अन्त में लीला का फल कथन भी कर दिया है।[2] इसी प्रकार से 'दान-लीला' का भी एक रूप शुद्ध संवादात्मक है : उसमें कथन के पश्चात् कहने वाले की सूचना दी गई है। आरंभ में प्रस्तावना है। इसमें रास-सहायकों के कुछ कथन है। इन कथनों के अन्त में 'सबै ब्रज नागरी', 'चली ब्रजनागरी', *तथा तहाँ नँदलाड़िलौ' सकेत वाक्य है। पीछे सारा संवाद गोपी-कृष्ण संवाद* में है—कभी 'कहति ब्रजलाड़िली', कभी 'कहति ब्रजनागरी' और कभी 'नँद-लाड़िलौ'। इस प्रकार की शैली सम्भवतः 'रास' के लिए रूढ़ हो गई थी। नन्ददास जी ने भी इस शैली को अपनाया था और आधुनिक युग में सत्यनारायण कविरत्न ने 'भँवरगीत' में इसी शैली को ग्रहण किया है। इस प्रकार के शुद्ध संम्वादात्मक प्रसंगों को 'रास' काव्यरूप के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इसमें संगीत-संवाद तो स्पष्टतः मिलते हैं, नृत्य भी इन्हीं के साथ चलता रह सकता है : भावनृत्य।

'लीला' का श्रव्य रूप भी सूर में पर्याप्त है। 'हरिकथा' से लीला नामक काव्यरूप को पृथक करने वाला तत्त्व इतिवृत्त का है। इतिवृत्त कभी माहात्म्य-भावना से प्रेरित होता है और कभी दृष्टान्त-कथन से। कवि 'हरिकथा' को सजीव बनाने के लिए 'पदों' और 'लीला' का भी प्रयोग कर सकता है। शुद्ध 'लीला' में कवि की दृष्टि उस लीला की भाव-भूमिका में रमी रहती है। हरि-कथा की भाँति उसकी बौद्धिक चेतना लीला-गायन में अधिक जाग्रत नहीं रहती। 'लीला' में प्रसंग का आधार तो लिया जाता है, पर उसका भावात्मक निरूपण अधिक होता है।

विषय की दृष्टि से 'सूर' के लीला काव्यरूप का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है : पहले समस्त लीलाओं को दो प्रर्गो में विभाजित किया

---

१. सू० सा० १०।२८२६।

२. कबहुँ न जाहिं जठर पातक, जिनकौं यह लीला भावै।
जीवनमुक्त सूर सो जग में, अंत परम पद पावै। (वही)

जा सकता है—माहात्म्यपरक लीलाएँ, और भावपरक लीलाएँ। तीसरा वर्ग ऐसे प्रसंगों का हो सकता है, जिनमें माहात्म्य की स्थिति लीला की स्थिति में संक्रमित होती है। तीसरे वर्ग का एक प्रसंग रासलीला से पहले वर्णित है। इसमें गोपियों की ऋचाओं और कृष्ण को वेदार्थ के रूप में पहले चित्रित किया गया है। पीछे ऋचाओं की प्रार्थना पर माहात्म्य, रसात्मक लीलाओं के लिए अवतरित होकर भाव-भूमि में प्रविष्ट हो जाता है।[1] माहात्म्यपरक लीलाओं के प्रकार इस तालिका से स्पष्ट हैं—

माहात्म्य लीलाएँ—
- १. राक्षसबध लीलाएँ—
  - वात्सल्य-काल में घटित
  - सख्य-काल में घटित
  - ब्रजजीवन के पश्चात् घटित
- २. अन्यदेव-पराजय लीलाएँ
- ३. उद्धार लीलाएँ।
- ४. दमन लीलाएँ।

भावपरक लीलाओं में सभी भक्ति-भावों से संबन्धित लीलाएँ हो सकती हैं। वात्सल्य और सख्य से संबन्धित प्रसंग 'लीला' काव्य रूप के अन्तर्गत नहीं होते। इन भावों की स्थिति में इतिवृत्त तो रहता ही नहीं है। केवल लघु प्रसंग मिलते हैं। इनके संबंध में 'सूर' ने मुक्तक पदों की रचना की है। शृंगार से संबंधित कुछ 'लीला' -काव्य अवश्य मिलता है।

वात्सल्य की स्थिति में घटित माहात्म्य 'लीलाएँ' ये हैं : पूतना वध, श्रीधर अंगभंग, सकटासुर वध, तृणावर्त वध। 'पूतना वध' का समस्त प्रसंग एक पद में भी कहा गया है,[2] और इस प्रसंग के आवृत्तिमूलक अनेक पद भी हैं। पूरे प्रसंग वाला पद 'लीला' काव्यरूप के अन्तर्गत आ सकता है। इस लीला में यशोदा का वात्सल्य सूर की कल्पना को जकड़े रहा। अतः इतिवृत्त पर अधिक ध्यान न रह सका। इसी प्रकार का एक लघु इतिवृत्तात्मक पद श्रीधर-अंगभंग का है।[3] इस लीला ने भी यशोदा के वात्सल्य को उद्दीप्त किया। 'कागासुर' वध, की सूचनामात्र है[4] : न 'लीला' का ही रूप बना और न वात्सल्य ही उद्दीप्त हुआ। यही दशा शकटासुर प्रसंग[5] की है। तृणावर्त के

१. सू० सा० १०।११७५
२. सू० सा० १०।५१।
३. सू० सा० १०।५७।
४. सू० सा० १०।५६।
५. वही १०।६२।

प्रसंग में पद तो कई हैं, पर 'लीला' नहीं बनती। इस प्रकार 'सूर' वात्सल्य-काल में घटित राक्षस-वध सम्बन्धी माहात्म्य-लीलाओं को शुद्ध इतिवृत्तात्मक रूप नहीं दे पाये। इन प्रसंगों से या तो वात्सल्य का उद्दीपन हुआ है और सूर की दृष्टि उसी उद्दीप्त भाव पर जम गई है अथवा देवलोक के उल्लास की सूचना दी गई है।

सख्य-काल की राक्षस-वध लीलाओं में इतिवृत्त का ध्यान रखा गया है। बकासुर-वध[1], अघासुर-वध[2], धेनुक-वध[3], प्रलंब-वध[4], वृषभासुर-वध[5], केशी-वध[6] और व्योमासुर-वध[7] के प्रसंग दीर्घ इतिवृत्तात्मक पदों में आबद्ध हैं। उपसंहार में माता, ग्वालों, देवों और भक्तों का उल्लास सूचित किया गया है। जहाँ वात्सल्य या सख्य उद्दीप्त हुए हैं, वहाँ कुछ भावात्मक गेय पदों की शृङ्खला भी 'लीला' के साथ संबद्ध मिलती है।

'लीला' काव्यरूप अपने निजी रूप में 'दमन लीलाओं' में या 'अन्यदेव विजय' के प्रसंगों में मिलता है। 'गोवर्धन लीला' के प्रसंग में इन्द्र का मान-मर्दन और 'ब्रह्मा मोहनी' लीला में ब्रह्मा की कृष्ण-शरणागति, कवि का लक्ष्य है। इन लीलाओं को फुटकर पदों में भी गाया गया है और 'लीला' काव्यरूप का भी इनमें प्रयोग किया गया है।

गोवर्धन लीला के दो प्रसंग हैं: गोवर्धन पूजा तथा इन्द्र शरणागति। पहले खंड को इकाई मानकर, दोहे पर आधारित एक लम्बा पद 'सूर' ने लिखा। अन्त में सूर ने इसे 'लीला' कहा: 'सूरदास सबसों कही, लीला प्रगट सुनाइ।'[8] गोवर्धन-लीला का इतिवृत्त चौपाई छन्द में आगे भी है। इसकी शैली में कहीं अलंकार प्रयोग नहीं। इसका विस्तार बाईस पृष्ठों में है। कथानक में प्रबन्धत्व के निर्वाह की दृष्टि रखी गई है। इसका अन्त 'स्तोत्र' में है। अन्त में इस लीला के श्रवण का फल दिया हुआ है।[9] 'लीला' काव्य-रूप अपने यथार्थ रूप में इस लीला में मिलता है। इसी प्रकार की दूसरी

---

१. सू० सा० १०।४२७ २. सू० सा० १०।४३१

३. वही १०।४६६ ४. वही १०।६०४

५. वही १०।१३८७ ६. वही १०।१३९६

७. वही १०।१३९७ ८. वही १०।८४१

९. यह लीला जो नित प्रति गावैं। आपुन सिखि औरनि सिखरावैं॥
भक्ति मुक्ति की केतिक आसा। सदा रहत हरि तिनके पासा॥
(वही, १०।९५१)

'लीला' ब्रह्मा-वत्स-हरण की है। कृष्ण की सख्य-भाव की क्रीड़ाओं को देख कर ब्रह्मा को कृष्ण की अलौकिकता पर सन्देह हुआ। उसने ग्वाल और बछड़ों को चुरा लिया। इस प्रसंग में भी एक खंड का अन्त तो ब्रह्मा की शरणागति से पहले ही कर दिया गया है।[१] दूसरी लीला में ब्रह्मा की शरणागति तक का प्रसंग है।[२] अन्त में यह भी कह दिया गया है कि गुरु प्रसाद से मैंने इस 'लीला' का गायन किया है।[३] इस लीला का अन्त भी 'स्तोत्र' में होता है। सारी लीला 'दोहे' पर आधारित पद में वर्णित है। एक और कथात्मक लीला कालियदमन और कमल कंस के यहाँ पहुँचाने की है। इसमें भी दोहे पर आधारित एक दीर्घ पद लगभग दस पृष्ठ तक चलता है।[४] वरुण से नन्द को छुड़ाने की लीला भी इस प्रकार की है।[५]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर-साहित्य में लीला काव्यरूप माहात्म्य-कथन के प्रसंगों में हुआ है। इसमें इतिवृत्त शुद्ध रूप में रहता है। कवि न भावात्मक विस्तार की चेष्टा करता है, और न अलंकरण की ओर ही उसकी दृष्टि रहती है। अन्त में 'स्तोत्र' गीत में भगवान के माहात्म्य का स्पष्ट आख्यान रहता है। इन लीलाओं के सुनने से भक्ति-लाभ होता है, यह भी बतलाया गया है। भाव-परक लीलाओं में भावावेश के कारण कभी तो यह काव्यरूप विथकित सा हो जाता है, और कभी यह प्रकट भी हो जाता है। इस काव्य-रूप का प्रतिनिधित्व करने वाली भावपरक लीलाएँ ये हैं—

लीला का नाम	छन्द	विस्तार	फलकथन
१. कृष्णजन्म लीला (१०।४)	दोहा। चौपाई नहीं।	(३ पृष्ठ)	नहीं
२. चीरहरण लीला (१०।७९६)	चौपाई।	(५ पृष्ठ)	है
३. यज्ञ पत्नी लीला (१०।८००)	चौपाई।	(३० पंक्तियाँ)	है
४. रासलीला का प्राकट्य : वैदिक रूपक (१०।११७५)	दोहे पर आधारित	(२ पृष्ठ)	नहीं[६]

१. वही, १०।४३७।
२. वही, १०।४९२।
३. सतगुरु-कृपा-प्रसाद कछुक तातें कहि आवैं। (वही)
४. वही, १०।५८९।
५. वही, १०।९८४।
६. पौराणिक स्रोत का कथन अवश्य है :
'व्यास जु कह्यौ पुरान में, सूर कह्यौ सो गाइ।'

लीला का नाम	छन्द	विस्तार	फलकथन
५. रासलीला (१०।११८०)	चौपाई पर आधारित		है
६. „ (१०।११८२)	दोहा चौपाई	(४ पृष्ठ)	नहीं
७. दानलीला (१०।१४६०, १४६१)	चौपाई, दोहा		
८. दानलीला (१४६१) (उपालंभ)	दोहे पर आधारित	(२ पृष्ठ)	है
९. दानलीला (१०।१६१८) संवादात्मक	दोहे पर आधारित	(६ पृष्ठ)	है
१०. मानलीला (१०।२८२७) संवादात्मक	चौपाई, दोहा, सोरठा	(४ पृष्ठ)	है

इस प्रकार सूर-साहित्य में 'लीला' काव्यरूप का प्रमुख स्थान है। ये काव्यरूप वास्तव में सूर की किसी अन्य रचना के अंश नहीं हैं। सूर भाव-विह्वल होकर गीतों की रचना में रम जाते हैं। पर श्रवण-कीर्तन के लिए लीला का समग्र इतिवृत्त भी दीर्घ पदों में कह दिया गया है। इतिवृत्त में प्रबन्ध-विकास विविक्त रहता है। कवि के मस्तिष्क में समग्र सूत्र एक इकाई की भाँति रहता है।

४. फाग : होरी—

रास की भाँति 'फागु' काव्य भी जैन धर्मियों के द्वारा रचा गया। ऐसी कृतियों की परम्परा के कुछ अवशेष प्राप्त हैं।[१] इस काव्यरूप की परम्परा संस्कृत में नहीं मिलती। हिन्दी के आदिकाल में इस विधा का साहित्य में प्रयोग हुआ। लोकजीवन में ऐसे गीतों की परम्परा चलती आ रही थी। इसकी शैली अलंकृत, प्रतीक-मुखर और रूपकात्मक मिलती है। वास्तव में यमक, रूपक और प्रतीक योजना इस शैली पर आरोपित है। मूलरूप में इस गीत की यह शैली नहीं थी। अलंकारों की योजना धार्मिक अभिप्रायों के संकेत के लिए की जाती है। विषय की दृष्टि से फागु-काव्य में वसन्त वर्णन पाया जाता है। कथा का आश्रय भी लिया जा सकता है। इसी कारण इनकी रचना प्रसंगापेक्षी दीर्घ गीतों की हो जाती है। जैन कवियों ने इन्हें खंडकाव्यों के रूप में भी ढाला। इनका विभाजन 'भासों' में किया गया है। पर इस

---

१. जिनपद्मसूरि कृत 'थूलिभद्द फागु' (१२५७ वि०) तथा राजशेखरसूरि कृत 'नेमिनाथ' फागु (१३७० वि०) इसी काव्यरूप के प्रमाण हैं।

विभाजन के बिना भी फागुकाव्य हो सकते हैं। लोक में प्रचलित फागों में कोई पुराण कथा या प्रसंग रह सकते हैं।

जैन फागु-काव्य की विशेषता यह है कि इसमें चरित्रों की उदात्तता रहती है। पर इस उदात्तता को प्रकट और प्रमाणित करने के लिए नारी के मादक और उद्दीपक रूप-सौन्दर्य का शृंगारी संदर्भ प्रस्तुत किया जाता है। 'थूलिभद्द फागु' में स्थूलभद्र के चरित्र की पवित्रता का व्याख्यान ही कवि को अभीष्ट है। इसकी कसौटी कोशा नामक वेश्या बनती है। उसके शृंगार, नखशिख[1] और उद्दीपक[2] चित्रों के द्वारा परीक्षा को जटिल बनाया जाता है। इस प्रकार शृंगार की उत्ताल तरंगें शान्तरस में पर्यवसित हो जाती हैं। इसी प्रकार 'नेमिनाथ फागु' में राजमती का नखशिख वर्णन, शृंगार और उद्दीपन उपन्यस्त हैं। इसके उत्तरार्द्ध में विरह का मार्मिक चित्रण हुआ है। यहाँ भी शृंगार की प्रखर धारा का संगम शान्त के समुद्र से होता है। फागु काव्य की परम्परा आगे भी चलती रही। गुजराती के प्राचीन साहित्य में भी यह परम्परा चली।

मूलतः इस काव्यरूप का संबन्ध यौन-शृंगार से ही है। वसन्त और होली के त्यौहार वस्तुतः कामोत्सव ही हैं। समस्त उत्तरी भारत में फाग और होली के अश्लील गीत प्रचलित हैं। पूर्वी भारत में जो फाग मिलते हैं, उनमें कबीर आदि संतों की छाप भी मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि निर्गुणियों संतों ने उमंद और उल्लास से लबालब इस काव्यरूप को लोक से ग्रहण किया था। फिर उन सन्तों के नाम से अन्य फागें भी चल पड़ीं। जब सन्तों ने इस काव्यरूप को ग्रहण किया तो कामपरक शब्दों का प्रतीकार्थ सिद्ध हुआ। काम-विकार और वैराग्य के द्वन्द्व के अभिप्राय का वहन भी इस काव्यरूप ने किया। इसी में वैराग्य या शान्त की विजय घोषित करके महापुरुषों के चरित्र की उदात्तता का गायन भी इस काव्यरूप में हुआ और मूल काम-तरंगें विलीन हो गईं।

ब्रज प्रदेश होली के उत्सव के लिए समस्त भारत मे प्रसिद्ध है। विविध प्रकार की होलियाँ ब्रज में आज भी गाई जाती हैं। अधिकांश होली-गीतों में राधा-कृष्ण की शृंगार-भावना ही गूँज रही है। कभी-कभी शास्त्रीय पद्धति से भी होली गाई जाती है। कभी लोक पद्धति से भी होलियाँ गाई जाती हैं।

१. थूलिभद्द फागु, ४।१०
२. वही ४।६-७।

'सूरसागर' में शास्त्रीय पद्धति की होलियाँ ही हैं। इतिवृत्त के नाम पर राधा-कृष्ण के विविध राग-रंग ही वर्णित हैं। अन्य इतिवृत्त इनमें नहीं मिलता। सूर ने इस उत्सव का विस्तार बहुत अधिक किया है। शरद ऋतु में जो स्थान रासलीला का है, वही फाल्गुन में होली का है। रासलीला में लोक-वेद-मर्यादा समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार होली में भी।[१] कुछ होली-गीतों में छोटा-मोटा प्रसंग भी है।[२] विशेष रूप से राधा-कृष्ण की की गाँठ जोड़ना,[३] कृष्ण का स्त्री जैसा शृंगार करना,[४] राधा के पैरों में झुकाना[५] आदि प्रसंगों की आवृत्ति है। कहीं-कहीं इतिवृत्त की शैली पर भी प्रसंग को बढ़ाया गया है।[६] अधिकाँश पदों में गोपियों ने मिलकर कृष्ण की दुर्दशा की है।[७] फूल-डोल का प्रसंग भी दीर्घ है।[८] इस प्रकार के छोटे-छोटे प्रसंगों को लेकर सूर ने रंग-तरंग, ढोल-डफ, राग-रंग, हास-परिहास, रूप-रंग आदि के वर्णनों से उनका विस्तार किया है। होली की अनेक परम्परागत तानें सूर ने ग्रहण की हैं। लोक-गीत शैली में भी होली हैं। पर सभी को 'राग वसन्त' या राग होरी में ढाला गया है। परम्परागत 'फागु' काव्यरूप को तो 'सूर' ने नहीं अपनाया है, पर परम्परागत राग-रागिनियों और होली-प्रसंग की रूढ़ियों को सूर ने लेकर अपना एक अलग ही काव्यरूप खड़ा किया है।

५. सूर के लोकगीत—

अवसर के अनुसार कुछ लोकगीत भी सूर ने लिखे हैं। कुछ ऐसे अवसर होते हैं, जिनके साथ लोकगीत अनिवार्य रूप से संबद्ध रहते हैं। इन अवसरों का यथार्थ वर्णन बिना लोकगीतों के प्रयोग के सम्भव ही नहीं है। भक्त-कवियों ने जहाँ अनेक काव्यरूप लोक के स्रोत से ग्रहण किए हैं, वहाँ अलौकिकता को लौकिक संस्पर्शों की उपमा देने के लिए लोकगीत भी लिए हैं। तुलसी जैसे कवि ने लोकगीत का माध्यम ग्रहण किया है।

---

१. छुटि गई लोक-लाज कुल-संका, गनति न गुरु की कोरी। १०।२८६८)

२. सू. सा. १०।२८७२।

३. नीलांबर गहि खूँट चूनरी, हँसि-हँसि गाँठि जुराई। सू. सा. १०।२८७६।

४. सीस बेनी गूँथि, लोचन आँजि, करी अनीति। वही १०।२८७३।

५. हा हा कहियै लाल, कुँवरि के पाइ छुवाई। वही १०।२८८१।

६. वही १०।२८९२, २९०१, २९०७, २९१० आदि।

७. वही १०।२९०३।

८. वही १०।२९१७।

लोक-जीवन में पुत्र-जन्म एक ऐसा अवसर आता है, जब गीतों की धारा उमड़ पड़ती है। 'राम-जन्म' के अवसर पर जहाँ अन्य लोकाचारों का तुलसी ने वर्णन किया है, वहाँ गीतावली में जन्म के समय के उपयुक्त कुछ लोकगीत भी उन्होंने रचे हैं। 'सूर' के कृष्ण का जन्म तो ठेठ लोक के वातावरण में हुआ। जन्म की सूचना मिलते ही सारा ब्रज उमड़ पड़ा। 'बधाई' के गीतों से वातावरण गूँज उठा।[1] जन्म के समय ब्रज के लोकाचार में सबसे अधि 'बधाये' के गीत ही गाये जाते हैं। 'सूर' ने इस गीत की सूचना अनेक बार दी है। दूसरा गीत 'गारी' है। गाली नामक गीत भी अनेक अवसरों पर गाया जाता है। 'सूर' ने गाली गीत के 'काव्यरूप' को तो ग्रहण नहीं किया पर इस गीत की सूचना अनेक बार दी है।[2] पर यह गीत आजकल विवाह के अवसर पर ही अधिक गाया जाता है। पर सूर ने प्राय: सभी लोकानुष्ठानों के समय 'गाली' गाने की बात कही है। लोकगीतों में कुछ विवरणात्मक और सूचीपरक गीत होते हैं। इनसे अनुष्ठान या उत्सव के सभी उपकरणों की सूची रहती है। ऐसे गीत भी सूर ने लिखे हैं।[3] इन गीतों की रचना में कवि ने प्राय: वही शब्दावली प्रयुक्त की है, जो लोकगीतों में मिलती है। कृष्ण-जन्म के यथार्थ वातावरण की सृष्टि में लोकगीतों के विषय और उनकी अभिव्यक्ति संबंधी प्रयोगों का बहुत बड़ा हाथ है। समस्त गीता जैसे लोकगीतों की छाया में ही बन रहे है, पल रहे है।

प्रत्येक अवसर के गीत होते हैं। अवसर के गीतों का प्रयोग भी सूर ने किया है। इन गीतों में तो लोकगीत का साक्षात् अवतार ही मिलता है। एक गीत 'सोहिलो' है। इसको सूर ने काव्य के रूप के समान ग्रहण किया है। एक इकाई के रूप में सूर ने सोहिला लिखा है। आरंभ में गणेश और शारदा को मनाया गया है।[4] मंगलाचरण लोक-शैली का ही है—

---

१. उठी सखीं सब मंगल गाइ (१०।१४) आजु बधायौ नंदराइ कैं, गावहु मंगलचार (१०।२७) आजु बधाई नंद कैं माई। (१०।३२)।

२. सजन प्रीतम नाम लै-लै, दै परसपर गारि (१०।२६) जुवति महरि कौं गारी गावति, और महर कौ नाम लिए १०।८८) एक पूरा गारी-गीत भी मिलता है—(१०।४१८७)

३. सू. सा. १०।२६।

४. प्रत्येक लोकगायक ऐसा करता है।

गौंरि गनेस्वर बीनऊँ (हो), देवी सारद तोंहि ।
गावौं हरि कौ सोहिलौ (हो), मन आखर दै मोहि ।

इसमें जन्म के समय का लोकाचार क्रमिक रूप में वर्णित है। यह गीत 'दोहे' छन्द पर बना है। यति पर द्विमात्रिक 'हो' 'रे' आदि जोड़ कर इसे 'राग सारंग' बना दिया गया है। सारा गीत एक अलग काव्यरूप ही बन गया है।

इसी प्रकार एक लोक गीत 'पालना' है। इस गीत में पालने बनाने वाले से लेकर, उसकी साज-सज्जा तक का विवरण रहता है। प्रत्येक लोक-गीत में पालना चंदन से बना हुआ बतलाया जाता है; उसमें रेशमी झब्बे लगे होते हैं; वह मणि-रत्नों से जटित होता है। इसी शैली को सूर ने इस लोक-गीत की रचना में अपनाया है—

पालनौ अति सुन्दर गढ़ि ल्याउ रे बढ़ैया।
सीतल चंदन कटाउ, धरि खराद रंग लाउ,
विविध चौकरी बनाउ, धाउ रे बनैया।
पँचरँग रेसम लगाउ, हीरा मोतिन मढ़ाउ,
बहु विधि जरि करि जराउ, ल्याउ रे जरैया।
विसकर्मा सूतहार, रच्यौ काम ह्वै सुनार,
मनिगन लागै अपार, काज महर छैया।[1]

चाहे इसका छन्द-विधान अलग हो, पर शब्दावली एक रूप लोकगीत की सी है। ब्रज में 'पालना' गीत सदा ही एक छन्द में नहीं मिलता। एक आनुष्ठानिक गीत-रूप 'पालना' है। इसको विविध रूपों में गाया जा सकता है। विषयवस्तु सभी में प्राय: समान होती है।

लोकगीत का एक रूप 'ज्यौनार' है। आजकल ब्रज में वैवाहिक अवसरों परज्यौनार-गीत गाया जाता है। वैसे सामान्य रूप से जब ज्यौनार हो, तभी इस गीत-रूप का प्रयोग हो सकता है। 'सूर' ने आनुष्ठानिक भोजन के अवसरों पर ज्यौनार-गीत लिखे हैं। इस गीत का विषय भोजनीय पदार्थों की लम्बी सूची गिनाना होता है। सबसे पहला ज्यौनार-गीत 'कनछेदन' के समय मिलता है।[2] आरंभ की कुछ पंक्तियों में प्रसंग है, पीछे समस्त गीत में भोजनीय पदार्थों की सूची है। गीत चौपाई छन्द पर आधारित है। अन्त में 'सूरदास' जूठन की याचना करके विदा लेते हैं—

छवि सूरदास बलिहारी।
माँगत कछु जूठन थारी।

---

१. सू. सा. १०।४१ २. वही १०।१८३

एक ज्यौनार-गीत कृष्ण के भोजन करते समय और लिखा गया है। इसमें भी उसी प्रकार की लम्बी सूची है। अन्त में जूठन की याचना की गई है।[१] एक और ज्यौनार-गीत है, जिसके अंत में इस गीत-रूप की सूचना भी दी गई है और इस 'ज्यौनार' के संबन्ध में फल-कथन भी किया गया है। यह भी सूचना है कि 'सुर' को प्रसादरूप में कुछ जूठन मिल गई—

सूरदास देख्यौं गिरिधारी। बोलि दई हँसि जूठन थारी।
यह ज्यौनार सुनै जो गावै। सौ निज भक्ति अभै पद पावै।[२]

इस प्रकार ज्यौनार नामक गीत-रूप की स्थापना हो जाती है।

एक और प्रसिद्ध लोकगीत 'मंगल' है। यह विवाह से सम्बन्धित है। प्रत्येक विवाह के समय एक दिव्य विवाह का वर्णन 'मंगल-गीत' के माध्यम से किया जाता है। इसी लोकाचार की दृष्टि से तुलसी ने भी 'मंगल काव्य' लिखा और अन्य भक्त कवियों ने भी। धार्मिक आन्दोलन से जब किसी काव्य-रूप का सम्बन्ध हो जाता है, तो उसका प्रयोग भी एक व्यापक क्षेत्र में होने लगता है। भक्ति आन्दोलन से जहाँ अन्य लोक प्रचलित काव्यरूपों का संवन्ध हुआ और उनका अखिल भारतीय प्रयोग होने लगा, उसी प्रकार 'मंगल' गीत का प्रयोग भी अखिल भारतीय हो गया। इस वैवाहिक काव्यरूप का प्रयोग धार्मिक और लौकिक साहित्य में १४ वीं शती के आरम्भ से ही मिलता है। जैन साहित्य मे 'द्रव्य' और 'भाव' विवाह मिलते हैं। 'द्रव्य विवाह' पति-पत्नी का लौकिक संबन्ध जोड़ते हैं। 'भावविवाह' विवाह के अनुष्ठान को आध्यात्मिक रूपक बना देते हैं। जैन व्यक्तियों ने जैनाचार्यो के दीक्षा-ग्रहण के अवसर को लेकर 'दीक्षा कुमारी' या 'संयम श्री' को कन्या मानकर इनके साथ, उनके विवाह के रूपक कल्पित किए हैं। 'संयम श्री विवाहवर्णन' जैसे काव्यों में ये ही रूपक हैं। आध्यात्मिक और रहस्यवादी विवाहों के साथ आभ्यन्तरिक विवाहों की भी परम्परा मिलती है : आत्मा के कुछ विशेष गुणों को कन्या के रूप में कल्पना करके उनके साथ आत्मा का विवाह रचाया जाता है। अपभ्रंश साहित्य में यह परम्परा चलती रही। इस परम्परा का एक छोर कबीर के 'आदि मंगल' में मिलता है। पृथ्वीराज रासो में 'विनय-मंगल' मिलता है। एक ब्राह्मणी संयोगिता को 'विनय-मंगल' पढाती है। इस प्रकार समस्त भारतीय साहित्य में मंगल-गीत की परम्परा अविच्छिन्न मिलती है।

---

१. सा १०३९६।
२. वही १०।१२१३।

'सूर' ने भी मंगल-गीत लिखे है। सबसे पहले राधा और कृष्ण का विवाह कराया गया है। एक गीत चौपाई तथा अन्य छन्द में है। इस गीत की शैली वही है, जो रामचरित मानस में जानकी विवाह के समय अपनाई गई है। उसी छन्द का प्रयोग भी 'सूर' ने किया है। कृष्ण दूलह हैं और राधा दुलहिन—'श्री लाल गिरिधर नवल दूलह, दुलहिनी श्री राधिका।'[१] वैवाहिक आचार्य का वर्णन आगे के गीत में मिलता है।[२] पर इस विवाह गीत में राधा-कृष्ण की छबि इतनी मादक हो गई है कि मंगल-काव्यरूप गीत की मधुरिमा में डूब-डूब जाता है। यथार्थ मंगल-गीत रुक्मिणी-विवाह के समय मिलता है। इतिवृत्त भी पूर्ण है और कवि की वृत्ति इतनी भावलीन भी नहीं है। फलतः मंगल-काव्य सुरक्षित है। दो बार मंगल-गीत गाया गया है।[३] पहले गीत के अन्त मे 'मंगलकाव्य' की सूचना भी है—'सूर जन-मन भयौ आनँद हरषि मंगल गाइयौ।' दूसरे गीत नें रुक्मिणी-हरण का प्रसंग है। ये दोनों गीत वस्तुतः मंगलकाव्य के अन्तर्गत आते हैं। 'पंच पटरानी-विवाह' भी एक मंगल-गीत में ही गाया गया है।[४] इसके अन्त में भी मंगल-गीत की सूनना है—सूरदास जन मगल गाए।' 'सुभद्रा-विवाह' भी एक छोटा मंगल गीत है।[५] अन्त में 'सूरदास जन मंगल गाए' शब्द भी हैं। इस प्रकार 'सूर' ने इस लोकप्रिय काव्यरूप को ग्रहण किया।

इस प्रकार सूर ने निम्नलिखित काव्यरूपों का प्रयोग किया है—

१. जन्म के गीत : बधाया, पालना, सोहिलौ,
२. ज्यौनार गीत,
३. मंगल गीत,

वास्तव में ये काव्यरूप विषय-विधान पर ही विशेष रूप से आधारित हैं। इनकी रूढ़ शैली नहीं है। अनेक चन्दों का प्रयोग इन काव्यरसों में हो सकता हैं। केवल विषय वर्णन की रूढ़ियों का परिपालन इन काव्यरूपों के लिए पर्याप्त है। सूर ने दोहा, चौपाई तथा मात्रिक छन्दों का प्रयोग इन काव्य रूपों में किया है। ये इतिवृत्तात्मक या विवरणात्मक काव्यरूप हैं। उदाहरण के लिए ज्यौनारगीत यिवरणात्मक होता है और मगलकाव्य इतित्तात्मक।

---

१. सू. सा. १०।१०७२।
२. वही १०।१०७३।
३. वही १०।४१८६, ४१८७।
४. वही १०।४१९२।
५. वही १०।४३०३।

बारह

गीतिकाव्य और सूर

किधौं सूर कौ सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर कौ पद सुन्यौ, तन-मन धुनत शरीर ॥

—तानसेन

"इन पदों के संबन्ध में सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई व्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं। यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि आगे आनेवाले कवियों की उक्तियाँ सूर की जूठी सी जान पड़ती हैं। अतः सूरसागर किसी आती हुई गीत-काव्य परंपरा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।"

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

"सगुणोन्मुख गीतों में सत्, चित् की रूप-प्रतिष्ठा के द्वारा ही आनंद की अभिव्यक्ति संभव हो सकती है इसी से कवि को बहुत अन्तर्मुख नहीं होना पड़ता। वह रूपाधार के परिचय द्वारा हृदय के मर्म तक पहुँचने का सहजमार्ग पा लेता है। सगुण गायक अनेक रंग लेकर एक सीमित चित्र-फलक को रँगता है। अतः वह उस निर्गुण गायक से भिन्न रहेगा जिसके पास रंग एक और चित्रपट शून्य असीम है।

—महादेवी वर्मा

१२ | गीति-काव्य और सूर

प्रस्तावना—

मनुष्य के सहज रागोद्वेलन का साथ सदैव ही प्रगीति-विधा ने दिया है। अभिजात रुचि और शास्त्रीय अनुशासन इसे कम से कम प्रभावित कर सका। जहाँ वेद, लोक और शास्त्र की मर्यादा की उपेक्षा मधुरोपासना के एकान्त क्षणों की एक अनिवार्यता बन गई, वहाँ जीवन के सहज प्रवाह से उद्भूत और उन एकान्त क्षणों की विह्वलता को सहेजने-सजाने में सक्षम गीति-विधा का ग्रहण भी एक भावात्मक आवश्यकता हो गई। भक्ति आन्दोलन ने जीवन के सहज मूल्यों, बौद्धिक के स्थान पर भावात्मक दर्शन-पद्धति और अभिजात माध्यमों को हटाकर लोक में प्रचलित काव्यरूपों की प्रतिष्ठा की। भक्ति आन्दोलन की आन्तरिक लय गीत बन गई। कृष्ण भक्ति शाखा में तो इस माध्यम ने दिग्विजय की। यहाँ तक कि भक्तों के रचे हुए गीतों ने प्रस्थानों के समान प्रामाण्य प्राप्त किया।

'सूर' ने प्रगति के क्षेत्र में जितने विशद प्रयोग किए, उतने कोई भक्त-कवि नहीं कर पाया। जयदेव के गीतों में भावों की तीव्रता, रहस्योन्मुख वासना विलास की प्रखरता, कामशास्त्रीय चेष्टाओं की गीत्यात्मक परिणति और संगीतात्मक नाद-योजना तो अपने चरम है, किन्तु सूर के गीतों में जो सहजता और सागरोपम विस्तार है, वह कहां ? सम्भोग शृङ्गार तो अपने समस्त वैभव-शोभन के साथ उसमें तरंगित है, पर वियोग की इतनी सूक्ष्म मनःस्थितियाँ जयदेव में भी नहीं और विद्यापति में भी नहीं। मीरा में विरह का 'दर्द' तो मर्मान्तक है : उस दर्द की मिठास और पीड़ा एक साथ गीतों के स्वर-लय में संचरित है। पर, वात्सल्य और सख्यभावों से सजीव और सजल गीत मीरा की साधना-भूमि में अंकुरित न हो सके। मीरा में लोकगीतों की

सहज सज्जा और प्रभावान्विति तो स्पृहणीय है, पर लोकगीतों का वैविध्य, उनका संगीतात्मक संस्कार इतना नहीं। इस प्रकार गीत के क्षेत्र में सूर का व्यक्तित्व निश्चित ही सागरोपम हो जाता है। भक्ति आन्दोलन की भावभूमि में जितने भी गीति-संबन्धी प्रयोग हुए, वे सभी सूरसागर में एक साथ मिल जाते हैं। सूरसाहित्य में हिन्दी गीति-काव्य का किरणोज्वल स्वर्णयुग विहलित है।

'सूर के गीत परम्परा से कटे हुए नहीं हैं। एक समृद्ध पृष्ठभूमि पर सूर के गीत अंकित हैं। लोकसाहित्य की सरसता ने जब संस्कृत के काव्य-शास्त्र और काव्य रचना को अभिभूत कर दिया तो एक क्रान्ति हुई: महा-काव्य के स्थान पर प्रगीतिकाव्य की स्थापना होने लगी। सरस मुक्तकों ने प्राकृत की साहित्यिक प्रतिष्ठा को बढ़ाया। इन मुक्तकों में वैयक्तिक भावना भी थी और गीतिकाव्य की प्रेरणा भी। गौड़ी के स्थान पर वैदर्भी और पाँचाली रीति प्रतिष्ठित हुई। वैदर्भी की सरलता, गौड़ी के सौशब्द्य और पांचाली के समन्वित रूप ने परम्परा में गीति-साहित्य की स्थापना की। इसके फलस्वरूप गीतगोविन्द की शैली का उदय हुआ। इस शैली ने समग्र भारतीय साहित्य को प्रेरित और प्रभावित किया। यह शैली-आन्दोलन पूर्व और दक्षिण भारत में हुआ। मध्यप्रदेश में भी इसकी लहरें आईं। राजस्थान और ब्रज के सम्मिलित क्षेत्र में लोकगीतों की परम्परा अत्यन्त बलवती थी। इस क्षेत्र में 'सूर' और 'मीरा' ने लोकसाहित्य की प्रेरणा को सहज रूप में ग्रहण करके 'पांचाली' के क्षेत्र में एक शैली-गत क्रान्ति उपस्थित की। गीत-गोविन्द की प्रेरणा इन दोनों में प्रच्छन्न ही मिलती है। ब्रजभाषा में पद-साहित्य इतना उच्चकोटि का प्रस्तुत हुआ कि इसने भी समस्त भारत के क्षितिजांचलों को स्पर्श किया। ब्रज के माधुर्याश्रित भक्ति संप्रदायों के गीतकारों पर तो गीत गोविन्द का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है, पर 'सूर' के गीतों में निजी प्रभावों की झलक अधिक है। 'सूर' ने निजी स्रोतों से सामग्री-संग्रह किया और एक व्यापक संरचना में उस सामग्री को सजा दिया। वात्सल्य, सख्य और अन्य ब्रजलीलाओं का जो सौन्दर्य 'सूर' में मिलता है, उस पर अन्य बाहरी प्रभावों को सिद्ध करना सरल नहीं है। अन्य परवर्ती गीतकारों पर 'सूर' का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। गीति-साहित्य के क्षेत्र में सूर का स्थान आज भी अद्वितीय बना हुआ है। इन सूत्रों पर कुछ और विस्तार के साथ विचार करके 'सूर' के वैशिष्ट्य को देखना उपयुक्त होगा।

आगे गीति-काव्य की परम्परा सूर के गीति-साहित्य पर विचार किया गया है।

१. गीति-काव्य का विकास—

१.१ संस्कृत में गीति-काव्य—संस्कृत में गीति-काव्य की परम्परा अत्यन्त शिथिल है। यों भी कहा जा सकता है कि आधुनिक अर्थ में संस्कृत-साहित्य में गीत की रचना प्रायः हुई ही नहीं। पारिभाषिक रूप से इस काव्य-रूप के अन्तर्गत आने वाले बहुत कम संस्कृत-काव्य हैं। प्रत्येक भावात्मक काव्य को प्रगीत कहना इस शब्द का अत्यधिक अर्थ-विस्तार करना होगा।

पाणिनीय या शास्त्रीय संस्कृत के विकास के पूर्व के वैदिक गीतों को इस विधा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। उनमें भावना का वैयक्तिक और अविरल प्रवाह है। कुछ वेद-मंत्र सच्चे अर्थों में प्रगीत हैं। वशिष्ठ के द्वारा विष्णु को निवेदित प्रार्थनाओं में क्षमा और पश्चाताप के स्वरों में व्यक्तिगत भावना मुखरित हो उठी है। अपने पिता के घर में वयस्का घोषा वैवाहिक प्रेम की इच्छा और प्रार्थना करती है।[1] इस प्रकार के अन्य अनेक प्रगीतात्मक स्थल और अवसर भी हैं।[2] किन्तु प्रशस्ति और प्रार्थना परक सभी उक्तियाँ इस विधा में परिगणित नहीं की जा सकतीं। इनमें वैयक्तिक भावना की अपेक्षा जातीय भावनाएँ ही अधिक आई हैं। इसके पश्चात् संस्कृत गीति-काव्य की परम्परा प्रायः लुप्त हो गई। लोकजीवन में, या महाकाव्यों के बीच या अन्य प्रच्छन्न रूपों में इसके अवशेष मिलते हैं।

संस्कृत के अभिजात संस्कारों और व्यवस्था में स्वतंत्र प्रगीति-परम्परा की संभावनाएँ विलीन हो गईं : महाकाव्यों में कुछ स्थलों पर गीति-तत्त्व देखा जा सकता है।[3] पर संस्कृत भाषा की प्रकृति महाकाव्योचित हो गई। इस भाषा में समृद्ध काव्यशास्त्र की रचना हुई। उसने सायास काव्य-रचना की प्रेरणा दी। इस परिस्थिति में प्रगीति-लता का मुरझा जाना स्वाभाविक

---

१. ऋग्वेद १०।४०।
२. ऋग्वेद ५।५८, १०।१२५ आदि।
३. उदाहरण के लिए रामायण (अरण्यकांड) में विरहातुर राम की विगलित उक्तियां, महाभारत (उद्योग पर्व) में द्रौपदी का क्रन्दन, तथा कर्ण की आत्मवेदना, जैसे प्रकरणों को लिया जा सकता है।

था।[१] फिर भी संस्कृत-साहित्य के इतिहासकारों ने संस्कृत की कुछ रचनाओं को गीति-काव्य की विधा के अन्तर्गत रखा है।

मकडूनल ने इन रचनाओं को गीति-काव्य कहा है : मेघदूत, ऋतुसंहार, घटकर्पर-काव्य, चौर पंचाशिका, हाल की सत्तसई, भर्तृहरि के शतक, अमरु-शतक तथा गीत गोविन्द।[२] कीथ ने इस सूची में गोवर्धन की 'आर्यासप्तशती' और जोड़ी है। विल्हण के शान्तिशतक का भी परिगणन किया है।[3] विंटर निट्ज ने बाण और मयूर के स्तोत्र-शतकों, मूक कवि की पंचशती, शंकर के स्तोत्रों, कुलशेखर के मुकुन्दमाला, लीलाशुक के कृष्ण कर्णामृत, शिवदास उत्प्रेक्षावल्लभ के भिक्षाटन तथा कुछ परवर्ती दूतकाव्यों को और सम्मिलित करके सूची को बढ़ाया है। पर इन सबको गीत-काव्य कहना कठिन है। 'घटकर्पर-काव्य' तो गीति है नहीं : इसमें यमक-चमत्कार प्रस्फुटित है। ऋतु-संहार में एक प्रेमी की दृष्टि से प्रकृति का मनोरम चित्रण अवश्य है, पर इसमें वैयक्तिकता का अभाव है मेघदूत सुन्दर, भावावेषी काव्य है, इसमें वैयक्तिकता भी है, पर विवरणात्मक तत्त्व के अधिक समावेश के कारण यह भी शुद्ध गीत-काव्य नहीं रह गया है। दूतकाव्यों में कृत्रिमता और चमत्कार बहुत अधिक है। स्तोत्र-काव्य की स्वतंत्र परम्परा भी मिलती है और अन्य 'काव्यों' में भी यह आया है। पर रचना में सायासता इतनी अधिक है कि व्यक्ति-तत्त्व आवृत हो गया है।

स्तोत्र दो प्रकार के मिलते है : (१) साहित्यिक स्तोत्र। इनमें प्रशस्ति विवरण है। इनमें धार्मिक भावना का प्राधान्य है। शंकर, पुष्पदन्त, उपमन्यु, सर्वज्ञमित्र, मानतुंग, सिद्धसेन दिवाकर के स्तोत्र इसी कोटि में आते हैं। (२) मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन से प्रेरित भावात्मक स्तोत्र। इनमें

१. "The Sk. kavya is wholly dominated by a self cousious idea of art and method; it is not meant for undisciplined eujoyment, nor for the satisfactiou of causal interest. The rational is furnished by its Super-normal or super individunl character, recognized by poetic theory which rules out Personal passion and emphasises purely artistic emotiou".[S. K. De, Hist. of SK. Lit., Calcutta, 1947,P.41]

२. A Hist. of Sk. Lit., London, 1905, P. P. 335—45

३, Classical Sk. Lit., Oxford university Press, 1923, ch. ix

अनुष्ठानिकता और रूढ़ियों की धून इतनी नहीं है। इन स्तोत्रों में शास्त्रीय नियंत्रण अधिक नहीं ; ऐन्द्रिय अभिप्राय और अभिव्यक्ति इनकी विशेषता है; मूर्त-विधान शृङ्गारिक रहस्यवाद से अनुप्राणित है; धरती की भाषा और प्रतीक-योजना के माध्यम से आध्यात्मिक भावावेश को मुखर किया गया है। इस प्रकार के मृदुल, प्रगीतात्मक प्रभावों ने शिव जैसे रौद्र-देव को भी शृङ्गारिक परिवेश प्रदान किया है।[१] इन नये प्रकार के भावात्मक स्तोत्रों या गीतों में तीन काव्य ही प्रमुख रूप से आते हैं : कुलशेखर का 'मुकुन्दमाला', लीलाशुक का 'श्रीकृष्ण-कर्णामृत', और जयदेव का 'गीत गोविन्द।' इन्हीं रचनाओं ने भक्ति-आन्दोलन से प्रेरित काव्य को बहुत प्रभावित किया। इनमें एक में आत्म-चुम्बी,उद्रिक्त और उदग्र भावभूमि है। अभिव्यक्ति में ऐन्द्रिय प्रतीक विधान और शब्द चित्रों का विधान है। साहित्यशास्त्रीय शृङ्गार और कामशास्त्रीय चेष्टाओं की मादकता, वस्तु और अभिव्यक्ति दोनों में ही समा गई है। एक विशेष बात यह है कि इन तीनों में ही कृष्णवृत्त है। इतिहासकारों ने कर्णामृत और गीतगोविन्द की इन विशेषताओं को स्वीकार किया है।[२] इनसे आगे शृङ्गार और नीति के शतकों की परम्परा है। इनमें हाल के जैसे प्राकृत शतक भी आते हैं। वास्तव में इन्हें भावात्मक मुक्तक कहना चाहिए। इनकी लघु सीमाओं में पूर्ण मधुर स्वप्न खिले हैं। पर पारिभाषिक अर्थ में इन्हें प्रगीत नहीं कहा जा सकता। इनमें कलात्मक तत्त्व ही अधिक हैं, वैयक्तिकता इतनी अधिक नहीं। इतना निश्चित है कि इन्होंने गीत गोविन्द जैसी प्रगीतात्मक रचनाओं को प्रभावित किया। गीतगोविन्द की शैली के विकास और इसके लोकसाहित्य से प्रभावित होने के क्रम पर आगे विस्तार से विचार किया गया है। यहाँ केवल इतना समझ लेना है कि संस्कृत में यमक

१. उदाहरण के लिए 'भिक्षाटनकाव्य' को लिया जा सकता है।

२. "...in its form and spirit it is not the expression of an intensely devotional personality in the sence in which Lila Shuk's Poem is. It's, extremely musical and sensuous word Ficture, no doubt, impart the semblance of a lyric to the work and make it deservedly popular for its soft and finely wrought padavalis, but while it surpasses in these qualitis its consumate artistic expression give ittle scope to sincere devotional passion of the personal kind."
—S. K. De

आदि के चमत्कार से पूर्ण मुक्तकों की भी रचना हुई और धार्मिकभाव से परिपुष्ट स्तोत्रों की भी। भक्ति साहित्य के गीतों को इनमें प्रथम प्रभावित न कर सकी। द्वितीय प्रकार के मुक्तकों का प्रभाव अवश्य पड़ा। फिर इन स्तोत्रों का भावात्मक संस्कार लोक-प्रभावों से हुआ। साहित्यशास्त्र का नियंत्रण इन लोक प्रभावों के कारण मृदुल हो गया। इस गीति-विधा में शास्त्रीय कौशल, नादात्मक सौशब्द्य और लोकगीतों की मधुरता का संगम हुआ। परवर्ती भक्तिगीतों में माधुर्य और भी घना होता गया। शास्त्रीय अनुशासन या सायसत रस-चकित होते गए।

१. २ पुराण और गीत विधा—संस्कृत के गीति-काव्य का विश्लेषण करते समय कृष्ण से संबन्धित पुराणों और विशेष रूप से भागवत की चर्चा अवश्य होनी चाहिए। इन पुराणों ने कृष्ण की लीलाओं को गीत बना दिया। सूरदास के गीत विधान पर भागवत के गीत-प्रसंगों, या प्रगीतात्मक लीला रूपों का अत्यधिक प्रभाव है।

'राधा-कृष्ण'—यह युगल विशुद्ध नीतिकाव्य ही है। इनकी लीलाएँ एक सूत्रात्मक और मर्यादित नहीं कि महाकाव्य बन सके। घटना इतनी त्वरित, संक्षिप्त और अप्रत्याशित है, इन लीलाओं में कि प्रबन्ध-योजना हो ही नहीं पाती। प्रबन्ध योजना या तो महाभारत के प्रसंगों को लेकर हो सकती है, अथवा द्वारका की कुछ कथाओं को लेकर। ब्रजकृष्ण, ब्रजभाव, ब्रजलीला-ये प्रबन्ध के अनुशासन में आ ही नहीं सकते। यहाँ बाह्य घटना तो एक स्थिति संकेत मात्र है : समस्त लीला का यथार्थ क्षेत्र तो भाव-जगत ही है। जब भाव-जगत में लीला प्रवीष्ट हो जाती है, तो घटना सिमट कर प्रतीक बन जाती है। प्रतीक भावावेश को सम्हालने की साधना में क्षितिजोन्मुख न होकर गगनोन्मुख होता है : इसका विकास रेखापथ का अनुसरण न करके वृतोन्मुख होता है। इसीलिए कृष्ण-राधा की ब्रजलीलाएँ गीत की लयों से तो मैत्री रखती हैं : इतिवृत्त से इनका कोई समझौता नहीं हो पाता। जयदेव, चण्डीदास, बिल्वमंगल, विद्यापति, सूर, मीरा ने कृष्ण लीलाओं के इस रहस्य को समझा था।

परकीयाभाव में तो घटना, प्रसंग या प्रतीक का आधार इतना भी नहीं रहता। एक स्फीत क्षण आता है जो प्रखर आवेश से जैसे फूलता ही जा रहा हो। यह क्षण इतना महत्त्वाकांक्षी होता है, कि काल समुद्र की उत्ताल तरंगों को आमन्त्रित करता है। इन भाव-विकल क्षणों में विस्तार तो होता है,

पर इतना ऐकान्तिक, इतना गूढ़, और इतना पूर्ण कि रूढ़काव्य मूर्छित से हो जाते हैं। स्वकीया भाव का क्षण कुछ विलंबित और क्रमशः विकसित होता है, कि 'प्रसंग' उसका कुछ दूरी तक साथ देता है। उदाहरण के लिए 'सूर' ही राधा का प्रेम साहचर्यजन्य है। प्रथम मिलन से चिर-विरह तक कुछ 'प्रसंग' हैं, जिनमें भावसूत अधिक से अधिक विकसित और तीव्रतर होता गया है। जहाँ मात्र 'प्रेम' की लीलाओं का हीं प्राधान्य हो, बाल और सख्य भावों की साधना मान्य ही न हो, अथवा मधुर साधना से निम्नतर समझी जाती हो वहाँ 'महाभाव' अन्य भाव-स्थितियों से कट जाता है। उसके विकास का कुछ भी भार अन्य भाव-स्थितियाँ नहीं सम्हाल पातीं : या वहाँ वे स्थितियाँ होती ही नहीं। सभी भावों से निरपेक्ष 'महाभाव' तो कुछ भी सूत्र बद्धता नहीं रखता। जिस प्रकार भाव यहाँ अमिश्रित रहता है, उसी प्रकार गीत-विधा भी शुद्ध रहती है। मुरलीवादन, रास-प्रसंग आदि 'महाभाव' के उद्दीपन तो बनते हैं, पर 'जब', 'तब', 'जहाँ' 'यहाँ' जैसी देशकाल से संबद्ध घटनापरक शब्दावली में ये नहीं बँधते, या यह शब्दावली देश-काल की असीमता की ही अभिव्यक्ति करती हैं। इस प्रकार किसी भी रूप में घटना प्रसंग या इतिवृत्त का स्पर्श नहीं रह पाता। इनका मात्र संकेत रहता है। जहाँ साधना में अन्य भावों का तारतम्य या उनकी स्वीकृति होती है, वहाँ विकासशील सूत्र भी मिल सका है।

भागवतकार ने व्रजकृष्ण के जीवन को एक इकाई के रूप में लिया। 'दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध इसी को इकाई मानकर चला है। इस इकाई में कई लीलासूत्रों का अन्वय है। मंगलपरक और रंजनपरक दोनों प्रकार की लीलाएँ बस इकाई में सम्मिलित हैं।मंगलपरक लीलाएँ भी राम की लीलाओं से भिन्न है। चाहे यह स्वीकार किया जाय कि राम के सभी पार्षद या उनके सहायक अपनी कुछ भी शक्ति नहीं रखते। उनकी समस्त शक्ति वस्तुत राम की शक्ति का ही उनमें आवेश है, जिनके द्वारा वे 'रामकाज' संपादन में सहायक होते हैं। किन्तु वाह्यतः उन पात्रों के आधार पर एक वृत्त, एक प्रसंग सा होने लगता है। कृष्ण की शिवपरक लीलाएँ इनसे भिन्न हैं। उनमें कृष्ण के सहचर-सहचरी मिलते तो हैं, पर कोई सहायता नही करता। सभी उन लीलाओं के मात्र दर्शक हैं : व्यंजित अलौकिकता से चकित हैं : कृष्ण के प्रति अपने निजी भाव में विस्मित हैं। इस प्रकार घटना क्षणस्थायी होती है। अन्य परिकरीय पात्र स्वच्छ होते हैं। वह घटना तो एक भूमिका जैसी लगती है।

इस भूमिका पर परकरीय पात्रों का भावात्मक विकलन ही प्रमुख अभिप्राय बन जाता है। लोकमंगल गीत तो हो जाता है, उसके प्रभाव का विस्तार अप्रकट होता है। प्रकट केवल कृष्ण का वात्सल्य, सख्य या माधुर्य संबन्धी आलंबनत्व रहता है। इस प्रकार लोकमंगलकारी लीलाओं का भी भाव-विस्मित रूप ही सामने आता है। मंगल पक्ष को पुराणकार देव-स्तुतियों या स्तोत्रों के द्वारा प्रकट करता है। कृष्णलीला से संबद्ध पात्रों को इतना अवकाश कहाँ कि भावेतर पक्षों का कथन कर सकें। देव या ऋषि भी प्रायः भावेतर पक्षों के कथन को भूल जाते हैं और भावापन्न वातावरण पर मुग्ध हो जाते हैं। कभी लीला से संबद्ध पात्रों के सौभाग्य से स्पर्धा करते मिलते हैं। जहाँ तक भाव-रंजन की लीलाओं का प्रश्न है, उनमें भी एक तारतम्य मिलता है। कृष्ण के अवतरण से लेकर उनके मथुरा-गमन तक भावात्मक विकास और कृष्ण के आयु-विकास में एक संगति मिलती है : बालकृष्ण, किशोर कृष्ण, युवक कृष्ण के साथ वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भावों का विकास भी होता चलता है। इस प्रकार एक झीना सूत्र-विधान रंजनकारी लीलाओं में भी मिल जाता है। बालकृष्ण का वात्सल्य जब चरम पर पहुँचता है तो सख्य और माधुर्य अपनी आरम्भिक अवस्था में होते हैं। यह 'लरिकाई' का प्रेम संयोग के चरम रास में परिणत होता है। संयोग अपने चरम पर होता है तो विरह की आरंभिक अनुभूतियों में प्रौढ़ता आने लगती है, और चिर-विरह की स्थिति आ जाती है। उद्धव का आगमन विरहावस्था में भी दो स्थितियाँ स्पष्ट कर देता है : इससे पूर्व की आशा से युक्त विरह और इसके बाद का निराश विरह। साधना की दृष्टि से भी भक्त पहले वात्सल्य से आरंभ कर सकता है और अन्ततः परम-भाव माधुर्य तक जा सकता है। इस प्रकार कृष्ण के ब्रजवास को इकाई मानकर कृष्ण की लीलाओं में एक सूत्र-विधान मिल जाता है। कृष्ण का ब्रज चरित्र गीतात्मक प्रबन्ध का रूप धारण करने लगता है। भागवतकार का यह विधान सूर ने भी लिया है। इस वस्तुस्थिति में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन सार्थक हो जाता है। "मुझे आचार्य नंदलाल बसु ने बताया था कि आर्ट में इस प्रकार देखा गया है कि गीतिकाव्य मनोरागों को आश्रय करके महाकाव्यात्मक शिल्प का निर्माण हुआ है। ताजमहल ऐसा ही महाकाव्यात्मक शिल्प है, जिसका मूल मनोराग गीतिकाव्यात्मक या लिरिकल हैं। सूरसागर भी इसी प्रकार का महाकाव्यात्मक शिल्प है जिसका मूल मनोराग लिरिकल या गीतिकाव्यात्मक है।...

काव्य के प्रतिपाद्य के भीतर ही गीतिकाव्यात्मकता हो सकती है और उस प्रतिपाद्य को लेकर महाकाव्य की रचना उपहासास्पद प्रयत्न हो सकता है। 'सूरदास' ने यदि राधिका के प्रेम को लेकर गीतिकाव्य की रचना न करके प्रबन्धकाव्य की रचना की होती तो असफल हुए तेहोते।...गीतिकाव्यात्मक मनोरागों पर आधारित विशाल महाकाव्य ही सूरसागर है।"[१]

यद्यपि पारिभाषिक रूप से 'सूरसागर' को गीतिकाव्यात्मक महाकाव्य सिद्ध नहीं किया जा सकता, पर लघु लीलावृत्तों या प्रसंगों के आधार पर ही सूर ने गीतों की रचना की है। अतः कहीं कहीं कथासूत्र मिल जाता है। इस कथासूत्र का प्रवन्धानुकूल विकास नहीं किया गया है। प्रसंगभाव को अनन्ताकाश में उछालकर, स्वयं छूट जाता है। जयदेव के 'गीतगोविन्द' का काव्यरूप भी इसी दृष्टि से मिश्रित कहा गया हैं। किसी ने इसे 'पेस्टोरल ड्रामा' कहा है, किसी के अनुसार यह गीति-नाट्य है, किसी ने इसे प्रगीतात्मक नाटकीय काव्य कहा या एक परिष्कृत 'यात्रा' माना। इस प्रकार जयदेव में प्रगीत और नाट्य का संयोग माना गया है। 'सूरसागर' में यद्यपि नाटकीय तत्त्व की प्रगीति-तत्त्व से मैत्री है, फिर भी लीलागत इतिवृत्त का संकेत ही अधिक है। इस प्रकार इन्हें प्रसंगापेक्षी प्रगीतों की संज्ञा देना अधिक उपयुक्त होगा। जयदेव ने अपने काव्य को सर्गों में विभाजित किया है। 'सूरदास' जी ने भागवत के अनुसार स्कंधों की योजना की है। पर स्कंध-विभाजन सूर के प्रगीतों को बांध नहीं पाता। वह विभाजन गीतिकाव्य का नहीं, 'हरिकथा' का है।

भक्ति आन्दोलन में लोक-जीवन के स्पन्दनों और लोकमानस के भावोद्रेकों का स्वागत हुआ। संस्कृत के पुराणों और जयदेव, लीलाशुक जैसे भावप्रवण या भक्त कवियों की रचनाओं को इस आन्दोलन ने ग्रहण किया। ये दोनों ही धाराएँ संस्कृत साहित्य की वे धाराएँ हैं, जो जन-जीवन को लक्ष्य करके प्रभावित हो रहीं थीं, अथवा लोकगीतों तथा लोकप्रचलित गीतों से जीवन ले रहीं। पुराणों का नवीन संस्कार प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों द्वारा हुआ और प्राकृत-अपभ्रंश मुक्तक और गीतों ने जयदेव जैसे गीतकारों को प्रभावित किया। अपभ्रंश के मुक्तक और गीत प्रेरणा ऊपर के शिष्ट साहित्य से नहीं, लोकसाहित्य से ले रहे थे। इस प्रकार लोक के स्रोत

१. मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ० १५२।

से आगत प्रभावों से आन्दोलन की आत्मा परितृप्त हो सकी। मुक्तकों और गीतों से संस्कृत के आचार्य भी प्रभावित हुए और कवि भी। इस प्रभाव के कारण ही संस्कृत के कुछ काव्य भक्ति-साहित्य को प्रभावित कर सके। मध्य-कालीन साहित्यिक संक्रमण को कुछ और विस्तार के साथ देख लेना चाहिये।

१.३ प्राकृत अपभ्रंश : पुराण, गीत, मुक्तक—'पुराण' नामक काव्यरूप प्रत्येक धर्म में मिलता है। बौद्धों में भी पौराणिक शैली की रचनाएँ हुईं। जैन-पुराण तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं ही। हिन्दू पुराणों ने समस्त भक्ति आन्दोलन की भूमिका बनाई। इस शैली पर आगे महाकाव्य भी लिखे गए। विमल सूर की 'पउमचरिउ' रचना पुराणों की शैली पर महाकाव्य की ही रचना है। इसमें 'पद्म' (=राम) की कथा है। जैन महाराष्ट्री में चूर्णिकाएँ और कथासाहित्य भी उपलब्ध होता है। संघदास की 'वासुदेव हिंडी' इस प्रकार की रचना है। 'समराइच्च कहा' का पद्यभाग शौरसेनी में है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि साहित्य के सभी रूपों में एक ही भाषा प्रयुक्त नहीं होती थी : गद्य-पद्य की भाषाएँ पृथक थीं। 'हरिभद्र' ने 'समराइच्चकहा' को 'धर्म-कथा' कहा है। एक प्रकार से 'धर्मकथा' भी एक काव्यरूप है। इसमें धर्म-सिद्धान्त आचार-उपदेश, अनेक दृष्टान्त गुंफित हैं। महाराष्ट्री प्राकृत में जैनों के 'स्तोत्र' भी मिलते हैं। 'महावीर स्तव' तथा 'शांतिनाथस्तव' जैसी रचनाएँ मिलती हैं। द्रष्टव्य यह है कि इनकी शैली चमत्कारपूर्ण है। पहली में यमक और दूसरी में भाषा श्लेष का अत्यधिक चमत्कार मिलता है।

धार्मिक रचनाओं के अतिरिक्त शुद्ध साहित्यिक रचनाएँ भी महाराष्ट्री में की गइे। साहित्यिक दृष्टि से काव्यशास्त्री ने इसे प्रकृष्ट प्राकृत कहा है। जहाँ धार्मिक तृष्टि से इस भाषा में प्रवन्ध-विधाओं का सृजन और विकास हो रहा था, वहाँ साहित्यिक दृष्टि से इसमें 'मुक्तक' और 'लोकगीत' प्रसिद्ध थे। अनेक सरस मुक्तक हाल की 'सत्तसई' में संगृहीत हैं। यह महाराष्ट्री की प्राचीनतम उपलब्ध कृति है। इसमें संगृहीत गाथाओं को 'लोक साहित्य' के अन्तर्गत रखा जाता है। 'परलोक' का अर्थ यहाँ 'जन' नहीं प्रतीत होता। धार्मिक साहित्य के वैसादृश्य में यह लोक साहित्य है। इसीलिए कीथ ने इनकी भाषा को जनभाषा नहीं, कृत्रिम-साहित्यिक भाषा कहा है।[1] विषय

१. कीथ : हि० सं० लि०, पृ० २२४।

और परिवेश में लोकजीवन की छाया इस पर अवश्य है। जहाँ धार्मिक साहित्य में धर्म की दृष्टि से जीवन अंकित किया जाता था, वहाँ इस सत्तसई में जीवन का स्वच्छन्द-स्वाभाविक रूप ही चित्रित है। कृषक वनिताओं, गोप-गोपियों, शालि वधुओं और ग्रामीण-नारियों के चित्रों से गाथाएँ भरपूर हैं। फिर इस विधा की लोकप्रियता बढ़ी। धार्मिक लेखक भी ऐसी रचनाएँ प्रस्तुत करने लगे। श्वेताम्बरजैन जयवल्लभ की 'बज्जालग्ग' इसी विधा का अनुरूप है। इसमें भी नीति, चरित्र व्यवहाद, प्रेम आदि की गाथाएँ हैं। अधिकांश 'गाथाएँ' प्रेममूलक ही हैं।

साहित्यिक महाराष्ट्री में कुछ महाकाव्यों की भी रचना हुई। प्रवरसेन का 'रावण वहो' या 'सेतुवंध' इसी प्रकार की रचना है। इसके कवि को यमकमयी, चमत्कारपूर्ण शैली और समासांत पद-योजना प्रिय है। इसमें वीर तथा शृङ्गार दोनों रस प्रस्फुटित हैं। वृत्त प्राकृत के मात्रिक ही है।[1] इसी प्रकार की दूसरी रचना बप्पइराज (वाक्पतिराज) का 'गउडवहो' है। यह सर्गबद्ध नहीं हैं। आर्याछन्दों में यह रचित है। इसकी शैली भी संस्कृत महाकाव्यों की कृत्रिम भाषा-शैली से प्रभावित है। रामपाणिवाद का 'कसव हो' भी एक कृष्णाश्रयी प्रबन्ध रचना है।[2] इसमें प्राकृत मात्रिक और संस्कृत वर्णिक दोनों प्रकार के वृत्तों का प्रयोग है। इससे प्रतीत होता है कि महाराष्ट्री प्राकृत की शुद्ध प्रबन्ध-विधाएँ संस्कृत की छाया में विकसित हो रही थीं। राम और कृष्ण के वृत्तों की इन विधाओं में लोकप्रियता थी।

इस प्रकार प्राकृत में साहित्य की कई विधाएँ मिलती हैं। प्रबन्ध-विधा में 'पुराण' (स्वयंभू की रामायण, हरिवंशपुराण, तथा पुष्पदंत का 'महापुराण') 'धार्मिक चरितकाव्य' तथा 'पुराण शैली के महाकाव्य' (पउमचरिउ) मुख्य रूप से मिलते हैं। इनकी परम्परा ने हिन्दी प्रबन्व-विधा को पर्याप्त प्रभावित किया। इनमें चमत्कारिक शैली (सेतुवंध) तथा स्वाभाविक शैली (पउमचरिउ) दोनों ही मिलती है। अपभ्रंश में रचित पुराण एवं चरित-काव्यों में विषय पउमचरिउ से और शैली सेतुवंध से प्रभावित मिलती है। 'गड्डवहो' चरित-काव्यों का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें आश्रयदाता के शौर्य को लिया गया है।

---

१. आर्या, गीति, गाहिणी, सिहनी, स्कंधक आदि छन्दों का प्रयोग कवि ने किया है।

२. डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये द्वारा, १९४० में प्रकाशित।

प्राकृत का निजी वैशिष्ट्य मुक्तक विधाओं में प्रकट हुआ है। विषय की दृष्टि से, उपदेशात्मक[1] एवं शुद्ध साहित्यिक या प्रेमपरक मुक्तक लिखे गए।[2] इनके संख्यापरक संग्रह भी संपादित किये गये या लिखे गये। धार्मिक मुक्तकों ने नीतिपरक और स्तोत्र मुक्तक आते हैं। शुद्ध भावप्रवण मुक्तकों की परम्परा का आरम्भिक सूत्र थेरगाथा या थेरीगाथा में ढूँढ़ा जा सकता है। "बौद्ध भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों के मुक्तक काव्यों में प्रकृति का अनाविल सौंदर्य तथा भावों की स्वाभाविक विवृति उनके शुद्ध साहित्यत्व को प्रतिष्ठापित करने में अलम् है।[3]" साहित्यिक मुक्तकों में भी कुछ नीतिपरक हैं और कुछ शृंगारपरक। ये लोकसाहित्यिक प्रवृत्तियों को भी ग्रहण करके चलते है और साहित्यिक प्रभावों को भी। लोकसाहित्य में इस धारा ने प्रचलित दोहों का रूप ग्रहण किया। अनेक लोकगीत आज भी दोहों के आधार पर बने हुए मिलते हैं। हेमचंद्र के संगृहीत अपभ्रंश दोहों में भी यही परम्परा मिलती है। संस्कृत में भी इस शैली के मुक्तक बने।[4]

लोक और शिष्ट साहित्य की शक्तियों से संपन्न प्राकृत की मुक्तक परंपरा ने संस्कृत काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों तथा सिद्धान्तों को भी प्रभावित किया। 'रस-सिद्धान्त' का संबन्ध तो महाकाव्यात्मक लक्ष्य-साहित्य और विविध दर्शनों से था। इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा में महाकाव्य-विधा का पर्याप्त योगदान रहा। ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना में आनंदवर्धन ने प्राकृत-मुक्तकों से पर्याप्त सहायता ली। एक प्रकार से इस सिद्धान्त का लक्ष्य-साहित्य प्राकृत-मुक्तक ही बने। ध्वनि-सिद्धान्त ने इन मुक्तकों के मूल्यांकन की नवीन प्रविधि भी प्रदान की : इनका मूल्य भी बढ़ा। आलकारिकों ने भी अनेक उदाहरण प्राकृत-मुक्तकों से लिए। ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, नायक-नायिका भेद के समुचित उदाहरण इसी

---

१. जैन धर्म के 'समयसार', जैन 'विज्जुत्तियों' के कुछ मुक्तक, धम्मपद के बुद्धवचन, इसी कोटि में आते हैं। जैन प्राकृत-स्तोत्र भी धार्मिक मुक्तक साहित्य के अंग हैं।

२. गाहा सत्तसई और वज्जालग्ग इस परंपरा की प्रतिनिधि-रचनाएँ हैं।

३. डा० भोलाशंकर व्यास, हिंदी साहित्य का वृहत इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ३०८।

४. भर्तृहरि, अमरुक. शीला भट्टारिका, विज्जिका, विकटनितंबा जैसे कवि-कवियित्रियों पर प्राकृत-मुक्तकों का ज्ञात-परोक्ष प्रभाव है। जयदेव पर भी इनका प्रभाव स्वीकृत किया जाना चाहिए।

परम्परा ने दिये। "इससे स्पष्ट है कि ध्वनि, वक्रोक्ति, भाषा की समासशक्ति तथा श्रृंगार की तत्तत प्रक्रिया के लिए जितने उपयुक्त उदाहरण प्राकृत मुक्तकों से मिल सके, उतने संस्कृत में भी नहीं थे।[१]" इन मुक्तकों की विशेषता यह थी कि इनमें गीतितत्त्व का समावेश भी था। कुछ स्वर-लय का विधान करके इनको गीति के रूप में भी परिणत किया जा सकता था। 'जयदेव' में हमें यह परिणति मिलती है।

अपभ्रंश के विकास में विदेशियों का हाथ था, तो आभीरादि के लोक-साहित्य के प्रभाव-प्रवेश की भी सम्भावना होती है। यह आभीर जाति ही पीछे गुजरात, राजस्थान, मालवा में फैल गई।[२] दंडी के समय में भी अपभ्रंश और आभीरों का घनिष्ठ संबन्ध माना जाता था। काव्य के क्षेत्र में अपभ्रंश एक शैली बन गई। इसमें संस्कृत प्राकृत का मिश्रण था। यह प्रणय कोप से युक्त कामिनी के आलाप की तरह मनोहर थी।[३] स्वयंभू ने भी इस शैली की लगभग ये ही विशेषताएँ बतलाई है: इस भाषा-धारा के दो किनारे संस्कृत और प्राकृत हैं। सघन पद संघटना इसकी विशेषता है।[४] इससे प्रकट होता है, कि साहित्यिक रूप इसका प्रकट होने लगा, जो संस्कृत और प्राकृत से प्रभावित था। साहित्यिक रूप में प्रकट होने पर यह अपनी रमणीयता से संस्कृत के काव्याचार्यों को अपनी ओर आकर्षित करने लगी। वे प्राकृत से सरस मुक्तकों की अभिराम छवियों का आस्वादन कर चुके थे। अब एक नवीन काव्यधारा उनको आकर्षित करने लगी। आलंकारिकों ने अपभ्रंश का उल्लेख करना आरम्भ किया।[५] राजशेखर ने अपभ्रंश को देवी सरस्वती के जघनों का रूपक दिया और राजसभा में भी इसका स्थान निर्धारित किया। अन्तत: वैयाकरणों ने भी यह घोषित कर दिया कि यह शिष्ट जनों की भाषा है।[६] प्राकृत से अभिन्न कह कर इसका सम्मान बढ़ाया गया।[७] इसका रूप

---

१. डा० भोलाशंकर व्यास, हि० सा० बृ० इति०, भाग १, पृ० ३०८-३०९।

२. ग्रियर्सन : दि पहाड़ी लैंग्वेजेज, इंडियन एंटिक्वेरी, १९१४, पृ० १५०।

३. उद्योतन : कुवलयमाला।

४. सक्कय पायव पुलिणालंकिय, देसी भाषा उभय तडुज्जल, कवि दुक्कर घण सद्द सिलायल। (पउमचरिउ)

५. रुद्रट (काव्यलंकार २।१२) राजशेखर (काव्यमीमांसा, अध्याय ३, अध्याय १०) में इसको उल्लेख किया है।

६. पुरुषोत्तम, १७।_१।

७. नमिसाधु, काव्यालंकार टीका, २।१२।

विस्तृत हुआ। देशगत विस्तार आभीर जैसी घुमक्कड़ जाति के कारण भी हुआ और साहित्यिक भाषा मान्य होने के कारण भी। इसमें नमिसाधु ने शौरसेनी, मागधी और महाराष्ट्री का मिश्रण माना। हेमचन्द्र ने इसे व्याकरण सम्मत परिनिष्ठित रूप दिया।[1] इसमें इनसे पूर्व के रचे हुए कुछ दोहे भी उद्धृत हैं। ध्वन्यालोक, सरस्वती कंठाभरण और विक्रमोर्वशीय के पदों का भी पता चलता है। प्रारम्भिक हिन्दी इसी भाषा से आभासित है। ऐसा भी संस्कृताभिमानी वर्ग था जो अपभ्रंश को अब भी 'पतिता' कहता था।[2] पर इसकी गति अप्रतिहत रही। यदि 'अपभ्रंश' शब्द अनादर वाचक था, तो इसे 'देशी' संज्ञा दी जाने लगी।[3] विद्यापति जैसे माधुर्य के पारखी ने इसी शब्द से द्योतित भाषा को 'मिट्ठा' (=मधुर कहा)। संस्कृत वाणी अब अधिकांश को मधुर नहीं लगती। प्राकृत उतनी रस-प्रवण नहीं है। देशी वचन ही मधुर हैं।[4] इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से 'देशी बयना' सर्वातिमधुर स्वीकृत हुई। यह वह क्षेत्र था जहाँ 'मधुर' रस ही पूर्णतः मान्य था। यहीं माधुर्य-भाव की भक्ति ने चरम अभिव्यक्ति प्राप्त की। तंत्र, सहजिया, शाक्त और वैष्णव रस-धारा से पूर्वी भारत की भूमि सबसे अधिक अभिसिंचित हुई। इन्हीं रस-माधुर्य की धाराओं के थपेड़े खाकर जयदेव को संस्कृत का मधुर-भावानुकूल, गीति-काव्योचित संस्कार करना पड़ा था। विद्यापति ने साहस के साथ देशी भाषा के अतिशय माधुर्य की घोषणा करके, मधुर-भावापन्न साहित्य की एक शैली की परम्परा बनाई।

---

१. शब्दानुशासन, सूत्र ३६९ से ४४८।

२. दामोदर पंडित, उक्तिव्यक्ति प्रकरण, कारिका ६ और वृत्ति। (इसे 'पतिता ब्राह्मणी' के समान कहा है)।

३. स्वयंभू (देसी भाषा उभय तडुज्जल—पउमचरिउ) पद्मदेव (देसि सद्दत्थ गाढ़, पासा णाह चरिउ), लक्ष्मणसेन ('पाउअ देस भास'—'णे मिणाह चरिउ') तथा पादलिप्त ('देसिल वयणेहिं'—तरंगवती कथा, 'पाहुड़ दोहा की भूमिका, पृ० ४१—४२)

४. सक्कय वाणी बहुअ (न) भावइ। पाउअ रस को मरम न पावइ।
देसिल बअना सब सञ्ज मिट्ठा। तं तेसन जम्पिञ्ज अवहट्ठा।
[कीर्तिलता]

यों तो देशभेद से अपभ्रंश के कई रूप होंगे ।[1] बहुधा तीन का उल्लेख मिलता है : नागर, ब्राचड़, तथा उपनागर । इन तीनों रूपों का संबन्ध पश्चिम या उत्तर-पश्चिम भागों से था । हो सकता है कि इन भागों में आमीर जाति और उसकी संस्कृति के विकास के कारण अपभ्रंश के इन रूपों की मान्यता हुई हो । सामान्य रूप से उत्तर, पश्चिम, पूर्व और दक्षिण सभी स्थानों पर अपभ्रंश के रूप मिलते होंगे ।[2] डा० तगारे ने उत्तरी का निराकरण करके पूर्वी, दक्षिण और पश्चिमी अपभ्रंश ही मानी हैं ।[3] पूर्वी भाषा का प्रतिनिधित्व सरह तथा कण्ह के दोहाकोष, तथा चर्यापद करते हैं । दक्षिणी अपभ्रंश में बहुधा चरितकाव्य या प्रबन्धकाव्य मिलते हैं : महापुराण नेमिकुमार चरित, जसहर चरिउ (पुष्पदन्त), तथा करकंड चरिउ (मुनिकनकमार) । पश्चिमी अपभ्रंश के फुटकर पद्य मिलते हैं : कालिदास, जोइंदु, रामसिंह, धनपाल, हेमचन्द्र आदि के दोहे—मुक्तक इसमें आते हैं । इनकी कृतियाँ क्रमशः ये है : विक्रमोर्वशीय सावयधम्म दोहा, पाहुड़ दोहा, भविसयत्त कहा, तथा हेम-व्याकरण में उद्‌धृत दोहे । इस प्रकार काव्यरूप की दृष्टि से पश्चिमी और पूर्वी अपभ्रंश मुक्तकों के लिए प्रधानतः प्रसिद्ध थीं । दक्षिण अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्यों के उपयुक्त थी । भाषा और शैली का एक त्रिकोण-सा बन जाता हैं : इसके पश्चिमी बिन्दु पर शौरसेनी प्राकृत, पश्चिमी अपभ्रंश, दोहे-मुक्तक, तथा पांचाली रीति घटित होती है । इसी प्रकार मागधी प्राकृत, पूर्वी अपभ्रंश, दोहे-गीत, तथा गौड़ी रीति पूर्वी बिन्दु पर हैं । दक्षिणी बिन्दुर पर महाराष्ट्री, दक्षिणी अपभ्रंश, प्रबन्ध-विधा, तथा वैदर्भी रीति की स्थिति मानी जानी चाहिए । पश्चिमी अपभ्रंश एक प्रकार से मुक्तकबहुल होते हुए भी प्रबन्ध-विधा से पूर्णतः विच्छिन्न नहीं थी : पूर्वी क्षेत्र में गौड़ी शैली के प्रति एक रसात्मक प्रतिक्रिया हुई, इस पर आगे विचार किया जायेगा । शौरसेनी ने पूर्वी भाषा और शैली को प्रभावित किया ।

१.४ गीत गोविन्द की शैली का उदय—काव्यशास्त्र में संघर्ष वैदर्भी और गौड़ी का मिलता है । वैदर्भी के समर्थकों ने सदा ही गौड़ी को हेय माना है । बाण ने शैली की दृष्टि ले एक कथन किया है : उत्तर में श्लेष, पश्चिम में

---

१. मार्कंडेय ने इसके २७ भेदों की परम्परा का उल्लेख किया है । प्राकृत सर्वस्व, ७ ।

२. डा० याकोवी, सनत्कुमार चरित की भूमिका ।

३. डा०, तगारे, हिस्टोरीकल ग्रामर आफ़ अपभ्रंश, (पूना) पृ० १६ ।

वर्ग, दक्षिण में उत्प्रेक्षा तथा गौड़ों में अक्षराडंबर मिलता है।[१] बाण के अक्षराडंबर के साथ दंडी ने गौड़ी का लक्षण-निरूपण करते हुए अर्थाडंबर और अलंकाराडंबर और जोड़े। दंडी की अनादर भावना गौड़ी के प्रति स्पष्ट झलकती है।[२] गौड़ी और वैदर्भी का संघर्ष बहुत पहले से चला आ रहा प्रतीत होता है। भामह ने इस परम्परागत शैली-भेद और वैदर्भी की श्रेष्ठता के मत का समर्थन नहीं किया। दोनों में ही सर्वश्रेष्ठ रूप विकसित हो रहे थे। भामह ने कहा : दोनों के ही सर्वश्रेष्ठ रूपग्राह्य हैं।[३] इस प्रकार उचित होने पर गौड़ी भी मान्य हो सकती है। राजशेखर ने एक और महत्त्वपूर्ण कथन किया है : गौड़ाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते दाक्षिणात्याः। गौड़ी को इसके अनुसार संस्कृतनिष्ठ और स्थानीय प्रभाव से युक्त माना जाता था, जबकि दक्षिण में प्राकृत की प्रकृति मान्य थी। दंडी ने सर्वश्रेष्ठ प्राकृत महाराष्ट्री मानी है।[४] इसी प्रभाव में 'वैदर्भी' शैली बन रही थी। इस शैली का विपर्यय गौड़ी में मिलता है। परवर्ती आचार्यों पर भी दंडी के इस सिद्धान्त का न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा। गुणों के आधार पर भी गौड़ी की निन्दा की गई : इसमें दसों गुणों का समावेश नहीं होता। इसी आधार पर पांचाली की भी उपेक्षा हुई। गौड़ी की विशेषताओं का विकास भी काव्यशास्त्र में मिलता है। सभी आचार्यों के मतों का यदि निष्कर्ष निकाला जाय तो गौड़ी-रीति की ये विशेषतायें निर्धारित की जा सकती हैं : १. गाढ़बन्धत्व २. सौगन्ध्य या पाक तथा ३. प्रौढ़ि।।

गाढ़बन्धत्व या बन्धगौरव एक ओर तो सामासिकता को प्रकट करता है। साथ ही इसकी अभिव्यक्ति मृदु या अल्प प्राणाक्षर शब्दों से भी होती है और कठोर समास पदों से भी पर सामासिक पदावली का प्रयोग रस-क्रम की दृष्टि से होना चाहिए, तभी बन्धगौरव सिद्ध होता है। इसी संदर्भ में 'श्रुतिविमलता' का उल्लेख भी मिलता है।[५] इस पर रसानुवर्ती सामासिक

१, हर्ष चरित्र, प्रास्ताविक पद्य।

२. काव्यादर्श, २।१-३ (अनुप्रासधिया गौड़ैस्तदिष्टम् ।...अनुप्रासस्तुतत्-प्रियः।...शब्दालंकारडंबरौ...)।

३. काव्यालंकार, १।३१-२।

४. महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टां प्राकृतं विदुः। (काव्यादर्श, १।३४)

५. पदन्यासस्य गाढ़त्वं वदन्त्योजः कवीश्वराः।
अनेनाधिष्ठिताः शब्दाः श्रावे श्रोत्ररसायनम्।
(काव्यालंकार में, तृतीय में उद्धृत श्लोक)

यों तो देशभेद से अपभ्रंश के कई रूप होंगे ।[1] बहुधा तीन का उल्लेख मिलता है : नागर, ब्राचड़, तथा उपनागर । इन तीनों रूपों का संबन्ध पश्चिम या उत्तर-पश्चिम भागों से था । हो सकता है कि इन भागों में आभीर जाति और उसकी संस्कृति के विकास के कारण अपभ्रंश के इन रूपों की मान्यता हुई हो । सामान्य रूप से उत्तर, पश्चिम, पूर्व और दक्षिण सभी स्थानों पर अपभ्रंश के रूप मिलते होंगे ।[2] डा० तगारे ने उत्तरी का निराकरण करके पूर्वी, दक्षिण और पश्चिमी अपभ्रंश ही मानी हैं ।[3] पूर्वी भाषा का प्रतिनिधित्व सरह तथा कण्ह के दोहाकोष, तथा चर्यापद करते हैं । दक्षिणी अपभ्रंश में बहुधा चरितकाव्य या प्रबन्धकाव्य मिलते हैं : महापुराण नेमिकुमार चरित, जसहर चरिउ (पुष्पदन्त), तथा करकंड चरिउ (मुनिकनकभार) । पश्चिमी अपभ्रंश के फुटकर पद्य मिलते हैं : कालिदास, जोइंदु, रामसिंह, धनपाल, हेमचन्द्र आदि के दोहे—मुक्तक इसमें आते हैं । इनकी कृतियाँ क्रमशः ये हैं : विक्रमोर्वशीय सावयधम्म दोहा, पाहुड़ दोहा, भविसयत्त कहा, तथा हेम-व्याकरण में उद्धृत दोहे । इस प्रकार काव्यरूप की दृष्टि से पश्चिमी और पूर्वी अपभ्रंश मुक्तकों के लिए प्रधानतः प्रसिद्ध थीं । दक्षिण अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्यों के उपयुक्त थी । भाषा और शैली का एक त्रिकोण-सा बन जाता हैं : इसके पश्चिमी बिन्दु पर शौरसेनी प्राकृत, पश्चिमी अपभ्रंश, दोहे-मुक्तक, तथा पांचाली रीति घटित होती है । इसी प्रकार मागधी प्राकृत, पूर्वी अपभ्रंश, दोहे-गीत, तथा गौड़ी रीति पूर्वी बिन्दु पर हैं । दक्षिणी बिन्दुर पर महाराष्ट्री, दक्षिणी अपभ्रंश, प्रबन्ध-विधा, तथा वैदर्भी रीति की स्थिति मानी जानी चाहिए । पश्चिमी अपभ्रंश एक प्रकार से मुक्तकबहुल होते हुए भी प्रबन्ध-विधा से पूर्णतः विच्छिन्न नहीं थी : पूर्वी क्षेत्र में गौड़ी शैली के प्रति एक रसात्मक प्रतिक्रिया हुई, इस पर आगे विचार किया जायेगा । शौरसेनी ने पूर्वी भाषा और शैली को प्रभावित किया ।

१.४ गीत गोविन्द की शैली का उदय—काव्यशास्त्र में संघर्ष वैदर्भी और गौड़ी का मिलता है । वैदर्भी के समर्थकों ने सदा ही गौड़ी को हेय माना है । बाण ने शैली की दृष्टि ले एक कथन किया है : उत्तर में श्लेष, पश्चिम में

---

१. मार्कंडेय ने इसके २७ भेदों की परम्परा का उल्लेख किया है । प्राकृत सर्वस्व, ७ ।

२. डा० याकोबी, सनत्कुमार चरित की भूमिका ।

३. डा० तगारे, हिस्टोरीकल ग्रामर आफ़ अपभ्रंश, (पूना) पृ० १६ ।

अर्थ, दक्षिण में उत्प्रेक्षा तथा गौड़ों में अक्षराडंबर मिलता है।[1] बाण के अक्षराडंबर के साथ दंडी ने गौड़ी का लक्षण-निरूपण करते हुए अर्थाडंबर और अलंकाराडंबर और जोड़े। दंडी की अनादर भावना गौड़ी के प्रति स्पष्ट झलकती है।[2] गौड़ी और वैदर्भी का संघर्ष बहुत पहले से चला आ रहा प्रतीत होता है। भामह ने इस परम्परागत शैली-भेद और वैदर्भी की श्रेष्ठता के मत का समर्थन नहीं किया। दोनों में ही सर्वश्रेष्ठ रूप विकसित हो रहे थे। भामह ने कहा : दोनों के ही सर्वश्रेष्ठ रूपग्राह्य हैं।[3] इस प्रकार उचित होने पर गौड़ी भी मान्य हो सकती है। राजशेखर ने एक और महत्त्वपूर्ण कथन किया है : गौड़ाद्याः संस्कृतस्था परिचितरुचयः प्राकृते दाक्षिणात्या।' गौडी को इसके अनुसार संस्कृतनिष्ठ और स्थानीय प्रभाव से युक्त माना जाता था, जबकि दक्षिण में प्राकृत की प्रकृति मान्य थी। दंडी ने सर्वश्रेष्ठ प्राकृत महाराष्ट्री मानी है।[4] इसी प्रभाव में 'वैदर्भी' शैली बन रही थी। इस शैली का विपर्यय गौड़ी में मिलता है। परवर्ती आचार्यों पर भी दंडी के इस सिद्धान्त का न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा। गुणों के आधार पर भी गौड़ी की निन्दा की गई : इसमें दसों गुणों का समावेश नहीं होता। इसी आधार पर पांचाली की भी उपेक्षा हुई। गौड़ी की विशेशताओं का विकास भी काव्यशास्त्र में मिलता है। सभी आचार्यों के मतों का यदि निष्कर्ष निकाला जाय तो गौड़ी-रीति की ये विशेषतायें निर्धारित की जा सकती हैं : १. गाढ़बन्धत्व २. सौशब्द्य या पाक तथा ३. प्रौढ़ि।।

गाढ़बन्धत्व या बन्धगौरव एक ओर तो सामासिकता को प्रकट करता है। साथ ही इसकी अभिव्यक्ति मृदु या अल्प प्राणाक्षर शब्दों से भी होती है और कठोर समास पदों से भी पर सामासिक पदावली का प्रयोग रस-क्रम की दृष्टि से होना चाहिए, तभी बन्धगौरव सिद्ध होता है। इसी संदर्भ में 'श्रुतिपेशलता' का उल्लेख भी मिलता है।[5] इस पर रसानुवर्ती सामासिक

१, हर्ष चरित्र, प्रास्ताविक पद्य।

२. काव्यादर्श, २।१.३ (अनुप्रासाधिया गौड़ैस्तदिष्टम्।...अनुप्रासस्तुतत्-प्रियः।...शब्दालंकारडंबरी...)।

३. काव्यालंकार, १।३१-२।

४. महाराष्ट्राश्रयां भाषाँ प्रकृष्टां प्राकृतं विदुः। (काव्यादर्श, १।३४)

५. पदन्प्रासस्य गाढ़त्वं वदन्त्योजः कवीश्वराः।
अनेनाधिष्ठिताः शब्दाः प्रायो श्रोत्ररसायनम्।
(काव्यालंकार में, तृतीय में उद्धृत श्लोक)

पदावली और श्रुति-पेशल या संगीतमय शब्द-योजना इस शैली की विशेषता हुई। स्वभावतः प्रास-बाहुल्य हो ही जायेगा।

सौशब्द्य या पाक का विचार काव्यशास्त्रों में मिलता है। 'भामह' ने 'मुद्रा' से इसी का भावव्यक्त किया है[1] 'शय्या' शब्द भी इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[2] कभी पाक की परिभाषा में 'अर्थगंभीरिमाः पाकः' कहा गया, और कभी 'पाकस्तु रसोचित शब्दार्थनिबन्धम्। भोज ने इसे 'प्रौढ़ि' कह कर इसे शब्द गुणों में सन्निविष्ट किया। 'परिणाम भी इसी से मिलता जुलता है। मंगल के अनुसार शब्द-सौन्दर्य की दृष्टि से मधुर शैली का विधान ही इस सौशब्द्य से द्योतित है।

प्रौढ़ि का तात्पर्य उन्नत-उदात्त शैली (grandelopuence) है। डम्बर-आडम्बर से यही भावव्यक्त होता है। प्रौढ़ोक्ति और अतिशयोक्तिपूर्ण शैली की सूचना भी 'प्रौढ़ि' से मिलती है। यही अर्थालंकार सौष्ठ में चमकता है। इस प्रकार गौड़ी-शैली की विशेषताएँ सूचित होती है। इसी शैली का प्रगल्भ और क्रान्तिकारी विकास 'जयदेव' में मिलता है। 'जयदेव' की शैली ने एक प्रकार से समस्त देश के कवियों को प्रभावित किया। भक्तिपरक शैलियों में इसका प्रधान स्थान बन गया।

जयदेव से पूर्व बंगाल में शब्दालंकारों पर आधारित चमत्कारपूर्ण काव्य की भी एक परम्परा मिलती है। 'हरिप्रबोध-यमक,' कीचकबध, घटकर्पर (वररुचि) जैसी चमत्कारी रचनाएँ श्लेष और यमक के चमत्कार से भरी पूरी हैं। संध्याकर विरचित रामचरित (११ वीं शती) भी इसी परम्परा में आता है। यह भी गौड़ी रीति का ही काव्य है अभिलेखों की भाषा में भी श्लेष और विरोध पर आधारित अलंकारों का चमत्कार मिलता है। गौड़ी परम्परा की अन्तिम ज्योति का ही यह प्रदर्शन था। आगे कोमलता का तत्त्व आने लगा। 'ओज' गौड़ी रीति का प्रधान गुण माना जाता था। अब माधुर्य की इसके प्रति प्रतिक्रिया होने लगी। समास के बन्धन भी टूटने लगे। 'सौशब्द्य' ने एक नवीन शैली-युग का सूत्रपात किया। यह नवीन युग सेन-राज्यकाल से आरंभ होता है। उमापतिधर के 'चन्द्रचूड़ाचरित काव्य' की रचना संभवतः कोमल पद्धति में ही थी। शैलीगत प्रवृत्ति का परिवर्तन

---

१. भामह २।१४।

२. The repose of word in consciance the unchallengeable-ness of words.

गोवर्धन की आर्यासप्तशती, धोपी या धोमिका के खंडकाव्य 'पवनदूत' जैसी रचनाओं में भी देखा जा सकता है। जयदेव का गीतिगोविन्द तो 'कोमलकान्त पदावली' का मधु-विलास ही हैं। इसमें सौशब्द्य, माधुर्य और कोमलता चरम पर हैं। 'गाढ़ बन्धता' का इसमें अभाव होता गया। इसी कृति से प्रेरणा लेकर बंगाली वैष्णव पुनरुत्थान-युग के कवियों ने साहित्य-साधना की।

जयदेव के गीत गोविन्द की यह शैली संस्कृत की परम्परा से इतनी भिन्न हो गई कि विद्वान इसकी शैली के स्रोत के संबन्ध में चिन्तित होने लगे। यद्यपि ब्रह्मवैवर्त और भागवत में शैली रचना और विषय-बन्ध ऐन्द्रिय हैं, फिर भी जयदेव की रचना का स्रोत पूर्णरूप से इन रचनाओं में भी निर्धारित नहीं किया जा सकता।[१] वास्तव में शैली और विषय की दृष्टि से गीत गोविन्द संस्कृत की अपेक्षा अपभ्रंश-परम्परा के अधिक समीप हैं। भाषा चाहे सस्कृत हो, पर इसकी अभिव्यंजना प्रविधि अपभ्रंश की है। तुकान्त और संगीतात्मक छन्द रचना भी अपभ्रंश वृत्त योजना से दूर नहीं है। इसकी इस प्रकृति को देखकर कुछ विद्वान तो कहने लगे थे कि यह किसी अपभ्रंश का रचना अनुवाद या उससे अत्यधिक प्रभावित है। इसको कीथ ने स्वीकार नहीं किया है, पर इस पर अपभ्रंश का प्रभाव अवश्य उन्हें स्वीकृत है :[२] श्री डे का भी यही मत है।[३] इस कृति में राधा-कृष्ण के प्रेम से मांसल, स्थूल और काम-शास्त्रीय चित्र ही अधिक हैं। मानसिक पक्ष प्राय: उपेक्षित है। इस प्रकार की शैली को पुराने पंडित रहस्यात्मक मानते थे। तंत्राश्रित रहस्य साधनाओं तथा तत्संबन्धी साहित्य में भी एन्द्रियता ही अधिक रहती थी। गीतगोविन्द में भी रहस्यात्मक अर्थों की स्थापना की गई।[४] इस प्रकार की व्याख्या की संभावनाएँ स्वयं जयदेव ने व्यक्त की है।[५] जयदेव एक ओर तो कृष्ण भक्त होने का गर्व करते हैं, दूसरी ओर अपने को श्रृंगार का कवि शिरोमणि मानते हैं। कालिदास की भी यही प्रतिज्ञा थी। श्रृंगार पद्धति से शिव-पार्वती

---

१. एस० के० डे, प्री चैतन्य वैष्णविज़्म इन बंगाल एन्ड अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेंट इन बंगाल। (कलकत्ता; १९४२) पृ० ७।१०)

२. कीथ, हि० सं० लि०, पृ० १९७-९८।

३. हि० सं० लि० पृ० ३९४-३९५।

४. कीथ, पृ० १९४, दास, गुप्ता और डे—हि० सं० लि०, पृ० ३९२।

५, गी. गो. १।३, १२।१२।

के वैवाहिक शृंगार का वर्णन कर रहा हूँ।[1] इसी परम्परा में जयदेव की प्रतिज्ञा आती है। वास्तव में इसमें शृंगार के सभी पक्ष (निराशा और अन्तिम विरह को छोड़कर) इसमें आये हैं। शैली की दृष्टि से आश्चर्य इस बात पर होता है कि कवि इतनी भावुकता को, इतने अधिक भाषा अलंकरण में सुरक्षित रख सका। नाद का इतना सौन्दर्य प्रस्फुटित है कि इन्हीं पंक्तियों में संगीत उमड़ा पड़ रहा है। नाद, भाव, ध्वनि और चित्र का इतना उदात्त रूप अन्यत्र नहीं मिल सकता।

जयदेव की शैली का निरूपण यहाँ इसलिए किया गया है कि यह शैली परवर्ती भक्त कवियों को बहुत अधिक प्रभावित करती रही। सूर की साहित्य-साधना पर भी यह प्रभाव स्पष्ट है। गीतगोविन्द के प्रभाव से संभवतः भारत का कोई भाग नहीं बचा। भक्तमाल में नाभादास जी जयदेव के संबन्ध में लिखा। इस प्रकार जयदेव का भक्तों की श्रेणी में परिगणन सिद्ध हो जाता है। संस्कृत-काव्यों में इसे सबसे अधिक लोकप्रियता मिली। देश के विभिन्न भागों में इसकी चालीस टीकाओं का पता लग चुका है। इस पद्धति पर रचे गये १२ से अधिक काव्य मिलते हैं। राधा-कृष्ण के स्थान पर राम-सीता और हर-पार्वती भी आगये है। भक्ति-संप्रदायों में प्रचलित काव्य संग्रहों में इसके गीतों को संगृहीत किया गया। चैतन्य संप्रदाय के माधुर्य-दर्शन का बहुत कुछ वहन इसी कृति ने किया। इस संप्रदाय की माधुर्य-भावना का अन्य संप्रदायों पर प्रभाव बहुत कुछ गीतगोविन्द के कारण भी माना जा सकता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि संस्कृत में होने पर भी लोकभाषा के माधुर्य से यह स्नात है। प्राकृत की गाथाओं और अपभ्रंश के दोहों का रस इसमें उच्छलित है।

अपभ्रंश से प्रभावित संस्कृत गीत-परम्परा की लोकप्रियता तो थी ही अपभ्रंश के अपने काव्यरूप और अपनी शैलियाँ भी निजी रूप में बहुत लोकप्रिय रहीं। यह पहले देखा जा चुका है कि पश्चिमी और पूर्वी अपभ्रंश में मुक्तक और गीत शैली का प्राधान्य था। भक्ति आन्दोलन की कृष्णाश्रयी शाखा को इन काव्यरूपों ने पर्याप्त योगदान दिया। अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्य के अन्तर्गत पुराण, चरितकाव्य तथा कथाकाव्य आते है। ये बहुधा जैन कवियों द्वारा लिखे गये। जैन कवियों ने कुछ आध्यात्मिक काव्य भी लिखे। इनको कुछ विद्वान रहस्यवादी परम्परा के अन्तर्गत रखते हैं। बौद्ध सिद्धों ने दोहों

१. कुमार संभव, ८ वाँ सर्ग।

और चर्या पदों की रचना की। शौर्य और प्रणय से संवन्धित मुक्तककाव्य की भी रचना हुई। पुराण शैली का विभाजन हिन्दू पुराणों से भिन्न नहीं था। राम और कृष्ण के चरित्र भी लिखे गये। स्वयंभू ने 'हरिवंशपुराण' लिखा। इसमें महाभारत और कृष्ण की कथा है। पुष्पदंत ने भी कृष्णकथा को लिया। यदि स्वयंभू ने कृष्ण के महाभारतीय संदर्भ को उभारा था, तो पुष्पदंत ने 'गोकुल' के संदर्भ को। गोपी-लीला, माखन-चोरी, कालियदमन और गोवर्द्धन लीला के अभिप्राय पुष्पदंत की उन्मुक्त कल्पना के परिचायक हैं। स्वयंभू की अपेक्षा इनकी शैली अधिक प्रगल्भ और अलंकृत है। इस प्रकार भागवत की शैली का एक कृष्ण-प्रबन्ध मिल जाता है। जैन काव्य पर परिनिष्ठित काव्य की शैलियों और रूढ़काव्य का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है।

बौद्ध दोहा और चर्यापद अपभ्रंश-साहित्य की दूसरी महत्वपूर्ण धारा है। इस परम्परा की शैली और काव्यरूप निर्गुण-साहित्य को प्रभावित करते हैं। यह काव्य परिनिष्ठित संस्कृत-काव्य की शैली से प्रायः प्रभावित नहीं हैं। जैनसाहित्य संस्कृत शैली के इतना विरुद्ध नहीं है। जैनसाहित्य में भी ब्राह्मण धर्म का विरोध मिलता है, पर उनका विरोध इतना उग्र नहीं है, जितना सिद्धों का। सिद्धों के इस विरोध का एक पक्ष संस्कृत शैली का पूर्णरूप से त्याग भी है। ये कवि संध्या भाषा, उलटबाँसियों की पूर्व परम्पराओं को ग्रहण किए रहे और लोकभाषा के काव्यरूपों को अपनाते रहे। बौद्ध सिद्धों ने प्रबन्धकाव्य लिखा ही नहीं। इनके मुक्तक या तो रहस्यवादी शैली में, शृङ्गार प्रतीकों का सहारा लेते हुए, योगपरक साधना और परमात्म-मिलन के समाधि क्षणों का वर्णन प्रस्तुत किया है। योगी-योगिनी साधना के ऐन्द्रिय, स्थूल शृङ्गारिक चित्र सिद्धों के मुक्तकों में मिल जाते हैं। वैष्णव साधना को ऐन्द्रिय चित्र यदि जयदेव ने दिए, तो उसी क्षेत्र में सिद्धों ने योग-साधना के मांसल, शृङ्गारी चित्र दिए। इन दोनों ही परम्पराओं ने कृष्ण भक्तिशाखा के माधुर्य भाव की अभिव्यक्ति में योग दिया। सिद्ध शृङ्गार के प्रतीक निर्गुणियों को भी स्वीकार्य है। हो सकता है स्वयं जयदेव के गीतों की शैली के निर्माण में सिद्ध, तंत्र, शाक्त आदि की शृङ्गारपरक प्रतीक योजना का हाथ रहा हो। सिद्ध साहित्य की दूसरी विधा नैतिक साहित्य की है : दोहा कोष इसी परम्परा में आते हैं। इस परम्परा का कृष्णाश्रयी भक्तों से संबन्ध नहीं हुआ। गृहिणी, तरुणी तथा योगिनी के साथ कामकेलि की प्रतीक-योजना का प्रभाव कृष्णाश्रयी प्रतीक योजना पर अवश्य मानना चाहिए।

अपभ्रंश में मिलने वाले धार्मिक क्षेत्र की शृङ्गारिक परम्परा के अतिरिक्त शुद्ध साहित्य में भी प्रणय संबन्धी मुक्तक प्राप्त होते हैं। विक्रमोर्वशीय में संगृहीत उन्मादोक्तियों में प्रणय की प्रखर अभिव्यक्ति है। इस धारा का मूल उत्स भी लोकसाहित्य ही माना जा सकता है। इन उक्तियों में विरह दशा के मार्मिक चित्र हैं। इनकी अभिव्यक्ति लोकगीतों के अधिक निकट है। इनका छन्द भी अपभ्रंश का ही छन्द है। हेमचन्द्र के व्याकरण में संगृहीत दोहे भी लोकशैली के उदाहरण हैं। इनमें भी प्रणयोल्लास और प्रणयवेदना स्वच्छन्द शैली के माध्यम से साकार हो उठे हैं। इनमें गुजरात, राजस्थान और ब्रज में प्रचलित प्रणय संबन्धी परम्परागत दोहों की आरम्भिक झलक मिलती है। भोले प्रणय की इतनी मुक्त झाँकी अन्यत्र दुर्लभ है। हेमचन्द्र ने लोक-प्रचलित दोहों का ही संग्रह किया होगा।

अपभ्रंश की किंचित विकसित परम्परा में 'संदेश-रासक' जैसा गीति-काव्य आता है। यह मेघदूत के ढंग का दूत-काव्य है। इसमें परम्परागत और लोक-शैलियों का आभा मिलती है। इसमें परिनिष्ठित अपभ्रंश नहीं, विकास-शील अपभ्रंश भाषा का प्रयोग मिलता है। लेखक ने यद्यपि आरंभ में यह स्वीकार किया है कि वह ऐसी भाषा लिख रहा है, जो न पंडितों की है और न पामर जनों की। फिर भी रूढ़ प्राकृत-रूपों से यह भाषा बोझिल है। कवि का झुकाव पांडित्य-प्रदर्शन की ओर दिखलाई पड़ता है। फिर भी 'दोहों' की भाषाशैली लोकभाषा और शैली से भिन्न नहीं है। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा का विकास और लोकशैली का ग्रहण साथ-साथ चले।

अपभ्रंश शैली और काव्यरूपों का पुरानी हिन्दी के काव्यरूपों में संक्रमण हुआ। हिन्दी के आदिकाल की रचनाओं में अपभ्रंश-शैली का ही नवीन प्रस्फुटन मिलता है। 'रासो' साहित्य का विकास हुआ। इनमें से अधिकांश शौर्यपरक थे, कुछ प्रेमपरक भी। जिस जैन साहित्य की आचार्य शुक्ल ने धार्मिक निरूपण का माध्यम कहकर उपेक्षा की थी, उसमें लोक-प्रचलित गीतों और काव्यरूपों को लिया गया है। 'रास' और 'फाग' जैसे गीतों का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है। हिन्दी के आदिकाल में जयदेव की परम्परा का विकास भी मैथिल-कोकिल के गीतों में मिलता है। इन गीतों में भी उपपति कृष्ण और परकीया राधा के मांसल और शृङ्गार-विलसित चित्र और भावोन्मेष मिलते हैं। जयदेव की भांति इनमें भी मुख्यतः संयोग शृङ्गार की ही अभिव्यक्ति है। विप्रलंभ का यत्र-तत्र वर्णन तो है, पर

इसमें कवि वृत्ति रमी नहीं। संरचना में काव्य और संगीत का समन्वित सूत्र है। जयदेव ने लोकशैली के प्रभावों को संस्कृत में उतारने का सफल प्रयत्न किया था। विद्यापति ने जनता की भाषा और शैली दोनों को ही अपनाया। दोनों की मैत्री ने एक अद्‌भुत गीत-शैली को जन्म दिया। गीत गोविन्द की शैली से विद्यापति की पदावली का यही वैशिष्ट्य है। यही कार्य ब्रजक्षेत्र में सूरदास ने किया। एक ओर परिनिष्ठित शैली का भी यत्किंचित प्रभाव सूर की पदावली पर मिल जाता है, पर लोकभाषा, लोकशैली, संगीत और काव्य का समन्वय ही सूर-साहित्य का वैशिष्ट्य है। 'सूर' ने सूरसागर में लोकगीतों को भी कुछ संस्कार के साथ ज्यों की त्यों ग्रहण कर लिया है।

जैन कवियों ने इस काल में पुराणों और चरित्रों की रचना तो परिनिष्ठिता भाषा-शैली में की, पर लोकशैली, लोकगीतों और लोकभाषा का प्रभाव उन पर भी पड़ना स्वाभाविक था। चर्चरी, रास, तथा फाग जैसी काव्य-विधाएँ लोक-प्रभाव को लेकर ही चलीं। 'इसका कारण यह जान पड़ता है कि जैन-मन्दिरों या उपासकों में श्रावकों के गाने के लिए जिन काव्यों का निर्वचन किया जाता था, उनकी भाषा यथा संभव जनता की भाषा के समीप रखी जाती थी।[१]" कारण यह भी था लोकभाषा का प्रयोग धार्मिक क्षेत्र में दढ़ भी रहा था। इन काव्यों की भाषा पश्चिमी अवहट्ठ है। इनमें गुजराती, राजस्थानी और ब्रज के आरंभिक रूप खोजे जा सकते हैं। लोक-भाषा और लोकशैली की दिग्विजय-यात्रा इस प्रकार पूर्ण हुई।

१.५ ब्रजभाषा और प्रगीति-विधा—सिद्धों ने शुद्ध जनभाषा में गीतों की सृष्टि की थी। सिद्धों के दोहा-कोशों की भाषा पश्चिमी या शौरसेनी भाषा मानी गई है।[२] किन्तु चर्यापदों की भाषा को पुरानी बंगाली के समकक्ष माना गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धों के गीतों की भाषा स्थानीय जन भाषा ही थी, पर परिनिष्ठित काव्य-भाषा के रूप में शौरसेनी ही गृहीत थी।[३] पूर्वी क्षेत्रों में भी यही साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचलित थी। गीतों पर प्रादेशिक भाषा का ही प्रभाव अधिक था, अथवा वे स्थानीय जन भाषा में ही लिखे गये थे। गीत भी शौरसेनी से अछूते न रह सके। डा० सुकुमार से जैसे विद्वानों ने

---

१. हि० सा० वृ० इति०, प्रथम भाग, पृ० ३६८-३६९।

२. चटर्जी, ओरिजिन एण्ड डिवेलपमेंट आफ़ बेंगाली लैंग्वेज, खंड १, पृ. ११२

३. डा० तोमर, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का इतिहास और हिन्दी पर उसका प्रभाव, पृ० ६२।

साधनमाला और हेवज्र की ब्रजगीतियों की भाषा को शौरसेनी पर आधारित माना है। चर्यागीत इस दृष्टि से इनसे भिन्न हैं। 'ब्रज बुलि' साहित्य की भाषा यद्यपि बंगाली से बहुत प्रभावित है, पर पश्चिमी भाषा या पुरानी ब्रजभाषा के प्रभाव से यह पूर्णतः अछूती नहीं है। राहुलजी ने इसका आभास दिया है कि सिद्धों की भाषा पर हिन्दी के पुराने रूपों का प्रभाव है।[१] इनमें उन्होंने हिन्दी की पूर्वी बोलियों के पुराने रूप देखे हैं।[२] भाषा-वैज्ञानिकों ने शौरसेनी पर आधारित परिनिष्ठित भाषा से इसे प्रभावित कहा है।[३] दोहों की परम्परा पश्चिमी अपभ्रंश से ही सिद्धों ने ली थी।

विद्यापति में भी भाषा की गंगा-जमुनी मिलती है। उनकी 'कीर्तिलता' पश्चिमी अपभ्रंश पर आधारित साहित्य-रूढ़ भाषा में है। इसको उन्होंने स्वयं 'अवहट्ठ' कहा है।[४] इसकी शैली 'रासो' से मिलती है। पर, उनकी पदावली की स्थिति, सिद्धों के चर्यापदों कीं भाँति, कीर्तिलता से भिन्न है। पदों की भाषा परिनिष्ठत साहित्यिक भाषा नहीं : जन भाषा है। मिथिला के अंचल की मधुरतम वाणी इनमें गूँज रही है। विद्यापति के गीत आज भी मिथिला में लोकगीतों के समान गाये जाते हैं। जयदेव ने यहाँ शैली-गत क्रान्ति की थीं, वहाँ विद्यापति ने भाषागत क्रान्ति की। इस प्रकार पूर्वी भारत में उत्पन्न लोकभाषा और लोकगीतों की क्रान्ति की अन्तिम कड़ी विद्यापति में मिलती है।

पूर्वी भारत में चन्डीदास, जयदेव, और विद्यापति की गति-धारा और इसके साथ ही प्रवाहित सिद्ध, शाक्त और अन्य सहजिया कवियों की प्रगीति-परम्परा को देखकर, बहुत से विद्वानों ने यह अनुमान लगाया कि पद-गीत लिखने की परम्परा पूर्वी प्रदेशों से चलकर पश्चिमी क्षेत्रों में आई है। वास्तविक बात यह है कि गीत-विधा सभी क्षेत्रों में अन्तर्धारा के रूप में प्रवाहित रहती है। अभिजात रुचि और काव्यानुशासन गीत-विधा को महत्व न देकर महाकाव्यों या प्रबन्धों को प्रश्रय देते हैं। पश्चिमी क्षेत्र में परिनिष्ठित काव्यरूप

१. पुरातत्त्व निबन्धावली, पृ० १६७।
२. हिन्दी काव्यधारा, पृ० ११।
३. 'सिद्धों के गीतों की भाषा पूर्वी प्रभाव के बावजूद मूलतः शौरसेनी के परवर्ती रूप का आभास देती है'--डा० शिवप्रसाद सिंह, सूर पूर्व ब्रजभाषा, पृ० ३४३।
४. कीर्तिलता : प्रथम पल्लव।

भाषा का बोलबाला बहुत दिन तक रहा। वहाँ भी सरस-मुक्तकों की सृष्टि तो हुई, पर लोकगीतों और संगीत-सरणियों को साहित्य में वहाँ कम ही समन्वित किया गया। 'लीला' 'रास' जैसी लोक-विधाओं में भी कथासूत्र किसी-न-किसी प्रकार समा गया। भक्तिपरक गीतों का मूल विषय राधा-कृष्ण का केलि-विलास है। इस विषय का उदय यमुना के कगारों पर हुआ। पर, इस विषय की मधुरिमा का वहन कावेरी, गोदावरी और गंगा की लहरों ने भी किया। 'जैनेन्द्र' कवि के दशावतार-वर्णन में एक जगह लिखा है कि 'जब गोविन्द यानी कृष्ण मथुरापुरी को चले गए तो वियोगक्षिप्त-हृदया गोपियाँ गोदावरी के किनारे पर श्रीकृष्ण का गुणगान करने लगीं।'[1] इन गीतों में भी जयदेव की गीतों की भंगिमाएँ हैं। चैतन्य को दक्षिण में प्रगीति-वाङ्मय का ऋतुराज-कृष्णकर्णामृत—मिला था ;

ब्रह्मसंहिता कर्णामृत दुइ पुँथि पाइया।
महाभारत्न प्राय पाइ आइला संगे लइया।

[चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, परिच्छेद ९]

चैतन्य सम्प्रदाय में गोदावरी के तट पर बिखरे गीत-माधुर्य का वही स्थान है, जो जयदेव के गीति-गोविन्द का। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि भक्ति परक गीतों का प्रथम निर्माण पूर्वी प्रदेशों में ही हुआ।

जहाँ राधा-कृष्ण की प्रेम कहानी उल्लसित हुई, वहाँ के लोकसाहित्य में 'कन्हैया ग्वालों', होली गीतों और सावन के कृष्ण परक गीतों की एक दीर्घ परम्परा मिलती है। पर, उन गीतों में वात्सल्य और सख्य के उपकरण अधिक घनीभूत हैं, माधुर्य के इतने नहीं। संभवतः माधुर्य-विगलित भक्ति-प्रगीत गोदावरी के तट पर या बंगाल में ही इस रूप में पहले-पहल गूँजे। एक और विशेष बात हमारा ध्यान आकर्षित करती है : व्रज में राधा-कृष्ण

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ. १०८-९। गीत इस प्रकार है—

ललित विलास कला सुखलेखन
ललना लोभन शोभन यौवन
मानित नव मदने।
अवनी कोकिल कुवलय कज्जल
काल कलिन्द सुता विगलज्जल
कालिय कुल दमने।

परक लोकगीतों की परम्परा तो लोकमानस को डुबोता रही, पर इन गीतों की रहस्यात्मक प्रतीकों और दार्शनिक रूपकों के रूप मान्यता और प्रतिष्ठा नहीं हुई। यह कार्य संभवतः सर्वप्रथम गीतगोविन्द और कृष्णकर्णामृत जैसी रचनाओं ने किया। राधा-कृष्ण की प्रतीकात्मक मान्यताएँ तो पहले से ही प्रचलित थीं, पर उनको गीत के रूप में ढालने का श्रेय इन्हीं कृतियों को दिया जा सकता है। संस्कृत के प्रगीति-साहित्य के विकास की यह चौथी श्रेणी थी। संस्कृत गीतों की प्रथम स्थिति वैदिक गीतों की है, जिनमें धार्मिक और वीरगाथात्मक भावनाओं का विकास है। इन पर प्राकृतिक सौन्दर्य और उसके प्रति कुछ वैयक्तिक भावनाएँ भी छाई हैं। दूसरे युग के गीतों में आध्यात्मिक तत्त्वों की प्रधानता हुई। तीसरे युग में प्रेम गीतों का प्राधान्य हो गया। चौथी श्रेणी के गीतों में रहस्य और प्रखर वासना का मिश्रण मिलता है।[१] चौथी श्रेणी के गीत रूढ़ियों, मर्यादाओं और आभिजात्य के प्रति होने वाली क्रान्ति के वाहक बने। इस क्रान्ति ने वासना को प्रकृत और प्रखर रूप दिया। प्रखर वासना ने रहस्यभावना को यथार्थ भूमि और तीव्रता प्रदान की। यह कार्य पश्चिम में इतना नहीं जितना पूर्व और दक्षिण में हुआ पीछे समग्र भारत की भक्ति चेतना की मैत्री इस धारा से हुई। इस मैत्री के परिणामस्वरूप देशी भाषाओं और लोकगीतों का भी उन्नयन हुआ। एक प्रकार से प्रगीति-धारा अपने स्वतंत्र स्वच्छन्द रूप में, इन्हीं भाषाओं के क्षेत्र में, १२ वीं शती के पश्चात् ही अवतरित हुई।

ब्रजभाषा ने इस गीतिरूप को सोलहवीं और सत्रहवीं शती में उसी प्रकार पुष्ट किया, जिस प्रकार पूर्वी क्षेत्रों की भाषाओं ने पूर्व में किया। 'सूर' परमानन्ददास, मीरा जैसे गीतकार हुए। गीतों के माध्यम के रूप में ब्रज-भाषा की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गई। इस रूप में इसने भक्त कवियों और संगीतकारों को समान रूप से आकर्षित किया : परिस्थितियों की अनुकूलता का विश्लेषण डा० शिवप्रसाद सिंह ने इस प्रकार किया है : "मुसलमानी आक्रमण से क्षुब्ध जन-मानस, भक्ति का नवोन्मेष, रूढ़ि विरोधी विचारों की क्रान्तिकारी मान्यताएँ तथा सामन्तवादी संस्कृति के विघटन से उत्पन्न नई वैयक्तिक चेतना इन

१. यह काल विभाजन इस प्रकार है : प्रथम युग—ई० पू० ८००-४००) दूसरा युग ई०पू० ४००—प्रथम शती ई०, तृतीय युग १०० ई०—४०० ई०। अन्तिम युग भी इसके बाद है। (इ. डब्लू., हार्पकिन्स, व अर्ली लिरिकल पोयट्री आफ इंडिया) इन द इंडिया न्यू एण्ड ओल्ड।]

गीतों के निर्माण में पूर्णतः सहायक हुई।"[1] इस प्रगल्भ प्रगीति-रूप को देखकर शुक्ल जी ने एक लिखित या मौखिक समृद्ध गीति-परम्परा की ओर संकेत किया : "इन पदों के संबन्ध में सबसे पहली ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं, यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि आगे होने वाले कवियों की उक्तियाँ 'सूर' की जूठी सी जान पड़ती हैं। अतःसूरसागर किसी चली आती हुई गीत परम्परा का चाहे वह मौखिक ही रही हो-पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।" सूर-पूर्व परम्परा की शोध हुई और निष्कर्ष निकला :"...सूर पूर्व ब्रजभाषा में गीतिकाव्य की बहुत ही पुष्ट और विकसित परम्परा दिखलाई पड़ती है।"[2]

अपभ्रंश के परवर्ती रूपों में गेय पद लिखे जाते थे। 'प्राकृत पैंगलम्' के कुछ छन्दों में गीति-काव्योचित रस-प्रवणता मिलती है। कहीं-कहीं गेयता भी मिल जाती है। गीतगोविन्द में भी इसकी शैली के छन्द मिल जाते है। कम से कम सरसमुक्तकों का विकसित रूप तो अवश्य ही प्राकृत पैंगलम् में मिलता है। इसमें भक्तिमय स्तुतियाँ भी हैं। विष्णु, शिव तथा दशावतार की स्तुतियाँ की गई हैं। इनसे इतर मुक्तकों में राजप्रशस्ति, श्रृंगार तथा नीति के मुक्तक हैं। श्रृंगार-मुक्तकों, ऋतुवर्णन और नायिका-सौन्दर्य मुख्य-रूप से हैं।

पश्चिमी क्षेत्र में 'ढोला मारूरा दोहा' जैसी प्रेमगाथा लिखी गई। इसकी संरचना तो गाथात्म है, पर अपने आन्तरिक रूप में यह सरस मुक्तकों के अधिक समीप है। यह संपूर्ण जैरे परित्यक्ता मारवशी का एक विरहगीत है। इससे संबन्धित दोहे राजस्थान और ब्रज में आज भी लोक-प्रचलित हैं। लोकगीतों की संरचना में इन सरस दोहों का समावेश भी मिलता है। 'सूर' के कुछ भावात्मक पदों में भी दोहा छन्द का प्रयोग मिलता है। परवर्ती गीतों के विकास में अन्य सरस मुक्तकों के साथ इस प्रकार के लोक प्रचलित दोहों का भी पर्याप्त योगदान रहा। हेमचन्द्र ने भी ऐसे दोहों का संकलन किया।

अमीर खुसरो की रचनाओं में दुहरी भाषा मिलती है। पहेलियों तुकबंदियों या विनोद पूर्ण सूक्तियों में खड़ी बोली का प्राचीन रूप प्रयुक्त हुआ

१. सूर पूर्व ब्रजभाषा, पृ. ३४२।

२. वही।

है। पर उसकी कुछ भावात्मक रचनाएँ गीतिशैली में भी है। उन गीतों की भाषा ब्रजी है। नीचे की पंक्तियों में ब्रजी का सौन्दर्य ही निखरा है—

मोरा जोवना नवेलरा भयो है गुलाल।
कैसे गर दीनी बकस मोरी माल॥

राजस्थान और ब्रज में प्रचलित कुछ भावात्मक दोहों को भी खुसरो ने ब्रजी में लिखा हैं।

निर्गुण मार्ग के सन्तकवियों के 'सबद' ब्रजभाषा की ही संपत्ति हैं। इन सबदों की परम्परा बहुत पुरानी है। बौद्ध और नाथ सिद्धों ने ध्रुवक देकर विभिन्न रागों में पद लिखे थे। कबीर के पद उसी परम्परा के है।'[1] शुक्ल जी ने निर्गुणियों के पदों की भाषा ब्रजी मानी है: 'सन्त कवियों के सगुण भक्ति के पदों की भाषा तो ब्रज या परम्परागत काव्यभाषा है, पर निर्गुण बानी की भाषा नाथपंथियों द्वारा गृहीत खड़ी बोली या सधुक्कड़ी भाषा है।'[2] संतों में ब्रजभाषा के पदों की परम्परा दीर्घ है: "...नामदेव से लेकर नानक तक के सन्तों की जो वाणियाँ गुरुग्रन्थ में संकलित हैं,... इनमें ५० प्रतिशत से भी अधिक रचनाएँ ब्रजभाषा की है।"[3] कबीर की साखियाँ खड़ी में हैं: रमैनी में पूरबी का पुट है: 'सबद' ब्रजभाषा में है। स्वयं गोरखनाथ जी के भी ब्रजभाषा के पद उपलब्ध हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि पद रचना के लिए ब्रजभाषा रूढ़ हो गई थी। नाथ और विशेष रूप से 'संत' के व्यक्तित्व में रहस्यवादी माधुर्य-शृंगार के तत्त्व अविरल हैं। वे इष्ट के प्रति एक रहस्यात्मक माधुर्यभावना रखते थे। शृंगार काव्य के अप्रस्तुत विधान का ही अंग नही था: वस्तुतः उनकी भावना ही इस प्रकार की थी। यही संवन्ध-भावना 'संत' को भक्त कोटि में ले आती है। उनमें एक तीव्र प्रेमानुभूति थी। उनका प्रेम आत्मोत्सर्ग पर आधारित था। आत्म-समर्पण निर्गुणियों के प्रेम का केन्द्र-विन्दु है। इसी भाव को लिए हुए वे कभी 'दुलहिन' हैं, कभी 'बहुरिया'। इस प्रेम संवन्ध की मधुरिमा से आविष्ट गीत वास्तव में गीतिकाव्य के शृंगार हैं। इसमें आत्मीयता, अनुभूति की गहराई, भाव-संवेग, आत्मनिलय आदि के सभी तत्त्व हैं, जो गीतिकाव्य के अनिवार्य अंग हैं। इनमें आध्यात्मिक संकेतों और मधुर संवन्ध भावना साथ-

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृ० १२७।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७०।
३. डा० शिवप्रसाद सिंह; सूर पूर्व ब्रजभाषा, पृ० १३०।

साथ संग्रथित हैं। इस प्रकार ब्रजभाषा के पदों की एक अविच्छिन्न परम्परा 'सूर' तक मिलती है।

संगीतकारों ने भी ब्रजभाषा पदों की रचना की। मुसलमान शासक और सूफी फकीर दोनों ही संगीत के प्रेमी और पोषक थे। अलाउद्दीन के समय में फारसी और भारतीय संगीत का समन्वय हुआ था। अलाउद्दीन के दरबार में दक्षिण के एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ गोपाल नायक ने संगीत का अभूतपूर्व प्रदर्शन किया था। रागकल्पद्रुम में संगृहीत गोपालनायक के गीत ब्रज भाषा में हैं। इसी प्रकार बैजू बावरा ने भी संगीत पदों की रचना की थी। इनके पद भी 'राग कल्पद्रुम' में मिलते हैं। इनकी भाषा भी ब्रजभाषा है। इन्हीं शास्त्रीय गायकों की परम्परा में तानसेन आते हैं। इस परम्परा में ब्रज भाषा के पद ही निरपवाद रूप से गृहीत रहे।

ब्रजक्षेत्र से बाहर भी ब्रजभाषा काव्य और संगीत की लोकप्रियता रही। गुजरात से आसाम तक ब्रजभाषा के कवि और संगीतकार मिलते हैं। आसाम के शंकरदेव ने ब्रजभाषा में बरगीतों की रचना की। शंकरदेव ने वृन्दाबन की यात्रा की। इनके ब्रजभाषा में रचित बरगीतों का समय १४८१-९३ के बीच माना जाता है।[1] शंकरदेव के शिष्य माधवदेव ने भी ब्रजभाषा के पद लिखे। इनके बरगीतों की भाषा स्पष्ट रूप से ब्रजी है। प्रभाव इन पर पूर्वी भाषाओं का भी है। महाराष्ट्र में भी ब्रजभाषा के गीत लिखे गए।[2] यहाँ के अनेक संतों की रचना में स्पष्ट ब्रजी का प्रयोग है। नामदेव, भानुदास आदि महाराष्ट्री भक्तों ने अनेक गीत ब्रजी में लिखे। इसी प्रकार गुजरात में भी ब्रजभाषा के गायक हुए।[3] इस प्रकार ब्रजभाषा की गीति परम्परा सूर से पूर्व ही भारतव्यापी हो चुकी थी। जिस प्रकार दक्षिण का कर्नाटक संगीत मुख्यत: मधुमई तेलुगु के माध्यम को स्वीकार करके चला और त्यागराज एवं

१. जर्नल आव दि यूनीवर्सिटी आव गुवाहटी, भाग १, संख्या १, (१९५०) में योग का लेख। इन गीतों का संपादन बद्री हरिनारायणदत्त बरुआ ने 'बरगीत' नाम से किया है।

२. श्री भास्कर रामचंद्र भालेराव, हिन्दी साहित्य के इतिहास के अप्रकाशित परिच्छेद, ना. प्र. पत्रिका, वर्ष ५७।

३. विस्तार के लिये द्रष्टव्य सूर पूर्व ब्रजभाषा, पृ० २३०-२३७। पारवर्ती गायकों के लिए द्रष्टव्य, श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी, 'गुजरात के ब्रजभाषी शुक पिक'. पोद्दार अभिनंदन ग्रन्थ, पृ. ४१३-४०।

रामदास के तेलुगुपद वहाँ समादृत हैं, उसी प्रकार उत्तर भारत में ब्रजभाषा गीतिकाव्य का माध्यम बन गई। शास्त्रीय परम्परा और भक्तों की परम्परा में इस कथन का साक्ष है। जिस प्रकार संस्कृत में अनुष्टुप् छन्द, प्राकृत में गाथा या गाहा, अपभ्रंश में दोहा या दूहा की प्रतिष्ठा थी, उसी प्रकार ब्रज भाषा में पद-साहित्य की। एक प्रकार से पद इसका अपना निजी काव्यरूप बन गया। 'सूर' तथा अन्य अष्टछापी कवियों में यह गीतरूप अपने चरम पर मिलता है। यही सूर-पूर्व ब्रजभाषा गीत-साहित्य का संक्षिप्त सर्वेक्षण है।

२, सूर का गीति-साहित्य—

२.१ भावभूमि—कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों के द्वारा गीति-काव्य का स्वर्ण युग प्रतिष्ठित हुआ। राधा और कृष्ण के प्रेम की फुहारों से ब्रजभाषा साहित्य सिहर उठा। कृष्ण की शृंगार-लीलाओं का अध्यात्म अब कहने या सकेतित होने की वस्तु नहीं रह गई थी। निर्गुण भक्तिकवि ब्रह्म के साथ जिस शृंगार-संबन्ध की भावना करते थे, उसके जल के ऊपर तेल की भाँति अध्यात्म तैरता रहता था : कृष्ण-शाखा में अध्यात्म और शृंगार-भावना पृथक नही रह गया। इस प्रकार गीति-साहित्य का भावात्मक द्वैत या प्रस्तुत-अप्रस्तुत का भेद समाप्त हो गया।

'सूर' की गीति-साहित्य की रचना लीला-संकीर्तन की आवश्यकता को लेकर चली। कृष्ण की विविध लीलाओं का भावात्मक उत्कर्ष इनके पदों में मिलता है। इसीलिए इतिवृत्त का न्यूनाधिक संस्पर्श लगा रहता है। चाहे इतिवृत्त-खंड भावों की उष्णता से गलता-गलता अत्यन्त सूक्ष्म रह गया हो, पर, वह पूर्णत : छूट नहीं पाता है। कवि मीरा की भाँति इष्ट से सीधा संबन्ध स्थापित नहीं करता। वह अपने को राधा-गोपी पक्ष में भावित करता है। इसीलिए उत्तम-पुरुष की शैली में उसके गीत नहीं बनते। पद की अन्तिम पंक्ति में वह अपनी अनुभूति की झलक देकर लीन हो जाता है। इनको प्रसंगपेक्षी गीतों का नाम दिया जा सकता है। इनका आलंबन-विभाग एक त्रिकोण में नियोजित रहता है। कवि, राधा-गोपी, और कृष्ण। कवि अपने साधना के क्षणों में गोपी से अभिन्न रहता है। उसका गोपीरूप गीत में प्रकट न होकर प्रच्छन्न ही वना रहता है। साधना में वह किसी सखी या गोपी का नाम ही धारण नहीं करता था, उसी भावना में अपने लैंगिक या लौकिक व्यक्तित्व को डुबो देता था। परन्तु गीतों में वह इस रूप में प्रकट नही होता। वैसे गोपी-भाव सूर की साधना के घनीभूत क्षणों का यथार्थ बन गया था। इसी के

कारण सूर के गीत इतने आत्मचुम्बी हो सके। गीतों का भाव-पक्ष ही उनकी साधना से उद्भूत नहीं था, गीतों के स्वर-लय भी उनकी साधना के अंग थे। भावपक्ष में कहीं-कहीं अलौकिकता का संस्पर्श अवश्य है, पर उन आध्यात्मिक संकेतों का इनमें अभाव है, जिनकी खोज में पाठक भावो की तरलता को छोड़ कर मूल तथ्य को पकड़ने की चेष्टा करता है। अलौकिकता का प्रदर्शन मात्र होता है, पर 'सूर' बड़े कौशल के साथ भाव-कोटि को उसके प्रभाव से बचा लेता है। कहीं-कहीं अलौकिकता भावों की सेवा ही करने लगती है। कृष्ण की बाल-लीला के समय होने वाली अलौकिक घटनाएँ वात्सल्य के लिए उद्दीपन की सामग्री बन जाती है। समस्त वातावरण इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि अलौकिकता सामान्य भाव-लीलाओं की भूमिका में रहती है। समस्त भाव-व्यापार इस भूमिका से एक होकर चलता है। अलौकिकता कहीं-कहीं मूल-भाव के साथ अद्भुत रस का आभास देती है। इस आभास में मूल-भाव और भी उत्कट हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि गीतों की भावभूमिका को सूर ने प्रत्येक दृष्टि से अविकल रखा है।

जिस प्रकार गोपीभाव गीतकार सूर के व्यक्तित्व का संचालन करता रहा, उसी प्रकार वात्सल्य और सख्य भी व्यक्तित्व के अंग बन गये। जहाँ अन्य कवि एक भाव के लिए पूर्ण समर्पित हो जाने के कारण, अन्य भावों के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर पाये, वहाँ सूर इस भावत्रयी के साथ पूर्ण न्याय कर सके। इसका कारण यही है कि इन तीनों भावों की एक ही इकाई सूर ने मानीं। उनके व्यक्तित्व के भावपक्ष के ये तीनों ही आयाम एक बराबर उत्कट रहे। इन भावों में कहीं संघर्ष नहीं मिलता। भाववैविध्य के कारण वल्लभ संप्रदाय में एक भाव-संघर्ष परिलक्षित होता है। मन्दिरों में इष्ट का स्वरूप बालभाव से निरूपित था। सख्य भी मन्दिर-चर्या में स्थान रखता था। मन्दिर एक प्रकार से वैयक्तिक साधना के स्थल नहीं, सामाजिक संस्था के रूप में मान्य थे। अतः इनके साथ ऐसी निरापद भावनाएँ वल्लभाचार्य जी ने संलग्न करदीं, जिनमें माधुर्य के विछलन या लौकिक विकृतियों की सम्भाना नहीं थी। वैयक्तिक साधना का क्षेत्र माधुर्य की सौ-सौ धाराओं से अभिमिचित रहा। 'सूर' यदि रात्रि के निभृत क्षणों में माधुर्य में लीन रहते थे तो दिन में सखा-कृष्णसखा-रहते थे। इस प्रकार साधना के सभी रूपों के लिए उनका समग्र व्यक्तित्व समान रूप से समर्पित हो जाता था। सभी भावों के गीतों में यथार्थ आत्मानुभूति की सद्यता और सजलता है। गो० बिट्ठलनाथ जी ने माधुर्य की

भावना को और गहरा दिया, पर मन्दिर की भावभूमि में अन्तर नहीं रहा। यद्यपि अन्त में 'सूर' के व्यक्तित्व को माधुर्य-साधना ने पूर्णतः आच्छादित कर लिया था, फिर भी उनका यशोदा तथा सखाओं के साथ साधारणीकरण बना रहा। 'सूर का व्यक्तित्व कभी भाव-द्वन्द्व से क्लांत नहीं हुआ, क्योंकि आलम्बन-पक्ष में एकात्मकता थी : उसमें व्यवधान नहीं पड़ता था। उसी एक केन्द्र पर सभी अनुभूतियाँ केन्द्रित हो जाती थीं। 'दास्य' का वैयक्तिक साधना में कोई स्थान नहीं था। मन्दिर, हरिकथा, तथा सामान्य प्रबोधन के रूप में उस भाव की स्वीकृति रही।

२.२. गीतों के प्रकार—२.२१. स्तोत्र—स्तोत्र की परम्परा पुरानी है। जब निराकार को साकार किया तो 'नाम' और 'रूप' संबन्धी कल्पना दी। औपनिषदिक पद्धति ने लौकिकता के विपरीत, अलौकिकता या लोकोत्तरता को सिद्ध करने के लिए निषेधात्मक विशेषणों की योजना की : अनादि, अनन्त, अकल, अनीह आदि इसी प्रकार के विशेषण है। कभी निषेध और विधिपरक विशेषणों की योजना से उसका निरूपण हुआ—'बिनु पद चलै सुनै बिनु काना' इसी योजना की शैली है। पर, ये समस्त योजनाएँ अध्यात्म और दर्शन को साहित्य की पद्धति में ढालने में समर्थ नहीं थी। 'साहित्य तो पूर्णतः भाव-जीवी होता है। जब साधना ने भाव को अपना उपजीव्य बनाया तब साहित्य भी इसका संगी-सहयोगी बना। भावना के व्यापार के अनुसार औपनिषदिक 'नामों' को परिवर्तित किया गया : मानव के उच्चतम मूल्यों और उदात्त गुणों के आधार पर भगवान का फिर से नामकरण हुआ। इस नामकरण की पद्धतिका ज्ञान 'सहस्रनामों' की विधा से मिल जाता है। वल्लभ-संप्रदाय में भी 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' का प्रचलन था। 'गुणों' के अतिरिक्त इन विकसित नामों में 'उद्धार' संबन्धी लीला व्यापारों का आधार भी ग्रहण किया गया। इस प्रकार की नामावली से संबद्ध स्तोत्र भी बने। इस प्रकार के नाम-परक स्तोत्र 'सूर' ने भी प्रसंगानुकूल लिखे हैं। औपनिषदिक नामों वाले स्तोत्र कम है :—

आदि सनातन हरि अविनासी। सदा निरंतर घट-घट वासी।
पूरन ब्रह्म पुरान बखानैं। चतुरानन, सिव अंत न पावैं।[1]

सूर की वृत्ति उन नाम-स्तोत्रों में रमी है, जिनमें लीला या उद्धार के तत्त्व प्रधान हैं। कहीं दुष्टों के वध संबन्धी लोक-मंगल करने वाले नामों की सूची है[2]

१. सू. सा. १०।३। २. सू. सा १०।६८१।

खर - दूषन - त्रिसरासुर खंडन । चरन-चिन्ह दंडक-भुव-मंडन ।
बकी-दवन बक-बदन बिदारन । बरुन बिसाद नंद निस्तारन ।
रिषि-मष-त्रान ताड़का-तारक । बनबसि तात-बचन प्रतिपालक ।
काली-दवन केसि-कर-पातन । अघ-अरिष्ट - धेनुक - अनुघातन ।

यह 'स्तोत्र' देवों द्वारा कथित है । अतः अधिक अभिप्राय देव-विरोधी शक्तियों के विनाश से संबन्धित हैं । अवतार संबन्धी अभिप्राय भी देवोद्धार से ही संबद्ध होकर इसमें आये हैं । कुछ स्तोत्रों में अभिप्रायों से पृथक भक्तों के उद्धार के आधार पर बने हुए विशेषण-नामों का सामासिक शैली में परिगणन है—

मातु पितु-दुरित-उद्धरन, ब्रज-उद्धरन, धरनि-उद्धरन, सिर-मुकुटधारी ।
पतित-उद्धरन, निज भगत-उद्धरन, जन-दीन-उद्धरन, कुंडलिन-धारी ।

× × × × × ×

ग्राह-उद्धरन, गजराज-उद्धरन, ये सिला उद्धरन पट-पोत-धारी ।
पंडुकुल-उद्धरन द्रौपदी-उद्धरन, रुक्मिनी-उद्धरन जै-बिजै-उद्धरन,धनुषधारी ।[1]

कहीं-कहीं स्तोत्र रूप-परक भी हैं । इन्द्र, भगवान कृष्ण की शरण में आने के पश्चात् रूपपरक स्तुति करता है । रूप ब्रजकृष्ण का है—

जयति नँदलाल जय जयति गोपाल, जय जयति ब्रजलाल आनंदकारी ।
कृष्न कमनीय मुखकमल राजित-सुरभि, मुरलिका मधुर-धुनि बनबिहारी ।
स्याम घन दिव्य तन पीतपट दामिनी, इंद्रधनु मोर कौ मुकुट सोहै ।
सुभग उर माल मनि कंठ चंदन अंग, हास्य ईषद् जु त्रैलोक्य मोहै ।[2]

रूपपरक स्तोत्र 'नामपरक' स्तोत्रों से आगे की स्थिति है । सूरसागर में रूप-परक स्तोत्र अधिक मिलते हैं । रूपपरक स्तोत्र राम और कृष्ण की रूप-कल्पना के अंग हैं । अन्य अवतारों के साथ सत्य और शिव संबन्धी मूल्यों की मान्यता तो है, पर रूप-सौन्दर्य इन्हीं दो अवतारों के साथ मूल्यों के रूप में स्वीकृत है ।[3] इनसे भी विशद कल्पना लीला-स्तोत्रों में मिलती है । इनमें एक ओर

१. सू. सा. १०।३०८१ २. सू. सा, १०।६८०
३. सू. सा. १०।५७२ में कालीनाग का स्तोत्र है, उसमें कृष्ण के शृंगार से शृंगार संबन्धित नाम ही हैं—

गिरिधर, ब्रजधर, मुरलीधर, धरनीधर, माधौ, पीतांबरधर ।
संखचक्रधर, गदापद्मधर, सीसमुकुटधर, अधर सुधाधर ।
कंबु-कंठ-धर, कौस्तुभमनिधर, बनमालाधर, मुक्त-मालधर ।
सूरदास प्रभु गोपवेशधर, काली-फन पर चरन-कमल धर ।

भगवान की आधिदैविक स्थिति का संकेत रहता है और दूसरी ओर अवतरित, मानवीय लीलाओं का। यह स्तोत्र-रूप 'सूर' को अधिक प्रिय है। कृष्ण-जन्म के पूर्व 'सूर' ने इसी पद्धति से स्तोत्र गाया है।[1] इसी पद्धति से कुछ स्तोत्रों में भगवान के चरण-कमलों का यश गाया गया है। चरण का एक ओर तो माहात्म्य-परक रूप है, दूसरी ओर लीलापरक।[2] एक और स्तोत्र में केवल नखचन्द्र की महिमा का गायन इसी शैली में किया गया है।[3] ब्रह्मा ने जो स्तुति की है, उसमें कृष्ण के आधिदैविक संकेत के साथ लीला-संकेत तो है ही ब्रज, गोप, वृन्दाबन आदि की महिमा भी आ गई है :—

जोति रूप जगन्नाथ जगत-गुरु, जगत-पिता जगदीस।
जोग्य-जग्य-जप-तप-व्रत दुर्लभ, सो हरि गोकुल ईस।
इक-इक रोम बिराट किए तन, कोटि-कोटि ब्रह्मंड।
सो लीन्हौ अवछंग जसोदा, अपनैं भरि भुजदंड॥

× × × ×

बदत वेद उपनिषद्, छहौं रस अपैं भुक्ता नाहिं।
गोपी ग्वालिन के मंडल मैं, हँसि-हँसि जूठनि खाहिं।
कमलानायक त्रिभुवन-नायक, दुख-सुख जिनकैं हाथ।
काँध कमरिया, हाथ लकुटिया, बिहरत बछरनि साथ।[4]

इस प्रकार स्तुति करके ब्रह्मा भावों से भर जाता है और उसकी स्तुति का स्वर भी अत्यन्त भावुक हो उठता है : माधौ मोहि करौ वृन्दावन रेनु[5],' 'धनि यह वृन्दाबन की रेनु[6]' तथा 'ऐसें बसिए ब्रज की बीथिन।' इस प्रकार स्तोत्र अपने आप में अत्यन्त विशद हो जाता है। इन स्तोत्रों का लक्ष्य कृष्ण के आधिदैविक रूप अपेक्षा लीलारूप की महत्ता का प्रतिपादन है। वृन्दावन आदि भी कृष्ण का संसर्ग प्राप्त करके ही महान् बने हैं 'सूर' ने अपने निजी प्रयोगों से 'स्तोत्र' की गीत-विधा को नितांत यांत्रिक होने से वचा लिया है। औपनिषदिक नामों से गुणपरक और लीलापरक नामों की ओर, नाम से रूप

१. सू. सा. १०।२।
२. वही १०।५६८,५७१।
३. वही १०।२४२४।
४. वही १०।४८७।
५. वही १०।४८९।
६. वही १०।४९०।

की ओर, रूप से मंगल और रंजन से संबन्धित लीलाओं की ओर, लीला से शुद्ध भाव की ओर प्रगति सूर के स्तोत्र-गीतों में स्पष्ट परिलक्षित होती है। भावात्मक स्तोत्र स्वयं सूर ने भी कहीं-कहीं अपनी ओर से गूँथ दिए हैं, कहीं लीला-प्रसंगों के बीच देवों, ऋषियों या अन्यों के द्वारा स्तोत्रों का प्रयोग करा दिया है। इस प्रकार स्तोत्र 'सूरसागर' की समग्र संरचना के अंग बने हुए हैं: इनका अस्तित्व समस्त भव-पारावार से संबद्ध है: इनका उद्देश्य माहात्म्य-कथन इतना नहीं है, जितना कि भावोत्कर्ष।

२.२२ विनय के गीत—आरंभ में 'सूर' में में दास्यभाव का निवास भी था। उन्होंने अपनी हीनता, भगवान की महिमा, मन-प्रबोध आदि के संबन्ध में गीतों की रचना की। स्तोत्र-गीतों को तो भागवत कथाओं और लीलाओं में अनुस्यूत किया गया है। विनय के पद भी 'सूरसागर' में कहीं-कहीं बीच में खपाये गये हैं। इसके आरम्भ में भी विनय के गीत संगृहीत हैं। इनका विवरण इस प्रकार है—

भक्तवत्सलता	:	४८ पद
अविद्या वर्णन	:	५ पद
ऐन्द्रिय तृष्णा : विवशता	:	३३ पद
विनय	:	१२८ पद
मन-प्रबोध	:	४६ पद
रहस्य-संकेत	:	४ पद

इनके अतिरिक्त नाम माहात्म्य, भक्ति महिमा, हरिविमुख निन्दा, सत्संग महिमा, भक्ति-साधन, वैराग्य, आत्मज्ञान आदि पर भी कुछ स्फुट पद प्राप्त हैं। इस सूची से यह तथ्य प्रकट होता है कि विनय और दास्य पदों की संरचना तुलसी जैसे विनय और दास्य की पद्धति को स्वीकार करने वाले भक्तों जैसी ही है। सामान्य रूप से भक्तों की उद्धार-कथाओं, नीति-उक्तियों दृष्टान्तों और रूपकों के द्वारा सूर की अपनी कुछ विशेषताएँ भी प्रकट हैं। ये विशेषताएँ सूर को अन्य दास्यासक्ति के उपासकों से पृथक करती हैं।

इनमें से पहली विशेषता सूर की धृष्टता को प्रकट करने वाली उक्तियों की है। सूर के व्यक्तित्व में अंबरस की उत्कट कटुता भरी थी। उनमें दैन्य, विश्वास जैसे भावों के साथ कहीं-कहीं धृष्टता से भरे कथन भी मिलते हैं। कभी सूर कहता है कि मुझमें-तुममें होड़ पड़ गई है। अपने को सब 'पतितन को टीकौ' कहता है। यहाँ तक कह बैठता है—

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै तुमहीं कैं हमहीं माधौ, अपने भरोसे लरिहौं॥
हौं तौ पतित सात पीढ़िन कौ, पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अव हौं उघरि नच्यौ चाहत हौं, तुम्हें विरद बिन करिहौं॥[१]

सूर ने 'पतित पावन' विरुद को ही ललकार दिया। एक जगह ढीठ सूर ने पूछ लिया : 'काहे कौं हरि विरद बुलावत, विन मसकत को तार्‌यौ।"[२] मेरे साथ तो आपने निष्ठुरता की हद ही करदी है—'नैनन हूँ की हानि।'[३] वास्तव में इसी पंक्ति में सूर की दैन्य और विश्वास मिश्रित धृष्ठता का रहस्य अन्तर्निहित है। दैन्य की अभिव्यक्ति की महाव्याजोक्तिमय शैली सूर की अपनी है। दैन्य जैसे विनोद और व्यंग्य में प्रकट होकर प्रभावों की अतिरिक्त अन्वितियों की खोज कर रहा है।

'सूर' की दूसरी विशेषता कुछ ऐसे प्रसंगों को ले आने में है, जिनमें दैन्य की भावना सजीव रूप में सामने आती है। परीक्षित का प्रसंग भी ऐसा है, जिसमें मन प्रवोध के गीत एक संदर्भ से जुड़ गये हैं। एक प्रसंग 'भीष्म' प्रतिज्ञा का है। भीष्म में कृष्ण के प्रति दास्यभाव ही था। उन्होंने प्रतिज्ञा की—

आजु जौ हरिहि न सस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननी कौं, सांतनु सुत न कहाऊँ॥
× × ×
इतौ न करौं सपथ तौ हरि की, छत्रिय-गतिहि न पाऊँ।
'सूरदास' रनभूमि धिजय विनु, जियत न पीठि दिखाऊँ॥[४]

दास्य और दैन्य भावना के साथ कौन कवि इतने प्रखर ओज को संवद्ध कर सकता था? लगता है कि यहां दैन्य का लेशमात्र भी नहीं है : भगवान को दर्पोक्तियों में ललकारा जा रहा है। पर यथार्थ में यहाँ न दर्प है, न ललकार। एक भक्त का भगवान की भक्त वत्सलता में अटल विश्वास ही यहाँ ओज वन गया है। इस प्रतिज्ञा की रक्षा भगवान करते हैं : भक्त के प्रण का पालन भी उनकी प्रतिज्ञा है। जब कृष्ण को शस्त्र ग्रहण करते भीष्म देखते है, तो उनका

१. सू. सा. १।१३४।
२. वही १।१३२।
१. वही १।१३५।
४. वही १।२७०।

ही जय-जयकार करने लगते हैं। भक्त का विश्वास के आधार पर उद्धत अहं स्वयं बोल उठता है—

जय जय जय चिन्तामनि स्वामी, सातनु-सुत यों भाखै।
तुम बिनु ऐसौ कौन दूसरौ, जो मेरौ प्रन राखै॥[1]

इस प्रकार का ओजपूर्ण संदर्भ देकर सूर ने दैन्य और दास्य भावना का पूर्ण उत्कर्ष करदिया है। नवम स्कंध तक सूर के विनय की धारा प्रवाहित हुई है। फिर अन्य भावों की तीव्रता होने लगती है : दास्य और विनय का सूत्र एक झटके के साथ टूट जाता है।

तीसरी विशेषता है रहस्यमय शैली, जो कुछ पदों में व्यक्त हुई है।[2] इसको चित् बुद्धि संवाद नाम दिया गया है। प्रतीक योजना और स्वर वस्तुतः एक रहस्यात्मक विस्मय और भावी संभावना लिए हुए है। उदाहरण के लिए ये पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—

१. चकई री, चल चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम बियोग।
जहँ भ्रन-निसा होति नंहि कबहूँ, सोइ सायर सुख जोग॥
२. चलि सखि तिंहि सरोवर जाहिं।
जिहिं सरोवर कमल-कमला, रवि बिना बिकसाहिं॥
३. सुवा, चलि ता बन कौ रस पीजै।
जा बन राम नाम अम्रित रस, स्रवन पात्र भरि लीजै॥

इस शब्दावली और शैली की परम्परा का स्रोत दास्य और विनय की सामान्य परम्परा से भिन्न कही है, और अब 'सूर है कैं ऐसौ घिघियात काहे को है, कछु भगवल्लीला बरनन करि।' दिशा बदल गई। व्यक्तित्व बदल गया। और गीति की आत्मा दूसरी ही सज्जा में प्रस्तुत हुई।

२.२३ **गीत्यात्मक कथानक**—'सूर' ने कुछ कथानकों को गेय पदों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। ये वर्णनात्मक कथानकों से भिन्न हैं, जिन्हें 'लीला' 'रास' आदि काव्यरूपों के साथ देखा जा चुका है। गीत्यात्मक कथानक तो वे हैं, जहाँ कथानक के नाम पर एक प्रसंग कवि ग्रहण कर लेता है। उस कथात्मक परिधि के भीतर अनेक छोटे-छोटे भाववृत्त समाविष्ट होते है। वाह्य या कथात्मक वृत्त एक प्रकार से इन भाववृत्तों की सीमा तो बनाए रहता है, पर भाववृत्त अपना मनमाना विकास करने में पूर्ण स्वतंत्र भी रहता

---

१. सू सा. १।२७४।
२. वही १।३३७-३४०।

है। न कथानक की सूत्रबद्धता ही बाधा बनती है और न उसके क्रमिक विकास का ही विशेष आग्रह। एक पद में कथानक का जितना सूत्र विकसित हो चुकता है, वह आगे के पद में आने वाले कथानक-सूत्र के आरम्भ का नियामक नहीं बनता। उस पूर्व कथा सूत्र को कवि चाहे जितने बार फिर से उठा सकता है। जब तक भाव की चरम परिणति नहीं हो जाती, तब तक कथा-सूत्र की आवृत्ति होती रहती हैं। भावसूत्र की आवृत्ति पर भी रोक नहीं हैं। कभी संदर्भ के, कभी उद्दीपन के, कभी अतिरिक्त संकेत के, कभी शब्दावली या लय के किंचित् परिवर्तन से भाव के विकास के गीत्यानुकूल प्रयोग कवि करता जाता है। इस प्रकार कथा में बद्ध होते हुए भी भाववृत्त स्वतंत्र होते हैं। भाव भी संदर्भ और व्यंजना के कितने ही प्रयोगों से सिद्ध किये जाते हैं। प्रत्येक भाववृत्त के भीतर भी, कितने ही प्रयोग-वृत्तों की सृष्टि हो जाती है। इस प्रकार के गीतात्मक कथानक ये हैं—

पूतना-वध	तृणावर्त-वध
उलूखल-बंधन	ब्रह्मा बाल-वत्सहरण
कालीदह प्रसंग	श्री राधा-कृष्ण मिलाप
नागलीला	यज्ञ पत्नी-लीला
चीरहरण-लीला	रासलीला
गोवर्धन-लीला	दानलीला
पनघट-लीला	श्रीकृष्ण का मथुरा-गमन
मानलीला	भ्रमरगीत

इनमें कुछ लीलाओं का सूत्रबद्ध कथानक या कथानक संक्षिप्ति भी प्रबन्धात्मक पद्धति में 'सूर' ने दी है। किन्तु कुछ में इस प्रकार के वर्णनात्मक प्रबन्धाभास नही मिलता। जिनमें इन प्रकार के वर्णनात्मक कथांश संबद्ध भी है, वहाँ भावात्मक पदावली अपने स्वतंत्र सौन्दर्य के साथ स्थित है। 'पूतना-वध' में यशोदा का वात्सल्य, 'सूर' के गीतों को प्रेरित कर देता है। यही दशा तृणावर्त-वध के प्रसंग की है। 'उलुखल' वन्धन में भावात्मक अभिप्राय ये है : (१) गोपियों के माखन चोरी संवन्धी उपालंभ, (२) यशोदा का कोप और कृष्ण का वन्धन, (३) वन्धन के पश्चात् कृष्ण का रोना, गोपियों के कृष्ण-प्रेम का जागरण कथा वलराम का प्रभावित होना, (४) कथानक का यमलार्जुन प्रसंग में संक्रमण। अनेक गोपियाँ अनेक प्रकार से उपालंभ देती है। कोई अपनी हानि का वर्णन करती है। कोई कहती है कि कृष्ण की 'अचगरी' की

कोई सीमा नहीं। कुछ तो कहती हैं कि अब व्रज छोड़ कर ही जाना होगा—'अपनौं गाँउ लेउ नँदरानी।'[1] पर यशोदा का वात्सल्य पूर्णतः उद्दीप्त हो उठता है, जब गोपी कहती है—

१. लोगनि कहत झुकति तू बौरी।
दधि माँखन गाँठी दै राखति, करत फिरत सुत चोरी ॥[2]
२. महरि तैं वड़ी कृपन है माई।
दूध दही बहु बिधि कौ दीनौं, सुत सौं धरति छपाई ॥[3]

एक प्रकार से यशोदा के वात्सल्य को ललकारा गया। वात्सल्य इस प्रकार की उक्तियों से उद्वेलित हो उठता है। यशोदा जैसे अपना अन्तर्निरीक्षण करने लगती है—'क्या यह सच है?' नहीं यह सब झूठ है। मेरे लिए कृष्ण से बढ़ कर कुछ नहीं। यशोदा ने एक दिन 'कृष्ण को प्यार से समझाया। तुम्हारे यहाँ मक्खन की कमी नहीं। तुम दूसरे के यहाँ चोरी करने क्यों जाते हो? हमारा वंश भी ऊँचा है—

माखन खात पराए घर कौ।
नित-प्रति सहस मथानी मथिए, मेघ-शब्द दधि माँट घमरकौ।
कितने अहिर जियत मेरे घर, दधि मथि लै बेचत महि भर कौ ॥
नव लख धेनु दुहत हैं नित-प्रति, बड़ौ नाम है नंद महर कौ ॥
ताके पूत कहावत हौ तुम, चोरी करत उधारत फरकौ।
'सूरस्याम' कितनौ तुम खैहौ, दधि माखन मेरैं जहँ तहँ ढरकौ ॥[4]

और जब कृष्ण कहते हैं—'मैया मैं नहिं माखन खायौ।' तब यशोदा चक्कर में पड़ जाती हैं। उसका क्रोध हवा हो जाता है—'डारि साँटि मुसुकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ।' पर उपालंभ नहीं रुके। इस प्रकार यशोदा के वात्सल्य को इस प्रसंग में भावात्मक आरोह-अवरोह में झुलाया गया है। कृष्ण को यशोदा के हाथ बाँध रहे हैं, और हृदय विदीर्ण होती जा रहा है। यह एक गीतात्मक द्वन्द्व है। जब कृष्ण को बाँध दिया, तो यथार्थ भावभूमि प्रस्तुत होती है। यहाँ तक के गीतों में सामान्य यथार्थ का चित्रण था जो भाव का

---

१. सू० सा० १०।३२२।
२. वही १०।३२४।
३. वही १०।३२५।
४. सू० सा० १०।३३३।

स्पर्श करता था। आगे शुद्ध भावात्मक गीत हैं। यशोदा ने कृष्ण से कह दिया —'बधौं आजु कौन तोहि छोरै।[१] तथा गोपियों से कह दिया—'जाहु चली अपनैं-अपनैं।'[२] और इस गीत-प्रसंग का पूर्वार्द्ध समाप्त हो गया। अब गोपियों का भावात्मक मंथक आरम्भ होता है। उलाहना तो उनका एक बहाना था—'उरहन के मिस आवत जात।'[३] वास्तव में यह भी रसास्वादन की एक पद्धति थी। उनको यह ज्ञात नहीं था कि मामला इतना 'सीरियस' हो जायेगा। उन्होंने कृष्ण की आँखों में आँसू देखे—'डरनि आँसुवनि धोवै।'[४] 'कुँअर जल लोचन भरि भरि लेत।'[५] यही नहीं वह हिलकियाँ ले रहा है—'कमल नैन हरि हिचकिनि रोवै।'[६] 'देखौ माई कान्ह हिलकियनि रोवै।'[७] 'कमलनयनों' में अश्रु। गोपियों का मन उद्वेलित हो गया। उपालंभ के क्षणों में जिस प्रेमासक्ति को छुपाए रहीं, वह गीतों की एक लड़ी में प्रकट हो जाता है: 'नैंकहूँ न दरद करति।'[८] 'निरदई अहीरी।[९] 'तनक दधि कारन जसोदा इतौ कहा रिसाहि।'[१०] 'अहो जसोदा कत त्रासति हौ, यहै कोखि कौ जायौ।'[११] जसोदा तेरौ भलौ हियौ है माई।[१२] इस प्रकार सभी ने यशोदा के वज्र हृदय की कठोरता को बतलाया। प्रेमासक्ति और वात्सल्य का अद्भुत संयोग यहाँ हो रहा है। गोपियाँ कृष्ण के मुख सौन्दर्य को आँसुओं के परिवेश में देखकर विकल हो जाती हैं। यशोदा को भी उस साश्रु सौन्दर्य को दिखलाती हैं।[१३] फिर एक करारी चोट वात्सल्य पर होती है—

> कहौ तौ माखन ल्यावैं घर तैं।
> जा कारन तू छोरत नाहीं; लकुट न डारत करतैं।[१४]

इस उक्ति से वात्सल्य में तूफान आया। पर माता ने उसे छिपाते हुए गोपियों को फटाकर दिया—

> कहन लगीं अब बढ़ि बढ़ि बात।
> ढोटा मेरौ तुमहिं बँधायौ, तनकहिं माखन खात।

१. वही १०।३४४
२. सू० सा० १०।३४५
३. वही १०।३३२
४. वही १०।३४७
५. वही १०।३४६
६. वही १०।३४६
७. वही १०।३४७
८. वही १०।३४८
९. वही १०।३४८
१०. वही १०।३५०
११. वही १०।३५६
१२. वही १०।३६३
१३. वही १०।३५१, ३५३, ३५९
१४. वही १०।३५४

अब मोहिं माखन देति मँगाए मेरे घर कछु नाहिं।
उरहन कहि कहि साँझ सवारें, तुमहिं बँधायौ याहि॥
रिसही मैं मोकौं गहि दीनौं, अब लागी पछितान।
'सूरदास' जब कहति जसोदा, बूझ्यौ सबकौ ग्यान॥[1]

गोपियों के कथन से संबन्धित गीतों की संख्या सबसे अधिक है। एक ही आलंबन से एक ओर वात्सल्य अपनी चरम ऊँचाइयों की ओर चलता है और कभी इसी के आधार पर गोपियों का प्रेम अतल गहराइयों में उतरता जाता है। इस प्रसंग का उपसंहार यमलार्जुन उद्धार में है। कृष्ण जैसे तैसे इन विशाल वृक्षों से बचे। माता का वात्सल्य जो कृत्रिम कोप में आवृत्त था विस्फोट कर उठा—'नैन जल भरि ढारि जसुमति, सुतहिं कंठ लगाइ।'[2] उसे अपने ऊपर क्रोध आ रहा था—'जरै रिस जिहिं तुमहिं बाँध्यौ, लगे मोहिं बलाइ।' दूसरी ओर गोपियाँ प्रेमाधिक्य में अधीर हो उठीं, उन्हें अपने उपालंभों पर पश्चाताप हो रहा था—

ब्रज-जुवती स्यामहिं उर लावति।
बारंबार निरखि कोमल तनु, कर जोरति, विधि कौं जु मनावति।
कैसें बचे अगम तरु कें तर, मुख चूमतिं, यहि कहि पछितावतिं॥
उरहन लै आवतिं जिहि कारन, सो सुख फल पूरन करि पावति।
सुनौ महरि, इनकौं तुम बाँधति, भुज गहि बंधन चिन्ह दिखावति॥
सूरदास प्रभु अति रति नागर, गोपी हरषि हृदय लपटावति॥[3]

इन गीतों की शैली में न कहीं अलंकृति है, न आयास; न अलौकिकता का आभास है, न कृत्रिम भाव-विलास। प्रसंगगत बाधा भी नहीं। यथार्थ की भूमिका के भाव का चरम विकास हुआ है। ये गीत वस्तुतः पृथक-पृथक गीत नहीं, ये तो एक वृहत् गीत की जैसे मृदुल और भोली पंक्तियाँ हैं। ये पंक्तियाँ वास्तव में उन अज्ञात-यौवना नायिकाओं की भाँति हैं, जिनमें यौवन की उद्दाम मदिरा तो तरंगित है, पर वे उससे बेसुध हैं। उनका बेसुध होना ही यौवन और रूप की मदिरा को और भी मादक बना देता है।

'पनघट-लीला में माखन-चोरी का स्थान पनघट के मार्ग की छेड़ छाड़ ले लेती है। वही गोपियों का दुरंगा रूप रहता है—भीतर से भाव

---

१. सू. सा. १०।३५५।
२. वही १०।३८७।
३. वही १०।३९०।

भरी,[1] बाहर से खिची तनी।[2] यशोदा को उपालंभ देने भी जाती है : उलाहने के गीतों में यथार्थ से निःसृत रस है।[3] यशोदा सामान्यरूप से कह देती है—मैं जानती हूँ कृष्ण बड़ा ढीठ है। घर आने दो : उसकी खूब खबर लूँगी।[4] समझा कर उसने गोपियों को घर भेजा। जब कृष्ण आये तो, जवाब तलब हुआ। तब कृष्ण ने समझा दिया –

तू मोहीं कौं मारन जानति।
उनके चरित कहो कोउ जानै, उनहिं कही तू मानति।
कदम तीर तैं मोहिं बुलावौ, गढ़ि गढ़ि बातें बानति।।[5]

इस प्रकार की उक्तियाँ पहले भी हुई थीं। 'माखनचोर' कहता था : 'मैया मोरी मैं नहिं माखन खायौ', 'देखत हौं गोरस में चींटी' आदि। उलूखल बन्धन से पूर्व भी कृष्ण ने बड़ी सफाई दी थी। उस समय यशोदा इतनी जल्दी नहीं मानती थी। पर आज वह कृष्ण की बात जल्दी मान गई। शायद उसने 'मदमाती' गोपियों को समझ लिया—कृष्ण से कहा, तू उनसे बच—

झूठहिं सुतहिं लगावति खोरि।
मैं जानति उनके ढँग नीकै, बातें मिलिवति जोरि।।
वैं सब जोबन-मद की माती, मेरौ तनक कन्हाई।
आपुन फोरि गागरी सिर तैं, उरहन लीन्हे आईं।।
तू उनके ढिग जात कतहि है, वैं पापिनि सब नारि।
'सूरस्याम' अब कह्यौ मानि तू, हैं सब ढीठि गँवारि।।[6]

अन्त में गोपियों का प्रेमोत्कर्ष हुआ। वह संकल्प की कोटि को पहुँच गया। उन्होंने प्रेम की पीड़ा को पहचान लिया। उन्होंने जान लिया कि उलाहना

---

१. नंकु न मन तै टरत कन्हाई।
इक ऐसेंहि छकि रही स्यामरस, तापर इहि यह बात सुनाई।।
(सू. सा. १०।१४१३)
२. अतिहिं करत तुम स्याम अचगरी। (वही १०।१४१५)
३. सुत कौं वरजि राखहु महरि। (वही १०।१४२१)
४. मैं जानति हौं ढीठ कन्हाई।
आवन तौ घर देहु स्याम कौं, कैसी करौं सजाई।। वही १०।१४२४
५. वही १०।१४२८।
६. वही १०।१४२९।

आदि तो लोकलाज के कारण है। यह छद्म कब तक चलेगा। उन्होंने प्रेम के मार्ग पर स्वच्छन्द चलने का निश्चय किया।

दृढ़ करी धरी अब यह बानि।
कहा कीजै सो नफा, जिहिं होइ जिय कौं हानि।
लोक-लज्जा काँच किरचैं, स्याम कंचन खानि।
× × ×
मोहिं तौ नहिं और सूझत, बिना मृदु मुसुक्यानि।
रंग कापै होत न्यारौ, हरद चूनौ सानि।[1]

'दानलीला' में भी पदों का विधान इसी प्रेम उपालंभ और प्रेम-स्वीकृति के ढाँचे में हुआ है। इस लीला में उपालंभ बिलकुल चिपक गया। यशोदा ने गोपियों को फटकार दिया।[2] अन्त में कृष्ण ने उनसे सर्वस्व दान कराया। इस कथानक के अन्त में उन्माद[3] और प्रेम की क्रान्तिमयी स्वीकृति के गीत है।[4] यह वही भावभूमि है जिसमें मीरा के गीतों की सृष्टि हुई हैं—'या ब्रज में कछु देख्यौ री टोना' तथा 'कहा करिहैं कोई।' गीत्यात्मक कथानक का चरमोत्कर्ष दानलीला में दिखलाई पड़ता है। 'रासलीला' में भी आरम्भ में एक छोटा-सा प्रसंग—कृष्ण-गोपी संवाद—है अवश्य, फिर गेय पदों का अविरल पारावार। 'राधाकृष्ण' मिलाप भी संवादात्मक गीतों की एक शृंखला में निबद्ध हैं। उसमें हास-विलास के पद संग्रथित हैं। 'नागलीला' में प्रेमातुर राधा मिलने का बहाना ढूँढती है। काली-लीला में वात्सल्य और माहात्म्य की मिलीजुली झाँकी है। इसी प्रकार का भाव-संगम गोवर्धन-लीला में है। उद्देश्य माहात्म्य-प्रतिपादन का है और वात्सल्य और प्रेम के जलकणों से लीला-लता झुकी हुई

---

१. सू. सा. १०।१४५९।

२. मैं तुम्हरे मन की सब जानी।
आपु सबै इतराति फिरति हौं, दूषन देति स्याम कौं आनि।
मेरौ 'हरि कहँ दसहिं बरस कौ, तुमरौ जोबन मद उमदानी।
[सू. सा. १०।१४८०]

३. 'गोरस कौ निज नाम भुलायौ।
लेहु-लेहु कोउ गोपालहि, गलिनि-गलिनि यह सोर लगायौ।
[सू.सा. १०।१६३७]

४. अब तौ प्रगट भई जग जानी (वही १०।१६५७)
कहा करै को कोऊ मेरौ। (१०।१६५८)

है। इसमें भयंकर प्रकृति के निरूपक गीत भी हैं। माता ग्वालों से कहती है— मेरे लाल को सहारा दो। अन्त में यशोदा भगवान के हाथों को दबाती हुई पूछती है—

गिरिवर कैसें लियौ उठाइ।
कोमल कर चाँपति महतारी, यह कहि लेति बलाई।[1]

'सूर' को भय हुआ कि कहीं वात्सल्य-माहात्म्य से अभिभूत न हो जाय। अतः उन्होंने कृष्ण से कहलवाया—

स्याम कहत नहिं भुजा पिरानी, ग्वालनि कियौ सहैया।
लकुटनि टेकि जबनि मिलि राख्यौ, अरु बाबा नंदरैया।[2]

यह सब मैंने ही थोड़े ही किया : सभी ग्वाल सहायता जो कर रहे थे, और यशोदा निरुत्तर हो गई। अपने वात्सल्य में पूर्णतः निमज्जित हो गई। और योजना हुई—'सबै मिलि पूजौ हरि की बहियाँ।' इस प्रकार इन्द्र को माहात्म्यज्ञान हुआ : बलराम को माहात्म्य की स्मृति हुई : यशोदा का वात्सल्य उफन उठा : गोपियों का प्रेम उमड़ पड़ा :—

घर घर तें ब्रजजुवति आवतिं।
दधि अच्छत रोचन धरि थारनि, हरषि स्याम-सिर तिलक करावतिं।
बार बार निरखति अँग-अँग छबि, स्याम रूप उर माहिं दुरावतिं।[3]

'श्रीकृष्ण का मथुरा-गमन' कथानक तो करुणा का ही एक अकूल-अगाध समुद्र बन गया। इतने करुणा-विगलित गीत अन्यत्र दुर्लभ हैं।

इस प्रकार सूर के गीत्यात्मक कथानक या कथानक की पृष्ठभूमि में रचित भावोत्कर्ष की दृष्टि से गहरे और विविध हैं। अलौकिकता-जन्य माहात्म्य-बोध एक बिजली की भाँति चमक कर वात्सल्य और प्रेम के सघन-घनों में विलीन हो जाता है। इस विद्युच्छटा को वे ही देख पाते हैं, जो व्रज की भावना में विमग्न नहीं हो गये हैं। जो व्रजवासी हैं, वे तो भावों के सजल और निविड़ घनों के घनत्व को वेध कर कुछ भी नहीं देख पाते। प्रसंग या कथानक को सूर ने इतना यथार्थ बना दिया है कि भाव का उत्कर्ष आरोपित या सायास नहीं लगता। यह सब कुछ एक स्वाभाविक गति से, मानवीय मन के यथार्थों के संस्पर्शों के बीच होता हैं। यहाँ तक प्रसंग और गीत स्वाभाविक

१. वही १०।६६७।
२. वही १०।६६५।
३. वही, १०।८५८।

रस से संसिक्त हैं, कि अलंकृति की आवश्यकता ही नहीं होती और न सूर उसकी चिन्ता ही करते है। 'संवादों' के कारण गीतों में सजीवता आ गई है। 'सूर' की कला इन गीतों में अनायासता की दृष्टि से अपने चरम पर है। जहाँ रूप की कल्पना है, वहाँ सामान्य रूप से अलंकरण भी मिल जाता है। इन गीतों के विषय में डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने लिखा है:–"—संभाषणों में स्वाभाविकता और नाटकीयता तथा घटना-वर्णन में अवसरानुकूल द्वैधीभाव का कुशलता से प्रयोग किया गया है।...शैली की दृष्टि से इन कथा-प्रसंगों की विशेषता यही है कि उनकी भाषा सरल, व्यावहारिक, और प्रवाहमयी, भाव स्पष्ट और अकृत्रिम तथा शैली ऋजु एवं अव्यवहित हैं। इनके द्वारा कवि के सरल, सुप्रिय, निर्मल और आडम्बरहीन व्यक्तित्व का अत्यन्त निकट से परिचय मिलता है। प्रत्येक पात्र में सजीवता और सहज आकर्षण भरने में कवि को अनुपम सफलता मिली है। प्रत्येक पद गेय और प्रसिद्ध कथावस्तु की किसी विशेष घटना अथवा भाव आदि से संबन्धित होने के कारण स्वतंत्र रूप से भी रोचकतापूर्ण है।.........इन कथानकों में कहीं-कहीं...शैली की स्वाभाविकता, ग्रामीणता और अशिष्टता भी सीमा पर पहुँच गई है, जो प्रसंगानुकूल कवि के लिए नितांत स्वाभाविक जान पड़ता है।"[1] इस आलोचना में केवल 'अशिष्टता' शब्द उखड़ा-उखड़ा सा लगता है। लेखक जैसे स्थूल आदर्शों की छाया में भावों के मानवीय यथार्थ को भूल गया हो। जैसे भाव के निश्छल प्रवाह को आरोपित आदर्श के चश्मे से वह देखने लगा हो! इन गीतों की सरसता, स्वाभाविकता, सरलता और ऋजुता किसी भी गीतकार के लिए अनुकरणीय हैं।

२·२४ **क्रीडा-संबन्धी पद**—ऊपर लीला-संबन्धी पदों पर विचार किया गया है। क्रीड़ा के पदों में कथा-प्रसंग बिल्कुल छूट जाता है। एक क्रीड़ा विशेष, कई संदर्भों और रीतियों में प्रकट होकर भाव-विकास करती है। वात्सल्य से संबन्धित क्रीड़ा-पद इन विषयों के हैं: चंद्र प्रस्ताव, माखन-चोरी, गोचारण आदि। इन क्रीड़ाओं का विकास में कथानक की भाँति रेखा-गीत नहीं, वृत्तगति ही मिलती है। गोचारण, वात्सल्य और सख्य की संगमभूमि है। माता गोचारण के लिए गये कृष्ण के संबन्ध में कुछ चिंता करती हैं। माता और पिता के भावों का चरम-विकास कृष्ण के गोचारण प्रस्ताव[2] के समय

१. सूरदास, पृष्ठ ५४६-५४७।

२. 'आजु मैं गाय चरावन जैहों'। सू० सा० १०।४११।

होता है। यशोदा कृष्ण को जाने नहीं देना चाहती। उसकी दृष्टि में कृष्ण अभी छोटे हैं—

ऐसी बात कहौ जनि बारे, देखौ अपनी भाँति।
तनक-तनक पग चलिहौ कैसे, आवत ह्वै हैं राति।
प्रात जात गैया लै चारन, घर आवत हैं साँझ।
तुम्हरौ कमल बदन कुम्हिलैहै, रेंगत घामहि माँझ।[१]

यद्यपि कृष्ण कहते हैं—'बड़ौ भयौ न डरैहौं', फिर भी यशोदा को विश्वास नहीं होता। जब एक दिन चुपचाप वे चल ही दिये तो माता ने दौड़कर उन्हें पकड़ ही तो लिया—'पहुँची आइ जसोदा रिस भरि, दोउ भुज पकरे गाढ़े।' पर आज बलदाऊ ने कृष्ण की सहातता की—'हलधर कह्यौ, जान दै मो सँग, आवहिं आज सवारे।[२]' और फिर सख्यभाव के पदों की शृंखला घटित हो जाती है। भाव-संधि के समय 'सूर' की प्रगीति शैली अत्यन्त मनोरम हो जाती है।

शृंगार-संबन्धी क्रीड़ाएँ ये हैं : ग्रीष्मलीला, यमुनागमन युगल समागम, दंपति-विहार, खंडिता प्रकरण, झूलन, होली, और बसंत आदि। 'ग्रीष्म-लीला' में जलबिहार है। राधा और कृष्ण यमुना के लहरों में मिले। राधा कृष्ण के रूप-सौन्दर्य से पहली बार अभिभूत हुई। अब 'रतिनागर' 'मोहन' 'रसीले पिय' आदि शब्द उसकी चेतना में उतरने लगे। कृष्ण का यह रूप प्रकट हुआ :—

स्याम सुखरासि, रस-रासि भारी।
रूप की रासि, गुनरासि, जोवन रासि, चकित भईं निरखि नव तरुन नारी।[३]

सारे पदों में 'कृष्ण' की रूपराशि तथा रसराशि भर गई। रूपराशि अलंकृत शैली का माध्यम ग्रहण करने लगी।[४] इस शैली के गीतों का विवेचन अन्यत्र किया गया है। राधा और गोपियों को अपनी दो ही आँखें होने पर खीझ हो रही है। ब्रह्मा ने यह क्या किया कि दो ही आँखें दीं : दृष्टि न दई रोम-रोमनि-प्रति, इतिनिहिं कला नसानी।[५] इस प्रकार आँखों को लेकर बने हुए

१. सू. सा, १०।४११
२. वही १०।४१३
३. वही १०।१८०३
४. वही १०।१८१९ आदि।
५. वही १०।१७८४

अत्यन्त सरुचिपूर्ण है। आँखें कृष्ण की रूप-लता में उलझ-उलझ जाती हैं। 'आँखों' और 'रूप' पर रचे गये पद, एक विशिष्ट रस-दशा के सूचक बन जाते है। यमुना-स्नान करके राधा का शरीर तो घर आ गया, पर उसका भावात्मक व्यक्तित्व कृष्ण की रूप-तरंगों में डूबता-उतराता रहा गया। कृष्ण ने 'मनमृग वेध्यौ नैन-बान सों।[1] राधा ने एक उपाय निकाला : उसने अपनी माँ से कहा कि मैं अपनी मुक्तामाला भूल आई हूँ। माँ का वात्सल्यमिश्रित कोप कई पदों में प्रकट हुआ।[2] और कृष्ण के पास जाकर समागम किया। गीत काम-चेष्टाओं से भर गये। समागम की सरसता वर्षा की छोटी-छोटी बूँदों से भर गई।—'नान्ही नान्ही बूँदनि बरषन, लाग्यौ. भीजत कुसुँभीं अबर।'[3] आलिंगन परिरंभण और भी कस गया : 'ज्यों-ज्यों बूँद परति चूनरि पर, त्यों-त्यों हरि उर लावत।'[4] सुरतांत सौन्दर्य की ओर मार्ग में एक सखी ने संकेत किया। इस प्रकार क्रीड़ा का उपसंहार सुरतांत पदों में हुआ। फिर 'मानलीला' के भावात्मक पद हैं। खंडिता प्रकरण में नायिका-भेद की झाँकी है। क्रीड़ा के पदों में कामशास्त्रीय चेष्टाओं, काव्यशास्त्रीय-शैली, रूप की अलकृति, और भाव-विकास को स्वाभाविकता और माधुर्य से वातावरण घनी भूत है। गीतों के अन्तराल घने सजल बादलों-जैसा है, जो रस से तो आप्लावित हैं, और प्रकट रूप से कुछ इसकी बूदें ही बरस पाती हैं। ये रस-कण बादल के अन्तराल से उमड़ते हुए इसकी सूचना देने के लिए पर्याप्त हैं। इन क्रीड़ाओं में शुद्ध माधुर्य भाव है। बालक्रीड़ा के पदों में सरलता, सहजता और चपलता अधिक है। 'किशोरलीला-संबन्धी पद तद्भव प्रधान, और व्यावहारिक तथा परिमार्जित भाषा में रचे गए है, किन्तु इनमें अलंकारिता अपेक्षाकृत अधिक है। शैली की चपलता में स्वाभाविकता के स्थान पर चतुरता और पूर्वनिश्चित बंकता का सम्मिश्रण विशेष है तथा सुगमता के स्थान पर वचनवक्रता और व्यंग्य की प्रधानता है। इन पदों की शैली के आकर्षण में द्वन्द्वहीन और निश्छल मनोहारिता के स्थान पर विकारजन्य, साभिप्राय मोहकता है। यह भाषाशैली कवि के प्रौढ़, प्रेमान्दोलित, सहजविकारी और आडम्बरहीन ऐन्द्रियतापूर्ण व्यक्तित्व की व्यंजक है।"[5] माधुर्य और दाम्पत्य-

---

१. सू. सा. १०।१६६४। २. सू. सा. १०।२६६७-१६७६।
३. वही २०।१६६१। ४. वही १०।१६६२।
५. डा० ब्रजेश्वरवर्मा, सूरदास, पृ० ५४८२।

भाव की निर्व्याज अभिव्यक्ति में अश्लीलता ढूँढ़ने लगना, सूर की अतुलभाव-राशि का तिरस्कार करना ही है। यह समीक्षा नही, आरोपण बन जाता है।

२.२५ **प्रभाव चित्रण के पद**—इन गीतों के अन्तर्गत मुख्य रूप से 'रूप-माधुरी' और 'मुरली-माधुरी' के पद आते हैं। इनका प्रभाव अनिर्वचनीय है। इन पदों में आकर सूर की प्रतिमा ने एक परिवर्तित परिवेश का अनुभव किया। 'भाव' के क्षेत्र में सूर की प्रतिभा और कल्पना एक ऐसे विश्वास के साथ चलती थीं, कि जो कुछ कह दिया जायेगा, गीत बन जायेगा। न आयास की आवश्यकता, न चमत्कार की खोज ! पर अब कवि भाव के स्थान पर 'प्रभाव' के चित्रण में लगता है। शुद्ध भाव-गीतों के रचयिता को देखकर विश्वास नहीं होता था कि यह व्यक्तित्व प्रभाव-चित्रण के क्षणों में अलंकार के इतने विविध और अछूते प्रयोग भी कर सकेगा। काव्यशास्त्र की दृष्टि से भावोद्दीपन की सामग्री को 'सूर' अब सँजोने लगा। आध्यात्मिक दृष्टि से जिस 'अरूप' को रूपायित किया गया था, उसकी रूप-भावना को यों ही तो नहीं छोड़ा जा सकता। रूप का संबन्ध जब भावोत्तेजना से होता है, तो सूर का व्यक्तित्व स्वभावतः भावों में तल्लीन हो जाता है। आलम्बन के रूप की चमत्कृति को भूलकर वह आश्रय के हृदय की गहराइयों में बैठ जाता है और न जाने कैसी-कैसी भाव-सरणियों को खोज लाता है। यदि इन गहराइयों में उतरते-उतरते सूर को अतिरिक्त संबल की आवश्यकता होती थी तो वाचिक उक्तियों की सहायता लेता था, नाटकीय स्थिति की कल्पना करके भाव-विलास में कवि रम जाता था। इस प्रगीति-रचना में रूप की रेखाएँ अस्फुट रह जाती थीं और 'प्रभाव' की अन्विति निस्पन्द।

रूप का संबन्ध आँख से है। यह अन्धा गीतकार जैसे रूप-योजना की पृथक साधना करना चाहता था। रूप के चित्रण के पद भाव-गीतों के बीच-बीच में बिखरे हुए है। पर शैली और साधना की दृष्टि से उनको एक पृथक इकाई में संगृहीत किया जा सकता है। नख-शिख सौन्दर्य के वर्णन में, जब केवल प्रभावांकन ही अभिप्रेत हो, तो अलंकारगत विशदता आना स्वाभाविक हो जाता है। कृष्ण की बाह्य वेशभूषा के मोर-मुकुट, पीतांबर, चंदन की खौरि, आड़, बेसर, कंठमाल किंकिणी, नूपुर आदि न जाने कितनी अलंकृत शैली में प्रकट होते हैं। नखशिख के वर्णन में सभी उपमान मूर्च्छित हो जाते है। चेष्टाएँ, मुस्कराहट, कटाक्ष-संकेत आदि का प्रभाव-चित्रण कवि न जाने कितनी रीतियों से करता है। यह रूप-वर्णन का एक पक्ष हुआ। कृष्ण के रूप

का प्रभाव इससे भी विचित्र है। गोपियाँ इस वैचित्र्य में खो जाती हैं। उनका मन विक जाता है। इस सब विवरण आँखों के माध्यम से दिया गया है। सूरसागर में 'नैन समय' के आँख संबन्ध के लगभग २०० पद संगृहीत हैं।[1] इनमें आँखों के माध्यम से अनूठी उक्तियाँ कही गई हैं। इन उक्तियों से पदों में एक वक्रता और प्रगल्भता आ गई है। इन सभी में रूप-प्रभाव ही व्यंजित है। श्याम के रंग में ऐसे रँग गये हैं कि उन पर गोपियों का कोई नियन्त्रण ही नहीं रहा—

स्याम रँग रँगे रँगीले नैंन।
धोएँ छुटत नहीं यह कैसेहुँ, मिले पिघलि ह्वै मैंन ॥
औचक ही आँगन ह्वै निकसे, दै गए नैंननि सैंन।
नख-सिख अंग-अंग की सोभा, निरखि लजत सत नैंन ॥
ये गीवे नहिं टरत उहाँ तैं, मोसौं लेन न दैंन।
सूरज प्रभु के सँग सँग डोलत, नैंकहुँ करत न चैंन ॥[2]

इस प्रकार 'रूप' और 'आँख' के बीच न जाने कितने संबन्धों की कल्पना की गई हैं। इन पदों में भाषा, और शैली अलंकारपूर्ण प्रौढ़ता प्राप्त करते है। अज्ञात यौवना, मुग्धा नायिका अब प्रौढ़ा हो गई हैं। उसे अपने रूप-यौवन का ज्ञान हो गया है—वह रूपगर्विता की भाँति गजगति से चलने लगी है। उसके कटाक्षों की दिशा निश्चित हो गई है। न जाने कितने रसिक अब शैली-नायिका के अंगों पर रीझ-रीझ पड़ रहे हैं। इन पदों की भाषा-शैली में कवि के व्यक्तित्व की पूर्ण प्रतिभा, सजगता, सुरुचि और भरपूर यौवन सुलभ सौंदर्य-प्रियता का दर्शन होता है।[3]

मुरली-वादन का प्रभाव और भी विशद है। इसके प्रभाव से जड़-जंगम, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, यमुना-पर्वत—कुछ भी नहीं बच सका। मुरली को एक व्यक्तित्व ही प्रदान किया गया है। गोपियों ने जब सपत्नी-भाव से मुरली को देखा तो प्रभाव और भी अधिक भावात्मक हो गया। उसका मानवीकरण यथार्थ अनुभूति का अंग बन गया। मुरली-प्रसंग में वाग्वैदग्ध्य और उक्ति-चमत्कार अपने चरम पर है। मुरली से संबद्ध गीत भी सूर-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं।

---

१. सू. सा. २२१६–२४१०।
२. वही, २२५१।
३. डा० ब्रजेश्वर वर्मा, सूरदास, पृ० ५४६।

३. उपसंहार—

सूर गीत-सम्राट है। भावों का प्रचुर वैविध्य शैलीगत वैविध्य में प्रतिच्छादित है। गीतों के पात्र पहली वार महाकाव्य के पात्रों से होड़ ले रहे हैं। सूर के गीतों की यशोदा, गोपी, और राधा सभी का प्रगीतिपरक संस्कार हुआ है। 'सूरसागर' प्रबन्ध के संदर्भ में तो महाकाव्य नहीं हैं, पर भाव के संदर्भ में एक गीत्यात्मक विराट काव्य अवश्य कहा जा सकता है। सूरसागर के गीतों में प्रबन्ध-सूत्र भी है : संवाद भी हैं : चित्र भी हैं और वर्णन भी है। इन गीतों में सरलता भी है, अलंकृति भी है, शास्त्रीय झलक भी है और लोकगीतों की सरलता भी है। संक्षेप में सूर के गीति-साहित्य में वह सब कुछ है, जो गीतिकाव्य की आत्मा के चरमोत्कर्ष के लिए आवश्यक है। अलंकार निरपेक्ष सौन्दर्य भी चरम पर है और अलंकार-विधान भी कितना गत्यात्मक और प्रयोग-सिद्ध ! गीतिकीव्य में भाव और शैली का इतना वैविध्य अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। उतना वैविध्य रहने पर भी गीतों की मर्मस्पर्शिता अक्षुण्ण है। आवृत्तियाँ होने पर भी क्षण-क्षण नवीवनता प्रकट होती रहती है। जहाँ सूर के गीतों की शैली मुग्धा और अज्ञात-यौवना के नायिका मन्दिर-सौन्दर्य से होड़ ले रही है, वहाँ दूमरी ओर प्रौढ़ा और रतिकला-कुशला नायिका के वक्र-विलास और सयास काम-चेष्टाओं की आतुर परिणति भी सूर की शैली में कम नहीं है।



तेरह

दूतकाव्य : भ्रमर गीत

□ "ऊधो इतनी कहियौ जाइ ।
हम आवैंगे दोऊ भैया, मैया जनि अकुलाइ ।"

× × ×

□ □ "ऊधौ इतनी जाइ कहौ ।
सबै बिरहिनि पा लागति हैं, मथुरा कान्ह रहौ ।"

१३ | दूतकाव्य भ्रमरगीत

प्रस्तावना—

'भ्रमरगीत' सूर की एक उत्कृष्ट कृति है। काव्यरूप की दृष्टि से यह कृति दूतकाव्य की परम्परा में आती है। किन्तु परम्परागत दूतकाव्यों से इसका वैशिष्ट्य स्पष्ट है। अधिकांश दूत-काव्यों से प्रेमी या प्रेमिका अपना संदेश तो दे देते हैं, पर उस सन्देश को दूसरे पक्ष तक प्रेषित करना दूतकाव्य की अनिवार्य कथारूढ़ि नहीं है। कुछ दूतकाव्यों में संदेश को पहुँचाया भी गया है। पर इस प्रकार की कृतियों की संख्या कम है। 'सन्देश-कथन' वस्तुतः विरह-दशा के स्वगत-कथन की ही एक प्रणाली रही है। दूसरी विशेषता सूर के भ्रमरगीत की यह है कि इसमें मात्र प्रेम और विरह की दिशाओं का चित्रण नहीं है। वह विप्रलंभ उपालंभ और व्यंग्यों में संक्रमित हो जाता है। व्यंग्य और वैदग्ध्य का आधिक्य इतना हो जाता है कि पाठक को यह सन्देह होने लगता है कि यह सन्देश-काव्य है अथवा 'उपालंभ काव्य'। विरहोक्तियों का व्यंग्योक्तियों में संक्रमण तब होता है जब प्रेम-संदेश को सुनने के लिए उत्सुक कानों में योग संदेश का सीमा चुवाया जाता है। साथ ही उद्धव का दौत्य द्विविध है। जो उद्धव योग संदेश लेकर आता है वह अन्य में गोपियों के प्रेम-संदेश को कृष्ण के पास ले जाता है। एक प्रकार से संदेश और प्रति संदेश दोनों ही इसमें अनुस्यूत हैं। कभी ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रेमपरक दूतकाव्य नहीं है : इसका मूल अभिप्राय: ज्ञानयोग की पराजय और प्रेम-भक्ति की विजय घोषित करना है। इसीलिए इसमें बौद्धिक तत्त्व प्रधान हो जाता है। पर सूर के भ्रमरगीत में बौद्धिक तत्त्व शुद्ध दर्शन की उक्तियों में प्रकट नहीं है। वह भाव-प्रेरित व्यंग्योक्तियों का रूप धारण करता है। इस कृति के तीन फल हैं : ज्ञानयोग पर भक्ति की विजय, उद्धव का प्रेम

मार्ग में दीक्षित होना और कृष्ण के यथार्थ व्यक्तित्व का उद्घाटन। इस प्रकार इस कृति का सूत्रविधान अत्यन्त जटिल हो जाता है। इन सभी सूत्रों का निर्वाह एक कुशल प्रबन्धकार के रूप में सूर ने किया है। कथासूत्र को विरह चित्रों और मार्मिक उक्तियों के द्वारा स्फीत और उदात्त बना दिया है। सूर-साहित्य में अलौकिक और मानवीय तत्वों में संघर्ष सा रहा है। सभी स्थलों पर अलौकिक तत्व प्रकट होते हैं। पर कवि मानवीय भाव-बोध की इतनी प्रबल धारा प्रवाहित करता है कि अलौकिकता के तिनके अज्ञात किनारों पर जा लगते हैं और स्वच्छ मानवीय भावों का जल रह जाता है। भ्रमरगीत में वह अलौकिकता गम्भीर दर्शन के घटाटोप के साथ आती है: कृष्ण के मानवीय रूप को दृष्टि से ओझल करने के लिए उद्धव कृत संकल्प है। किन्तु गोपियों के भावाविष्ट व्यंग्य और कथन इस सारी योजना को चूर-चूर कर देते हैं। कृष्ण भी शुद्ध मानव के रूप में स्मृतियों में डूबे हुए मिलते हैं। उद्धव भी मानवीय उदात्त प्रेम में दीक्षित हैं. और अन्त में सारे भाव-क्षितिज इस ध्वनि से प्रतिध्वनित हो जाते हैं—

प्रेम प्रेम तें होइ, प्रेम तें पारहि जइयै।
प्रेम बँध्यौ संसार, प्रेम परमारथ लहियै॥[१]

इन सभी दृष्टियों से 'सूर' के भ्रमरगीत का दूतकाव्य की परम्परा में एक विशिष्ट स्थान बन जाता है

१- कथावस्तु—

१.१ सूत्र-संगठन—कथावस्तु शुद्ध भावात्मक है। घटनाएँ केवल दो हैं: उद्धव का व्रजगमन और व्रज से मथुरा लौटना। इसमें पात्र मुख्यतः चार हैं: कृष्ण, उद्धव, कुब्जा और राधा (गोपियाँ)। घटना कहीं प्रधान नहीं होती। चरित्र-चित्रण अवश्य प्रधान है। चरित्रों का भावपक्ष सर्वत्र उद्घाटित है। कथावस्तु का सूत्रविकास इस प्रकार हुआ है:

[कृष्ण की भाव-विकलता]—संदेश प्रेषण—द्विमुखी उद्देश्य—[उद्धव का परिष्कार / गोपी-प्रबोध]—

—संदेश-कथन—गोपियों की प्रतिक्रिया[भावात्मक / बौद्धिक]—उद्देश्य की प्राप्ति

सूत्र-विकास क्रमिक है। चरमबिन्दु उद्धव के हृदय परिवर्तन पर है। उपसंहार में व्रजदशा, उद्धव के मत-परिवर्तन की सूचना और कृष्ण के यथार्थ व्यक्तित्व

---

१ सू. सा. ४७१३।

का उद्घाटन है। कृष्ण अपने छद्म वेश को छोड़कर अब उद्धव के माने स्वीकार करते हैं—'ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।'

विस्तार गोपियों की प्रतिक्रियाओं का किया गया है। प्रतिक्रिया कभी शुद्ध भावपरक होती है और कभी बौद्धिक। भावपरक प्रतिक्रिया विरह-निवेदन का रूप ग्रहण करती है, और बौद्धिक प्रतिक्रिया उपालंभ और व्यंग्योक्तियों में प्रकट होती है। उन दोनों के बीच एक संबन्ध है। भावात्मक प्रतिक्रियाएँ उद्धव की आनुभूतिक पृष्ठभूमि तैयार करतीं है। बौद्धिक उक्तियाँ अनुभूति की पृष्ठभूमि पर प्रेम-दर्शन की स्थापना कर देती हैं। इन उक्तियों में खंडन की प्रवृत्ति भी है, पर वह शुद्ध तर्काश्रित या तत्त्वान्वेषिणी न होकर भावाश्रित और व्यावहारिक है। अत: काव्योचित भावुकता तर्कजाल में लुप्त नहीं हो जाती। नंददास के सूत्र-विधान में बौद्धिकता की बालु सरसलता में किरकिराहट उत्पन्न कर देती है। सूर की वस्तु में सन्तुलन कलात्मक है। कथा का उपसंहार सभी सूत्रों का समुचित समाहार उपस्थित करता है।

ब्रज और ब्रजनारी दशा	:	२७ पद
राधा-दशा	:	१२ पद
उद्धव की ब्रज में स्थिति : सूच्य	:	१३ पद
कृष्ण की ब्रज की स्मृति	:	४ पद

इस पद-विधान से स्पष्ट होता है कि उद्धव ब्रज से कृष्ण के लिए जो प्रति सन्देश लाया था, उपसंहार में उस सन्देश का कथन प्रधान होगया। कथन भी ब्रजदशा के चित्रण के आधार पर अधिक व्यंजित है।

उद्धव गोपियों के विरह सूत्र को दो भागों में विभाजित कर देता है। इनके आने के पूर्व का विरह आशा से सजल और प्रतीक्षा से भरा हुआ था। उद्धव के आने पर आशा की डोर टूट जाती है : प्रतीक्षा निरर्थक हो जाती है—

आस रही जिय कबहुँ मिलन की, तुम आवत ही नासी।[1]

इस प्रकार विरह के कथासूत्र को उद्धव का आगमन चरम की ओर ले जाता है। उद्धव के सन्देश से गोपियों का सुप्त प्रेम जग जाता है—'सोवत मनसिज आनि जगायौ, पठै सँदेस स्याम के दूतैं।'[2] यही प्रेम की चरम की ओर गति की सूचना है।

१.२ कथा का स्रोत—इस कथा का मूल अभिप्राय सगुण की प्रेमाभक्ति की विजय और ज्ञानयोग की पराजय की घोषणा करना है। भागवत में भ्रमरगीत का प्रसंग है।[1] पर इसका सूत्र भागवत में संक्षिप्त है। उपालंभ का तत्त्व वहाँ भी प्रमुख है। सगुणमत का मंडन इतना अधिक नहीं है। सूर ने भ्रमरगींत प्रसंग को तीन बार कहा है। दो भ्रमरगीत तो कथात्मक हैं, ये विस्तृत भ्रमरगीत के पश्चात् जुड़े हुए संक्षिप्ति-परक उपसंहार से अधिक नहीं हैं। सभी प्रकार का विस्तार तो प्रथम भ्रमरगीत में किया गया है।[2] आगे के दो भ्रमरगीत तो मात्र कथात्मक हैं।[3] इनकी कथा या 'लीला' काव्यरूप के अन्तर्गत रखा जा सकता है। पहला तो गेय पदों में है: अगले चौपाई तथा सार छन्दों में निबद्ध हैं। इस प्रकार लगभग सात सौ पदों में इस प्रसंग का भाव-विस्तार किया गया है।

वास्तव में इसका कथानक विप्रलंभ के प्रसंग से पृथक ही अस्तित्व ग्रहण करने लगता है। विप्रलंभ वस्तुतः उपालंभ को तीव्र करने के लिए नियोजित प्रतीत होता है। ज्ञान और भक्ति संबन्धी जैसे एक शास्त्रार्थ ही इस रूप में अवतरित हो गया हैं। संघर्ष गोपियों की भोली, प्रेमपरक उक्तियों और उद्धव की ज्ञान-परक गर्वोक्तियों के बीच है। उद्धव के सिद्धन्त ये है: ज्ञान योग,अद्वैत,और निर्गुण। कथानक का आरंभ उद्धव के ब्रज-प्रवेश से होता है। बीच में निराशा भी होती है और अन्त में उद्धव की पराजय। कृष्ण का लिखित सन्देश भी मिला और उद्धवने अपने ज्ञानका मौखिक सन्देश भी दिया। इसी समय एक भ्रमर आया और भ्रमरगीत का आरंभ हो गया। इस मूल कथानक का एक उपोद्‌घात भी है। इसमें कृष्ण का ब्रज प्रेम प्रकट हुआ है। और उद्धव का ज्ञान-दंभ। उद्धव को प्रेम मार्ग में दीक्षित कराने के उद्‌देश्य से उद्धव को कृष्ण ब्रज में भेजते हैं। अन्त में एक उपसंहार है, जिसमें उद्धव के व्यक्तित्व की भावात्मक परिणति दिखलाई गई है और कृष्ण के पास उनका लौट कर जाना एवं ब्रज की दशा का वर्णन करना भी इसमें है। उद्धव की भावात्मक परिणति यह हुई—

> **अब अति चकितवंत मन मेरौ।**
> **आयौ हो निरगुन उपदेसन, भयौ सगुन कौ चेरौ ॥**
> **सूर मधुप उठि चले मधुपुरी, बोरि जोग कौ बेरौ ॥**[4]

---

१. भगवत १०।४७ १२-२१। २. पहला, सूरसागर ४०७८-४७१०।
३. दूसरा, सू. सा. ४७११-१२, तीसरा, सू. सा. ४७१३।
४. सू. सा ४६६७।

प्रेम के विरह के साथ उपालंभ और ज्ञान-योग-निर्गुण का खंडन उतनी ही तीव्रता से चले हैं। इस प्रकार एक कथा-सूत्र तो अविच्छिन्न रूप से चलता इस कृति में मिलता है, पर बीच-बीच में कुछ विवरण और भाव-स्फीतियों के आ जाने से प्रवाह प्रबन्धानुकूल नहीं रह पाता।

भ्रमरगीत के कथानक का बीज-स्रोत तो भागवत में देखा जा सकता है, पर भक्ति और ज्ञान का तात्त्विक भेद अन्य स्रोतों से संगृहीत है। सूर का संप्रदाय भी स्वयं भावात्मक भक्ति का समर्थक और प्रचारक था। भक्ति सिद्धान्त ने तो एक भक्ति आन्दोलन के रूप में भारत में दिग्विजय ही की। इन्हीं मौखिक या लिखित परम्पराओं से सूर के इस भावात्मक शब्दार्थ को बल मिला। उद्धव की उक्तियों में कहीं अद्वैतवादी दर्शन झलक जाता है, कहीं हठ-योग जैसे योग-संप्रदायों की दर्शन पद्धति और शब्दावली प्रकट होती है। इन उक्तियों में युग की परिस्थिति भी प्रतिबिंबित हो जाती है। अपनी कल्पना शक्ति और दर्शन की इन्हीं उक्तियों के सहारे सूर ने भ्रमरगीत के भागवतीय सूत्र का विस्तार करके एक काव्यरूप बना दिया। अन्त में पाठक पर यह प्रभाव पड़ता है कि इस प्रसंग का उद्देश्य विप्रलंभ शृङ्गार का उत्कर्ष करना नहीं, इसका मुख्य उद्देश्य प्रेमाभक्ति का उत्कर्ष प्रतिपादित करना ही है। 'सूर' की विशेषता यह रही कि उन्होंने उद्धव-गोपी शास्त्रार्थ को ठोस दार्शनिक नहीं होने दिया। तर्क की अपेक्षा गोपियों की प्रेम भरी भावोक्तियों से ही उद्धव अभिभूत हो गए।

२. चरित्र चित्रण—

२.१ कृष्ण संदेश—गोपियों ने इतने संदेश भेजे, पर कृष्ण का मौन नहीं टूटा। अन्त में उद्धव के द्वारा संदेश भेजा। यह संदेश अपने आप में एक विचित्र व्यंग्य था। इसका उद्देश्य था—उद्धव का परिष्कार। संदेश में बातें थी ज्ञान और योग की। प्रेम की कुछ चर्चा ही नहीं थी। उद्धव जो-जो संदेश ले गए उनकी क्रमणिका इस प्रकार है—

श्याम-संदेश	:	८ पद
वसुदेव-देवकी संदेश	:	२ पद
कुब्जा संदेश	:	५ पद

वसुदेव देवकी ने नन्द-यशोदा को संदेश भेजा। इसमें नन्द यशोदा के प्रति प्रेमपूर्ण कृतज्ञता ज्ञापित की गई। कुब्जा को संदेश राधा और गोपियों को भेजा। इसमें अपनी स्थिति को स्पष्ट किया गया, राधा के प्रति विनय

प्रदर्शित की गई और गोपियों पर व्यंग्य किया गया। कृष्ण का संदेश सबके लिए था : उसमें सबको स्मरण किया गया और गोपियों को योग की बातें लिखी गईं। कृष्ण के संदेश की संक्षिप्ति इस प्रकार है —

स्याम कर पत्री लिखी बनाइ।
नंद बाबा सौं बिनैं, कर जोरि जसुदा माइ॥
गोप ग्वाल सखानि कौं, हिलि-मिलनि कंठ लगाइ॥
और ब्रज नर-नारि जे हैं, तिनहिं प्रीति जनाइ॥
गोपिकनि लिखि लौग जोग पठयौ, भाव जानि न जाइ।
सूर-प्रभु मन और यह कहि, प्रेम लेत दिढ़ाइ॥[1]

मौखिक रूप से कृष्ण ने नन्द-यशोदा के लिए और भी कुछ बातें कहने के लिए उद्धव से कहा। वे बातें ये थीं : हमें तुम्हारी याद सदा आती रहती है। माँ व्याकुल न हो, हम कुछ समय पश्चात् आयेंगे ब्रज को। नन्द से कहना कि जब तक हम आवें, धौरी-धूमरी गायें दुखी न हों। साथ ही यह भी कह देना कि तुम इतने निठुर हो गए हो कि मथुरा पहुँचाकर हमारी शोध भी नहीं की। कुछ बातें माता से भी कहनी हैं। एक तो यह कि उन्हें ठीक से रहना चाहिए। दूसरे, हमारे खिलोने वहाँ हैं, उनको कहीं राधा चुराकर न ले जाये। जिस दिन से मैया, हम यहाँ आए हैं, किसी ने 'कन्हैया' नहीं कहा। न सवेरे कलेऊ मिला, और न सायंकाल 'घैया' ही पी। वृषभानु, सखा आदि सबके लिए कुछ न कुछ कहा, पर गोपियों के लिए केवल योग लिखा। गोपियों पर यह भी परिस्थिति का एक करारा व्यंग्य था। कृष्ण का सारा संदेश प्रेमभाव को उत्तेजित करने वाला था। वात्सल्य के उत्तेजन के लिए एक प्रकार की बातें कहीं गईं। गोपियों के उत्तेजन के लिए योग की बातें लिखी गईं। उद्धव की दृष्टि में केवल योग का संदेश ही प्रमुख था।[2]

२.२ संदेश भेजने वाले : कृष्ण—श्रीकृष्ण के भ्रमरगीत में दो रूप मिलते हैं : एक रूप सूर की कल्पना का है और दूसरा रूप गोपियों की दृष्टि में है। गोपियाँ कृष्ण में भ्रमरत्व ही अधिक देखती हैं। वे उन पर करारे व्यंग्य भी करती हैं। पर सूर ने कृष्ण को कुछ और ही दिखलाया है। उनको ब्रज की याद भुलाए नहीं भूलती। वे उद्धव से कहते हैं—'सुनहु उपंग सुत मोहि न बिसरत, ब्रजवासी सुखदाई।' वे कहते हैं कि भाग्यवश ऐसा हुआ

१. सू. सा. ४०५४।
२. वै लै चले जोग गोपिन कौं, तहाँ करन विपरीत। सू. सा. ४०६८)

कि व्रज छूट गया : 'विधना यहै लिख्यौ संजोग ।' सूर ने अपने कृष्ण को स्पष्ट करने के लिए पद-विधान इस प्रकार किया है—

उद्धव की स्थिति से चिन्तित कृष्ण	—	६ पद
उद्धव के प्रेम संस्कार की योजना : स्वगत	—	२ पद
व्रज की स्मृति : वहाँ के सुख	—	४ पद
ज्ञान-प्रबोधन का आदेश	—	७ पद

इस तालिका के विश्लेषण से कृष्ण का व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाता है । उसके क्षेत्र में मधुर स्मृतियों से आविष्ट व्रज-प्रेम ही है । उद्धव का भाव-संस्कार भी कृष्ण को इसलिए अभीष्ट है कि वह व्रज रस को समझ सके । यह अपने ज्ञान-दर्प के कारण प्रेमकथा का यथार्थ मूल्यांकन कर नहीं पाता था ।[1] कृष्ण अपने किसी अतरंग सखा से व्रज-प्रेम की विरहजन्य पीड़ा को कहकर मन को हलका करना चाहते थे । उद्धव के व्यक्तित्व के परिष्कार के लिए जो छद्म परिवेश लाया गया, वह कृष्ण के यथार्थ व्यक्तित्व को प्रच्छन्न कर देता है । उनका छद्म व्यक्तित्व गोपियों के लिए व्यग्य बन जाता है । यद्यपि प्रतीत होता है कि कृष्ण ने ज्ञान-योग का संदेश भेजा । पर, यह संदेश प्रेममूलक ही था । इससे गोपियों का प्रेम स्पष्ट, तीव्र और उद्दीप्त होगा और उद्धव को प्रेम का मूल्य व्यावहारिक जीवन में प्राप्त होगा । योग-संदेश की प्रतिक्रिया में गोपियों ने व्यावहारिक दृष्टि से प्रेमतत्त्व की स्थापना ही की । अतः संदेश का मर्म प्रेमपरक ही प्रतीत होता है । कृष्ण का व्यक्तित्व भी संपूर्णतः प्रेम के लिए समर्पित था ।

कृष्ण भी अपने परिवर्तित रूप में गोपियों के लिए एक व्यंग्य बन गए । जब मथुरा से नन्द चलने लगे तो कृष्ण ने अपना अलौकित्व प्रकट किया—'मैं आयौ संसार में, भुव-भार उतारन ।' फिर एक उदासीन स्वर में कृष्ण को नन्द ने यह कहते सुना—'मिलन हिलन दिन चारि कौ ।'[2] नन्द का हृदय टूटने लगा. यह सुनकर । नन्द ने कहा—हमने तुम्हारा माहात्म्य नहीं समझा । इसीलिए न जाने कैसा-कैसा व्यवहार तुम्हारे साथ करते रहे ।[3] कृष्ण ने फिर वैराग्य का उपदेश दिया –'माया मोह मिलन अरु बिछुरन

---

१. 'सूर' व्रज की कथा कासौं, कहौं यह करै दंभ ।' सू. सा. ४०३५ ।

२. सू. सा. ३७३२ ।

३. बारह बरस दियौ हम ढीठौ, यह प्रताप बिनु जाने । (वही ३७३४)

ऐसें ही जग जाई।'[1] नन्द जैसे दुःख-जाल में फँस गए। सारे सखा भी यह सुनकर भौचक रह गये। कृष्ण बदल गये : ज्ञानी हो गये : वैराग्य का उपदेश देने लगे। चलते समय माता यशोदा को एक संदेश भेजा : हम कहीं भी रहें तुम्हारे ही हैं।[2] गोपियों ने भी यह सब सुना। उनका हृदय भी विदीर्ण होने लगा।

अब गोपियों को विरह की दारुणता में संभोग बहुत छोटा लगने लगा। कृष्ण के व्यवहार पर वे सोचने लगीं—'करि गए थोरे दिन की प्रीति।'[3] यह प्रेम नहीं, हमारा हनन था—'प्रीति कर दीनी गरे छुरी।'[4] कृष्ण की कलई खुल गई 'आई उघर कनक कलई सी।' हमने कृष्ण को ऐसा नहीं समझा था—'ऐसे हम नहि जाने स्यामहिं।' कृष्ण के चरित्र के संबन्ध में गोपियाँ परस्पर चर्चा करती रहीं : सुनते हैं अब मुरली धारण करने में उन्हें लज्जा आती है। हमारी बातें यदि कोई चलाता है तो वे सहम जाते हैं। गायों को तो चित्र में देखकर भी अब उन्हें संकोच होता है।[5] कृष्ण का व्यक्तित्व अब सरल नहीं रहा : वह ग्रंथिल हो गया है। सचमुच वह तो परदेसी है उसका क्या विश्वास?[6] एक बार राधा ने बड़े ही करुण स्वर में कहा—

सखी री हरिहिं दोष जनि देहु।
तातें मन इतनौ दुख पावत, मेरोइ कपट सनेहु॥[7]

कृष्ण ने प्रेम किया ही क्यों था? वास्तव में कृष्ण ने हमारे साथ कुछ अच्छा नहीं किया। अब वे यहाँ क्यों आयेंगे—वे राजा हो गये। हम ग्वालिनों के बुलाने पर क्यों आने लगे?—'वै राजा तुम ग्वारि बुलावत।' (३८३९)।

गोपियों ने कृष्ण के प्रेम को 'विहंगम प्रीति' का नाम दिया। कृष्ण ने सबसे बुरी बात यह की—विहंगम प्रीति दिखाकर गोपियों को आर्यपथ से भी विमुख कर दिया और उनकी कुल मर्यादा को भी समाप्त कर दिया।

---

१. सू. सा. ३७३५।
२. जहाँ रहैं तहँ तहाँ तुम्हारे, डार्यौ जनि बिसराइ। (वही)
३. वही ३८०२।
४. वही ३८०३।
५. वही ३८११।
६. कह परदेसी कौ पतिआरो। वही ३८१२-१३।
७. वही ३८१४

तथा यह सब करके स्वयं सुख भोग रहे हैं और गोपियाँ दुख की फाँसी में पड़ी है। (वही, ३९९३)।

अब कृष्ण ब्रज में क्यों आवेंगे ? गोपियाँ तो पुरानी पड़ गई : 'अब हरि गोकुल काहेकौं आवत भावति नवजोबनियाँ'। (३९८६)

२.३ संदेशवाहक : उद्धव—जो स्थान न्याय में पूर्व-पक्ष और उत्तर-पक्ष का होता है, वही भ्रमरगीत में उद्धव और गोपियों का है। इनका ऐतिहासिक परिचय देना अप्रासंगिक ही होगा।[1] उद्धव और उनके प्रति उपालम्भ की परम्परा पहले-पहल भागवत में ही मिलती है। अन्य पुराणों में इनकी चर्चा नहीं है। इसका उद्भव इतना अचानक कैसे हो गया, यह प्रश्न होता है। सिद्धान्तः उद्धव ज्ञानवादी है : संभवतः इनको ज्ञानोपदेश कृष्ण से ही प्राप्त हुआ। ज्ञान तो अर्जुन को भी दिया गया था, पर दोनों परिस्थितियों मे परिणामस्वरूप दो व्यक्तित्व उत्पन्न हुए : अर्जुन और उद्धव। अर्जुन ज्ञानी भक्त बने और शुद्ध ज्ञानी। कृष्ण के ज्ञानोपदेश का यह लक्ष्य नही था। अतः उद्धव में भक्तिमूलक संस्कार जमाने के लिए कृष्ण ने उद्धव को व्रज भेजा था।[2] कृष्ण का उद्देश्य प्रेम-संदेश भेजना नही, उद्धव के व्यक्तित्व का नूतन भाववादी संस्कार कराना था।

उनका ज्ञानवादी होना भागवत के परिचय से सिद्ध है। भागवत के अनुसार वे शान्त स्वभाव वाले, बृहस्पति के शिष्य थे।[3] विदुर और उद्धव की भेंट का भी उल्लेख मिलता है। उद्धव ने विदुर को यह बतलाया कि भगवान ने परमधाम जाते समय विदुर का स्मरण किया था।[4] इस समय तक उद्धव भी विदुर के समान परमभागवत हो गये थे। कृष्ण ने इसी रूप में परिणत करने के लिए उद्धव को व्रज भेजा था। इस प्रेम-दीक्षा से पूर्व उद्धव को अपने ज्ञान-योग का पूर्ण अभिमान था—'जोग कौ अभिमान करिहै, ब्रजहि जैहै धाइ।'[5] इसको व्रज प्रेम-परीक्षा के लिए भेजना ही चाहिए:—

१. विश्वकोश, भाग ३, पृ० २६० [सं० नागेन्द्रनाथ वसु: १९१९] तथा प्रेमीभक्त उद्धव, शान्तनुविहारी द्विवेदी (गोरखपुर, सं० १९९६), इस संबन्ध में द्रष्टव्य हैं।

२. 'ऐसे को बैसी बुधि होती, व्रज पठवें तब आनें'—भ्रमरगीत सार, ३।

३. भागवत ३।१।२५।

४. वही ३।४।३५।

५. सू० सा० ४०३९।

१. कछु कहत यह एक प्रगटत, अति भर्यौ अहँकार ।
प्रेम-भजन न नेंकु याकै, जाइ क्यों समुझाइ ।
'सूर' प्रभु मन यहै आनी, ब्रजहिं देउँ पठाइ ।[1]
२. सूर सैहुँ प्रेम पावै, तबहिं होइ सुरूप ।[2]

योग बातों की आग में प्रेम-लता झुलस जाती है : 'यह तौ कहत जोग की बातैं, जामें रस जरि जात ।'[3] उद्धव मे दुराग्रह इस कोटि तक पहुँच गया था कि स्वयं कृष्ण की वातों की उपेक्षा करने लगा । तव कृष्ण को विश्वास हो गया कि इसकी औषधि गोपियों के पास है—

याहि और नहिं कछु उपाइ ।
मेरौ प्रगट कयौ नहि वदिहै, व्रज हौं देउँ पठाइ (४०३७)

गोपियों के पास जाने से, उपसे पराजित होने पर, इसका अहंकार भी चूर हो जायेगा और इससे भ्रम का कुहासा भी फट जायेगा । भागवत में भी कृष्ण का अन्तरग सखा उद्धव को वतलाया गया है (भागवत १०।४६।१) । कृष्ण ने उनको व्रज जाने का अनुरोध किया (भाग० १०।४६।३) । पर सूर की भाँति भागवतकार ने उद्धव को भेजने के प्रसंग के अभिप्राय का विस्तार नहीं किया । भागवत के 'सखा' शब्द को लेकर सूर ने कृष्ण की उद्धव-संबन्धी चिंता का विस्तार कर दिया है । भागवत के अनुसार उद्धव ने अपने आप कहा : कृष्ण परब्रह्म है, अच्युत है, अकेले नंद-यशोदा के ही पुत्र नहीं है, वे तो सभी के संवन्धी है (भाग० १०।४६।४२) उद्धव के चरित्र के इस सूत्र का भी पूर्ण विस्तार किया गया है । गोपियों को उद्धव ने बार-बार अपना मन्तव्य समझाना चाहा ।[4] एक ओर तो उन्होंने कृष्ण को विश्वात्मा सिद्ध करने का प्रयत्न किया, दूसरी ओर दान, ब्रत आदि साधनाओं और समाजसेवा आदि के द्वारा कृष्ण की सिद्धि करने की प्रेरणा दी । पर सूर का उद्धव शुद्ध निराकारवादी योग साधना में विश्वास रखनेवाला है ।[5] ज्ञान के साथ योग का समन्वय भागवत के उद्धव में इतना नहीं, जितना सूर के उद्धव में है । सूर का उद्धव जितना अहंवादी है, उतना भागवत का उद्धव नही । 'सूर' का उद्धव तो कृष्ण

१. सू. सा० ४०३१ ।
२. वही ४०३० ।
३, वही ४०३३ ।
४. भागवत १०।४७।२३, २३ २६, २० ।
५. सू० सा० ४१२० ।

को भी उपदेश देने का साहस करता है। इससे सिद्ध होता है कि भागवत के मूलसूत्रों को तो सूर ने भागवत से ग्रहण किया, पर उनका विकास-विस्तार अपनी आवश्यकता के अनुसार उन्होंने किया। वास्तव में एक गीति-प्रबन्ध के एक प्रमुख पात्र के रूप में उनका अवतरण हुआ।

भागवत का उद्धव अपनी विचारधारा को तर्कों से सिद्ध करके गोपियों को अभिभूत नहीं करना चाहता। वह तो गोपियों की प्रेम-दशा से प्रारंभ में ही अभिभूत हो जाता है। सूर का उद्धव तो अपने सिद्धान्तों को तर्क के सहारे शास्त्रार्थ के धरातल पर उतार लाता है। जब उसे संदेश-कार्य सौंपा जाता है, तो वह अभिमान से फूल उठता है।[1] कृष्ण के संदेश को तो वह नन्द, यशोदा और गोपियों के सामने सामान्य रूप से कह देते हैं। फिर अपने सिद्धान्तों को कृष्ण के संदेश के नाम पर आरोपित करना चाहते हैं।[2] अन्तर्यामी और अविनाशी ब्रह्म का ध्यान करो। बिना तत्त्वज्ञान के उसकी प्राप्ति नहीं होती।[3] पूर्णब्रह्म ही सत्य है : त्रिगुणात्मक सृष्टि मिथ्या है।[4] ब्रह्म नाम-रूप की उपाधियों से परे है।[5] फिर उसकी प्राप्ति के लिए योग-साधना की पद्धति का विस्तार से उद्धव कथन करता है।[6] इस प्रकार उद्धव का दूतत्व प्रकट किया गया है।

दूतकाव्य[7] के नायक के रूप में उद्धव का चरित्र बड़ा विचित्र हो जाता है। साहित्य में दूत या दूती श्रृङ्गार-सहायक के रूप में मिलते हैं। नायक और नायिका का मिलन कराने में इनका योगदान रहता है। आध्यात्मिक या रहस्वादी क्षेत्र में 'गुरु' की स्थिति भी दूत की ही हो जाती है – आत्मा और परमात्मा को मिलन कराने वाला। 'बलिहारी वा गुरु की गोविंद दियौ मिलाइ।' दूत अपने नायक के पक्ष का चित्रण करके मिलन की उत्कंठा

---

१. ऊधौ मन अभिमान बढ़ायौ।
जदुपति जोग जानि जिय साँचौ, नैन अकास चढ़ायौ। सू. सा. ४०४७।
२. गोपी सुनहु हरि संदेस।
कह्यौ तुमकौं ब्रह्म ध्यावन, छाँड़ि विषय विकार।
३. सू० सा० ४१२०।
४. 'कह्यौ पूरन ब्रह्म ध्यावहु, त्रिगुन मिथ्या भेष। वही, ४३०२।
५. रूप-रेख, नाम जल-थल बरन-अवरन सार। (४३०३)।
६. सू० सा० ४४८४।
७. सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने १५ दूतकाव्यों की सूची दी है, हिन्दी मेघदूत-विमर्श, पृ० २२।

की व्यंजना भी कर सकता है, और दूसरे पक्ष में भाव का उद्दीपन भी कर सकता है। मिलन की भूमिका से भी अपर पक्ष को सूचित कर सकता है। उद्धव भी एक संदेशवाहक दूत के रूप से आते है। पर जिसने दूत के रूप में उन्हें नियोजित किया, उसका उद्देश्य स्वयं दूत का परिष्कार-संस्कार करना था। यह पीछे देखा जा चुका है : प्रेमपरक अभिप्राय से उद्धव को प्रेरित नहीं किया गया। वे तो गोपियों को कृष्ण से विमुख करके, उन्हें ब्रह्मोन्मुख करने के लिए गए।[1] इस प्रकार उद्धव का दूतत्व खंडित हो जाता है। कृष्ण का अभिप्राय स्पष्ट था—'ज्ञान बुझाइ खबरि दै आवहु एक पंथ द्वै काज' (४०५०)। प्रेम के अभिप्राय से उद्धव का दौत्य समाप्त हो जाता है। उद्धव अपनी सारी शक्ति ब्रह्म की स्थापना में और कृष्ण को ब्रह्म सिद्ध करने में लगा देते हैं।

डा० सत्येन्द्र ने उद्धव के उखड़े हुए दौत्य-कर्म को प्रतीकों और ध्वनि-व्यंजना के आधार पर आध्यात्मिक दृष्टि से प्रतिष्ठित किया है। उनकी विचारधारा के सूत्र इस प्रकार हैं[2] : 'सूरदास' कृष्ण के संयोग-वर्णन को अतिशय पर पहुँचा चुके हैं। उसी अतिशय पर संयोग-सूत्र छिन्न हो जाता है। संयोग का स्थान वियोग ग्रहण कर लेता है।...संयोग अत्यन्त स्थूल पक्ष है : वह योग है। वियोग उसी का सूक्ष्म पक्ष है....वह त्याग का उच्चतम स्वरूप है।.......साकार कृष्ण चले गए। अब कथाकार के सामने प्रेम की प्रवृत्ति से भिन्न भी यह प्रश्न पैदा हुआ कि अब कृष्ण का क्या होगा?.......इन समस्त प्रश्नों का समाधान भ्रमरगीत में सूर ने प्रस्तुत किया है...एक तो उस संयोग विच्छिन्न प्रेम को उद्दीपन मिले। दूसरे वह उद्दीपन ऐसा प्रबल हो कि गोपियों की अपनी स्थिति या तो अत्यन्त दृढ़ हो जाय या अत्यन्त शिथिल। बिना इसके कथा-सूत्र का अन्तर्भाव परिपूर्णता ग्रहण नहीं कर सकता। उद्धव का दौत्य कथानक की दृष्टि से इस उपयोग के लिए भी है।" इस प्रकार विद्वान विवेचक ने उद्धव के दौत्य का स्वरूप स्पष्ट किया। उद्धव का उपदेशक रूप प्रकट होकर गोपियों की प्रेम-भावना को उद्दीप्त और स्पष्ट करता है। उद्धव शृंगार-मूलक विरहकालीन निराकारिता को तान्त्रिक निराकार सिद्धान्त में परिणत करना चाहता था। पर उसने देखा कि विरहकालीन निराकारिता तो एक औपचारिक या सापेक्ष सत्य है। वस्तुतः यह साकारता का वह घनिष्ट रूप है, जो आत्मगत बिंब-विधान में अमर हो जाता है। आत्मगत साकार बिंब-

1. 'पूरन ब्रह्म सकल परिचय करि, डारे मोहि बिसारि। सू.सा. ४०४६।
2. साहित्य की झाँकी, पृष्ठ २२७-२८।

विधान एक विचित्र रूप मे अवतरित होता है। राधा और गोपियो की कृष्ण-लीला की अनुकरण-वृत्ति मे इसी साकारता का अवतार है। अपने ही आकार मे कृष्ण को साकार देखने के इन अकरुणं-व्यापारो को देखकर उद्धव की बुद्धि चकरा गई। अब साकारता सर्वाङ्गपूर्ण हो गई। वास्तव मे उद्धव के निराकार-निरूपण का यही फल निकला। जहाँ उद्धव का दौत्य वाह्य दृष्टि से असफल हो जाता है, वहाँ उसका दौत्य अपने ध्वनित रूप मे सफल हो गया। इसके द्वारा गोपियों का प्रेम दृढ हुआ और कृष्ण का साकार रूप सुनिश्चित।

अन्त में उद्धव यथार्थ दूत के रूप मे प्रतिष्ठित होता है। उसका अहंकार चूर हो गया। उसके अहं की अन्ध गुहारो मे ज्योतिर्मय रस संचरित हो गया : उसके दृप्त भाल पर गोपियों की चरण-धूलि अंकित हो गई। उसका हलचलपूर्ण व्यक्तित्व स्वरूप मे स्थित हुआ। अब उसमे प्रेम-दूत बनने की क्षमता आई। कृष्ण का सखा बनने के लिए उसे पात्रता मिली। उसको गोपियों ने अपना प्रेम-संदेश दिया—कृष्ण से कह देना…! व्रज पर शत्रुओ के आघात होने लगे है।[1] गाये तो क्षीण से क्षीणतर होती जा रही हैं।[2] और न जाने क्या-क्या कहा? 'ऊधो इतनी कहियो जाइ।' यह भी कहा कि जिस कथन-प्रणाली का प्रभाव पडे तुम उसी प्रकार कहना—'तुम कहियो जैसे गोकुल आवैं' (४६८९)। इस प्रकार कहना कि उनका प्रेम जागृत हो जाये—वे गोकुल आये विना रह न सकें। और उद्धव ने कृष्ण को गोपियो का संदेश—स्थूल रूप मे प्रति संदेश—आत्मीयता और तन्मयता के साथ दिया। उन्होने अपनी दुर्दशा भी कही—'मेरी कह्यौ पवन को भुस भयौ।' ज्ञानोक्तियो के तिनके प्रेम की आँधी के उड गए।—

'हौं पचि एक कहौं निरगुन की, ताहू में अटकाऊँ।
वै उमड़ैं वारिधि के जल ज्यौं, क्यौं हूँ थाह न पाऊँ। (४७४४)

पर अपनी दुर्दशा पर उद्धव को पश्चाताप नही था। वह सजल नयनो, गद्गद् कंठ और गोपियो की स्मृति मे पुलकित होकर व्रज की दशा का वर्णन करता रहा। कृष्ण को व्रज जाने की प्रेरणा भी देता रहा। राधा के विरह चित्र तो उद्धव की चेतना के क्षितिजो का अतिक्रमण करके और भी गहन आध्यात्मिक स्तरो पर अंकित हो गये।[3] आँसुओ से डूबा हुआ व्रज उसे कभी विस्मृत नही

१. सू० सा० ४०६९।

२. अति कृसगात भईं ये तुम विनु परम दुखारी गाइ। (४०७०)

३. सू० सा० ४७२२-२३।

हुआ।[1] अंत में उद्धव ने कहा—'फिरि व्रज बसौ नंदकुमार।'[2] और अपना परिवर्तित रूप भी उद्धव ने प्रकट किया—'मो मन उनही कौं जु भयौ।'

३.४ प्रतीकावतरण : भ्रमर—उद्धव का प्रतीकात्मक तादात्म्य भ्रमर से हो जाता है। साहित्य के क्षेत्र में भ्रमर नया नहीं है। काव्यालंकार में भामह ने दूतों की सूची में भ्रमर की भी गणना की है। इसको नायक का प्रतीक भी कहा गया है। बसन्त और कामदेव की वाणी भी इसके द्वारा गुंजरित होती है। नेत्र, केश भौंहें आदि, उपनेत्रों के लिए यह उपमान भी रहा है। इसकी सबसे प्रमुख कविप्रसिद्धि यह रही है कि उसके प्रेम में एकाग्रता नहीं : प्रेम-व्यापार में उसकी वृत्ति मधु-प्रेरित है : मधुपवृत्ति प्रसिद्ध हो गई। इसका एक नाम ही 'मधुव्रत' है। भ्रमर अपने उपमानत्व और स्वभाव के कारण इस कृति में कृष्ण का प्रतीक भी बन जाता है। गोपियों की प्रतीक-भावना इस प्रकार व्यक्त हुई है :

मधुकर काके मीत भये।
द्यौस चारि करि प्रीति सगाई, रस लै अनत गये।
डहकत फिरत आपने स्वारथ, पाखँड अग्र दये।
चाँड़ सरैं पहिचानत नाहीं, प्रीतम करत नये।
सूरदास प्रभु घूति धर्म ढिग, दुख बीज बये।

इस प्रकार कमल के प्रति भ्रमर की स्वार्थ-वृत्ति एक कविप्रसिद्धि बन गई है। 'सूर' के भ्रमर पर भी उसी का आरोप मिलता है। श्रीकृष्ण पर भ्रमरत्व का और भ्रमर पर श्रीकृष्णत्व का आरोप इसी परम्परा के अनुसार हुआ है।

कृष्ण भी काले, भ्रमर भी काला। क्या मथुरा काजल की कोठरी है, कि जो वहाँ से आता है, काला ही आता है? काले रंग पर उक्तियाँ करती हुई गोपियाँ कहती हैं—'सखीरी स्याम सबै इकसार।' वे सम्हल जाती हैं। भ्रमर गुंजन तो कर रहा है, पर इसके पीछे इसकी कपटशील प्रकृति है। इसमें और कृष्ण में कोई अंतर नहीं है—

भूलति हौं कत मीठी बातनि।
ए तौ अलि उनहीं के संगी, चंचल चित्त साँवरे गातनि।
× × × ×
स्वारथ निपुन सब-रस-भोगी, जनि पतियाहु विरह दुख घातनि।

इस प्रकार प्रकृति : गोपियाँ कृष्ण और भ्रमर को समान ठहराती हैं।

---

१. गोपिन-नैन-नीर-सरिता ते पार न पहुँचन पायौ। (सू. सा. ४७१५)
२. वही ४७२६।

२.५ गोपियां—भ्रमरगीत की गोपियाँ अत्यन्त सरलहृदया हैं। वे लोक विश्वासों से पली हैं। आज वे सगुन मना रही हैं—यदि कृष्ण आ रहे हों तो कौआ उड़ जावे—'तौ तू उड़ि न जाइ ए काग।' उद्धव में वे अपने प्रिय की कान्ति को देखकर हर्ष से उद्रिक्त हो जाती हैं। स्मृतियों में उनका सरल हृदय झूलने लगता है। जब उद्धव अपना बेसुरा राग अलापने लगते हैं, तो वे एकदम अधीर नहीं हो जातीं। वे उनकी बातों का उत्तर तो देना चाहती हैं, पर उत्तर तो उद्धव के कथन के अनुसार ही होगा। अतः पहले ध्यान से उद्धव की बात सुन लेना चाहती हैं। गोपियों का निश्चय यह है—

> **बोलक इनकौ हू सुनि लीजै।**
> **कैसी उठनि, उठैं धौं ऊधौ, तैसोइ उत्तर कीजै।।**

जिस स्वर में उद्धव बोलते हैं, उसी स्वर में वस्तुतः गोपी उत्तर देती हैं। यदि उद्धव उनके प्रेम को लौकिक बतलाकर एक उच्चस्तरीय ज्ञान और योग की साधना की ओर संकेत करता है, तो गोपियाँ भी वाग्वैदग्ध्य से उद्धव को चकित कर देती हैं। गोपियों के व्यंग्यों से उद्धव तिलमिला उठते हैं। निर्गुण निराकार का खंडन वे अत्यन्त सरलता से मानवीय भूमि पर करती हैं। कृष्ण के प्रति अपने अनन्य प्रेम और विश्वास को वे प्रत्येक साधना से ऊँचा मानती हैं। उद्धव जिस कैवल्य आदि का लोभ दिखलाता है, उसके लिए गोपियों में कोई आकर्षण नहीं होता—'मुक्ति आइ मंदे में मेली।' उत्तर देने में वे कभी हास्यमय शैली का प्रयोग करती हैं, कभी प्रखर शैली का। उनमें बुद्धि की प्रखरता तो है, पर उनकी उक्तियाँ शास्त्र-ज्ञान से प्रेरित नहीं हैं। सारी उक्तियाँ अत्यन्त सरल और सीधी है। वातावरण का वैचित्र्य इसमें है कि इन भोली ब्रजवासिनों की सामान्य उक्तियों से उद्धव की सारी उक्तियाँ निर्बल हो जाती है। गोपियों के व्यंग्य की पृष्ठभूमि में उनका अत्यन्त भावुक व्यक्तित्व है। सारी परिस्थिति जब उन हर व्यंग्य बन जाती हैं तो वे भी किसी भी व्यंग्य में नहीं चूक सकतीं। उद्धव, कृष्ण, भ्रमर और कुब्जा पर व्यंग्य करते-करते, वे अपनी मार्मिक व्यथा का भी कथन कर देती हैं। इस प्रकार सूर की ये गोपियाँ एक विचित्र संघर्ष में पड़ी हैं।

२.६ राध[illegible] को चित्र भ्रमरगीत में अत्यन्त सौम्य, शालीन और संक्षिप्त है। विरह ने उसे अत्यन्त मलिन कर दिया है : 'अति मलीन

वृषभानु कुमारी ।'[1] वह अपने मुँह से न अपनी विरह-वेदना का ही कथन करती है और न उद्धव या कृष्ण पर ही व्यंग्य कसती हैं । उद्धव से जब अन्य गोपियाँ शास्त्रार्थ करती हैं, तब भी राधा शान्त ही रहती है । बाह्य वातावरण के व्यंग्य और आघात ने उसे पूर्णतः अन्तर्मुख कर दिया है। वह एक ऐसी विरहणी है, जो अपने प्रिय के विषय में होते किसी अपवाद को सहन नहीं कर सकती । उद्धव तो लौटकर राधा की विरह दशा का वर्णन करते नहीं थकता—

सो देखत कहि उठी राधिका, अंक तिमिर कौं दीन्हीं ।
तन अति कंप विरह अति व्याकुल, उर धुकधुकि अति कीन्हीं ।।
चलत चरन गहि रही, गई गिरि, स्वेद सलिल भइ भीनी ।
छूटी न भुज, टूटी वलयावलि, फटी कंचुकी झीनी ।।

राधा के करुण चित्रों को सुनकर कृष्ण भी विकल हो जाते हैं ।

२.७ **गोपियों की सपत्नी : कुब्जा**—जो ग्वाल मथुरा से लौटकर वापस आए, उन्होंने तीन सूचनाएँ दीं : कंस को मार कर कृष्ण मधुपुरी के राजा हो गए हैं, उनके यथार्थ माता-पिता यशोदा-नन्द नहीं, देवकी-वसुदेव हैं और कुब्जा को उन्होंने अर्द्धाङ्गिनी बनाया है ।[3] इस तीसरी सूचना ने पहले गोपियों को हँसादिया : जोडी खूब बनी कृष्ण राजा और कुब्जा पटरानी ।[4] सपत्नी भाव ने विरह में विष घोल दिया। उनका नख-सिख आग की लपटों में जलने लगा—'नखसिख लौं महरानी ।' कुब्जा का नाम सुनने से पूर्व विरहशान्त था, अब प्रखर हो गया । आने की आशा समाप्त हो गई । कुब्जा के लिये इन गोपियों को निराश किया गया ।[5] कभी गोपियों

---

१. अति मलीन वृषभानु कुमारी ।
हरि स्रम-जल भीज्यौ उर अंचल, तिहि लालच न धुवावति सारी ।।
(सू. सा. ४६६१)

२. वही ४७२२ ।

३. वही ३७५६ ।

४. वही ३७६० ।

५. कुबिजा कौ नाम सुनत, बिरह अनल जूड़ी ।
रिसनि नारि झहरि उठीं, क्रोध मध्य बूड़ी ।।
आवन की आस मिटी, ऊरध सब स्वासा ।
कुबिजा नृपदासी, हम सब करी निरासा ।।
लोचन जलधार अगम, बिरह नदी बाढ़ी ।
सूर स्याम गुन सुमिरत, बैठी कोउ डाढ़ी ।। (सू, सा. ३७६१)

को हँसी आती है कि जोड़ी खूब मिली, दोनों एक से एक अधिक गुणशील—'ए अहीर वह दासी पुर की, बिधिना जोरी भली मिलाइ।'[1] कृष्ण ने जैसें अपनी लज्जा ही बेच डाली। कभी गोपियाँ संघर्ष में पड़ जाती है : दोप कृष्ण को दिया जावे, या कुब्जा को।[2] कोई कहती है, कुब्जा को तुम जानती हो। एक वार मथुरा गये थे तव देखा था, उस माली की बेटी को। हमको यह समझकर लज्जा आती है कि कृष्ण ने कुब्जा को ग्रहण करने के लिये कंस को मारा। उनका और कूबरी का साथ तो ऐसा हैं जैसे लहसुन और कपूर का। और फिर सोचने की वात यह है, कि कहाँ राधा और कहाँ कुब्जा। राधा को छोड़कर वे कुब्जा को कैसे धारण करेंगे—

> कसे री यह हरि करिहैं।
> राधा कौं तजिहै मनमोहन, कंस दासि धरिहैं॥

पर, पुरुष का कोई भरोसा नहीं—पुरुप कौं री सवै सोहै।' कठिनाई तो नारी को है, पुरुष तो नित्य नवीन की खोज में रहता है—

> कुबिजा नइ पाई जाइ।
> नवल आपुन, वह नवेली, रगर रहो खिलाइ॥

और सबसे वड़ी वात तो यह है—पुरानी कहावत है–मियाँ बीवी राजी, तो क्या करेगा काजी? 'सूर मिलै मन जाहि जाहि सौं, ताकौ कहा करै काजी।' कितना ही प्रयत्न करो, जाति और स्वभाव नहीं वदलते।

कृष्ण ने प्रेम का अच्छा निर्वाह किया—'तुम भली निवाही प्रीति।' फाग तो हमरे साथ खेले और पत्नी कुब्जा को बनाया। यदि आपको कूबड़ से ही प्रेम है तो भी अपनी पीठ पर कूबड़ निकाल कर चलें। हममें केवल यही गुण नहीं है—

> हम तौ सवं गुन आगरी, कुबिजा कूबर वाढ़ि।
> कहौ तौ हमहूँ लै चलं, पाछे कूबर काढ़ि॥

(सू. सा. ३७७३)

अन्त में कहती हैं, अहीर किसके मित्र हुए हैं। वह 'वेपीर' तो हमें सुलगती हुई छोड़ कर चला गया। इस प्रकार कुब्जा गोपियों के लिए एक मूर्तिमान व्यंग्य बन गई।

---

१. सू. सा ३७६६।

२. स्यामहि दोप किधौं कुबिजा कौं, यहै कहौ, मैं बूझति तोहि।'

(वही ३७६६)

जब उद्धव दूत के रूप में ब्रज की ओर चलने लगे, तो एक संदेश कुब्जा ने भी गोपियों के नाम भेजा। वह अपनी अधमता और हीनता को स्वीकार करती है। पर, यह भी कहती है कि भगवान की कृपा पर किसी का एकाधिकार नहीं है : सभी उसके अधिकारी हैं। जो कड़वी तोमरी सभी के लिए त्याज्य है, वह यंत्री के हाथ में पड़कर एक वाद्य का रूप भी ग्रहण कर सकती है। उसी से मधुर रागिनियाँ निःसृत हो सकती हैं। मैं शरीर से टेढ़ी अवश्य थी पर भगवान का स्पर्श इसे मिल गया है। आप सब मुझ पर इतनी क्यों बिगड़ती हैं?—

हम पर काहे झुकति ब्रज नारी।
साझे भाग नहीं काहू कौं, हरि की कृपा निनारी।

× × × ×

फलनि माँझ ज्यौं करुइ तोमरी, रहत घुरे पर डारी॥
अब तौ हाथ परी जंत्री के, बाजत राग दुलारी।
तनु तें टेढ़ी सब कोउ मानत, परसि भई अधकारी॥

इस प्रकार कुब्जा के मन में विनय, स्वाभिमान और आस्था का पूर्ण संचार है। उसकी हीनता कृष्ण स्पर्श से उदात्त बन गई। राधा के लिए कुब्जा ने एक विशेष संदेश भेजा। जिस प्रकार मेरे ऊपर कृष्ण कृपालु हैं, उसी प्रकार तुम भी दयादृष्टि रखो। मुझे अपनी दासी ही समझो। तुम भगवान की अर्द्धाङ्गिनी हो : मैं तुम्हारी बराबरी कैसे कर सकती हूँ। बस, तुम्हारी कृपा की याचना करती हूँ—

ऊधौ यह राधा सों कहियौ।
जैसी कृपा स्याम मोहि कीन्हीं, आपु करत सोइ रहियो॥
मो पर रिसु पावति बिनु कारन, मैं हौं तुम्हरी दासी।

× × × ×

कहाँ स्याम की तुम अरधंगिनि, मैं तुम सरि की नाहीं॥

संदेश की इस संरचना में कुब्जा का सात्त्विक रूप प्रकट हो रहा है। पर उसका एक दूसरा रूप भी प्रकट हुआ है।

कुब्जा ने एक सन्देश में गोपियों को यह भी बतलाया कि तुम्हारा कृष्ण से कोई सम्बन्ध नहीं। एक व्यंग्यपूर्ण उलाहना भी दिया : तुमने और यशोदा ने कृष्ण के साथ बड़ा निष्ठुर व्यवहार किया। तुमने उसे बँधवाया। वह रोता रहा। उसी जाल के कारण कृष्ण ब्रज को छोड़कर चले आए हैं—

मातु पिता कौ नेह समुझि कै, स्याम मधुपुरी आये।
नाहिन कान्ह तुम्हारे प्रीतम, ना जसुदा के जाए ।।
× × × ×
तनक दही माखन के कारन, जसुदा त्रास दिखावै।
तुम हँसि सब बाँधन कौं दौरीं. काहू दया न आवै ।।
× × × ×
जो वृषभानु सुता उत कीन्हीं, सो सब तुम जिय जानी ।
ताही जाल तज्यौ ब्रज मोहन, अब काहे दुख मानी ।।

कुब्जा तो सारे संबन्धों को इस प्रकार तोड़े दे रही है कि कुछ हुआ ही नहीं। वह क्या समझे ब्रज की भावभूमि को ? वह तो कृष्ण के माहात्म्य की दृष्टि से यह सन्देश भिजवा रही है। यशोदा और गोपियों की भाव-सरणियों तक यह क्या पहुँचेगी ? यही सोचकर गोपियों के कुब्जा के प्रति एक कटु प्रतिक्रिया जग गई। कुब्जा भी अभिमान करने लगी है—चलती का नाम गाड़ी है। गोपियाँ कृष्ण और कुब्जा पर एक व्यंग्य करती हैं—

हमकौं हौंस बहुत देखन की, संग लियैं कुबिजा पटरानी ।[1]

३ सन्देश की प्रतिक्रिया—

३.१ विरह चित्र—गोपियों ने अपने अनुभूति-संकुल क्षणों में अपनी विरहावस्था भी उद्धव से निवेदित की। ब्रज के सभी विरहियों की दशा से उद्धव को गोपियों ने परिचित कराया। कृष्ण का पत्र आया। बड़े भाग्य से कितने दिन बाद तो प्रेमपत्र मिला। विडम्बना यह है कि वे उसे पढ़ ही नहीं पाईं : आँसू का प्रवाह और विरह की ज्वाला पढ़ने दे तब न ?[1] आँसुओं ने प्रेमपत्र के अक्षरों को ही मिटा दिया और फिर सब कुछ श्याममयी ।[2] पत्र के संबन्ध में गोपियों की विविध प्रतिक्रियाओं को सूर ने अपनी सहज शैली में अंकित किया है—

---

१. सू सा. ४२२५। कुब्जा संबन्धी व्यंग्यों के लिए द्रष्टव्य ४२५४–४२७३।

२. नैंन सजल कागद अति कोमल, कर अँगुरी अति ताती।
परसै जरै बिलोकैं भीजै, दुहूँ भाँति दुख छाती ।।

३. निरखति अंक स्यामसुंदर के बार-बार लावति छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलिकैं ह्वै गई स्याम स्याम की पाती ।।

पाती मधुबन तैं आई।
ऊधौ हरि के परम सनेही, ताके हाथ पठाई॥
कोऊ पढ़ति, कोउ धरति नैन पर, काहू हृदय लगाई।
कोउ पूछति, फिर फिर ऊधौ कौं, आपुन लिखी कन्हाई?
बहुरौ दई फेरि ऊधौ कौं, तब उन बाँचि सुनाई।
मन में ध्यान हमारौ राख्यौ, 'सूर' सदा सुखदाई॥

'आपुन लिखी कन्हाई'–प्रतिक्रिया अद्भुत है। कितनी अनुभूतियाँ इससे व्यंजित है। अन्त में उन्हें सुख यही देखकर है कि कृष्ण के हृदय में कहीं तो हमारा ध्यान है। उद्धव के व्यक्तित्व की आधार भूमि ही प्रेम के इस अनन्त पारावार को देखकर खिसकने लगी। उसने जैसे-तैसे अपने को सम्हाला। गोपियों ने कहा, अब पत्र हमारा मन नहीं बहला सकता: दर्शन चाहिए—'जौ लौं मदनगुपाल न देखें, विरह जरावत छाती।'

यह सब तो उद्धव ने देखा। फिर गोपियों ने अपने दुरन्त विरह की गाथा कही। क्रम से उनके सामने विरह के कुछ करुणा-विगलित चित्र प्रस्तुत किए। उन्होंने अपनी आकुल-व्याकुल आँखों के व्याज से कुछ चित्र प्रस्तुत किए—

१. ऊधौ इन नैननि नेमि लियौ।
   नँद-नंदन सौं पतिव्रत राख्यौ, नाहिन दरस बियौ।
२. हरि मुख निरखि निमेष बिसारे।
   ता दिन तें ये भए दिगंबर, इन नैननि के तारे॥
३. और सकल अंगनि तें ऊधौ अँखियाँ अधिक दुखारी।
४. अँखियाँ हरि दरसन की भूखी।
   कैसे रहित रूप-रस राँची, ये बतियाँ सुनि रूखी॥

जिन आँखों ने मधु की मक्खिकाओं के समान रूप-मधु में लिपटकर जीना सीखा था, वे आज दिगम्बरी हो गई हैं। आँखों की दशा अकथनीय हो गई है। आँख समय के पदों और नैन समय के पदों में सूर ने रूप के संदर्भ में सैकड़ों उक्तियों के द्वारा आँखों की प्रभाव-दशा का वर्णन किया है: उन्हीं आँखों का वैसा दृश्य आँख के संबन्ध में हुई इन उक्तियों में है। आँख की पीड़ा को संभवतः अन्धे सूर ने सबसे अधिक समझा है।

व्रजवासियों के विरह की गाथा कहने की चीज नहीं है। उसकी तो अनुभूति ही की जा सकती है। उस अनुभूति की अभिव्यक्ति अन्य अनेक

माध्यमों से की गई है। विरहिणियों का एक विचित्र वर्ग इस ब्रज में रहता है। यह वर्ग गोपाल की गायों का है। उनका विरह-चित्र तो और भी द्रावक है। वे तृण चरतीं नहीं : उनके बछड़े विलख रहे हैं : उन्हें वे दूध ही नहीं पिलातीं—'बाल बिलख, मुख गौ न चरत तृन, बछरत छीर न प्यावैं।' उनकी आँखें भी उतनी ही व्याकुल हैं—

'जल समूह बरसत दोऊ आँखिन, हूँकति लीन्हे नाँउ।'

जहाँ-जहाँ कृष्ण ने गो-दोहन किया था, वहाँ-वहाँ—

परति पछार खाइ तेहि-तेहि मिलि अति आतुर ह्वै दीन।
मानहुँ सूर काढ़ि डारी है, बारि मध्य तें मीन॥

उद्धव ने यह सुना और अपनी आँखों से देखा भी। गायों को इस प्रकार विरह-पीड़ित देखकर किसी का धैर्य नहीं रह सकता। गोपियों ने अपनी दशा भी संक्षेप में कही—

गोविंद के बिछुरे तैं ऊधौ जानी विरह की बात।
हौं सूखी यह भाँति गात अति, ज्यौं तरुवर के पात॥
भूल्यौ भोजन, भाव सकल कृत, बचन न नैंकु सुहात।
सहज बहत लोचन जल-सरिता, सूर बूड़त उतरात॥

संयोगावस्था की मधुमय प्रकृति अब वातावरण में विष घोल रही है। उन उपकरणों का नाम तक लेने में गोपियों को पीड़ा होती है, अतः कूटशैली में उनके नामों की ओर संकेत करती हैं—

ऊधौ इतने मोहि सतावत।
कारी घटा देखि बादर की, दामिनि चमक डरावत।
हेम-सुता-पति कौ रिपु व्यापै, दधि-सुत रथ न चलावत।
अंबु खंडन सब्द सुनत ही, चकृत उठि धावत।
कंचनपुर-पति कौ जो त्राता, तासु-प्रिय बलहि न आवत।
संभु-सुत कौ जो बाहन है, कुहकै ससत सलावत॥

इन उक्तियों में उद्धव को संबोधित किया गया है। उद्धव के मन में जाने अनजाने कितनी प्रतिक्रियाएँ प्रगट हो रहीं थीं। उनकी अभिव्यक्ति तब होती है, जब वह ब्रज से जाने लगता है : तब वह कृष्ण को लौटकर गोपियों की विरह व्यथा सुनाता है। एक और तुलनात्मक चित्र गोपियों ने उद्धव के सामने रखा—

बिनु गुपाल बैरिन भईं कुंजैं ।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भईं विषम अनल की पुंजैं ।
वृथा वहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूलैं अलि गुंजैं ।।
पवन पानि, घनसार सजीवनि दधिसुत किरन भानु भईं भुंजैं ।
ए ऊधौ, तहियौ माधव सौं, बिरह कदन कर मारत लुंजैं ।
सूरदास प्रभु को मग जोवत, 'अँखियाँ भईं बरन ज्यौं गुंजैं ।।

फूलों की सेज दुःखमय हो गई है : 'हमकौं दुःख भईं ये सेजैं ।' कृष्ण की मधुर बातें तो कलेजे के पार ही हुई जा रही हैं : 'ऊधौ कमल नयन की बतियाँ, छिद-छिद जात करेजैं ।' सारी गोपियाँ तो कुछ न कुछ वेदना या व्यंग्य की बातें कहती भी हैं। राधा की दशा तो देखी ही नहीं जाती। रसेश्वरी राधा को जैसे एक कटु शुष्कता ने घेर लिया है। उसकी दशा का चित्र कितना मार्मिक है—

अति मलीन वृषभानु कुमारी ।
हरि-श्रम-जल भीज्यौ उर अंचल, तिहिं लालच न धुवावति सारी ।।
अवमुख रहति अनत नहिं चितवति, ज्यों गथ हारे थकित जुवारी ।
छूटे चिकुर, बदन कुम्हिलाने, ज्यौं नलिनी हिमकर की मारी ।।
हरि सँदेस सुनि सहज मृतक भइ, इक बिरहिन, दूजे अलिजारी ।
सूरदास कैसे करि जीवैं, ब्रजबनिता बिनु स्याम दुखारी ।।

इस प्रकार सूर ने ब्रज के अनेक चित्र उद्धव के सामने रखे। विरह की सभी दशाएँ उद्धव ने ब्रज में घटित होती देखीं।[१] एक ओर कृष्ण के प्रति गोपियाँ शुभ कामनाएँ करती हैं—जहँ-जहँ रहौ, राज करौ तहँ-तहँ, लेहु कोटि सिर भार। यह असीस हम देति सूर सुनु न्हात खसै जनि बार।' कभी ये कृष्ण की इस निष्ठुरता पर तरस खाती हैं कि अनन्य प्रेमिकाओं को योग का संदेश भेजा—'करि बहु प्रेम गह्यौ अविवेकहिं लिखि-लिखि पठवत जोग'—यह तो सरासर अविवेक है। बार-बार पूछती हैं कि क्या वे ब्रज-जीवन की मधुर-मृदुल घटनाओं को याद करते हैं...'कबहुँक सुरति करत हैं मधुकर, हरन हमारे चीर की।' इस प्रकार उन्होंने अपनी समस्त मनःस्थिति से उद्धव को परिचित कराया।

इस संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि विप्रलम्भ शृंगार की परिपाक भ्रमरगीत में हुआ है। पर विप्रलम्भ का प्राधान्य होने के कारण हास्य-

---

१. डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित, कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत, पृ० २७५-२८१

व्यंग्य का भी प्रवेश हो गया है। विरह-कातर चित्रों की पृष्ठभूमि में नियोजित व्यंग्य एक विशेष शक्ति से संयुक्त हो जाते हैं। उद्धव के मर्म का स्पर्श तो ये विरहचित्र कर ही चुके थे, व्यंग्यों की चोट ने उन्हें तिलमिला दिया। इतनी गहरी विरह-व्यथा को देखकर भी उद्धव अपने ज्ञान-योग का बेसुरा राग अलापते रहे कि गोपियों का विक्षोभ व्यंग्योक्तियों के रूप में बरस पड़ा। उद्धव की चेतना जर्जर हो गई। उद्धव के उपदेश अवसर के अनुकूल नहीं थे, इसी का उपदेश बधारता था—

ऊधौ तुम ब्रज की दसा विचारौ.
ता पाछै यह सिद्धि आपनी, जोग कथा विस्तारौ।[1]

३.२ विप्रलंभ से उपालंभ की ओर—मूलतः भ्रमरगीत विप्रलं शृंगार का काव्य है। विप्रलंभ शृङ्गार के भेदोपभेदों के प्रमाण इस कृति में मिल जाते हैं। इसकी पृष्ठभूमि में प्रगाढ़ संभोग-शृङ्गार की स्थितियाँ हैं। गोकुल में प्रेम की अभूतपूर्व झाँकियाँ घटित हुईं। ब्रजवासियों से कृष्ण के बहुविध संबन्ध बने। 'महारास' मिलन का महोत्सव बन गया था। 'दानलीला' में गोपियाँ यथार्थतः सब कुछ समर्पित कर चुकी थीं : मिलन का उन्माद चेतना को अभिभूत कर चुका था। गोपी देखती थी कि चेतना के हर कोने में कृष्ण की कोई न कोई छबि चिपकी है। पर यह सब भूमिका थी—विरह की, चिर-विरह की। विरह के जलते बवंडर से ब्रज की कोमल, पगली लताएँ झुलस गईं। एक संदेस तो नन्द लाए थे। संदेश नहीं एक छल था, एक छद्म था। गोपियों ने भी संदेश भेजे थे—'सँदेसनि मधुबन कूप भरे।' पर, मथुरा का क्षितिज निस्पन्द ही रहा।

अब संदेश लेकर उद्धव आये है। पर, इनके पास सन्देश प्रेम का कहाँ ? ये तो अपने ज्ञान के दर्पसे उद्धत उद्धव हैं। संदेश है—ज्ञान का, योग का। ब्रजवासियों थे विरह पर जैसे एक बड़ा व्यंग्य छा गया। गोपियों को आशा थी—'नीकें हरि-संदेस कहैगो, स्रवन सुनत सुख पैहै।'[2] इसी आशा में उन्होंने उद्धव का हार्दिक स्वागत किया—

कंचन कलस, दूब, दधि रोचन लै बृन्दावन आइ।
मिलि ब्रज-नारि तिलक सिर कीनौ, करि प्रदाच्छना तासू।।[3]

---

१. सू. सा,, ४२३६।
२. वही ४०८६।
३. वही ४०९७।

तीव्र हो जाती हैं। कृष्ण ने मथुरा से नंद को विदा करते समय जिन शब्दों का प्रयोग किया था, उनमें उदासीसता के हिमखंड ही जैसे गल कर वह निकले थे। कुब्जा-कथा भी ब्रजभूमि में चल पड़ी थी। जिन गोपियों के मन में कृष्ण के अतिरिक्त कुछ नहीं था, उनको परिस्थिति के बस कटुतम व्यंग्य को सहना पड़ा। उनका सन्तुलन बिगड़ गया : वे अपने व्यक्तित्व के बिखराव का अनुभव करने लगीं। उनका प्रेमातिरेक तो अक्षुण्ण रहा, पर निर्भय होकर, अतिशय आत्मविश्वास से उन्होंने क्षोभ को प्रकट कर दिया। इस स्थिति से गोपियों का व्यक्तित्व एक उत्कृष्ट भूमि पर प्रतिष्ठित मिलता है, और कृष्ण के व्यक्तित्व का इस संदर्भ में गत्यावरोध और अन्य दिशा की ओर उसका व्यक्तित्व गतिशील मिलता है। 'भ्रमरगीत' में उपालम्भ की स्थिति इसी प्रकार बनती है। परिस्थिति के व्यंग्य में विष उस समय भर जाता है जब, जिसे वे प्रेमदूत समझी थीं वह ब्रह्मदूत के रूप में परिणत होकर, न जाने क्या से क्या बकने लगता है। बस अब उपालंभ तीक्ष्ण हो जाता है। रूढ़-विप्रलंभ शृङ्गार-उपालंभ के तत्व से अनुप्राणित हो जाता है। स्वच्छन्दवादी घनानंद में भी वियोग-शृङ्गार उपालंभ से अनुप्राणित है। संभोग-शृङ्गार के समय उपालंभ एक सुन्दर ब्याज बनकर रह जाता है, वहाँ वियोग में वह यथार्थ हो जाता है : ऐसा यथार्थ जिसमें भोले हृदय की पीड़ा अधिक है, ऐसा यथार्थ जो छिपना नहीं जानता ! ये यथार्थ उपालंभ जीवन के कितने निकट आ जाते है। भ्रमरगीत-काव्य में उपालंभ का तत्त्व बड़ा रसोत्कर्षक और कलात्मक हो गया है। एक विद्वान ने तो यहाँ तक कह दिया है : "...जहाँ विप्रलंभ-शृङ्गार है, वहाँ उपालंभ अवश्व होंगे। दोनों का अन्योन्याश्रय संबन्ध है।"[1]

३.३ व्यंग्य : वैदग्ध्य—व्यंग्य उपहास्य के यथार्थ रूप का उद्‌घाटन करता है। उसके प्रति सामान्य सहानुभूति भी कुंठित हो जाती है। व्यंग्य एक बौद्धिक एवं सोद्‌देश्य प्रक्रिया है। व्यंग्य समाज या व्यक्ति की विकृतियों पर चोट करता है। इसका उद्‌देश्य इन विकृतियों का निराकरण होता है। संक्षेप में कह सकते हैं : व्यंग्य सामाजिक या व्यक्तिगत विकृतियों पर प्रहार करने का एक साहित्यिक माध्यम है। विभिन्न मान-मूल्यों के अनुसार विकृतियों का निश्चय किया जाता है। निश्चित मानों या प्रतिमानों को आरोपित किया जाता है। व्यंग्य इन विकृतियों का उपहास करने और उनके प्रति घृणा उत्पन्न

१. डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित, कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत, पृ० २३६।

करने की ही प्रक्रिया है। बर्नार्ड शॉ ने लगभग यही बात कही है।[१]

व्यंग-प्रहार दो प्रकार का होता है : एक ही चोट में उपहास्य को धराशायी कर देने वाला व्यंग्य और चोट-पर-चोट करने वाला व्यंग्य। इन्हीं उद्देश्यों से व्यंग्य के अनेक रूप हो जाते हैं। इनमें से मुख्य ये हैं : उपहास (Ridicule), विडंबना, (Irony), अपकर्ष (Diminution), अतिशयता (Exaggeration) और वैदग्ध्य (Wit)। इन्हीं रूपों में व्यंग्य प्रकट होता है। इन सभी प्रकार के व्यंग्यों का उद्देश्य विकृतियों का उन्मूलन ही होता है।

सूर-साहित्य का भ्रमरगीत-प्रसंग व्यंग्य-विधान की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। गोपियों की व्यंग्योक्तियाँ कृष्ण-उद्धव (=भ्रमर) और कुब्जा के प्रति प्रेरित हैं। इस व्यंग्य का लक्ष्य कृष्ण है। कृष्ण पर भ्रमरत्व का आरोप करके गोपियाँ उनकी प्रेम-दृष्टि को विकृत मानती हैं। मधुवृत्ति वास्तविक प्रेम नहीं हो सकता। प्रेम जीवन का उच्च मूल्य है। उसको मधुवृत्ति से पृथक करके अविकृत कर देना चाहिए। कृष्ण के प्रति प्रेरित व्यंग्योक्तियों का यही लक्ष्य है। भ्रमर का माध्यम स्वीकार करके शिष्टाचार की रक्षा की गई है। उद्धव प्रेम के मूल्य को स्वीकार नहीं करता। वह योग और ज्ञान के कर्मवादी या ब्रह्मवादी मूल्यों को प्रेम से उच्चतर मानता है। गोपियाँ उद्धव के चरित्र की इस विकृति को दूर करने के लिए व्यंग्योक्तियाँ उन पर प्रेरित करती हैं। कृष्ण का उद्देश्य भी उद्धव को अविकृति रूप में देखना ही था। पर उनके पास उद्धव के परिष्कार का कोई साधन नहीं था।[२] अतः वे उन्हें ब्रज भेज देते हैं। ब्रज में उद्धव को प्रेम की साक्षात् और अविकल झाँकी भी मिली और गोपियों की व्यग्योक्तियों ने उनका उपचार भी कर दिया। ब्रज से जाते समय उद्धव का जो अविकृत, प्रेमवादी रूप सामने आता है, वह गोपियों के द्वारा प्रयुक्त व्यंग्य की सफलता का ही प्रतीक है। कृष्ण तो वस्तुतः प्रेम के मूल्य को स्वीकार ही करते थे। उनका प्रेमदर्शन केवल गोपियों के संदर्भ में विकृत था, तात्त्विक दृष्टि से नहीं। ब्रज की दशा को सुनकर उनका अविकृत प्रेमी का रूप प्रकट हो जाता है। साथ ही एक प्रतीक विधान के द्वारा, वे यह भी सिद्ध कर

१. 'After all the salvation of this world depends on the men who would not take evil good humouredly, and whose laughter destroys the fool instead ef encouraging him.' [The Quintessence of Ibsonism. 1920, P. 186]

२. मेरो प्रगट कह्यौ नहि बदिहै, ब्रज ही देउँ पठाइ। (सू. सा. ४०३७)

देते हैं कि ब्रज को छोड़कर वे कहीं नहीं जाते। अतः ब्रज में व्याप्त विरह एक प्रातिभासिक तथ्य है, यथार्थ नहीं। इसलिए मधुप-वृत्ति के आधार पर नियोजित व्यंग्य किसी अन्य साध्य के लिए नहीं है, वे स्वयं ही साध्य हो जाते है। जव उद्धव ब्रज जाने लगे, तो कृष्ण ने ब्रज में रहने वाले अपने एक रहस्यात्मक प्रतिनिधि की चर्चा की थी—उद्धव ने ब्रज में कृष्ण के दर्शन भी किये। इस आश्चर्य को उन्होंने प्रकट किया[१]—

ब्रज में एक अचम्भौ देख्यौ।
मोर-मुकुट पीतांबर धारे, तुम गाइन सँग पेख्यौ।

उद्धव को एक संभ्रम हो गया—

तुम ही सौं बालक किसोर बपु मैं घर-घर प्रति देख्यौ।
मुरलीधर घनस्याम मनोहर, अद्भुत नटवर पेख्यौ।

इससे उद्धव को विश्वास हो गया कि कृष्ण ब्रज से अभिन्न हैं। गोपियाँ कृष्ण, उद्धव और भ्रमर पर व्यंग्योक्तियाँ कसती रहीं। पर उनकी यथार्थ परिणति उद्धव के संदर्भ में ही होती है।

३.३१ उपहास : (Ridicule)—उपहास की स्थिति तब होती है जब उपहास व्यक्ति या व्यापार के प्रकट रूप और उसके यथार्थ रूप में विरोध की प्रतीति हो। इस विरोध को प्रकट करने के लिए उपहास प्रयुक्त होता है। विरोध जब आक्रोशात्मक हो जाता है, तो प्रभाव और औद्धत्य बढ़ जाता है। प्रकट रूप का कारण आत्मबोध का प्रभाव भी है। अपने संबन्ध में मिथ्याबोध, आत्मबोध का बाधक होता है। उपहास द्वारा सौन्दर्य, ज्ञान आदि के संबन्ध के मिथ्याबोध का उद्घाटन कर दिया जाता है। उपहास को कलात्मक रूप देना एक साधना है। शैली में विरोधाभासी शब्दों की योजना उपहास को चमत्कारपूर्ण बना देती है। कलाकर उपहास की स्थिति की अपनी शैली के माध्यम से सृष्टि करता है। उपहास अपनी शक्ति से उपहास्य को लज्जित कर देता है। इससे मिथ्या अहंकार चूर हो जाता है।

कृष्ण के व्यक्तित्व को गोपियाँ दुरगा मानती हैं। उद्धव को संबोधित करके उन्होंने स्पष्ट कहा—

आए माई दुरँग स्याम के संगी।[२]

---

१. सू. सा. ४७७०—७१
२. वही ४१२६

३.३११ कृष्ण का उपहास—कृष्ण के चरित्र के द्विविध रूप को प्रकट करने के लिए कई शैलियाँ प्रयुक्त हुई हैं। एक शैली संयुक्त वाक्यों की है। इन वाक्यों के प्रथमांश में पहली बातें कही गई है और पिछले अंशों में उनकी वर्तमान दृष्टि को स्पष्ट किया है।

(१) कै—कै अब—:'

कै बुलाइ लीन्हे हम घर तें तरल भौंह मुसकौंही।
कै अब डारि दई मन-वच-क्रम,पतरी ज्यौंहि जुठौहीं।[1]

(२) 'तब—अब—:'

जब बृंदावन रास रच्यौ हरि, तबहिं कहाँ तुम हेव।
अब यह ज्ञान सिखावन आए, भरम अधारी सेव।[2]

(३) एक समय–अब–

एक समय हरि अपने हाथनि, करनफूल पहिराए।
अब कैसें माटी के मुद्रा, मधुकर हाथ पठाए। (४२१६)

दूसरे प्रकार की विषमता कृष्ण की ब्रज-वास के समय की और इस समय की स्थितियों की तुलना से प्रकट की गई। इस प्रकार की उक्तियों का भाव यह है—बहुत देखे, अब हो गये होंगे राजा। यहाँ मक्खन चुराते रहे—

बंसी मधुर सुनाइ हर्‌यौ मन, दधि खायौ लै पात।
सूरस्याम नृप राज भए अब, गोपिन देखि लजात।[3]

उद्धव को संबोधित कुछ उक्तियों का स्वर इस प्रकार है : पहले तो हमारा सर्वस्व अपहरण करके ले गये। अब क्या करने आए हो—

लै सरवसु संग स्याम सिधारे, अब का पर पहिराए हो।[4]

एक और प्रकार की उपहास-उक्तियाँ वे है, जिनमें राधा को छोड़कर कुब्जा को वरण करने की बात कही गई है—

जनमभूमि ब्रजसखी राधिका, केहिं अपराध तजी।
अति कुलीन, गुन रूप अमित सुख, दासी जाइ भजी।[5]

उपहास तब और भी करारा हो जाता है, जब कुब्जा की ओर भी गोपियाँ संकेत कर देती है—'आपुनि केलि करत कुबजा संग, हमहिं सिखावत जोग।' इस प्रकार कृष्ण की कलई खोलकर गोपियाँ रख देती हैं—'आई उघरि प्रीति कलई सी, जैसी खाटी आमी'[6]

---

१. सू. सा, ४११३
२. सू. सा. ४११४, ४११७
३. वही ४११७
४. वही ४११८, इसी प्रकार, ४२२७
५. वही ४१२७
६. वही ४२४७

३.३१२ उद्धव का उपहास—एक सामान्य उक्ति इस प्रकार की है : तुम्हें इतना गंभीर ज्ञान और योग अवलाओं को किस प्रकार वनाए बनता है—

१. **बारंबार ज्ञान गीता कौं; अबलनि आगैं गावत ।**[१]

२. **कनक वेलि कामिनि व्रज बाला, जोग अगिनि दहिवे को धायौ ।**[२]

उद्धव और कृष्ण की प्रकृति देखकर भी उपहास की स्थिति बन जाती है। उद्धव के संदेश को सुनकर उन्हें विश्वास नहीं होता कि योग और ज्ञान का सन्देश कृष्ण जैसे रसिक शिरोमणि भेज सकते है अत: वे उद्धव का वार-बार उपहास करती हैं—

ऊधौ स्याम सखा तुम साँचे ।
की करि लियौ स्वाँग वीचहि तें, वैसहिं लागत काँचे ।।[३]

आगे वे अपनी बात को और भी स्पष्ट करती है—

ऊधौ जाहु तुमहि हम जाने ।
स्याम तुमहि ह्याँ कौं नहि पठयौ, तुम हौ बीच भुलाने ।।[४]

फिर उद्धव के चरित्र के विरोध को व्यक्त करने के लिए कुब्जा को बीच में लाती हैं । वे कहती हैं कि जिस ज्ञान और योग का सन्देश तुम हमारे लिए लेकर चले आए हो, उसे कुब्जा को क्यों नहीं देते ? 'यह उपदेस देहु लै कुब्जहिं, जाके रूप लुभाने हौ ।[५] व्रज की इन अवलाओं को योग का सन्देश देते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती ।[६] जरा सोच कर तो देखो—'कहँ अबला, कहँ दसा दिगम्बर ।'

उद्धव के अवसर के विपरीत उपदेश को सुनकर वे उद्धव का और भी कटु उपहास करने लगती हैं । उद्धव जी शायद तुम्हें त्रिदोष हो गया है । कुपित वायु के प्रभाव से ही तुम इस प्रकार की वहकी-वहकी बातें कर रहे हो । अत: तुम अपनी चिकित्सा कराओ—

आपुन कौ उपचार करौ अति, तव औरनि सिख देहु ।
बड़ौ रोग उपज्यौ है तुमकौं, भवन सवारें लेहु ।।[७]

अंत में गोपियों ने उद्धव को समझाया कि तुम अपनी योग की बातों को वन्द

---

१. सू. सा. ४१२१
२. वही ४१३१
३. वही ४१३१
४. वही ४१३६
५. वही ४१३८
६. वही ४१३६, ४१६८, ४१७१
७. वही ४१४७ इसी प्रकार ४२२६

करो, ब्रज में तुम्हारा उपहास होने लगा है—'हाँसी होन लगी है ब्रज में, जो गहि राखहु गोई।'[1] क्यों इस प्रकार अपनी हँसी कराते हो ?

उद्धव की बातें करते-करते अक्रूर की याद भी आ जाती है। इन दोनों को गोपियाँ एक सा पाती हैं।[2] फिर निष्कर्ष निकालती हैं कि मधुबन में खोटे लोग ही हैं।[3] इन सभी की विशेषता यह है—'मुख औरै, अंतर-गति औरै।'[4] वास्तव में कृष्ण ऐसे नहीं थे : मधुबन के दुरंगे लोगों के साथ बस कर वे भी दुरंगे हो गये हैं।

३.३२ विडंबना (Irony)—इसका प्राण वैपरीत्य है है। जिस आदर्श का प्रतिपादन करना होता है, ठीक उसके विपरीत कर कर विडम्बना की सृष्टि की जाती है। जिस वस्तु का खंडन हमें अभीष्ट होता है उसी वस्तु में विश्वास करने का बहाना किया जाता है। एक प्रकार से व्याजस्तुति, व्याज निन्दा या व्याजोक्ति विडंबना के निकट है। व्यंग्य अंग के रूप में विडंबना के साथ रोष या आक्रोश के तत्त्व भी समन्वित रहते हैं। निन्द्य रूपों की प्रशंसा के व्याज से, निन्दा की जाती है। इसी प्रकार निन्दा के व्याज से प्रशंसा भी की जाती है। इसमें विनय का एक मिथ्या स्वाँग सा रहता है। यह विनय वास्तव में चोट को और भी गहरी बना देती है। उद्धव के प्रति कुछ ऐसी उक्तियाँ है, जिनमें सद्गुणवाची विशेषणों का प्रयोग हुआ है, पर उनका अर्थ उल्टा ही है। गोपियों का विश्वास इन सद्गुणों में नहीं है—

अति कृपालु आतुर सबहीन कौं, व्यापक अगह गहायौ।
समुझि 'सूर' सुख होत स्रवन सुनि, नेति जु निगमनि गायौ ॥[5]

इसी प्रकार सारे मथुरियों की विडंबना भी की जाती है। एक बार अक्रूर इस ब्रज पर कृपा करने के लिए आये थे कि कृष्ण के हो गये। अब उद्धव जी के हम कृतज्ञ हैं कि योग और ज्ञान का अमूल्य संदेश दे रहे हैं—

मधुबन सब कृतज्ञ धरमीले।
अति उदार परहित डोलत हैं, बोलत बचन सुसीले ॥[6]

---

१. सू. सा. ४१६०
२. वही ४२०५-४२०७-४२४३-१४
३. वही ४०२८
४. वही ४२०६
५. वही ४१३०
६. वही ४२१२

उद्धव के ज्ञान-दर्प की ओर भी लक्ष्य किया गया है गोपियाँ कहती हैं, कि तुम तो अत्यन्त चतुर हो। हमको ऐसी शिक्षा दो जिससे दो कृष्ण प्राप्त हों—

ऊधौ तुम हौ चतुर सुजान।
हमकौं तुम सोई सिख दीजौ, नंद सुवन की आन॥[1]

कृष्ण की विडबना भी 'चतुरता' के आधार पर की जाती हैं। कृष्ण पहले ही बहुत चतुर थे, अब उनको मथुरा में एक चतुर गुरु और मिल गये—

इक हरि चतुर हुते पहिलें हीं, अब उन गुरु सिखई।[2]

३.३३ अपकर्ष (Diminution)—प्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित व्यक्तियों या व्यापारों को एक साथ रखकर उनमें साम्य स्थापित करने की यह पद्धति है। इससे प्रतिष्ठित व्यक्तियों का या व्यापारों का अपकर्ष प्रकट हो जाता है। उत्कर्ष सूचक वस्तुओं या व्यक्तियों पर व्यंग्य लतित हो जायेगा। अपकर्प वाली वस्तुएँ या व्यापार व्यंग्य के साधन बन जाते है। जैसे राजा, नाई, कबाडिया यही काम करते हैं। इसमें राजा पर व्यंग्य हो गया क्योंकि उसे नाई और कबाड़िया के स्तर पर उतार दिया गया हैं। आक्षेप और अपकर्ष प्रायः समान होते हैं। आक्षेप के द्वारा वैयक्तिक खीझ प्रकट होती है। अपकर्ष मे इतना भौंड़ापन नही रहता। अपकर्ष का भी साहित्यिक संस्कार आवश्यक है। अन्यथा वह नग्न और ग्राम्य हो जावेगा।

उद्धव से गोपियों ने कहा कि जिसने विष चखा हो, वह अमृत के स्वाद का अनुभव कैसे कर सकता है।[3] गोपियाँ उद्धव और कृष्ण को एक ही स्तर पर रखकर दोनों को कपटी कह देतीं है।[4] उद्धव को धूर्तो की श्रेणी में भी गोपियाँ रख देती हैं।[5] कभी उनकी गिनती वे बेशर्मो मे करती है।[6] अपकर्ष का पूर्ण चित्र इस पद में मिल जाता है—

प्रकृति जो जाकैं अंग परी।
स्थान पूँछ कोउ कौटि लागै, सूधीं कहुँ न करी।
जैसें काग भच्छ नहिं छाँड़ै, जनमत जौन घरी॥[7]

---

१. सू, सा. ४४४४ २. वही ४५३३
३. जैसे सूर व्याल रस चाखें. मुख नहिं होत अमी कौ। (सू. सा. ४१३२)
४, जैसे हरि तैसे तुम सेवक. कपट चतुरई साने हौ। सू. सा. ४१३८
५. ऐसेई जन धूत कहावत। सू. सा. ४१४२।
६. ऐसे जन वेसरम कहावत। वही ४१४३।
७. वही ४१४४।

अंत में गोपियाँ उद्धव से कह देती हैं तुम यहाँ से चले जाओ। हमारे हृदय की विरहाग्नि को तुम फूँक मारकर प्रज्वलित कर रहे हो—'फूँकि फूँकि हियरौ सुलगावत।'[1]

कृष्ण का अपकर्ष भी कुछ उक्तियों में ध्वनित है। कृष्ण का व्रज छोड़ने का व्यापार कोकिल-काग न्याय है। कोकिल अपने बच्चों का लालन-पालन कौए से करा लेती है। अंत में कोकिल के बच्चे उड़कर कोकिल के पास चले जाते हैं।[2] कृष्ण की घातों को शिकारी की घातों के समान बतलाती हैं।

३.३४ अतिशयता (Exaggeration)—यह व्यंग्य-विधान की धुरी है। इस प्रकार से इसकी व्याप्ति व्यंग्य के सभी रूपों में मिलती है। इससे व्यंग्य की चेतना अधिक स्पष्ट होती है। असंबद्धताओं, असंगतियों और विरोधाभासों की योजना से व्यंग्य आतिशय्य को प्राप्त करता है, पर इसके प्रयोग में संयम से काम लेना चाहिए। इसका लक्ष्य सहृदय के मन में घृणा का भाव भरना होता है। सबसे सुन्दर व्यंग्यमूलक अतिशयोक्तियाँ वे होती हैं जिनमें एक पक्ष की दशा का चित्रण इस प्रकार हो कि दूसरे पक्ष का अपकर्ष ध्वनित हो जाये। गोपियों से अपने प्रेम की अनन्यता का वर्णन अतिशयता के साथ किया। इससे कृष्ण की मधुप-वृत्ति वैसादृश्य में आकर ध्वनित हो जाती है। एक उक्ति देखिए—

(ऊधौ) जौ कोउ यह तन फेरि बनावै।
तोऊ नँद-नंदन तजि मधुकर और न मन मैं आवै॥
जौ या तन की त्वचा काटि कै, लैकरि दुंदुभि साजै।
मधुकर उतंग सप्त सुर बिकसैं, कान्ह कर बाजै॥
निकसैं प्रान परैं जिहि माटी, द्रुम लागैं तिहि ठाम।
अब सुनि 'सूर' पत्र, फल, साखा, लेत उठैं हरि नाम॥[3]

३.३५ वैदग्ध्य (Wit)—शब्दों और विचारों की चमत्कारपूर्ण योजना ही विदग्धता है। इसके प्रयोग से आश्चर्य चमत्कार और हास का अनुभव करते हुए प्रभाव को देखा जाता है। शैलीगत वैचित्र्य व्यंग्य के अन्य रूपों में इतना नहीं रहता। वैदग्ध्य के दो प्रकार माने जाते हैं : व्यंग्यवैदग्ध्य और मति-

१. सू. सा. ४१६३।
२. वही ४१६७।
३. वही ४४२५।

वैदग्ध्य। जहाँ शब्द चमत्कार का प्राधान्य होता है, वहाँ वाग्वैदग्ध्य माना जाता है और जहाँ अर्थ या विचारों का चमत्कार प्रधान हो वहाँ मतिवैदग्ध्य। वैदग्ध्य पूर्ण व्यंग्य की चोट दर्शक को चत्मकृत और लक्ष्य को व्याकुल कर देती है। इससे व्यंग्य तीक्ष्ण हो जाता है। प्रभाव कभी-कभी अज्ञात पर गहरा होता है। इसमें शब्दशक्तियों, अलंकार आदि की योजना हो सकती है।

योग के आधार पर वैदग्ध्य प्रकट हुआ है। इस प्रकार की उक्तियों का भाव यह है कि हे उद्धव ! तुम्हारा ज्ञान और योग बहुत मूल्यवान है। पर हम ग्वालिनी उसका मूल्य क्या समझें ? नागरियो के पास इसे ले जाओ। वहाँ तुम्हे भरपूर लाभ होगा। जो माल यहाँ व्रज में नहीं बिक सका वह नगर मे तो बिक ही जायेगा—'जो नहीं व्रज में बिकानो, नगर नारि बिसाहु।'[1] इस माल का व्यापार काशी में होता है : वहीं जाकर शिक्षा दो।[2] तुम्हारे भाग्य का व्यंग्य तो यह है कि इस बहुमूल्य सामग्री की पैंठ तुमने व्रज में की है—[3]

ऊधौ तुम व्रज में पैंठ करी।
कै आए हौ नफा जानि लै सब वस्तु अकरी॥
× × ×
'सूरदास' गाहक नहिं कोऊ, देखयति गरे परी॥

यह तो ठगविद्या है। इससे व्रज में कोई प्रभावित नही होगा : 'जोग ठगोरी व्रज न बिकैहै।'[4] हम तो उसी दिन से वास्तव में योगिनी बन गई है, जिस दिन से कृष्ण चले गये। विरहिणी के चित्रण के लिए अपने वैदग्ध्य से गोपियों योग को अप्रस्तुत बना देती हैं—

हम तौ तबहि ते जोग लियौ।
जबहीं तैं मधुकन कौं, मोहन गौन कियौ॥[5]

योग नहीं यह तो हँसी है : हमारे लिए यह फाँसी है। हमारे प्रेम का इससे बड़ा उपहास क्या हो सकता है ?—

ऊधौ जोग किधौं यह हाँसी।
कीन्हीं प्रीति हमारे व्रज सों, दई प्रेम की फाँसी॥[6]

---

१. सू. सा. ४१३५।
२. सू. सा. ४२३०, ४२८६, ४२८७।
३. वही ४२८१।
४. वही ४२८२।
५. वही ४३११, ४३१२-१४।
६. वही ४३६७, ४३६८।

इस प्रकार योग को लेकर गोपियों ने वाग्वैदग्ध्य दिखलाया। इसमें मति-वैदग्ध्य ही अधिक है।

वाग्वैदग्ध्य का असली रूप तब प्रकट होता, जब गोपियाँ काले रंग को लेकर उक्तियाँ करती हैं। वे कहती हैं कि सभी कालों का स्वभाव एक सा है : ऊपर से मीठी बातें कहते रहते हैं। पर उनसे हृदय चलता है। उदाहरण—भँवर कुरंग, काक, कोकिल और कालीघटा ये सभी एक ही पाठशाला में पढ़े हैं। ये सब कृतघ्न हैं : इनका क्या विश्वास ?[१] काक-कोकिल न्याय प्रसिद्ध ही है। भौंरे के कपट-प्रेम को सभी जानते हैं।[२] और कृष्ण तो इनमें सभी से अधिक काले है—

स्याम सखी कारेहु मैं कारे।
तिनसौं प्रीति कहा कहि कीजै, मारग छाँड़ि सिधारे।[३]

इनसे अधिक कपट तो किसी ने ही नहीं किया होगा। सभी कालों की एक ही रीति है—

ऐसी कारेन की रीति।
मन दै सरबत हरत परायौ, करत कपट की प्रीति[४]

अब तो काला मीठी बातें कहता है, उनको सुनकर भय लगता है। जो इस प्रकार के काले है, उनको उपदेश देने की आदत हो गई है—'कारे रूप ज्ञान उपदेसत।'[५] सभी गोपियाँ परस्पर एक दूसरे को सावधान करती है—इन कालों पर विश्वास मत करो।[६] ये सब बाहर से ही काले नहीं हैं, भीतर से भी काले है। वह मथुरा जाने कैसा देश है ? वहाँ से जो आते हैं काले ही आते है। हमारे तो भाग्य में मथुरा से आने वाले काले ही लिखे हैं—

बिलग जनि मानौ ऊधौ कारे।
वह मधुरा काजर की कोठरि, जे आवैं ते कारे।
तुम कारे, सुफलक सुत कारे, कारे कुटिल सँवारे।
कमल-नैन की कौन चलावै, सबहिनि मैं मनियारे।
मानौ नील माट तैं काढ़े, जमना आइ पखारे।
तातैं स्याम भई कालिन्दी, सूरस्याम गुन न्यारे।[७]

---

१. सू. सा. ४३६९ २. सू.सा. ४३७१
३. वही ४३७२ ४. वही ४३७४
५. वही ४३७७ ६. वही ४३७८
७. वही ४३८१

जो तन-मन से गोरे हैं, उन्हें कालों से बचना चाहिए—'सूरदास कारेन की संगति, को जावै अब गोरे।' 'रूप' को लेकर भी एक विदग्ध उक्ति की गइ है। कृष्ण ब्रज में 'सरूप' थे। अब उनका रूप तो हमारे मनमें रह गया और मथुरा में वे 'निरूप' ही हैं। इसीलिए उद्धव बार-बार उनका निरूपण निराकार रूप में कर रहा है। अब उन्होंने उद्धव को भेजा है कि मेरे रूप को ब्रज से ले आओ—

मोहन माँग्यौ अपनौ रूप।

इहिं ब्रज बसत अँचै तुम बैठीं, ता बिनु उहाँ निरूप।[1]

उद्धव की दूसरी उक्ति भी कि कृष्ण तो तुम्हारे हृदय में बसे हुए हैं। इस पर गोपियाँ विदग्धतापूर्ण उत्तर देती हैं: यदि हमारे हृदय में होते, तो क्या हमारी इतनी वेदना, इतनी अवज्ञा को वे सह लेते? और विरहाग्नि से संतप्त हृदय में वे रहते कैसे? तब तो उन्होंने दावानल से सारे ब्रज को बचाया था, अब भला कैसे विरहाग्नि में जलने देते—

जौ पै हिरदै माँझ हरी।

तो कहि इती अवज्ञा उनपै, कैसैं सही परी।

तब दावानल दहन न पायौ; अब इहिं बिरह जरी।[2]

और यदि वे हृदय में ही रहते हैं, तो रास कैसे किया था?[3]

३.३६ स्पष्ट कटूक्तियाँ—गोपियों ने सारी उक्तियाँ व्यंग्य के आश्रय से कीं। इससे शिष्टाचार की रक्षा हो जाती है। भ्रमर के माध्यम ने भी शिष्टाचार की कुछ रक्षा की थी। पर कभी-कभी स्पष्ट कटूक्तियों की चोटें भी गोपियाँ करने लगती हैं। बाह्य दृष्टि से वहाँ शील की सीमाओं का उलंघन ही दिखलाई पड़ता है। पर, वास्तव में आर्त-हृदय की झुँझलाहट ही उनमें अधिक व्यंजित है। कला का आवरण आकुल क्षणों में विदीर्ण हो जाता है और आक्रोश स्पष्ट उक्तियों में बहने लगता है। जब उद्धव अपने कटु बोलों से गोपियों को सताते हुए विश्राम नहीं लेता, तब गोपियाँ कहती हैं—

कहन देहु कह करै हमारौ, बरु उठि जैसे झोल।

आवत ही याकौ पहिचान्यौ, निपटहिं ओछौ तोल।[4]

वे कहती हैं कि उद्धव जी शायद आप जासूस बनकर आये हैं—'हरि-जासूसी आयौ।'[5] अरे यह तो अक्रूर से भी अधिक खोटा है—'यह अक्रूरहूँ तैं अति

१. सू. सा ४३८८ २. वही ४४०८ ३. वही ४४०९
४. वही ४४८८ ५. वही ४४९१

खोटी ।' इससे तो ऐसा डर लगता है, जैसे काले सांप से लगता है—'डरति जु हौं अति कारे ।[१] इसके मुँह लगना ही ठीक नहीं । जब उद्धव चुप हो जाता है, तो उसे नीच कहती हैं—'उत्तर कत न देत अलि नीच ।'[२] कभी कहती हैं, तुम व्रज से चले जाओ । तुम तो पूर्णिमा के चन्द्रमा के लिए राहु बनकर आए हो—'यह गोकुल पूनम कौ चन्दा, तुम ह्वै आए राहु ।[३] व्रज की कोई युवती ठाली-बैठी नहीं है कि तुम से सिर मारे—'ऐसी को ठाली-बैठी है, तुमसों मूड़ झुरावै ।'[४] तुमसे प्रेम की बात करना घास काटना ही है—'तुमसों प्रेम-कथा कौ कहिवौ, मनौ काटिवौ घास ।'[५]

४. योग के प्रति :

४·१ उक्तियाँ—योग और प्रेम की तुलनात्मक दृष्टि प्राय: मिलती है । इनके वैषम्य को प्रकट करने के लिए कुछ अप्रस्तुतों का प्रयोग किया है, और कुछ न्यायों का । योग-संवन्धी उक्तियाँ—'बिनु जल सूखौ सागर ।'[६] फिर वे कहती हैं कि हमारा कृष्ण के प्रति प्रेम और उसका निर्वाह योग-साधना से किसी प्रकार कम नहीं है ।[७] और मान लो हम योगी का वेश धारण करने का निश्चय भी करलें तो सोलह-हजार व्रज-युवतियों को मृगछाला कहाँ मिलेगी ?[८] इसके साथ ही उनका यह तर्क भी रहता है कि हमारे अंग-प्रत्यंग का प्रकृत शृंगार, योग की सज्जा से मेल नहीं खाता ।[९] कृष्ण ने जिन आभूषणों को अपने हाथ से पहनाया था, उनको उतार कर योग के उपकरण कौन धारण करे ?[१०] यह कृष्ण की अदूरदर्शिता है कि, ऐसा संदेश भेजा ! यदि कृष्ण को ऐसा ही करना था, तो रस-रास क्यों किया था ?[११] इस प्रकार गोपियाँ योग को लेकर कुछ व्यंग्य करती रहीं ।

अन्त में उन्होंने कहा कि विरहिणी तो सदा ही योग करती रहती है । यदि तुम अपने ढंग का योग चाहते हो, तो हम उसे नहीं करेंगी । हम तो रस-रास जानती हैं : उसी में विश्वास करती हैं ।[१२] यदि योग सिखाना ही है, तो

---

१. सू. सा. ४४६३ २. सू० सा० ४४६५
३. वही ४४६८ ४. वही ४५१६
५. वही ४२७७ ६. सू० सा० ४१११
७ वही ४१४८
८. सोलह सहस सुंदरी काजें, मृगछाला कहँ पाउँ । (४१५६)
९. वही ४१६६ १०. वही ४२१६
११. वही ४२२१ १२. वही ४३१६ ४३२२, ४३२३ आदि

कृष्ण स्वयं आकर उपदेश दें और चले जायें—'करि उपदेस क्यों न दृढ़ हमकों फिर ब्रजनाथ सिधारें ।'[१] यह क्या कि गुरु वहाँ बैठे हैं और उपदेश यहाँ चल रहा है ! बिना गुरु के विद्या कैसे मिल सकती है—'सतगुरु-चरन भजे विनु विद्या, कहु कैसे कोउ पावै ।'[२]

अन्त में गोपियों ने कहा कि यदि तुम हमें विश्वास दिलाओ कि योग करने से कृष्ण मिल जायेंगे, तो हम योग की साधना भी कर सकते है । पर कृष्ण का वही ब्रजरूप प्राप्त होना चाहिए :[३] वह योग भी अच्छा है जिससे कृष्ण मिल सकें—'जोग भलौ जो मोहन पावैं ।' यदि योग की साधना से हमारा विरह दूर भी हो जाये तो पशु; पक्षी, गाय आदि को भी क्या आप सिखला देंगे ? इनका क्या होगा ?[४] अच्छा, हम तुम्हारी पद्धति से योग करती हैं—लो आँखें बन्द करलीं, लो प्राणायाम चढ़ा लिया, कृष्ण तों कहीं दिखलाई नहीं पड़े । वे तो प्रेम में ही उलझे हुए है—'अरुझि रह्यौं नँदलाल प्रेमरस ।'[५] इसी प्रकार कई और पदों में योग-साधना का स्वाँग किया गया है ।[६] फिर कह देती हैं कि हम क्यों योग करने लगीं ? जिसको कोई आधार न मिले, वह योग करे ! हमारा आधार तो हमारा प्रियतम है ।[७] तुम जवरदस्ती हम पर योग को लादना चाहते हो । इससे क्या लाभ ? तुम्हारा प्रयत्न तो भुस पर दीवार खड़ी करने के समान हास्यास्पद है—'भुस पर की भीति ।'[८] उद्धव के योग-व्यापार पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ कहती हैं—

आयौ घोष बड़ौ ब्यौपारी ।
खेप लादि गुरुज्ञान-जोग की, व्रज में आनि उतारी ।
फाटक दै कै हाटक माँगत, भौरौ निपट सुधारी[९]

४.२ योग संवन्धी न्याय—अप्रस्तुत न्यायों का प्रयोग दोनों के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए किया गया । वैरागर/काँच[१०]; कहाँ रास-रस, कहाँ जोग[११]; मीठे फल/खारी फल[१२]; मुक्ताहल/ज्वार[१३]; कहँ रसरीति/कहाँ तन-सोधन[१४]; मूली के पत्ते/मुक्ताहल तथा दाख/निवौरी[१५]; रागिनी/कंकड़ी[१६];

१. सू० सा० ४३२६
२. सू० सा० ४३२७ और ४३२८
३. वही ४४१३
४. वही ४४१६
५. वही ४४२६
६. वही ४४०१, ४४०२
७. वही ४५१३
८. वही ४५२३
९. वही ४५८३
१०. वही ४१११
११. वही ४१४१
१२. वही ४१२५
१३. वही ४१४७
१४. वही ४१६९
१५. वही ४२८२
१६. वही ४२८५

कंचन/काँच; कपूर/खरी[1]; रस/खारीजल[2]; फाटक/हाटक।[3] इन न्यायों के प्रयोग की विशेषता यह है कि इनके द्वारा प्रेमास्वाद और योग की शुष्कता का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। साथ ही ये न्याय प्रायः दैनिक जीवन से लिए गए हैं। गोपियों के मुँह से इनका प्रयोग स्वाभाविक लगता है।

५. निर्गुण-निराकार पर उक्तियाँ—

निराकार निर्गुण के संबन्ध में गोपियों की उक्ति प्रायः यह रहती है: यहाँ तो उनकी सगुण-साकार लीला हुई थी। उसे अब हम निर्गुण-निराकार कैसे मान लें? इससे उद्धव की वह उक्ति कट जाती थी कि कृष्ण को निराकार के रूप में तुम्हें देखना चाहिए। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

जाके गुन गावत दिन-रात।
ताकौं निरगुन कहत मधुप तुम. नई सुनी यह बात।[4]

यदि कृष्ण निराकार है, तो मथुरा की लीलाएँ किसने कीं थीं?[5] और यहाँ ब्रज की लीलाएँ किसने की थीं?[6] अंत में गोपियों ने एक प्रश्न किया—'निर्गुन कौन देस कौ वासी?'[7] उसका परिचय तो दो! पर उस अनिर्वचनीय का परिचय उद्धव कैसे देता? सूर की बुद्धि जड़ हो गई—

सुनत मौन ह्वै रह्यौ बाबरौ, 'सूर' सबै मति नासी।

उद्धव की एक उक्ति यह थी कि निर्गुण की उपासना से चार पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं। वास्तव में गोपियों के लिए ये पदार्थ मन के लड्डुओं से अधिक नहीं—'का की भूख गई मन लाडू।' मोक्ष के लिए साधना करना वैसा ही है जैसे भुसी को फटकना, जिससे एक भी दाना अन्न का नहीं मिलता।[8]

६. आशीर्वाद और शुभ कामनाएँ—

गोपियों के अन्तर मे कृष्ण के प्रति अविरल प्रेम था। चाहे ऊपर से वे कृष्ण के प्रति कुछ कटूक्तियों और व्यंग्यों का प्रयोग कर रही हों, पर उनका अन्तराल का कण-कण अटल प्रेम से आप्लावित था। उनके मुँह से आशीर्वाद या शुभ कामनाएँ भी समय-समय पर निःसृत हुई हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिए गए हैं[9]—

---

१. सू. सा. ४४८७
२. सू० सा० ४४९३
३. वही ४५८३
४. वही ४११७
५. वही ४२३५
६. वही ४२४८
७. वही ४२४६
८. वही ४४७६
९. वही ४११३, ४१२२

१. जहाँ रहो तहँ कोटि बरस लगि, जियो स्याम सुख सौं ही।
२. कौन काज या निरगुन सौं, चिरजीवहु कान्ह हमारे।

पर साम्य का व्यंग्य यह है कि गोपियाँ कृष्ण को नित्यप्रति आशीर्वाद देती रहती है और कृष्ण उनके लिए घातें सोचते रहते है—

हम दिन देति असीस प्रात उठि, बार खसौ मत न्हातें।
तुम निसदिन उर अंतर सोचत, ब्रज जुवतिन की घातें।[1]

इन आशीर्वादों के पीछे गोपियों का विरह-विगलित व्यक्तित्व, उनका अनन्य प्रेम और कृष्ण के साथ उनका रागात्मक तादात्म्य है।

---

१. सू० सा० ४१६५

चौदह

भाषा : शैली

उक्ति चोज अनुप्रास, बरन, अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीति निरबाह अर्थ अद्भुत तुक धारी।
प्रतिबिंबित दिव दिष्टि, हृदय हरि लीला भासी।
जनम, करम, गुन, रूप, सर्व रसना परकासी।
बिमल बुद्धि गुन और की, जो वह गुन स्रवननि करै।
सूर-कवित सुनि कौन कवि, जो नहिं सिर चालन करै।

नाभादास : भक्तमाल

१४ | भाषा : शैली

१. शैलीगत वैविध्य—

सूर साहित्य में भावगत जो वैविध्य मिलता है, वही वैविध्य उनकी शैली में भी मिलता है। भाव के अनुसार शैली की योजना, काव्य-साधना का एक अंग है। सूर ने यथार्थतः ऐसा किया है। जिस भाव-भूमि में कवि प्रवेश करता है, वह परिवेश अपनी एक शैली भी अपने साथ रखता है। कवि परिवेश से केवल भाव-संकेत ग्रहण नहीं करता, शैली-संकेत भी ग्रहण करता है। अन्यथा यह कहा जा सकता है कि शैली और भाव इस सिद्ध कवि के लिए दो अलग वस्तुएँ नहीं रह गई हैं। अभेद रूप से दोनों को कवि ग्रहण करता है।

सूर के इस शैली-वैविध्य को देखकर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने, उनके विषय और व्यक्तित्व को ध्यान में रखकर एक विश्लेषण किया है : 'सूरदास तीन हैं—कवि और भक्त, केवल भक्त और कथागायक। जहाँ प्रेम का प्रसंग आता है, वहाँ सूरदास कवि और भक्त हैं, जहाँ आत्मनिवेदन वेग तीव्र रहता है, वहाँ वे भक्त हैं, और ब्रज की प्रेमलीला के बाहर वे सर्वत्र कथा-गायक हैं। तीसरे सूरदास में कवि सूरदास का कोई चिह्न नहीं दिखाई देता, पर भक्त सूरदास उसमें अनमने भाव से बैठे रहते हैं। इस तृतीय श्रेणी के सूरदास मानों अपने स्थान से च्युत हो गये हैं, अपने क्षेत्र से निर्वासित हो गये हैं। मानो ब्रज के बाहर की लीलाओं को गाते समय वे कहते कुछ और रहते हैं सोचते कुछ और....तीसरी श्रेणी के सूरदास की भाषा फीकी सी मालूम होती है।"[1] इन पंक्तियों में द्विवेदी जी ने व्यक्तित्व, विषय,

---

१. सूरसाहित्य [बम्बई १९५६], पृ० १६१।

परिस्थिति और शैली में एक सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। इसके आधार पर विश्लेषण इस प्रकार होगा—

सूर=भक्त+कवि	—	स्थान व्रज	—	प्रेम-गीत
सूर=भक्त	—	अन्तर्प्रदेश	—	विनय-गीत
सूर=कथागायक	—	स्थान व्रज से बाहर		कथा-गायन

सूर के व्यक्तित्व की पिछली दो सरणियों के संवन्ध में यह विश्लेषण सही उतरता है। प्रथम कोटि का व्यक्तित्व कुछ और विश्लेषण चाहता है। भक्त सूर तीनों ही श्रेणियों में संक्रमित होता रहता है, इसी प्रकार उनका कवि और कथागायक भी अन्य रूपों में संक्रमित होता रहता है। इसलिए सूर-साहित्य में विषयगत मिश्रण व्यक्तित्व का मिश्रण और शैली का मिश्रण सर्वत्र मिलता है। यह भी देखा जाता है कि भक्त और कवि भी अलग-अलग चीरे जा सकते हैं। और इस प्रकार व्यक्तित्व की तीन सरणियाँ इस प्रकार हो जाती है— भक्त, कवि और कथागायक। भक्त+कवि की संधारणा भावात्मक है, वस्तुपरक नहीं। हम यह मान कर चलते हैं कि 'सूर' का कवि उनके भक्त व्यक्तित्व से कहीं भी स्वतन्त्र नहीं है। वह सभी जगह विषय, व्यक्तित्व और शैली पर छाया हुआ है। पर वास्तव में यह वात नहीं है। उसका कवि भी स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। उनकी वाणी भी पृथक सुनी जा सकती है। और यदि मिश्रण होता है, तो सभी रूपों का हो सकता है : व्रज क्षेत्र में रहने पर भी उसका कवि स्वतंत्र रह सकता है, भक्त उससे पृथक। कथागायक भी आकर व्रज की लीलाओं को कथारूप में गाकर विलीन हो जाता है। इसी प्रकार जव भक्त सूर अन्तर्प्रदेश में प्रविष्ट होकर आत्म-निवेदन की तैयारी में रहता है, तव कवि आकर कुछ निजी उपालंभ शिकायत-शिकवा के स्वरों को सजो देता है। अर्थात् भक्त+कवि की संधारणा घटित हो जाती है। कथा गायक सूर भी कथा के भाव-प्रवण अवसरों पर कवि सूर और भक्त सूर से आक्रान्त हो जाता है। गायन करते-करते गेय पदों में उस भाव-बिन्दु का विस्तार कवि या भक्त सूर या इन दोनों का मिला जुला रूप कर जाता है। शुद्ध रूप में व्यक्तित्व न मिलता हो, यह भी वात नहीं है। पर कोई प्रदेश व्यक्तित्व के किसी रूप के लिए वर्जित नहीं हैं। भक्त से कवि को सदैव आवद्ध न मानकर, कवि रूप की स्वतन्त्र स्थिति भी स्वीकार करनी चाहिए। जव सूर का कविरूप स्वतन्त्र होता है, तो अन्य दो व्यक्तित्व मौन रहते हैं। एक वात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए : व्यक्तित्व में कहीं भाव या शैली

को लेकर संघर्ष नहीं मिलता। एक क्षण में व्यक्तित्व का जो रूप मुखर होता है, उस रूप के प्रति 'सूर' पूर्ण समर्पित रहता है। यदि उस बीच सूर के व्यक्तित्व के अन्य रूप कुछ कहने के लिए प्रेरित या उत्तेजित होते हैं, तो उस समय का क्रियाशील व्यक्तित्व कुछ क्षण के लिए मौन धारण करके, उसे सक्रिय होने की मैत्रीपूर्ण सुविधा प्रदान करता है। इस प्रकार कभी उनका व्यक्तित्व खंडित न होकर सहयोग और मैत्री की छाया में अखंड बना रहता है। यही सूर के व्यक्तित्व, विषय और शैली के पूर्ण सामंजस्य का रहस्य है। सूर की सफलता भी यही है। एक और विशेष बात है : सूर के भक्त रूप का संक्रमण जितना सरल होता है, उतना कवि रूप का नहीं।

२, विभेदक लक्षण—

उक्त सभी रूपों को अलग-अलग देखने के लिए कुछ शैलीगत लक्षण भी हैं। सूर की मुख्य शैली गेयपदों की हैं। गेयपदों को केन्द्र मानकर भेद किया जा सकता है। इस आधार पर पहले दो रूपों का विभाजन होगा : गेयपदों के अभाव वाले अवसर और शैली तथा गेयपदों वाली शैली और अवसर। जहाँ गेयपदों का नितान्त अभाव है, और इनके स्थान विभिन्न विवरणात्मक या इतिवृत्तात्मक मात्रिक छन्दों का प्रयोग मिलता है, वहाँ कथा-गायक सूर के दर्शन किये जा सकते हैं। जहाँ इन छन्दों के विस्तार के बीच गेयपद अनुस्यूत हो गए हैं, वहाँ भक्त या कवि का संक्रमण मानना चाहिये। स्थान की दृष्टि से सूर ब्रज से बाहर हैं।

जहाँ गेय-पदों की श्रृङ्खला अनवरत हो, वहाँ भक्त या कवि में से किसी का शुद्ध विलास मानना चाहिए। इस क्षेत्र में भी भक्त, रहस्यवादी तथा कवि रूप की विभाजन रेखाएँ हैं। जहाँ कवि 'उत्तम पुरुष' की शैली को ग्रहण करता है—'हौं' या 'मैं' का प्रयोग होता है,[1] वहाँ शुद्ध भक्त की स्थिति है। इस स्थिति में सूर आत्म-हीनता और प्रभु के माहात्म्य के बीच एक विनयपूर्ण संबन्ध स्थापित करना चाहता है। भाव की दृष्टि से विश्वास और आशा का संचार मिलता है। विश्वास को दृढ़ करने वाले या तो दृष्टान्त होते हैं, अथवा भगवान के गुणों का स्मरण होता है। अलंकारों की दृष्टि से अधिकांश रूपकों का प्रयोग मिलता है, या अन्य समतामूलक अलंकारों का अल्प प्रयोग। कवि रूप का संक्रमण उक्तियों की वक्रताओं में देखा जा सकता

१. 'अब हौं नाच्यौ बहुत गुपाल'। 'हौं सब पतितन कौ टीकौ' आदि।

है। विनय को उपालंभ, शिकायत या धृष्टता जैसे शैली-संदर्भ, व्याज-संदर्भ, उनका कवि रूप प्रदान करता है।[1] कथाकार का संक्रमण दृष्टान्तों या कथानकों की योजना में मिलता है।[2] इस प्रकार गेयपदों में जहाँ ये लक्षण मिलते हों, वहाँ भक्त सूर का विलास मानना चाहिए।

रहस्यवाद 'सूर' का रूप बहुत कम प्रकट हुआ है। यहाँ की शैलीगत विशेषताएँ विशिष्ट हैं, जो भक्त सूर को इस रूप से अलग करती हैं। यहाँ कवि अपने को ही दो रूपों में विभाजित करके प्रतीकों की योजना के द्वारा उन्हीं विभक्त रूपों के संवाद की कल्पना करता है। इन प्रतीकों को चित्त-बुद्धि आदि के रूप में देखा जा सकता है। इस संवाद से एक लोकोत्तर रहस्यलोक की भी सूचना मिलती है। यह प्रतीक योजना तत्त्वतः बौद्धों के प्रज्ञोपाय जैसे रूपकों के समकक्ष हो जाती है। 'चकई री चलि चरन सरोवर, जहाँ न 'प्रेम वियोग' में सूर का रहस्यवादी स्वर ही गूँज रहा है। इस शैली संदर्भ में भक्त भी प्रच्छन्न रहता है और कवि भी। दोनों का कार्य भी प्रच्छन्न प्रभाव से जाना जा सकता है।

शेष गेयपदों में उत्तमपुरुष की शैली भी समाप्त हो जाती है और रहस्यवादी द्विविध विभाजन भी इस प्रकार न आत्मपरक निवेदन या विनयासक्ति ही रहती है, और न रहस्यमयी प्रतीक योजना। भक्त का रूप इन पदों में जहाँ संक्रमित होता है, वहाँ कुछ पदों की अन्तिम पंक्ति में 'उत्तम पुरुष की शैली का प्रयोग हो जाता है। अपने रूप में सूर कुछ कहने को बाध्य हो जाता है—'सूरदास चिरजीवौ दोऊ भैया हरि-हलधर की जोटी।' इसमें भक्त का स्वर है। फिर भी आत्मोन्मुख भक्त से कुछ भिन्न स्वर है। कथाकार सूर का संक्रमण अत्यल्प है। यह किसी प्रसंग विशेष के इतिवृत्त का सूत्रबद्ध विकास करके लुप्त हो जाता है। इन गेय पदों में भी शैली के दो रूप मिलते हैं। कुछ पदों में सूर शैली की विशेष सज्जा या अलंकृति की चिन्ता नहीं करते। उनका कौशल भाव-स्थिति के आकलन, भाव-संदर्भ के निरूपण, भाव-स्थिति की संरचना तथा उसके विकास, स्थिति-वैचित्र्य और विनोदपूर्ण उक्तियों

---

१. 'आजु हौं एक एक करि टरिहौं'। 'कै तुही कै हौं ही माधव'। 'कहा निहोरो आँखिन हू की हानि, आदि।

२. भीष्म प्रतिज्ञा, विदुर-गृहगमन जैसे प्रसंगों की योजना इसी संक्रमण के लक्षण हैं।

की योजना में प्रकट होता है। एक प्रकार से सारा आकर्षण 'भाव-स्थिति' (Situation) में केन्द्रित हो जाता है। यह क्षेत्र व्यक्तित्व की दृष्टि से बड़ा ही अछूता है। कथाकार सूर का संक्रमण केवल अत्यल्प और विरल अलंकृति से जाना जा सकता है। वास्तव में इन स्थलों पर 'सूर' का कविरूप ही मिलता है। पर कवि भाव-लीन रहता है। शुद्ध भावों की स्थिति का चित्रण इतनी सफलता के साथ संभवतः कोई कवि नहीं कर पाया, जहाँ अलंकृति आदि का बहिष्कार हो और सारा सौन्दर्य भाव-स्थिति की संरचना के वैचित्र्य में ही भर गया हो। मिल्टन के सौनेट्स में यह स्थिति कुछ-कुछ मिलती है, जिसमें शैलीगत अलंकृति है ही नहीं। तो, सूर के कवि रूप की भी दो परिणतियाँ हो जाती हैं—एक शुद्ध भावात्मक, दूसरी शैली के बहिरंग के प्रति सजग।

शुद्ध भावात्मक कवि एक चित्रकार है। उसका पटल तो अंतरंग है, पर निर्गुणियाँ कवि की भाँति शून्य-असीम पटल नहीं है। यह भाव-पटल है जो ससीम तो है, पर असीम के मृदुल संकेतों से युक्त है। इस भावपटल की निर्मित विभिन्न रूपाकृतियों की ऐन्द्रिय रासायनिकता से हुई है पर कविरूपों की आकृतियों के रंग-विन्यास की वह चिन्ता नहीं करता। वह रेखाओं के मर्म को समझकर सारे भाव को रेखा-चित्र में आवद्ध कर देता है। रंग-विन्यास की चिन्ता वह नहीं करता। इन रेखाचित्रों में रेखाओं की गति दिशा, रेखाओं के आकार, उसकी लम्बाई, उसकी मोटाई, उसकी स्थूलता या सूक्ष्मता, भाव के विकास और उसकी चरम परिणति को चित्रित करली जाती है। कवि भाव के शुद्ध चित्र इस प्रकार खींचता है। उनके प्रभावों को चित्रण की ओर उसका ध्यान नही। उसे विश्वास है कि वह तो पड़ ही रहा है। इन चित्रों मे एक प्रसंग-गत अभिप्राय (motif) अवश्य रहता है। प्रसंग को कवि एक सदर्भ या स्थिति में परिवर्तित करता है। इस संदर्भ में पात्र भी है और पृष्ठभूमि भी और यह समग्र संदर्भ एक भाव-चकित गति में लीन है।

कवि का दूसरा रूप शैली के बहिरंग के प्रति सजग है। जो स्थान निर्गुण साधना में 'विन्दु' और 'नाद' का है, वही स्थान कृष्ण-साधना में 'रूप' और 'वंशी ध्वनि' का है अन्तर इतना है कि 'विन्दु' और 'नाद' की अनुभूति एकान्त और आन्तरिक है। वहिर्जगत की ज्योति-तरंगों, या ध्वनि-स्पन्दनों की सहायता से इनका ऐन्द्रिय परिज्ञान नहीं होता। चेतना के अन्तस्थ केन्द्रों या नाड़ियों के संगमों, चन्द्र-काननों आदि पर इनकी संवेदना होती है।

'रूप' और 'वंशी ध्वनि' की परिकल्पना इनसे भिन्न है। सब कुछ आन्तरिक होते हुए भी बहिर्गत है। ऐन्द्रिय संस्पर्श और बाह्य परिवेश की इस योजना में उपेक्षा नहीं रहती। 'रूप' और 'वंशीध्वनि' की परिणतियाँ दो प्रकार की हैं : शुद्ध भावात्मक और प्रभावात्मक। भावात्मक रूप का परिचय दिया जा चुका है। इसमें वस्तु-सौन्दर्य का चित्रण नहीं किन्तु भाव सौन्दर्य का विकास कवि का अभिप्रेत है। 'प्रभावात्मक' परिणति वस्तुगत सौन्दर्य को एक स्वतन्त्र मूल्य मानकर चलती है। कृष्ण की 'रूप-कल्पना' किसी भाव का मात्र माध्यम नहीं, उसका स्वतः एक आध्यात्मिक मूल्य है। अतः उसका चित्रण अपने आप में स्वतन्त्र हो जाता है। जहाँ भाव-चित्रों में केवल रेखाओं और उनकी गति का सौन्दर्य विकीर्ण हुआ था, वहाँ प्रभाव चित्रों में रंगों का विन्यास प्रमुख हो उठता है। भाव-चित्र जैसे एक्सरे से उतारे हुए चित्र थे, जिनमें किरणों ने मांसलता को वेधकर रेखा-संरचना को स्पष्ट कर दिया था। प्रभाव चित्र इस प्रकार के किसी यंत्र का प्रयोग नहीं करते। रेखाओं का विधान 'रंग' के नीचे आ जाता है, यद्यपि रेखाओं के अनुसार ही रंग का विन्यास हुआ है।

प्रभावात्मक गेय-चित्रों के दो रूप हैं : एक वस्तुगत चित्रण तथा दूसरा प्रभाव के चित्र पर पड़े हुए प्रतिबिम्ब। वस्तुगत चित्रण का उद्देश्य कुछ और नहीं। 'रूप' की कल्पना में स्वयं कितने रंगों का योग किया गया : पीतांबर, नीलवपु, मोरपंख का रंग विन्यास, केसर की आड़, मसिबिंतु आदि न जाने कितने रंगों का समावेश रूप-कल्पना में है। राधा की रूप-कल्पना भी विविध रंगमयी है। सूर के अन्धे व्यक्तित्व को इतने रंगों का विन्यास एक चुनौती था। रंग का परिज्ञान अन्धे को कैसे हो ? रंग परिज्ञान संबन्धी सूर की हीनता न जाने कितनी प्रतिक्रियाओं और क्रान्तियों में परिवर्तित हो गई 'सूर' ने रूप-चित्रण का दायित्व एक सजगता और संकल्प के साथ निर्वाह किया। रूपचित्रण के शतशः गीत इसके साक्षी है। भाव-भूमि तो सूर की अपनी थी : उसमें वह अन्तर्लीन था। पर यह रूप-भूमिका तो बाह्य थी, जिसका मार्ग कवि की आँखों जैसा ही बन्द था। न जाने किस शक्ति का उदय हुआ कि सूर ने सब कुछ देख लिया। रूप-चित्रण की शैली विशिष्ट हो गई। 'सूर' का समस्त अलंकरण जैसे अब फूट पड़ा हो। उसकी कल्पना कितनी व्यापक और सशक्त हो गई। 'आकाश' और 'सागर' के सभी उपकरण उसे अप्रस्तुत प्रयोग के लिए मिल गये। समस्त ग्रह-नक्षत्र सूर की

कल्पना-लता पर पुष्पवत लद गए। सूर के रूप-चित्र शैली-सज्जा में अत्यन्त विशद हो गए। इनकी विशदता का दूसरा छोर गोपियों के या अन्य दर्शकों के चित्र में है। एक सजग, उत्तेजक, और प्रौढ़ काव्यशैली-रूप के आकार-चित्रों और अभाव-चित्रों में मिलती है। प्रतीप, व्यतिरेक आदि अलंकारों के प्रयोग से रूप की लोकोत्तरता प्रकट हुई। उपमा और उत्प्रेक्षा के विधान से रूप को व्यापक अभिव्यक्ति दी गई। रूपकों ने रूप के समग्र चित्र दिए। सूर के गेय चित्रों की चित्रशाला में इन चित्रों को अलग पहचाना जा सकता है। इन चित्रों में वैचित्र्य अलंकार का है। कवि एक शुद्ध दर्शक के रूप में, कहीं छिपा बैठा है।

'वंशी-नाद' के चित्रों की शैली-प्रकृति इन चित्रों से कुछ भिन्न है। वंशी-नाद का प्रभाव चेतन-जगत का अतिक्रमण करके जड़-जगत पर भी परिलक्षित होने लगा। रूप-चित्रों का कोई बहिरंग या आन्तरिक संदर्भ न देकर, सूर ने उनकी स्वयं-सापेक्ष, अन्य-निरपेक्ष योजना कर दी थी। दर्शक अपने प्रभावों के साथ रूप-माधुरी का आस्वादन करते थे। मुरली-माधुरी को चित्रित करने के लिए एक संदर्भ की संरचना की गई। इस संदर्भ में वंशी को एक व्यक्तित्व मिला : वह सजीव हो गई। गोपियों को भी एक अलग संदर्भ मिला : वंशी के प्रति उनके प्रभाव, विभिन्न भाव-छायाओं में वदल गये—स्पर्धा, सपत्नीभाव आदि इसके प्रभाव से प्रसूत होने लगे। रूप तो प्रिय से अभिन्न था। पर वंशी तो एक बाह्य उपकरण था जो कृष्ण के साथ अभिन्न रूप से जुड़ गया। वंशीवादी कृष्ण की रूप-मुद्राओं में भी गोपियों को वंशी के प्रभाव की झलक दिखलाई पड़ने लगी। गोपियाँ जिस रस की साधना कर रही थीं, उस रस की साध्यावस्था वंशी को प्राप्त हो गई थी। वंशी ने मूकवाणी में गोपियों को अपनी साधना का इतिहास भी वतलाया। इस प्रकार वशी को लेकर सूर की उत्तेजित कल्पना ने एक भाव-संकुल संदर्भ रचा। यह सूर की नितान्त मौलिक कल्पना का परिचायक है। इस संदर्भ में अलंकार का वैचित्र्य रूपचित्रों जैसा नहीं रहा। अलंकारों के सूक्ष्म-प्रयोग इस संदर्भ से मिलते है। साथ ही वैचित्र्य और सौन्दर्य उक्तियों में प्रकट होता है। अर्थात् अलंकार-वैचित्र्य का स्थान इन चित्रों में उक्ति-वैचित्र्य ले लेता है। सूर का कवि एक विशेष विनोद और उल्लास का अनुभव कर रहा है। मुरली की चोरी भी होती हैं और उसके साथ विवाद भी। इस प्रकार वंशीनाद से संवन्धित गेय-चित्र रूप-चित्रों से विशिष्ट हो जाते हैं।

३. इतिवृत्तात्मक शैली—

इतिवृत्तात्मक शैली में कृष्ण की कुछ लीलाओं का भी गायन किया गया है, और भागवत की पुराण-कथाओं को भी इस शैली में बाँधा गया है। इनको भाषा प्राय: समान है। भाषा नितांत साधारण और शैली विशेषता-हीन है। इतिवृत्त-क्रम के निर्वाह की ओर कवि का ध्यान है। कवि की वृत्ति इन कथाओं में रमी नही : अत: भाषा और शैली की भी उपेक्षा हो गई है। छन्द अवश्य द्रुतगति वाले प्रयुक्त हुए हैं। पुराण-प्रभाव के कारण तत्समता कुछ अधिक है। प्राय: असमर्थ भाषा और शिथिल शैली का ही प्रयोग है। साहित्यिक-सौन्दर्य का नितांत अभाव है।

४. वर्णनात्मक-लीलाएँ—

पौराणिक इतिवृत्तों की भाषा से कुछ सरल और सजीव भाषा प्रयोग लीला-प्रबन्धों में हुआ है। कवि की रुचि इन लीलाओं में है : इन कथानकों का कुछ विस्तार भी अधिक किया गया है। पौराणिक कथाओं का गायन प्राय: राग बिलावल में हैं। इन लीलाओं के लिए अन्य कई रागों का प्रयोग किया गया है। चित्रण-कला भी पौराणिक कथानकों की अपेक्षा लीलाओं में अधिक उभरी है। कहीं-कहीं अलंकारों का प्रयोग भी हुआ। भाषा का साहित्यिक-शृङ्गार इनमें समुचित रूप से नहीं हो सकता है। छन्दों के प्रयोग में भी वैचित्र्य है। संभाषणों में नाटकीयता भी है। 'कथा-वर्णन, कथा का पूर्वापर संबन्ध, नाटकीय-संभाषण, धारा-प्रवाह, और रोचकता अधिकांश कथानकों में मिलतीं है।'[१]

५. पदावली—

५.१ विनय-पद—इन पदों की भाषा तत्सम-प्रधान हो गई है। सौन्दर्य-वृद्धि के लिए विशेष आयास तो नहीं किया है, फिर भी कही स्वल्प अलंकार-विधान और कहीं उक्तियों का सौन्दर्य अधिक प्रकट है। दैन्य-प्रदर्शन वाले पदों में भाषा का आडम्बर बिल्कुल नहीं है। भक्ति का भाव ही इनमे मुख्य है।[२] भाषा में प्रसाद गुण है। अलंकार के नाम पर दृष्टान्त, उदाहरण जैसे अलंकार ही प्रयुक्त हुए है। इनके प्रयोग में भी चमत्कार-प्रदर्शन उद्दिष्ट नहीं है। अपने को उच्चतम पापी घोषित करने में भाषा सशक्त हो गई है।

---

१. डा० ब्रजेश्वर वर्मा, सूरदास, पृ ५४६।
२. भाव सों भजै, बिनु भाव में ये नहीं, भाव ही माँहि ध्यानहि बसावैं। सू० सा० १००६।

बना लेता है। 'सूर' भाव के साथ इतना एकाकार है कि शैली यथावसर अपने आप सजती चलती है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस भाव और शैली के सामंजस्य पर लिखा है : "सूरदास की वर्णन की हुई श्रीकृष्ण की बाललीला को बड़े-बड़े सहृदयों तक ने इस प्रकार समझा है मानो वे स्वभावोक्ति के उत्तम उदाहरण हैं। नहीं, वे स्वभावोक्ति के उदाहरण नहीं हैं, वे उससे बड़ी चीज हैं।....हमारे जाने हुए साहित्य में इतनी तत्परता, मनोहारिता और सरसता के साथ लिखी हुई बाललीला अलभ्य हैं। बालकृष्ण की एक-एक चेष्टा के चित्रण में कवि कमाल की होशियारी और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है। न उसे शब्दों की कमी होती हैं, न अलंकार की, न भावों की न भाषा की।....उपमाओं, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं की जमात हाथ जोड़कर इस बार-बार दुहराई हुई लीला के पीछे दौड़ पड़ी हैं।[1]" ब्रजभाषा अपने सहज रूप में यदि कहीं मिलती है तो यहीं। वास्तव में सूर की कला में चित्रकला के तत्त्व यहाँ अधिक आगये है। वह एक ऐसा चितेरा है, कि वातावरण के छोटे छोटे अंशों के प्रभाव को भी दिखला देता है। हमें सब कुछ अपने सामने घटित होता दिखलाई पड़ता है। जिस प्रकार कथा, चित्र, काव्य, संगीत आदि का मिश्रण हुआ है, उसी प्रकार शैली में भी कई रङ्ग-तरङ्ग उठती गिरती चलती हैं। सभी का निर्वाह स्वयमेव होता चलता है। "स्थिति विशेष का पूरा दिग्दर्शन भी करें, घटना-क्रम का आभास भी दें और साथ ही समुन्नत कोटि के रूप-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य की परिपूर्ण झलक भी दिखाते जाँय, यह विशेषता हमें सूर में ही मिलती है।...कथाओं को भी सजाकर सुन्दर भाव-गीतों में परिणत कर दिया गया है। हम आसानी से यह भी नहीं समझ पाते कि कथानक के भीतर रूप-सौन्दर्य अथवा मनोगतियों के चित्र देख रहे हैं, अथवा मनोगतियों और रूप की वर्णना के भीतर कथा का विकास देख रहे हैं। इन दोनों के सम्मिश्रण में अद्भुत सफलता सूरदास जी को मिली हैं।"[2] शृङ्गार के चित्रों में भी इसी प्रकार की यो-.ना है। कथानक सूत्र गीतों के साथ अविच्छिन्न मैत्री का निर्वाह करता चलता है। इन प्रसंगों की विशेषता एक शब्द में यह है कि भाषा को अलंकारों से विशेष नहीं सजाया गया है। सौन्दर्य स्वाभाविकता का है—भाव भी स्वाभाविक और शैली भी।

---

१. भारती : कृष्णलीला विशेषांक।

२. आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, महाकवि सूरदास, पृ० १४४।

५.२ प्रभाव चित्रों की शैली—यहाँ शैली प्रौढ़ता प्राप्त करती है। भाव-चित्रण में सौन्दर्य स्वाभाविकता का था : रूपचित्रण और उसके प्रभाव के आलेखन में सौन्दर्य शैली की प्रौढ़ता का है। शैली रूपगर्विता नायिका के समान बन जाती है। उसके नेत्र आकर्षण को बाह्य सज्जा और भी खिला देती है। अलकार संबन्धी नवीन प्रयोग रूप-संदर्भों को आकर्षक बना देते हैं। 'जनवाणी' या 'लोकवाणी' काव्यवाणी बन जाती है। जनवाणी का अपना गदराया हुआ सौन्दर्य था। इसका सौन्दर्य एक नागरी की भंगिमाओं से युक्त है। काव्यरसिक इस शैली को सर्वोपरि मानते हैं। इनकी शैली के विषय में डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने लिखा है : "भाषा के सौन्दर्य, शैली की अनुरंजकता तथा व्यक्तित्व की संपन्नता के विचार से ये पद सम्पूर्ण काव्य में सर्वोपरि हैं। ये अधिकांश में तत्समप्रधान, समस्तपदयुक्त भाषा में रचे गये हैं। कवि की काल्पनिक अनुभूति के सुन्दर से सुन्दर प्रकाशन अलंकारों के रूप में इन्हीं पदों में हुए हैं। शब्दों के निर्वाचन में कवि ने पद-मैत्री, ध्वनि-साम्य और विषयानुरूपता का प्रायः सर्वत्र निर्वाह किया है। 'सूरसागर' की सुसंस्कृत परिमार्जित और मधुर भाषा के सुन्दरतम नमूने इन पदों में मिल सकते हैं। इनकी शैली प्रौढ, रुचिर, ललित प्रवाहयुक्त और अनुरंजित है। कवि की कल्पना का सुन्दरतम संयोग वहाँ मिलता है जहाँ कवि अपने उपांस्यदेव के मनोहर रूप के चित्रण में अपने काव्य-कौशल के साथ भक्ति-भावना का समावेश करता जाता है। यहाँ प्रायः उसकी कल्पना और भावना परस्पर प्रतिस्पर्द्धा करती दिखाई देती है। इसी प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप उसकी सौन्दर्य की भावनापूर्ण अनुभूति चरम परिणति पर पहुँच कर कल्पना को अपरूप और रहस्यमयी बना देती है।"[१] सूरदास ने अपने उपास्य को अपना समग्र भावात्मक व्यक्तित्व तो भावगीतों में समर्पित कर दिया था और रूप-चित्रों में अपनी काव्य-प्रतिभा के पुष्पों को निवेदित कर दिया। सूर की काव्य प्रतिभा इन चित्रों में अपनी समस्त अँगड़ाइयों के साथ उपस्थित हैं। भक्त कवित्व-शक्तियों के बीच प्रोद्भासित हो रहा है। उसका व्यक्तित्व कितना भास्वर है—इन रूप चित्रों में। उसकी कल्पना वामन के डगों से प्रतिस्पर्धा करने लगी है। भावातिरेक ने कवि के व्यक्तित्व के जिस अंग को बरबस रोक रखा था, वह अवसर पाकर फूट पड़ा है। जहाँ कवि की निरीक्षण शक्ति रूप-चित्रों के फलक को विस्तृत और पूर्ण करती है, वहाँ उसकी श्रवण शक्ति

१. सूरदास, पृ० ५४६।

बना लेता है। 'सूर' भाव के साथ इतना एकाकार है कि शैली यथावसर अपने आप सजती चलती है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस भाव और शैली के सामंजस्य पर लिखा है : "सूरदास की वर्णन की हुई श्रीकृष्ण की बाललीला को बड़े-बड़े सहृदयों तक ने इस प्रकार समझा है मानो वे स्वभावोक्ति के उत्तम उदाहरण हैं। नहीं, वे स्वभावोक्ति के उदाहरण नहीं हैं, वे उससे बड़ी चीज हैं।....हमारे जाने हुए साहित्य में इतनी तत्परता, मनोहारिता और सरसता के साथ लिखी हुई बाललीला अलभ्य है। बालकृष्ण की एक-एक चेष्टा के चित्रण में कवि कमाल की होशियारी और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है। न उसे शब्दों की कमी होती हैं, न अलंकार की, न भावों की न भाषा की।....उपमाओं, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं की जमात हाथ जोड़कर इस बार-बार दुहराई हुई लीला के पीछे दौड़ पड़ी हैं।[1]" व्रजभाषा अपने सहज रूप में यदि कहीं मिलती है तो यहीं। वास्तव में सूर की कला में चित्रकला के तत्त्व यहाँ अधिक आगये है। वह एक ऐसा चितेरा है, कि वातावरण के छोटे छोटे अंशों के प्रभाव को भी दिखला देता है। हमें सब कुछ अपने सामने घटित होता दिखलाई पड़ता है। जिस प्रकार कथा, चित्र, काव्य, संगीत आदि का मिश्रण हुआ है, उसी प्रकार शैली में भी कई रङ्ग-तरङ्ग उठती गिरती चलती हैं। सभी का निर्वाह स्वयमेव होता चलता है। "स्थिति विशेष का पूरा दिग्दर्शन भी करें, घटना-क्रम का आभास भी दें और साथ ही समुन्नत कोटि के रूप-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य की परिपूर्ण झलक भी दिखाते जाँय, यह विशेषता हमें सूर में ही मिलती है।...कथाओं को भी सजाकर सुन्दर भाव-गीतों में परिणत कर दिया गया है। हम आसानी से यह भी नहीं समझ पाते कि कथानक के भीतर रूप-सौन्दर्य अथवा मनोगतियों के चित्र देख रहे हैं, अथवा मनोगतियों और रूप की वर्णना के भीतर कथा का विकास देख रहे हैं। इन दोनों के सम्मिश्रण में अद्भुत सफलता सूरदास जी को मिली है।"[2] शृङ्गार के चित्रों में भी इसी प्रकार की यो..ना है। कथानक सूत्र गीतों के साथ अविच्छिन्न मैत्री का निर्वाह करता चलता है। इन प्रसंगों की विशेषता एक शब्द में यह है कि भाषा को अलंकारों से विशेष नहीं सजाया गया है। सौन्दर्य स्वाभाविकता का है—भाव भी स्वाभाविक और शैली भी।

---

१. भारती : कृष्णलीला विशेषांक।

२. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, महाकवि सूरदास, पृ० १४४।

५.३ प्रभाव चित्रों की शैली—यहाँ शैली प्रौढ़ता प्राप्त करती है। भाव-चित्रण में सौन्दर्य स्वाभाविकता का था : रूपचित्रण और उसके प्रभाव के आलेखन में सौन्दर्य शैली की प्रौढ़ता का है। शैली रूपगर्विता नायिका के समान बन जाती है। उसके नेत्र आकर्षण को बाह्य सज्जा और भी खिला देती है। अलकार संबन्धी नवीन प्रयोग रूप-संदर्भों को आकर्षक बना देते हैं। 'जनवाणी' या 'लोकवाणी' काव्यवाणी बन जाती है। जनवाणी का अपना गदराया हुआ सौन्दर्य था। इसका सौन्दर्य एक नागरी की भंगिमाओं से युक्त है। काव्यरसिक इस शैली को सर्वोपरि मानते हैं। इनकी शैली के विषय में डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने लिखा है : "भाषा के सौन्दर्य, शैली की अनुरंजकता तथा व्यक्तित्व की संपन्नता के विचार से ये पद सम्पूर्ण काव्य में सर्वोपरि हैं। ये अधिकांश में तत्समप्रधान, समस्तपदयुक्त भाषा में रचे गये हैं। कवि की काल्पनिक अनुभूति के सुन्दर से सुन्दर प्रकाशन अलंकारों के रूप में इन्हीं पदों में हुए हैं। शब्दों के निर्वाचन में कवि ने पद-मैत्री, ध्वनि-साम्य और विषयानुरूपता का प्राय: सर्वत्र निर्वाह किया है। 'सूरसागर' की सुसंस्कृत परिमार्जित और मधुर भाषा के सुन्दरतम नमूने इन पदों में मिल सकते हैं। इनकी शैली प्रौढ़, रुचिर, ललित प्रवाहयुक्त और अनुरंजित है। कवि की कल्पना का सुन्दरतम संयोग वहाँ मिलता है जहाँ कवि अपने उपास्यदेव के मनोहर रूप के चित्रण में अपने काव्य-कौशल के साथ भक्ति-भावना का समावेश करता जाता है। यहाँ प्राय: उसकी कल्पना और भावना परस्पर प्रतिस्पर्द्धा करती दिखाई देती हैं। इसी प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप उसकी सौन्दर्य की भावनापूर्ण अनुभूति चरम परिणति पर पहुँच कर कल्पना को अपरूप और रहस्यमयी बना देती है।"[1] सूरदास ने अपने उपास्य को अपना समग्र भावात्मक व्यक्तित्व तो भावगीतों में समर्पित कर दिया था और रूप-चित्रों में अपनी काव्य-प्रतिभा के पुष्पों को निवेदित कर दिया। सूर की काव्य प्रतिभा इन चित्रों में अपनी समस्त अँगड़ाइयों के साथ उपस्थित हैं। भक्त कवित्व–शक्तियों के बीच प्रोद्भासित हो रहा है। उसका व्यक्तित्व कितना भास्वर है—इन रूप चित्रों में। उसकी कल्पना वामन के डगों से प्रतिस्पर्धा करने लगी है। भावातिरेक ने कवि के व्यक्तित्व के जिस अंग को बरबस रोक रखा था, वह अवसर पाकर फूट पड़ा है। जहाँ कवि की निरीक्षण शक्ति रूप-चित्रों के फलक को विस्तृत और पूर्ण करती है, वहाँ उसकी श्रवण शक्ति

१. सूरदास, पृ० ५४६।

मुरलीवादन के प्रभावों को अंकित करने में सारी कल्पना शक्ति को समाप्त कर देती है। जिस प्रकार दानलीला में गोपीजन ने तन-मन-धन समर्पित कर दिया था, उसी प्रकार सूर ने अपने समग्र भावात्मक, कलात्मक और बौद्धिक व्यक्तित्व को समर्पित कर दिया। कवि का सर्व समर्पण काव्य का शृंगार और सांप्रदायिक आचार बन जाता है। बौद्धिक व्यक्तित्व का समर्पण कूट पदों में हुआ है। वहाँ अलंकार योजना बौद्धिक अनुसंधान का रूप ग्रहण कर लेती है। उसका उपयोग परोक्षगायन के लिए होता है।

सौन्दर्य चित्रों में कवि नखशिख प्रणाली को अपनाता है। पर वह सम्पूर्ण नखशिख का चित्र कम ही उपस्थित कर पाया है। कभी-कभी एक से अधिक अंगों को सूर कठिनाई से समेट पाता है। कवि की स्थिति उन दो गोपियों की सी हो जाती है, जिनमें एक की आँखें एक ही अंग पर विरम जाती है, और दूसरी कुछ अधिक अंगों को देख पाती है—

द्वै लोचन तुम्हरैं द्वै मेरैं।
तुम प्रति अंग विलोकन कीन्हौं मैं भई मगन एक अँग हेरैं।।
अपनौ-अपनौ भाग्य सखी री, तुम तननय मैं कहूँ न नेरैं।
जो बूनियै सोई पुनि लुनियै, और नहीं त्रिभुवन भट भेरैं।।
स्याम रूप अवगाह सिंधु तैं, पार होत चढ़ि डोंगनि केरैं।
'सूरदास' तैंस ये लोचन, कृपा जहाज बिना क्यों पैरैं।।[1]

वास्तव में यही स्थिति सूर की है। इस प्रकार रूप-चित्रण की सफलता के लिए सूर ने अथक प्रतिभा साधना की है। फिर भी कवि सोचता रहा है जैसे असीम रूप वारिधि में वह तैर रहा हो।

'रूप' और 'नाद' का चित्रण करने के पश्चात् कवि प्रभावों के आलेखन में लगता है: 'नैन समय के पदों और आँखि समय के पदों में अलंकृत उक्तियों का चमत्कार है। आँखों का बिक जाना, गुलाम हो जाना उनका नियन्त्रण से बाहर चला जाना, उनका नमक-हरामी हो जाना उनका विश्वासघाती हो जाना, आदि अनेक उक्तियों के माध्यम से कवि ने प्रभाव को चित्रित किया है। इन उक्तियों के साथ रूपक की योजना प्रधान रूप से मिलती है। अन्य अलंकार भी हैं, पर अलंकारों की छटा शब्दों पर नहीं, संपूर्ण वाक्य या कथन पर फैलती है। इस प्रकार की उक्तियों की सृष्टि में भी

१. सू० सा० २४०३।

सूर को वैशिष्ट्य प्राप्त है। व्यंग्य, अर्थगांभीर्य और शैली की प्रौढ़ि, सभी का समावेश इन पदों में हो जाता है। शैलीगत सौन्दर्य की दृष्टि से रूप-चित्रण और रूप-प्रभाव के पदों में तारतम्य मिलता है। रूप-चित्रण में कवि की वृत्ति एक-एक अंग पर रमती है। उस अंग के लिए अलंकार-योजना होती है। अतः शब्द के आधार पर अलंकार योजना अधिक मिलती है। फिर कई अंगों की एक साथ स्थिति बतलाने के लिये रूपक या कई उपमानों की एक साथ योजना की जाती है। प्रभाव के आकलन में दृष्टि समग्र पर रहती है। अत. अलंकार योजना भी शब्द का आधार छोड़कर वाक्य या उक्ति पर विस्तृत हो जाती है। यही शैलीगत विकास है जो विषयत विकास के साथ-साथ मिलता है।

अलंकार वैचित्र्य के पश्चात् सूर कूटशैली के वैचित्र्य में प्रविष्ट होता है। अब उसका विषय परोक्ष होने लगा। 'जहाँ भावना परोक्ष में रहती है, वहाँ कल्पना कूट पदों के रूप में प्रकट हो जाती है और जहाँ उसे विकसित होने का अवसर मिलता है, वहाँ कवि किसी असीम, अनन्त सुख की ओर लक्ष्य करता दिखाई देता है।'[1] सूर की कूट शैली की परम्परा और स्वरूप पर थोड़ा विचार कर लेना भी उपयुक्त होगा।

६. कूटशैली—

दृष्टकूट पद कुछ तो 'सूरसागर' में भी हैं। 'साहित्य-लहरी' तो संपूर्ण ही इस शैली में हैं। इन पदों में सूरकाव्य के कलापक्ष को चमत्कारपूर्ण बनाते हुए मिलते हैं। कलापक्ष में भी जानबूझ कर अभिव्यक्ति को दुरूह बनाने की चेष्टा की गई है। अर्थबोध बड़ी साधना के पश्चात् होता है। इनकी भाषा में अत्यधिक सामासिकता है। शब्द के पर्यायों के आधार पर भी चमत्कार उत्पन्न किया गया है। कहीं-कहीं पाठकों को पहेली जैसे बुझाकर ही अर्थ की प्राप्ति होती है। कहीं ज्योतिष और गणित की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार शैली को सायास दुरूह बनाया गया है। इन पदों का विषय राधा-कृष्ण-प्रेम, सौन्दर्य-चित्रण, मान तथा अनेक कामशास्त्रीय क्रीड़ाएँ हैं। नायिका-भेद का भी स्पष्ट स्वरूप इन पदों में बन जाता है।

अब प्रश्न यह होता है कि 'सूर' ने जानबूझ कर इस भाषा को दुरूह क्यों बनाया ? क्या अभिधा, स्वभावोक्ति और प्रसादगुण के सफल प्रयोक्ता सूर

---

१. डा० ब्रजेश्वर वर्मा, सूरदास, पृ० ५४६।

के मन में चमत्कार प्रदर्शन और अपके ज्ञान के विज्ञापन की वात ही आ गई है ? अथवा इसका कोई अन्य कारण है ? इस पर अनेक दृष्टियों से विचार किया गया है। इस संवन्ध में 'सूर-निर्णय' के लेखकों ने यह मत दिया है। 'परोक्ष प्रियाह वै देवा'—देव को परोक्ष ज्ञानादि प्रिय होते हैं—इस श्रुति-वाक्य के अनुसार सूरदास ने दृष्टकूट पदों द्वारा अपने इष्टदेव का परोक्ष-गायन किया है, अत: इन पदों को कला-प्रदर्शन की अपेक्षा परोक्ष गायन के साधन मानना उचित है। तभी हम सूरदास के साथ वास्तविक न्याय कर सकते है।"[१] धार्मिक क्षेत्र में इस शैली के प्रयोग की परम्परा तो अवश्य मिलती है। वौद्धों में तो एक 'वैभाषिक संप्रदाय' ही था। इस संप्रदाय के परिचय में वतलाया गया है कि ये लोग ऊटपटॉग भापा का प्रयोग करके वेसिर-पैर की हाँकते थे। "असल में विभाषा शब्द का अर्थ है विशिष्ट भाष्य :"[२] इस भाष्य की शैली उलझी हुई और दुरूह है। वाममार्ग तथा तांत्र संप्रदायों में प्राय: इस प्रकार की भापा-शैली मिलती है। हठयोग-संवन्धी कुछ ग्रन्थों में इस प्रकार की भाषा का प्रयोग मिलता है। इस भापा में उलटी या 'वाम' उक्तियों का प्राधान्य था। वाहर से देखने पर वेद-विरोधी, शास्त्र-विरोधी, सामाजिक आचार और आदर्शविरोधी अर्थ ही ज्ञात होता है। पर कूट-पद्धति को समझ लेने के पश्चात् अर्थ का यथार्थ रूप प्रकट हो जाता था। वास्तव में वामता शैली का ही चमत्कार है। ये लोग अधिकाधिक उत्साह के साथ सीधी बात को भी उलट के जटिल और गुथीली वनाकर और आक्रामक तथा वक्कामार वनाकर कहते गए। कहने का ढंग कुछ विचित्र सा था। गोमांस-मक्षण पाप है, यह सर्वविदित वात है। वारुणी पीना बुरी बात, यह वात सभी जानते हैं। लेकिन हठयोगी यही कहेगा कि नित्य गोमांस मक्षण करना चाहिए और अमर वारुणी का पान करना चाहिए, क्योंकि यही विष्णु का परमपद है और यही कुलीन का परम कर्तव्य है।[३] पीछे इसका स्पष्टीकरण भी कर दिया जाता था, जिससे अर्थ की वामता समाप्त हो जाती थी। गो=जिह्वा; गोमांस-मक्षण =जिह्वा को उलट कर ब्रह्मरंध्र मे ले जाना, अमर वारुणी=चन्द्र-स्थान से नि:सृत सोमरस। इसी प्रकार सभी तंत्रमंत्र छोड़कर गृहिणी के साथ केलि करने से ही सिद्धि प्राप्त होती है।[४] प्रतीक की दृष्टि से गृहिणी— महामुद्रा।

१. सूरनिर्णय पृ० ३०३
२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'मध्यकालीन धर्म-साधना', पृ० १८
३. वही, पृ६ ७८ [हठयोग प्रदीपिका ३-४८-४८ का साराश]
४. ऐक्कु न किज्जइ मत न तंत। णिय घरणी लेइ सेलि करंत ।।—कृष्णाचार्य।

इस शैली और भाषा में लिखा हुआ प्रचुर साहित्य योगियों. सहजयानियों और तांत्रिकों की भाषा में मिलता है।

सहजयानी सिद्धों में भी 'संध्या भाषा' का प्रयोग मिलता है। इसका मूल भी वज्रयानी शाखा के साहित्य में मिलता है। म० हरप्रसाद शास्त्री ने इसका अर्थ 'आलो-आन्धारी-भाषा' किया था—धूपछाँही शैली। यह ऐसी शैली है जिसका कुछ अंश तो समझ में आये और कुछ अस्पष्ट हो। इस अंश को समझने के लिए गुरुकृपा या ज्ञान आवश्यक होता है। इसी भाव को लेकर डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने इसका अंग्रेजी अनुवाद 'लैंग्वेज आफ् ट्वाइलाट किया।'[1] विधुशेखर शास्त्री ने भाषा का नाम 'संध्या' नहीं 'संधा' माना। इसका अर्थ है अभिसंधि अथवा अभिप्राययुक्त भाषा। वाह्य स्थूल अर्थो के स्थान पर एक गूढ़ अभिप्राय की अभिव्यक्ति ही इस भाषा-शैली का लक्ष्य है।[2] डा० वागची ने इस तर्क का समर्थन किया, है और इसका यथार्थ रूप 'संधा' ही माना।[3] चीनी और तिव्वती परम्परा से इस शब्द को ही उन्होंने सिद्ध किया। इसका अर्थ भी 'अभिसंधियुक्त शैली' ही स्वीकृत किया गया। वौद्ध तांत्रिकों ने तो भाषा और व्याकरण के नियमों का भी विरोध किया। जो व्याकरण की दृष्टि से अवैध है, वही तांत्रिक के लिए वैध है। अपशब्द वृत्तिभंग, वर्ण-स्वर लोपादि ह्रस्व का दीर्घ करना और दीर्घ को ह्रस्व करना तंत्र के उपदेशकों के लिए वैध है। इसकी स्पष्ट घोषणा की गई।[4] टीकाओं में संध्या और अभिसंधि का समानार्थक प्रयोग मिलता है। विरुपा की चर्या में अभिसंधि शव्द का भी प्रयोग मिलता है।[5] सरहपा ने अपनी शैली को 'गहिण गुहिर भास' नाम से अभिहित किया है।[6] इससे भी 'अभिप्राययुक्त' भाषा का ही अर्थ ध्वनित होता है। वागची के अनुसार तिव्वती रूपान्तरों में संध्या या

---

१. वुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, पृ० ३५, ७०
२. इ० ही० क्वा०, १९२८, खंड ४, अंक २, पृ० २९३,
(इंडियन हिस्टारीकल क्वार्टरली)
३. स्टडीज् इन तंत्राज्, पृ० २७, ७५
४. हरप्रसाद शास्त्री, डेस्क्रिप्टिव कैटेलाँग आफ् संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन द गवर्नमेंट कलेक्शन, कालचक्रतंत्र की विमला प्रभा टीका का उद्धरण, पृ० ७८
५. वौद्धगान औ दोहा, पृ० ८
६. वागची, दहाकोष, पृ० १९

अभिसंधि के लिए एक शब्द प्रयुक्त मिलता है। इसका अर्थ 'अभिप्रायात्मक भाषा ही है।[1] वास्तव में यह एक गुह्य प्रतीकात्मक भाषा थी। इसका अभिप्राय भी गुह्य रहता था। एक विशेष प्रविधि औप प्रक्रिया से अभिप्रायार्थ व्यक्त किया जाता था। इस प्रकार की प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग ऋग्वेद में भी मिल जाता है।[2] अथर्ववेद में इस शैली का प्रयोग कुछ अधिक होने लगा था।[3] मीमांसकों ने इन्हीं प्रतीकों के प्रच्छन्न अर्थों के आधार पर बहुत कुछ अपने सिद्धान्तों का विकास किया। तंत्रों में इस शैली का प्रयोग व्यापक हो गया। 'पंचमकार' का सिद्धान्त इसी शैली पर आधारित है। बौध परम्परा में भी यह शैली समाविष्ट हो गई थी। 'सद्धर्म-पुंडरीक' में इस शब्द का प्रयोग है।[4] कर्न के अनुसार संधाभाषा=मिस्टीरिअस स्पीच।[5] इस भापा की प्रकृति को 'मंत्रणा प्रकृति' कहा गया है। इससे गंभीर रहस्य का उद्घाटन होता है। इस संध्या भाषा की प्रकृति 'मंत्र' वाली हो गई थी। मंत्र के प्रत्येक अक्षर और शब्द का एक गुह्य अर्थ होता है। उपमाओं, रूपकों, प्रतीकों तथा अन्य अप्रस्तुतों का चमत्कारिक प्रयोग इस शैली में होता था।

आगे चलकर ये प्रतीक और अप्रस्तुत रूढ़ हो गये। गुह्य समाज तंत्र में ऐसे गुह्य प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। विषय की दृष्टि से इस भाषा के प्रतीकों में बाह्य रूप से घोर शृंगार या कामुक अश्लीलता प्रकट होती है। "इन्हीं प्रतीकों का प्रयोग कर सिद्धों ने ऊपर से लौकिक (शृंगारपरक) लगने वाले पदों में प्रज्ञोपायात्मक कमल-कुलिश योग के गंभीर अर्थों के संकेत समाविष्ट कर दिये थे।'[6] यह समस्त योजना नायक-नायिकापरक है। गुप्तांगों और उनके संयोग की अनेक प्रतीकपरक अभिव्यक्तियाँ मिलती है। इस शृंगारपरक प्रतीक-योजना के साथ-साथ विरोधमूलक प्रतीक-शैली भी प्रचलित थी। इनके बाह्य अर्थ तो परस्पर विरोधी प्रतीत होते है, पर सांकेतिक अर्थो की संगति ठीक बैठ जाती है।

---

१. स्टडीज़ इन तंत्राज़ पृ० ७५

२, ऋ० संहिता, १।१५२; १०।५५

३. अथर्व० संहिता, ७।१; ११।८-१०

४. सद्धर्म पुंडरीक, सं० कर्न तथा नंजियो, सेंट पीटर्स वर्ग, (१९०८)

५. वही, खंड २१, पृ० ७०

६. डा० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ० २७१

लोकगीतों में भी शैली की यह भंगिमा प्राप्त होती है। 'होली' और 'वसंत' के गीत वास्तव में काम-प्रतीकों में अभिव्यक्त हुए हैं। पर उनकी व्याख्या आध्यात्मिक भी की जाती है। 'फाग' और 'रास' में इनको अलग-अलग कर लिया गया : इनके द्वारा वैराग्य और शृंगार का संघर्ष स्पष्ट करके वैराग्य की विजय घोषित की गई है। कबीर के नाम से ऐसी अनेक होलियाँ प्रचलित हैं, जिनमें बाह्यत घोर-स्थूल शृंगारपरक अर्थ की अभिव्यक्ति होती और सांकेतिक अर्थ अध्यात्मपरक हो जाता है। यह कहना कठिन है कि यह शैली लोक से धार्मिक आचार्यों ने एक विशेष पद्धति से अभिप्रायार्थ व्यक्त करने के लिए ली, अथवा लोक ने इस शैली को धर्माचार्यों से ग्रहण किया। ऐसा प्रतीत होता है कि लोकगीतों के अनेवृत शृंगार को पहले अप्रस्तुत रूप में शैली सहित धार्मिक आचार्यों ने ग्रहण किया। लोक-जीवन में अपना धर्म प्रचार करने के लिए इनको यह अप्रस्तुत आवश्यक और आकर्षक लगा। इसके आधार पर धर्मप्रचारक और लोकमानस एक धरातल पर आ जाता था। पीछे इस शृंगारी गीति-योजना के सांकेतिक अर्थों को प्रकट कर दिया जाता था। इस प्रकार परोक्ष रूप से सांप्रदायिक अभिप्राय लोकमानस में उतर जाते थे। लोक को अपनी ही भाषा और शैली विशेष अभिप्रायों से संस्कृत रूप में लोक को फिर से प्राप्त हो गई। इसमें धर्म-प्रचार का उद्देश्य निहित हो जाता था। "इन उलटबाँसियों का मुख्य उद्देश्य जनता को चमत्कृत करना और आकर्षित करना प्रतीत होता है। यह भी धर्म-प्रचार का ही एक ढ़ंग था और उसी परम्परा में था जिसमें अन्य सभी शैलीगत तत्त्व उपाय- कौशल पारमिता के अन्तर्गत धर्मप्रचार के साधन मान लिए गये थे। यही काव्यपद्धति परवर्ती नाथ तथा सन्त संप्रदायों में भी अपनाई गई।"[१] इस प्रकार की प्रतीक-योजना वैष्णव-साहित्य में भी उतर कर आई।

वैष्णव-क्षेत्रों में कृष्ण, राधा, और गोपी के प्रतीक मिथुनपरक या शृंगारिक प्रतीकों के लिए उपयुक्त पात्र थे। 'महाराग'[२] आदि की कल्पना 'महाभाव' जैसे वैष्णव-प्रतीक में समा गई। लोकाचार विरुद्ध 'परकीया' भी एक प्रमुख प्रतीक बना। सिद्धि या मुक्ति की प्राप्ति के लिए मिथुनपरक भक्ति-

---

१. डा० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ० २८५

२. महाराग का शास्त्रीय विधान इन प्रकार है : आलंबन=उपाय+प्रज्ञा; उद्दीपन=तांत्रिक संकेतों से पूर्ण अन्तस्थ प्रकृति; प्रज्ञा=डोम्बी, रजकी, नटी, चांडाली, ब्राह्मणी; शैली—संधा भाषा।

साधना भी इन्हीं प्रतीकों से सिद्ध हो जाती है। 'सूर' के समकालीन या कुछ पूर्ववर्ती संत-कवियों ने भी कूटशैली को न्यूनाधिक रूप से प्रयुक्त किया है। गुह्य वाणी की परम्परा नाथों और संतों तक चली आई है। 'नानक' ने 'गुहजी वाणी' का प्रयोग किया है। नाथ पंथ में वाणी के दो रूप माने गये : शून्य वाणी और स्थूल वाणी।[1] इनमें से शून्य वाणी गुह्य है। इसी प्रकार अन्यत्र चार वाणियों की कल्पना मिलती है।[2] इन चारों में एक 'सहजवाणी' है। इससे शिव और शक्ति के युगनद्ध से संबन्धित गुह्यवाणी का संकेत मिलता है :[3] इसी प्रकार की एक वाणी प्रज्ञा और उपाग्र के युगनद्ध से सबन्धित है। कबीरपंथ में भी गुह्यवाणी की परम्परा चलती रही।[4] कबीर की गुह्यवाणी ब्रह्मविचार से संबद्ध हो गई।[5] इस प्रकार एक दीर्घ परम्परा गुह्यवाणी, कूट-शैली, उलटबाँसियों की मिलती है।

सूरदास जी का इस धारा से कुछ परिचय अवश्य था। अन्य सगुण-मार्गीय कवियों से अधिक 'सूर' इस धारा के पारिभाषिक रूप से परिचित थे। यह जैसे एक आश्चर्य की सी बात लगती है। पर यह बात सूर के कुछ पदों से सिद्ध हो जाती है। नाथ-सत परम्परा के शब्दों का कितना सटीक प्रयोग नीचे की पंक्तियों में हुआ है :—

क. इड़ा पिंगला सुषमन नारी। सुन्य सहज में बसत मुरारी।
ब्रह्मभाव करि सब में देखौ। अलख निरंजन ही कौं लेखौ।
पदमासन इकचित मन ल्यावौ। नैन मूँद अंतरगत ध्यावौ।
हृदै-कमल में जोति प्रकासी। सोई अच्युत अबिगत अविनासी।[6]

ख. हृदय-कमल में जोति बिराजै। अनहद नाद निरंतर बाजै।
इड़ा पिंगला सुषमन नारी। सहज सुन्न में बसत मुरारी।[7]

इस प्रकार सूर सन्तों की गुह्यवाणी और प्रतीक-योजना से परिचय रखते थे। यों तो अभी इस संबन्ध में पर्याप्त शोध होना अवशिष्ट है, पर इस आधार

१. 'सुंनि अस्यूल दोई वाणी' (गोरखवानी, पृ० १०१
२. वहीं, पृ० २०५
३. डा० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ० ४४२
४. स्वसम्वेद बोध, बोधसागर, ६, पृ० १३८३, १३८४
५. 'लोग जानैं इहु गीतु हैं, इहू तउ ब्रह्म बीचारा', (संत कबीर, पृ० ५८)
६. सू० सा० ४०४६
७. सू० सा० ४०६४

पर इतना कहा जा सकता है कि 'गुह्यवाणी' की परम्परा का 'सूर' की कूट-शैली से संबद्ध होना असंभव नहीं है।

परंपरावलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि गुह्यवाणी या शैली मुख्यतः दो प्रकार की थी : एक का वैचित्र्य विशिष्ट शृंगार परक प्रतीकों की योजना पर निर्भर रहता था और दूसरी शैली विरोध के तत्त्व पर आधारित होती थी। विरोध-मूलकता भी दो प्रकार की होती थी : एक तो प्राकृतिक दृष्टि से विरोध प्रकट होता था। दूसरे लोकाचार, शास्त्रमर्यादा आदि से विरुद्ध बातें ज्ञात होती थीं, उनका अर्थ करने पर विरोध मिट जाता था। इस परम्परा में निर्गुणियों की उलटबांसी आती हैं। 'सूर' के साहित्य में दूसरे प्रकार की शैली नहीं मिलती। उन्होंने नायक-नायिका परक शृंगारिक प्रतीकों की योजना करने के लिए एक दुरूह शैली को अपनाया है। मधुर रस की एकान्त साधना लौकिक दृष्टि से अश्लील और आलौकिक दृष्टि से उज्ज्वल होती है। लोक की दृष्टि इस साधना के प्रतीकों की अश्लीलता पर सीधे न पहुँचे, इसलिये एक कूटशैली का प्रयोग सूर ने किया है। तांत्रिक या शाक्त शृंगारिक प्रतीकों की व्याख्या करके अलौकिक अर्थ की निष्पत्ति की जाती थी। सूर की कूटशैली मे इन शृंगारिक नायक-नायिका परक प्रतीकों की व्याख्या अपेक्षित नहीं। उन प्रतीकों में व्याप्त शृंगारिकता तक पहुँचने के लिए, पर्यायों, पुराण-कथाओं, संख्या-प्रतीकों आदि के वन को पार करना पड़ता है। यही परम्परागत शैली से सूर की शैली का वैशिष्ट्य है। इस शब्दार्थ योजना की जटिल पद्धति को थोड़ा समझ लेना चाहिये।

६ . १ **पर्याय चमत्कार**—कूट पदों में पर्यायों का चमत्कार विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। इस जाल को समझने के लिए शब्द और अर्थ का बहुविध ज्ञान होना चाहिए। पर्यायों में भी प्रचलित-अप्रचलित न जाने कितने अर्थों का समावेश मिलता है। एक निश्चित शब्द का निश्चित अर्थ ही लगाने से अर्थ स्पष्ट होता है। एक पद के भिन्न-भिन्न अर्थों और तत्सूचक पर्यायों के आधार पर चमत्कार की सृष्टि की गई है। उदाहरण के लिए एक 'नीतन' शब्द है,[1] जिसका अभीष्टार्थ 'नयन' है। पर इस अर्थ तक पहुँचने की पद्धति यह है—

नीतन=नीत+न। नीत='नीति'। नीति=नय। नय (=नीति) +न=नयन। इसी प्रकार एक और सामासिक शब्द है : दधि-सुत-सुत-

१. सा० ल० १३। यह और आगे के उदाहरण डा० प्रेमनारायण टंडन के 'सूर की भाषा' ग्रन्थ से लिये गये हैं।

पतिनी।[1] इसका अभीष्टार्थ है 'वोली'। इस अर्थ की प्राप्ति इस पद्धति से होगी—

दधि=जल। दधि-सुत=कमल। दधिसुत-सुत=ब्रह्मा। दधिसुत-सुत-पतनी=सरस्वती, वोली। एक पद में 'वसुदेव' के लिए अष्टसुर शब्द प्रयुक्त हुआ।[2] इससे अर्थ की व्युत्पत्ति 'आठ' संख्या के संकेत ग्रहण और 'सूर' के पर्याय के आधार पर इस प्रकार हुई है—

अष्टसुर=अष्ट+सुर। अष्ट=(संकेतार्थ) वसु। सुर=देव। अष्टसुर=वसुदेव। कहीं-कहीं सामासिकता बहुत अधिक बढ़ गई है।"एक शब्द है: "दधि-सुत-अरि-भष-सुत-सुभाव"[3] इसका अभीष्टार्थ सखी है: दधि=उदधि। दधि-सुत=उदधि सुत, चन्द्रमा। दधि-सुत-अरि=राहु; दधिसुत-अरि-भष=राहु का भक्ष्य, सूर्य। दधि-सुत-अरि-भष सुत=कर्ण। दधिसुत-अरिभष-सुत-सुभाव=दान करना, दानी=(उर्दू) सखी।

इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि पौराणिक ज्ञान की पृष्ठभूमि, पर्यायज्ञान और अर्थ-सामंजस्य जैसी कितनी शक्तियों के आधार पर ही अभीष्ट अर्थ की निष्पत्ति होती है।

६. २ **पहेलीका चमत्कार**—पहेलिका भी एक काव्यरूप है, जिससे अवकाश प्राप्त बुद्धिमानों का मनोरंजन होता है। प्रहेलिका रूप का प्रयोग करके भी 'सूर' ने कुल चमत्कार उत्पन्न किया है। एक उदाहरण यह है—

कारन-अंत अंत ते घटकर, आदि घटत पै जोई।
मद्ध घटे पर नास कियौ है, नीतन में मन मोई।।[4]

इस समस्त शब्द विधान का अर्थ 'काजल' है। नीतन का अर्थ पहले नयन सिद्ध किया जा चुका है। 'काजल' सिद्ध करने के लिए यह उघेड़-बुन करनी पड़ेगी—

कारन-अंत=काम, काज। पै=पय=जल। नास=नाश=काल। वह शब्द जिसके अंत्याक्षर को हटा देने से 'काज' बचे, आदि अक्षर हटा देने से 'जल' बचे तथा मध्य अक्षर हटा देने से 'काल बच रहे=काजल

---

१. सूर की भाषा ६।
२. वहीं, ३८।
३. वही, ८७।
४. सा० ल० ५।

६.३ पुनरावृत्ति का चमत्कार—अक्षरों शब्दों या शब्दांगों की आवृत्तियाँ करके भी अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति की गई है। एक पद में 'ल' की आवृत्ति से अर्थ निकाले गये हैं। इसमें 'तीन लल' 'डेढ़ लल' और 'तीन की की' बीजाक्षर जैसे हैं। इनसे तीन अर्थ प्रकट किये गये हैं: छल, तिल, छकी। इन अर्थों की निष्पत्ति इस पद्धति से होती है: ३×१ (=लल)=६ (ल)=छ+ल=छल (=तीन लल)। १½(डेढ़)×२ (लल) —३ (ल)=तीन+ल=तिल (डेढ़ लल)। तीन कीकी=३×२=६ (की) =छ+की=छकी।[1]

कहीं कहीं अर्थ साधना और भी कृच्छ्र होगई है। 'ति पीपी'[2]= ३×२ (पीपी)=६ (पीपी)=छ+पी=छिपाना=गोपन....गोपी। इसमें और भी दुष्कर शैली का प्रयोग है।

६.४ गणित चमत्कार—ज्योतिष के उपकरणों के आधार पर संख्या का कथन करना एक पुरानी प्रणाली है। पुराने हस्तलिखित ग्रन्थों में रचना सम्वत् की सूचना इसी पद्धति से दी गई है। इसी प्रणाली का सूर ने भी प्रयोग साहित्य लहरी में किया है। एक उदाहरण यह है—

ग्रह नक्षत्र अरु वेद अरध करि को बरजै मुहि खात।[3]

इससे विष खाने का अर्थ व्यक्त होना चाहिये। 'विष' अर्थ इस प्रकार व्युत्पन्न होगा : ग्रह=६,+नक्षत्र+२७=वेद=४=४० अरध=बीस (=विष)।

६.५ क्रमगत चमत्कार—कभी-कभी कवि कुछ शब्द दे देता है। उनके अक्षरों (आदि या अंत वाले) को जोड़कर एक नवीन 'शब्द' व्युत्पन्न किया जाता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि शब्द सूची का पद जो अर्थ रखता है, उसके अक्षर को लेकर शब्द बनाया जाता है एक उदाहरण यह है— 'चपला और बराह रस आखर आद देख अपटाने।[4] अर्थात् इन शब्दों का आद्यक्षर लेना है। शब्द चकोर बनना है। च (=चपला का आद्यक्षर) +को (बराह = कोल का आद्यक्षर) + र (रस का आद्यक्षर) =चकोर।

---

१. सू० सा० २१
२. वही, ३८
३. वही. २३
४. वही, ७२

६.६ विपर्यय का चमत्कार—कहीं-कहीं शब्दों के अक्षरों का विपर्यय करके अर्थ की व्युत्पत्ति की जाती है। ब्रह्मा आकर ग्वाल-बाल और बछड़ों को चुरा ले गया। इस बात को यों कहा गया है : "सारंग पलट-पलट छवि दोई लै गौ आइ चुराइ।"[१] अर्थ की निष्पत्ति इस प्रकार होगी—सारंग=लवा पक्षी। लवा का विपर्यय=वाल; छवि का विपर्यय=विछ। (वछ=वत्स)।

६.७ मिश्रित प्रणाली से चमत्कार—वहाँ दुरूहता और भी बढ़ गई है। जहाँ कवि ने एक से अधिक प्रणालियों को मिला दिया है। प्रहेलिका और गणित प्रणाली के योग से प्राप्त अर्थ का एक उदाहरण लीजिए : 'अंत ते कर हीन माने तीसरो दो बार।'[२] अर्थ है 'कृतकृत्य' होना। इसकी अर्थ प्राप्ति का क्रम इस प्रकार होगा : तीसरो=तीसरा नक्षत्र=कृत्तिका, तीसरो दो बार=कृतका-कृतका। कृतक-कृतका 'अंत ते कर हीन'=कृत कृत। इस प्रकार फिर अंत्याक्षर का लोप करने से कृतकृत्य शब्द सिद्ध हो जाता है।

६.८ एक ही शब्द की अनेक बार आवृत्ति—अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग से यह चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार एक शब्द साहित्य में रूढ़ हो गया है—सारँग। इसके अनेक अर्थ मिलते हैं। सूर ने भी इस शब्द के प्रयोग के द्वारा चमत्कार उत्पन्न किया है—

> सारँग सारँगवरहि मिलावहु।
> सारँग विनय करति सारँग सौं, सारँग दुख बिसरावहु।
> सारँग समय दहत अति सारँग, सारँग तिनहिं दिखावहु॥
> सारँग पति सारँगधर ले हैं, सारँग जाइ मनावहु।
> सारँग चरन सुभग-कर सारँग, सारँग नाम बुलावहु।
> 'सूरदास' सारँग उपकारिनि, सारँग मरत जिवावहु॥[३]

इस पद में एक ही शब्द सारँग सोलह बार प्रयुक्त हुआ है। इसके १६ अर्थ क्रमशः ये हैं : १. श्रेष्ठ हृदयवाली (सारँग=मयूर, मयूर का पर्याय-बर्ही=बरही=वर 'श्रेष्ठ', + हिय=हृदयवाली) २. गिरिधर (सारँग=गिरि) ३. अनन्त (सारँग=आकाश=अनन्त) ४. विष्णु ५. ताप (सारँग=सूर्य, तपन=ताप) ६. रात्रि ७. कमल (हृदयकमल) ८. कृष्ण, ९ दीप्ति, १०. दीपक

---

१. सा० ल० ७२

२. वही ७८

३. सू० सा० २०९७

दामोदर, धर्मपुत्र, चतुरानन, महादेव आदि इसी प्रकार के शब्द हैं। इनका प्रयोग स्वाभाविकता को बाधित नहीं करता।

४.२ **लक्षणा**—भाषा का एक गुण चित्रमयिता है। सूर की भाषा इस गुण के लिए प्रसिद्ध है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है : 'काव्य की भाषा का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है उसका चित्रमय होना।...दूसरे गुण (चित्रमयिता) में तो सूरदास की समता संसार के कुछ ही कवि कर सकते है।'[1] भाषा को चित्रमय बनाने में लक्षणा शक्ति का योगदान रहता है। 'चित्रमय भाषा-शैली या प्रतीक पद्धति में वाचक पदों के स्थान पर लक्षक पदों का व्यवहार होता है।''[2] 'खाइ पछार,[3] मन अटक्यौ,[4] मूड़ चढ़ायौ[5] आदि। इसी प्रकार के प्रयोग कहे जायेगे। कहावतों के प्रयोग में लक्षणा का सौन्दर्य बिखर उठता है। ये प्रयोग लक्षणा के सामान्य प्रयोग है। लाक्षणिक प्रयोगों की संख्या भावावेश की उक्तियों में और बढ़ जाती है। उपालंभों और संवादों की शैली का प्रमुख सौन्दर्य तो लक्षणा पर ही आधारित है। मुरली और आँखों पर जो उक्तियाँ की गई है, उनमे लक्षण का प्रचुर प्रयोग है। इन्हीं के आधार पर मानवीकरण की भी सिद्धि हुई है।

लक्षणा के मुख्य रूप से चार भेद होते है—लक्षण-लक्षणा, उपादान लक्षणा, सारोपा-लक्षणा और साध्यवसाना-लक्षणा। संबन्ध के अनुसार लक्षणा गौणी और शुद्धा और हो सकती है। सूर के गेयचित्रों में सभी के उदाहरण मिल जाते हैं। 'उमह्यौ गोकुल ग्राम', 'नगर अकुलायौ' में गोकुल और ग्राम शब्द स्थानवाचक न होकर, वहाँ के निवासियों को लक्षित करते है। इसके और भी कुछ सजीव प्रयोग नीचे लिखी पंक्तियों में प्रकट हुए है—

पूजा करौं बनाई (१५४५) — 'दंड दूँगी'
बहुत बड़ाई करि हम आईं (१४२५) — 'बुराई कर आई है'
न तु करती मेहमानी (१४७६) -- 'खरी-खोटी सुनाती'

बाललीला के प्रसंग में लक्षण-लक्षणा के सुन्दर उदाहरण मिलते है।

---

१. सूरसाहित्य, पृ० १६३
२. आचार्य शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ८०७।
३. सू० सा० १।२६८।
४. वही १०।३०।
५. वही ३९१।

उपादन लक्षणा में मुख्यार्थ भी सामने रहा आता है और लक्ष्यार्थ भी निष्पन्न होता रहता है। नीचे की पंक्तियों में इसके प्रयोग से सजीवता आई है—

'कहि कहि टेरत धौरी, कारी।' (६१३)
'द्वै कौड़ी के कागद मसि कौ लागत है बहु मोल।' (३२५४)

प्रथम पंक्ति में धौरी, कारी का अर्थ इन रंगों की गायें हैं। द्वै कौड़ी का अर्थ तुच्छ है। गौणी सारोपा लक्षणा का प्रयोग इस पंक्ति में है —

पिय बिनु नागिनि कारी राति। (३२७२)

विरह में रात अत्यन्त दुखद होती है। अतः उस पर नागिन के स्वभाव और गुण का आरोप किया गया है। गौणी साध्यवसाना के प्रयोग से शैली में कुछ दुरूहता आ जाती है। जहाँ उपमेयों का उपमानों में अध्यवसान हो जाता है, वहाँ लक्षणा का यही रूप प्रकट होता है। उदाहरण के लिए नीचे लिखी पंक्तियों को देखा जा सकता है—

अद्भुत एक अनुपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।[1]

इन पंक्तियों में बाग, कमल, गज, सिंह उपमान हैं। इनमें राधा के अंगों का अध्यवसान हो गया है। उक्त पद में नख-शिख वर्णन किया गया है। 'दान-लीला' का प्रसंग इस प्रकार के प्रयोगों से भरा हुआ है।[2] केवल उपमानों की सूची से। गुण सादृश्य या रूप सादृश्य के आधार पर उपमेय अंग लक्षित किये जा सकते हैं। शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण इस पंक्ति में है— 'बिछुर्‍यौ हंस काय घट हूँ तैं, फिर न आव घट माँहीं।'[3] इसमें हंस का आरोप प्राण पर तथा 'घट' का आरोप शरीर पर किया गया है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि सूर ने अपने पदों में जो चित्र योजना की है, उसका मुख्य आधार लक्षणा का प्रयोग ही कहा जाना चाहिए। इसके प्रयोग में सूर सिद्ध हस्त हैं।

७.३ व्यंजना शक्ति—यह शब्द की उच्चतम शक्ति है। सूरकाव्य में इसके उदाहरण भी पर्याप्त मिल जाते हैं। एक सुन्दर उदाहरण इस प्रकार है—

---

१. सू. सा. २११०
२. वही, १५४९
३. वही, ३२२९

बरु ए बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि नँद-नंदन गरजि गगन घन छाए।
कहियत हैं सुरलोक बसत सखि सेवक सदा पराए।।
चातक कुल की प्रीति जानि कैं, तेउ तहाँ तें धाए।।[1]

इसका सामान्य अर्थ तो बादलों से संबन्धित है। व्यंग्यार्थ यह है कि इस उद्दीपक ऋतु में भी कृष्ण अपने प्रेमियों की याद करके नहीं लौटे। बादल अपने प्रेमियों को याद करके कितनी दूर से आ गये हैं। व्यंजना के भी कई रूप होते हैं। मुख्य चार है, दो शब्द पर आधारित और दो अर्थ पर आधारित। ये इस प्रकार हैं—अभिधामूला शाब्दी व्यंजना, लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना वाच्यसंभवा आर्थी व्यंजना तथा लक्ष्य संभवा आर्थी व्यंजना तथा व्यंग्य संभवा आर्थी व्यंजना। इन सभी के उदाहरण सूर-साहित्य में मिल जाते है।[2] व्यंजना के सभी रूपों का प्रयोग अत्यन्त सजीव और अनायास हुआ है। विरह की उक्तियों में इस शक्ति का विशेष प्रयोग मिलता है। गोपियाँ उद्धव को अपनी विरह व्यथा प्रायः इसी शक्ति के द्वारा समझाती हैं। इनके प्रयोग से शैली कुछ दुर्बोध अवश्य हो जाती है, पर ऐसा नहीं कि इनका प्रयोग गीतों पर बोझ बन जाये। भाव की अभिव्यक्ति को ही इनसे सहायता मिलती। गीत शैली में भी भाषा के इन शास्त्रीय उपकरणों को स्वाभाविक रूप से सजा देने में ही सूर की प्रतिभा की सफलता है।

८. गुण, वृत्ति, रीति

किसी कवि की शैली में इन उपकरणों की योजना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। गुणों के कई रूप शास्त्र में मान्य हैं। इनमें तीन गुण मुख्य हैं : माधुर्य, ओज और प्रसाद। माधुर्य और ओज तो कुछ भाव- स्थितियों और रस-दशाओं से विशेष संबन्ध रखते हैं। प्रसाद एक व्यापक गुण है। यह सभी स्थितियों में रह सकता है। इसी प्रकार प्रसंग और भाव-दशा के अनुसार वृत्तियों का प्रयोग होता है। रस के संदर्भ में शब्द और अर्थ की उपयुक्त योजना ही वृत्ति की संधारणा के अन्तर्गत आती है। साथ ही गुणों के साथ

---

१. सू. सा. ३३०८

२. वही, ३४८७, १८६६, ४२५१, ३४४०, ३४५०, १०६४, ४०६७, ३३१०, ४०६४ आदि।

साथ भाषागत न्याय किया है।[1] शृंगार में भी रति-रण या उपालम्भ या नृत्य आदि के वातावरण में इस शैली का आभास मिल जाता है।

प्रसादगुण सूर-साहित्य का केन्द्रीय गुण है। इसके साथ कोमलावृत्ति और पांचाली रीति स्वतः आ जाती है। विनय के पदों में, और वात्सल्य-चित्रों में प्रायः इसी शैली के दर्शन होते है। यदि इन प्रसंगों में शैली कृत्रिम और सायास हो, अथवा अर्थव्यक्ति दुरूह हो जाये तो सरलता और सजीवता विदा ले लेंगी। प्रसंग का अर्थ कुछ और होगा और शैली-योजना कुछ और ही होगी। 'मो सम कौन कुटिल खल कामी'[2], तथा 'हरि अपने आगैं कछु गावत।'[3] जैसे पदो में इसी शैली का अनिद्य विलास मिलता है। इसी शैली के प्रयोग में सूर का वैशिष्ट्य है। यदि सूर का बाल-दर्शन भाव, यथार्थ परिस्थिति, और आश्रय के यथार्थ चित्रण के कारण समस्त संसार के साहित्य में स्थान पाने का अधिकारी है, तो उनकी प्रसादगुण, कोमलावृत्ति और पांचाली रीति की त्रयी के सफल प्रयोग भी उसकी महत्ता में हाथ रखते है।

---

१. सू० सा० १।१४८
२. वही १।१४८
३. वही १०।१७७

पन्द्रह

अलंकार विधान

क–देखौ माई सुन्दरता कौ सागर ।
बुद्धि-विवेक-बल पार न पावत, मगन होत मन नागर ।।

ख–देखि सखी हरि कौ मुख चारु ।

× × ×

अब अवरु ऐसो लागत है, जैसो जूठौ थारु ।

ग–सुन्दर मुख की बलि-बलि जाऊँ ।

× × ×

'सूरदास' प्रभु मन मोहन छवि, यह सोभा ऊपमा नहिं पाउँ ।।

घ–देखि री हरि के चंचल नैन ।

× × ×

'सूर' स्याम लोचन अपार छवि उपमा सुनि सरमात ।।

१५ | अलंकार-विधान

प्रस्तावना—

अलंकरण भाषा को भाव एवं अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए 'अलम्' बनाने की प्रक्रिया है। 'सूर' की भावभूमि इतनी विविध और सम्पन्न है कि सामान्य भाषा उसका साथ नहीं दे सकती। सूर-साहित्य में भाषा की प्रत्येक शक्ति पूर्ण वैभव के साथ उपस्थित है :

सूर-साहित्य में अलंकार-विधान भी भावों का अनुगामी है। सूर की अलंकार-योजना का उद्देश्य भाव का उत्कर्ष और उसकी उपयुक्त सज्जा है। ऐसे स्थल बहुत कम हैं जहाँ अलंकार केवल भाषा के सौन्दर्य और चमत्कार के लिए नियोजित हैं। अलंकार-प्रयोग पर कवि का संयम उल्लेखनीय है। किन्हीं स्थलों पर वह अलंकारों को छोड़कर शुद्ध अनलंकृत भाषा का प्रयोग करके भी विशेषता प्राप्त करता है। कहीं अलंकारों की भावानुकूल योजना करके शैली को अन्तर्बाह्य सौन्दर्य से युक्त कर देता है और शैली को शुद्ध अलंकारों के चमत्कार से भी भर देता है। सूर-साहित्य में अलंकार-प्रयोग की विकासरेखा अनेक मोड़ ग्रहण करती है : अलंकारहीन भाषा के प्रयोग से चमत्कारपूर्ण अलंकार-योजना तक न जाने कितने उतार-चढ़ाव इस विकास-रेखा में मिलते हैं। उपमानों की खोज में कवि की कल्पना देश और काल की परिक्रमा सी करती मिलती है। कभी आकाश अपनी समस्त विभूति लिए सूर के सामने होता है, कभी अकूल सागर। कभी पुराने उपमानों की नवीन योजना करता है, कभी वह उनको नवीन स्थिति प्रदान करके कवि रूढ़ियों के प्रति असहिष्णु हो जाता है। भाषा, शैली और अलंकार-प्रयोग पर इतना नियंत्रण और संयम बहुत कम कवियों में ही मिलता है। सूर में भावों की विविध भूमियाँ मिलती हैं। उन भूमियों के अवतरण के लिए विविध शैलियों

और अलंकार-योजनाओं के नवीन प्रयोग कवि करता है और सर्वत्र एक सामंजस्य मिलता है। जहाँ उनकी कल्पनाशक्ति किसी भावस्थिति की वस्तु और गति में सौन्दर्य की संभावनाएँ पा लेती है, वहाँ अलंकार-प्रयोग उसे अनावश्यक लगता है। बिंबमय भाषा का प्रयोग वहाँ पर्याप्त होता है। लाक्ष-णिक शक्ति का विधान वस्तु और गति को मधुर रंगों और सरल रेखाओं में चित्रित कर देती है। इन स्थितियों में अलंकारों का अत्यल्प योगदान मिलता है।

१. अलंकृत-भावाभिव्यक्ति—

१. अलंकृत विनय—विषय की दृष्टि से भागवतोक्त कथाओं के वर्णन में अलंकारों का उल्लेखनीय प्रयोग नहीं हुआ है। शेष साहित्य के दो भाग हैं: विनय के पद तथा लीला के पद: लीला के पदों में कुछ तो स्थितियों और लीला-व्यापारों के चित्रण से संबद्ध हैं और कुछ रूप के चित्रण से। इनमें सबसे अधिक अलंकार रूप-चित्रण में प्रयुक्त हुए हैं। सूर के अलंकार प्रयोग की विविध दृष्टियों को कुछ विस्तार से देखा जा सकता है।

विनय और दास्य के पदों में दो भाव-प्रमुख हैं: एक भगवान के माहात्म्य का कथन और दूसरा अपनी हीनता की विज्ञप्ति: भक्त अपने इष्ट के माहात्म्य को उनकी भक्तवत्सलता आदि गुणों के रूप में देखता है। भक्त-वत्सलता का अभिप्राय सभी संप्रदाय के भक्तों के लिए मान्य था, पर पुष्टिमार्ग में 'पुष्टि' की मौलिक स्थिति है। सूर ने भक्तवत्सलता के चित्रण में 'दृष्टान्त' 'उदाहरण' जैसे सरल अलंकारों की योजना की है। अनेक भक्तों की उद्धार-कथाएँ इस रूप में चित्रण में प्रस्तुत सामग्री के रूप में उपस्थित हो जाती हैं। गज-गीध, अजामिल के नामोल्लेख से ही उदाहरण और दृष्टान्त संपन्न हो जाते हैं।

फिर अपनी हीन मनोस्थिति के संदर्भ में भक्तवत्सलता को कवि देखता है। यदि इस गुण की क्रियात्मक परिणति भक्त के गुणों या उनकी उदात्त वृत्तियों के अनुपात में ही होती है, तो माहात्म्य सीमित हो जाता है। इसलिए इस गुण के प्रतिकूल अकारण, अर्थान्तरकारण या विरोधी कारण की भूमिका में होना दिखलाया जाता है। इस क्रम में विभावना अलंकार की योजना उपयुक्त हो जाती है। एक उदाहरण यह है—

सुतहित विप्र, कीर हित गनिका, परमारथ प्रभु पायौ ।
छिनक भजन संगति प्रताप तैं, गज ग्राह तैं छुड़ायौ ।[1]

कवि का भगवान की भक्तवत्सलता में अटूट विश्वास है। यह विश्वास जब अधिक तीव्र होता है तो कुछ विरोधमूलक अलंकारों की योजना कवि की भावोत्तेजना का साथ देती है। इन अलंकारों में असंगति, असंभव, विषम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। भगवान के गुणकथन में अतिशयोक्ति का प्रयोग भी अधिक मिलता है। लौकिक दृष्टि से जो अतिशयोक्ति या अत्युक्ति है, वह अलौकिक भावस्थिति में सामान्य है।

अपनी स्थिति को स्पष्ट करने में कवि को रूपकों का अधिक सहारा लेना पड़ा है। सबसे पहले अपने को भव-जाल से उत्पीड़ित पाता है। भव-सागर का सांगरूपक बनाकर कवि अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण करता है और उद्धार के लिए प्रार्थना करता है—

अब के माधव मोहि उधारि ।
मगन हौं भव-अंबुनिधि में कृपासिंधु मुरारि ॥
× × × ×
पर्यौ बीच बेहाल विह्वल, सुनहु करुनामूल ।[2]

'अब मोहिं भीजत क्यों न उबारौ'[3] पद में वर्षा के आधार पर एक मायाजाल का सांगरूपक खड़ा किया गया है। विकृत मन की भ्रमित विडम्बना को स्पष्ट करने के लिए जीव के नृत्य का सांगरूपक बना है—'अब हौं नाच्यौ बहुत गुपाल।'[4] प्रशासन विभाग, राजस्व विभाग, चौपड़ आदि के आधार जीव की दशा का वर्णन करने के लिए सांगरूपकों की सृष्टि कवि ने की है। मन-पंछी, तन-तरुवर, आदि छोटे रूपकों के प्रयोग से प्रबोधन गीतों को सजीव बनाया गया है। ये छोटे रूपक, उपमा या उत्प्रेक्षा बड़े सांगरूपकों के लिए भी आधारभूमि प्रस्तुत करते हैं।

सूर की उक्तियों का सौन्दर्य अप्रस्तुत प्रशंसा या व्याज-शैली से बहुत निखरा है। गाय के रूपक के द्वारा कवि ने अपनी इन्द्रियासक्ति का वर्णन किया है और उसमें भगवान की अप्रस्तुत प्रशंसा भी सन्निहित है—

---

१. सूर पंचरत्न, विनय, १७
२. वही, ५
३. वही, ८
४. वही, १०

माधव जू ! यह मेरी इक गाइ
अब आजु तें आप आगे दई लै आइये चराइ, ।[1]

जब दास्य और विनय की स्थिति रहस्यात्मक स्थिति में प्रविष्ट होती है, तब सूर की अलंकार-योजना भी अन्योक्ति-प्रधान हो जाती हैं। चकई, भृङ्गी और सुआ के प्रति संबोधित अन्योक्तियाँ बड़ी ही सटीक उतरी हैं। 'चकई री चल चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम-वियोग'—एक प्रसिद्ध अन्योक्ति है पर, सूर की मनोवृत्ति अधिक समय तक रहस्योन्मुख नहीं रह सकी : रूपासक्ति ने अरूप की छाया को रूपाकार में उभारदिया। अन्योक्तियों का सफल प्रयोग आगे भ्रमरगीत प्रसंग में मिलता है। वहाँ गोपी भ्रमर के प्रति उक्ति करती हैं और उनमें उद्धव या कृष्ण लक्षित मिलते हैं। अन्योक्ति यह है—

मधुप रावरी यह पहिचानि।
वास रस लै अनत बैठत, पुहुप को तजि कानि।
बाटिका बहु बिपिन जाकें, एक वै कुम्हिलानि।
तहाँ अगनित पुहुप फूले, कौन ताकें हानि ॥[2]

१.२ अलंकृत प्रेमभाव—भावचित्रण में कवि की अलंकार-योजना अत्यन्त सरल रहती है। प्रायः अलंकार-विहीन सहज, भाव-सौन्दर्य ही कवि को अभीष्ट है, फिर भी भाव की उत्तेजित अवस्था को व्यक्त करने के लिए अत्यन्त परिचित अप्रस्तुत-प्रयोग के द्वारा भाषा का स्वाभाविक अलंकरण कवि ने यत्र-तत्र किया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक और अपह्नुति का प्रयोग इन चित्रों में प्रायः हुआ है। जहाँ कवि की वृत्ति कुछ अधिक काव्यमय हो गई है वहाँ अतिशयोक्ति या ऊहा की शैली भी मिलती है। वात्सल्य-भावना के चित्रण में अलंकृति केवल उन स्थलों पर आई है, जहाँ रूपाकार की छवियाँ कवि की कल्पना को चुनौती देती हैं। अलंकृति प्रेमभाव की अभिव्यक्ति में ही अधिक है। कुल अलंकारों के प्रयोग की भाव-स्थितियों को देखा जा सकता है।

भाव के चित्रण में गोपियों ने अधिकांश उपमा और रूपक को पकड़ा है। प्रेमोन्माद को एक मस्त हाथी के उपमान के द्वारा रूपक में ढाला गया है। लाज का अंकुश अब प्रेमोन्मत्त मन नहीं मानता। डररूपी महावत का नियंत्रण जाता रहा। उसने सभी वन्धनों को तोड़ डाला है। इस प्रकार मन का उपमान गज बनता है। उसी संदर्भ में आगे वह मदमत्त योवन का उपमान

१. सू. पं., ७८
२. सू. सा. ४६६१

वन जाता है—'रोमावली सुंड, बिवि कुज मनु कुंभस्थल छबि पावत।' इस यौवनरूपी हाथी को कृष्ण-केशरी अभिभूत करता है।[१] इस प्रकार एक ही रूपक में अन्तर्वाह्य स्थिति को समेटा गया है। प्रेम की आतुरता को प्राय: एक नदी के रूपक से व्यंजित किया है—'जैसें नदी सिन्धु कौं धावै, वैसेहिं स्याम भजी।'[२] प्रेमगत तादात्म्य को हल्दी-चूने के मिलने से उपमित किया गया है—'सूरस्याम कौं मिलि, चूनौ हरदी ज्यों रंगरँगी।' कहीं दूध-पानी मिलन के न्याय को अप्रस्तुत रूप में ग्रहण किया है।

प्रेम की बात घर-घर फैल गई : छोटी सी बात एक बड़े लोकापवाद के रूप में प्रकट हो गई। छोटा सा बट-बीज था—इतना बड़ा वृक्ष बन गया। उपमा और अर्थान्तिरन्यास की योजना देखिए—

यह तो अब बात फैलो, भई बीज बट कौ।
घर-घर नित यहै धँर, बानी घट घट कौ।[३]

इसमें उपमा-विधान मीरा जैसा सरल और निश्छल है। इसी शैली में लुप्तोपमा का प्रयोग हुआ है।[४] कृष्ण की ओर आकर्षित गोपियों का अन्तर्द्वन्द्व गुरुजनों की मर्यादा को लेकर है। इस स्थिति को एक उपमा से व्यक्त किया गया है—'सूरदास के प्रभु तन मेरौ, ज्यौं भयौ, हाथ पाथर तर कौ।'[५] पत्थर के नीचे दवे हुए हाथ जैसा शरीर गोपी का हो गया है।

कहीं-कहीं भावों की अभिव्यक्ति के लिए सांगरूपक की लम्बी अलंकृत संरचना का भी प्रयोग मिलता है। कृष्ण के अपार रूपजल में गोपियों के स्नान का एक सुन्दर सांगरूपक सम्पन्न हुआ है।[६] इसकी सूचना इस पंक्ति से मिलती है—करति अस्नान सब प्रेम बुड़कीहिं दै, समुझ जिय होइ भजि तीर आवै।' सांगरूपक का प्रयोग रूप-लुब्ध आँखों के वर्णन में भी किया गया है। लुब्धक-पखेरु, कमल-भृंग, नाद-कुरंग जैसे रूढ़ न्यायों के आधार पर इन सांगरूपकों की योजना हुई है।[७] विरह का भाव दावाग्नि के अप्रस्तुत के आधार पर भी

१. सू. सा. २२४७
२. वही २२४६
३. वही २२७८
४. वही २२७६
५. वही २५३८
६. वही २५२६
७. सूरसागर, २८६०-६२, २८६५, २८६६, २८६८-६६

एक सांगरूपक बना है।[१] इसी विरह की स्थिति को स्पष्ट करने के लिये कृष्ण रूपी सांप से डसे जाने की बात कही गई है। रूपक का आरम्भ 'डसी री स्याम भुजंगम कारे' से होता है और अन्त 'सूरस्याम गारुड़ी बिना को, जो सिर गाड़ उतारे।'[२] इस रूपक में नवीनता और स्वाभाविकता दोनों हैं। इस प्रकार जहाँ भाव खंडों की अभिव्यक्ति के लिए सूर ने उपमा और सामान्य रूपकों की योजना की है, वहाँ भावना की समग्रता और प्रभाव की व्याप्ति को प्रकट करने के लिए सांगरूपकों की सृष्टि की है। उपमा और रूपकों का प्रयोग कवि ने शुद्ध भावाभिव्यक्ति दृष्टि से किया है।

कुछ चमत्कार की दृष्टि उत्प्रेक्षाओं के विधान में मिलती हैं। इसमें कवि कुछ नवीन मौलिक किन्तु परिचित अप्रस्तुत की सुन्दर योजना करता है। कृष्ण के दर्शनों के बिना शरीर 'ब्योंत' और विरह दरजी होगया है।[३] गोपियों के विरह को प्रकट करने के लिए कवि के सामने गंगा के चिर विरह का अप्रस्तुत आ जाता है— 'जब तैं गंग परी हरि पग तैं, बहिबौ नहीं निवारै।'[४] कृष्ण के विरह में ब्रज के वृक्ष मानो योगी बन गये हैं—'तरुवर पत्र-वसन न सँभारत विरह वृच्छ भए जोगी।'[५] इस प्रकार के अप्रस्तुत अपरिचित तो नहीं कहे जा सकते, पर उनके चुनाव में कल्पना-क्रिया अवश्य ही कुछ उच्च स्तर पर है। ब्रज में कोई कृष्ण के पत्र को पढ़ता नहीं : वह आंसू से गल जायगा और विरह से जलती हुई उँगलियाँ उसे जला देंगी। इस कल्पना में ऊहा की झलक तक आ गई है। कृष्ण की लीलाओं के आधार पर भी उत्प्रेक्षाओं की सृष्टि हुई है।[६] इन उत्प्रेक्षाओं में जैसे ब्रज से विमुख कृष्ण को उत्तेजित किया जा रहा है। एक उत्प्रेक्षा की कल्पना और भी अनूठी है : गोपि ने प्रिय का दर्शन स्वप्न में किया। स्वप्न टूट गया। जैसे चकई ने जल में अपने प्रतिबिम्ब को प्रिय समझा। इतने में जल चंचल हो गया। (सू० सा० ३८८६)

---

१. सू. सा. ४४५२

२. वही १३६५

३. सूरदास प्रभु तुम्हारे मिलन बिनु. तन भयौ ब्योंत, बिरह भयौ दरजी।' सू. सा. ४०१९।

४. वही ४३९६।

५. वही ४४१६।

६. वही ४२३८।

व्यतिरेक की योजना में कवि-कल्पना की ओर भी नवीन ऊँचाइयाँ सामने आती हैं। व्यतिरेक-योजना की विशदता इस प्रकार है।[1]

उपमेन	उहमान	उपमान का धर्म	उपमेय का व्यतिरेक
१. आँसू बरसाते नयन	– वर्षा : सावन-भादों	१. कुछ दिन बरसना –	१. सदा बरसना
		२. सबके लिये बरसते हैं	२. केवल कृष्ण के लिये बरसते हैं।
		३. अवधि : सीमा	३. अवधि नहीं।
२. आँखें	१. चकोर	१. चन्द्रमा के बिना जीना कठिन	१. आँखेंकृष्ण के बिना जी रही हैं।
	२. भँवर	२. कमल के पास चले जाते	२. हरि मुख-कमल की ओर नहीं उड़जातीं।
	३. मृग	३. व्याघ को देखकर भाग जाते हैं	३. ये अघा-वक-व्याघ के भय ;से श्याम-वन में नहीं भाग जाती।
	४. खंजन	४. चपल उड़ान	४. ये उड़कर हरि के पास नहीं चले जाते।[2]

इनमें से प्रथम में गोपियों ने अपनी विरहाकुल आँखों का चित्र प्रस्तुत किया है। दूसरे व्यतिरेक में उनकी आत्मग्लानि प्रकट हुई है। इसकी तीव्रता में उपमानों की पूर्व-परम्परा को 'सूर' ने ललकारा है—'कविजन कहत-कहत सब आए, सुधि करि नाहिं कही।' उन्होंने अपनी प्रेम-भावना संबन्धी ग्लानि को भी प्रकट कर दिया —'प्रेम न होइ कौन विधि कहियै, झूठैं ही तन आड़त।' इस प्रकार विरह के घनीभूत भाव की व्यंजना में अलंकर-योजना भी घनिष्ट और विशद होती जा रही है। अलंकार के आधार पर गोपियों ने अपने-अपने नेत्रों से कृष्ण और परिस्थिति के ऊपर अनूठी उक्तियाँ की हैं।

अपह्नुति और भी ऊँचे स्तर को व्यंजित करती है। प्रेम या विरह की अतिशयता में बुद्धि भ्रान्त हो जाती है। राधा ने जलधर को देखा। इसमें उसे कृष्ण का सांग-संदेह हुआ।[3] संदेह की योजना यह बनी : मेघ या कृष्ण,

१. सू० सा० ३८५३।
२. वही ४१६०।
३. वही २६७५

मुक्तामाला या वकपंक्ति, मोर या मोरमुकुट, इन्द्रधनुष या वनमाला, बिजली या पीताम्बर, मन्द्र घोष या नूपुर-ध्वनि। और राधा ने एक सखी को अपना संदेह सुनाया : 'की जलधर की श्याम सुभग तनु यहै मोर तें सोचति।' इस प्रकार संदेह की संरचना सांगरूपक की पीठिका पर हुई। इस संदेह को सखी ने अपह्नुति के रूप में परणित कर दिया—

राधिका हृदय तें धोख टारौ।
नंद के लाल देखे प्रातकाल तें, मेघ नहिं स्याम-तनु छबि बिचारौ ॥[१]

इस कथन में भ्रांतापह्नुति अलंकार आ गया हैं। कवि ने और एक कौशल से इस अलंकार विधान को रस-मोचन का ही एक अलंकृत माध्यम घोषित किया—'सूर स्याम रस भरी राधिका, उमँगि रस मोचति।' इस प्रकार यह अलंकार राधा की उच्छ्वन्न रस-तरंग से अभिन्न हो जाता है। चातक के व्यापार को देखकर एक और अपह्नुति की गई। यह चातक नहीं एक व्याकुल विरहिणी है, जो रात-रात प्रिय की याद करके जल माँगतीं रही।[२] 'ऊधौ हम न होंहि वे वेलि।' में भी एक सुन्दर अपह्नुनि की झलक है।[३] इस प्रकार अपह्नुति भाव-प्रेरित कल्पना-लता के मृदुल पुष्पों के समान प्रस्फुटित है। वास्तव में यह अह्नुति के रूप नहीं, रस की अनुकृतियाँ ही है।

अतिशयोक्ति के विधान से चमत्कार और भी प्रकट हो जाता है। अतिशयोक्ति का प्रयोग भाव की पूर्ण उत्तेजना के समय ही प्रायः हुआ है। अतिशयोक्ति ने अन्य अलंकारों को भी भावोत्तेजना को वहन करने के लिए अलम् बनाया है। 'पाती' को लेकर जो उत्प्रेक्षाएँ की गई हैं, उनमें अतिशयोक्ति का संबल स्पष्ट है। गोपियों ने कृष्ण के पास असंख्य संदेश-पत्र भेजे—'सँदेसनि मधुवन कूप भरे।' पर कृष्ण का उत्तर नहीं आया। जो संदेश ले गये वे भी नहीं 'बाहुरे'। या तो कृष्ण ने अपने छल से उन्हें उलझा लिया या वे कहीं रास्ते में ही मर गए। कागज वर्षा में गल गए। स्याही समाप्त हो गई। कलम दावाग्नि में जल गई। या लिखने वाला सेवक अन्धा होगया है—'सेवक सूर लिखन कौं आँधौ, पलक कपाट अरे।'[४] यह अतिशयोक्ति गोपियों के मन की झुँझलाहट को पूर्णतः अभिव्यक्त कर रही है। लोकगीतों

१. सू. सा. २६७९।
२. वहीं ३९५३।
३. वहीं ४१२६।
४. वही ३९१८।

में भी इस प्रकार की अनेक उक्तियाँ मिलती है। इस मनःस्थिति में सामान्य व्यक्ति भी ऐसी उक्तियाँ कर देते हैं : अतिशयोक्ति होते हुए भी यह स्वभाविक्त जैसी लग रही है। उत्तेजना के क्षणों में अतिशयोक्ति की योजना स्वाभाविक हो जाती है। विरह के और भी उद्दीप्त क्षणों में ऊहापरक उक्तियाँ भी 'सूर' में मिल जाती हैं—चन्द्रमा से व्याकुल विरहिणी करहती है—

दूरि करहु बीना कर धरिबौ।
मृग थाके नाहिन रथ हाँक्यौ, नाहिन होत चंद कौ ढरिबौ ॥

अतिशयोक्ति और ऊहा पर आकर भाव भी परम उद्दीप्त हो जाता है।

२. अलंकृत रूप-चित्रण—

कवि का संयम रूप के चित्रण में छूट जाता है। नखशिख रूप-चित्रण करने के लिए जैसे कवि एक विशिष्ट साधना करता है। परम्परागत नखशिख प्रणाली और रूढ़ उपमान अपने को कवि के समक्ष समर्पित कर देते हैं। कवि की कल्पना इस परम्परा से संतुष्ट नहीं होती। इस सामग्री के आधार पर कवि न जाने कितने प्रयोगों से नवीनता लाता है। कभी 'सूर' की कल्पना रूप के अतिशय आकर्षण से अभिभूत हो जाती है और अपनी असमर्थता को स्वीकार कर लेती है। उनकी कल्पना उस रूपविकल गोपी की सी हो जाती हैं, जो यह कहती हैं—

देखौ भाई सुन्दरता कौ सागर।
बुधि-विवेक-बल पार न पावत, मगन होत मन नागर ॥

× × × ×

देखि सरूप सकल गोरीजन रहीं निहारि-निहारि।[1]

कृष्ण या राधा के रूप सागर के सामने विवेक की शक्ति क्षुब्ध हो जाती है। 'सूर' ने रूप-चित्रण के समय सदा ही इस मनःस्थिति का अनुभव किया। यदि शुद्ध बुद्धि की प्रक्रिया से रूप के सागर के अवगाहन का कोई कवि साहस करे, तो दुस्साहस ही कहा जायेगा। पर अलंकार-योजना अधिकतर एक बौद्धिक व्यापार ही हैं। 'सूर' की भ्रमित, चकित बुद्धि को भी उनकी भावयित्री प्रतिभा ही वल देती है और रूप-योजना का बौद्धिक व्यापार प्रस्तुत रूप की अप्रस्तुत की छवियों के साथ संगति बिठा पाती हैं। फिर भी शोभा का सागर समय-समय पर उनकी बुद्धि को नवीन चुनौतियाँ देता रहता है। अलंकृत वर्णन करके भी सूर को अपनी पराजय स्वीकार करने में आनन्द का

१. सूर पंचरत्न, रूपमाधुरी, १

ही अनुभव होता है : 'सूरदास प्रभु सोभा-सागर कोउ न पावत पार।'[1] वास्तव में इस हार की स्वीकृति स्वयं एक अलंकार वन जाती है। यह भी रूप की अनिर्वचनीयता को प्रकट करने की एक पद्धति ही हैं। इसीलिए हार स्वीकार करना अलंकार योजना का ही एक अंग हो जाता है। कभी-कभी तो हार रूप के समग्र रूप के सामने स्वीकार की जाती है, और कभी एक अंग विशेप के सामने ही कवि की कल्पना भाव-श्लथ नायिका की भांति थक कर वैठ जाती है—'सूर अरुन अधरन की सोभा वरनत वरनि न जाई।'[2] इसी प्रकार 'रोमावली वरनि नहिं जाई।' 'सूरदास कछु कहत न आवै भई गिरा गति भंग।' आदि उक्तियों में भी सूर की यही मनःस्थिति है। कभी सूर को अपनी वासी वुद्धि पर खीझ होती है। वह कह उठता है : 'सूर' सुमेर समाइ कहाँ धौं वुधि वासनी पुरानी।'[3]

वुद्धि के सामने एक और संघर्प रहता है। जिन उपमानों की वह खोज करती है, वे रूप के सामने आने तक तो ठीक प्रतीत होते हैं, पर जव उनके प्रयोग की स्थिति आती है, तो उपमान लजा जाते हैं—'सूर स्याम लोचन अपार छवि उपमा सुङि सरमात।'[4] वुद्धि का धैर्य भी टूट जाता है। उपमानों की अव कहाँ खोज की जाये ? फिर कवि सोचता है कि निगमागम भी इस सौन्दर्य की सीमा नहीं पा सके तो मेरी वुद्धि तो कहीं भी नहीं रहती। कभी-कभी वड़े प्रयत्न से वुद्धि कुछ उपमानों की खोज कर पाती है। वड़े साहस से कह सकती है—'कहि उपमा इक आवत।'[5] जहाँ सूर इस प्रकार की उक्ति करते हैं, वहाँ अवश्य ही उपमान संवन्धी एक नवीन प्रयोग मिल जाता है। कई उपमानों की एक संयुक्त योजना प्रायः मिलती है। सूर की यह मनः-स्थिति प्रायः तव होती है, जव उनकी दृष्टि एक अंग पर नहीं रहती। उनकी कल्पना कई अंगों को साथ-साथ रखकर अपने लिए एक जटिल रूप-संदर्भ वना लेती है। अप्रस्तुत की खोज भी दुष्कर हो जाती है। तव 'सूर' कई उपमानों की योजना करके अप्रस्तुत की एक नवीन इकाई की संरचना करते हैं। यह संरचना कुछ उस जटिल रूप-संस्थान का साथ दे पाती है। उदाहरण के लिए एक अप्रस्तुत विधान लिया जा सकता है। रूपसंदर्भ यह है : 'लघु-लघु लट

१. सू. पं. रूपमाधुरी, ७। २. सूर पंचरत्न, रूपमाधुरी, १२
३. वही २८। ४. वही १०।
५. वही ७।

सिर घूँघरवारी लटकन लटकि रह्यौ माँथे पर।' इसके लिए उपमान-कल्पना इस प्रकार बनती है—

यह उपमा कापै कहि अ.वै, कछुक कहौं जिय पर।
नव-तन-चंद्र-रेख-मधि राजत, सुरगुरु-सुक्र उदोत परसपर।[1]

ऐसे स्थलों पर सूर नवीन वैचित्र्यों की खोज करता है। माता ने कृष्ण को पीतपट उढ़ा दिया और कृष्ण का अंग नील जलद जैसा है। वादल से बिजली परिवेष्ठित होती है, यहाँ बिजली से वादल परिवेष्ठित हुआ। सूर ने एक 'अभूत उपमा' की खोज की 'मानो तड़ित ने नील जलद पर उडुगन देखकर अपना स्वभाव छोड़कर उसे ढक लिया हो।' इस प्रकार सूर 'अभूत' कल्पना से पूर्व बतला देते हैं कि यद्यपि बुद्धिरूपी बूँद रूपासागर को मापने की धृष्टता तो नहीं करती, फिर भी मुझे एक उपमा सूझ रही है। इस प्रकार 'सूर' न जाने कितने प्रयोगों के द्वारा एक बुद्धि-संकट से पार होता है। फिर भी उसे यह अनुभव होता हैं कि उपमानों की दृष्टि से सारा आकाश एक जूठे थाल जैसा हो गया। फिर कल्पना आकाशस्थ उपमानों की नवीन योजना में लग जातीं है। संक्षेप रूपकल्पना के संवन्ध में 'सूर' की यही मनःस्थिति है।

अन्य भावों, कार्य-व्यापारों, वस्तुवर्णन के निरूपण में भी कवि अलंकारों की योजना करता है, पर रूप के चित्रण में उसकी अलंकार-प्रयोग की क्षमता जितने संघर्प का सामना करती है, उतना अन्यत्र नहीं।

२.१ अलंकृत वालकृष्ण—यशोदा का वात्सल्य भाव स्वभावोक्ति की चरम उपलब्धि का प्रमाण है। मातृ-हृदय की भावना को अलंकृति की क्या आवश्यकता है? पर कृष्ण की वालछवि आ चित्र अलंकृत हुए विना नहीं रह सका। कृष्ण के दर्शक तीन है—यशोदा, सूर और गोपी। यशोदा कृष्ण के रूप को देखती है और उस पर निछावर हो जाती हैं। अतः अलंकार-योजना के लिए अवसर ही नहीं रहता। 'सूर' वालछवि पर कभी निछावर हो जाता है और कभी उसका कविरूप उत्तेजित होकर अलंकरण की साधना में निरत हो जाता है : गोपियों की दृष्टि भी कृष्ण के रूप को अलंकृत नहीं देखती। इस प्रकार कवि की अन्धी आँखें कभी यशोदा से आँखें उधार लेती है और कभी गोपियों में। यशोदा के आँगन में कृष्ण के रूप की ये रूप-झाँकियाँ प्रस्तुत होती है : नवजात शिशु, पालने में कृष्ण, पैर के अँगूठे को चूँसते हुए वालकृष्ण, दो दँतुलियों वाला कृष्ण, घुटनों चलता हुआ कृष्ण, पाँ-पां पैयाँ चलने

१. सूरसागर, ७११।

वाला कृष्ण आदि। इनमें से कुछ तो वर्णनात्मक है, और कुछ अलंकृत। नवजात शिशु का रूप अलौकिक है, जिसे देवकी ने देखा। यशोदा के घर में कृष्ण की पहली झाँकी पालने में होती हैं। पर यह रूप इतना मृदुल है, कि अलंकार का थोडा भार भी नहीं सम्हाल सकता। उसकी चेष्टाएँ इतनी स्वाभाविक हैं कि स्वभावोक्ति के अतिरिक्त कोई भी अलंकार-विधान कृत्रिम हो जायेगा। इस रूप-चित्रण के लिए उपयुक्त उपमानों की सृष्टि नहीं हुई—'या छवि की उपमा को जानैं।'[1] पूतना केवल रूपछवि के लिए विरोधमूलक अलंलकार की योजना करती है—'कोटि चन्द्र रवि लाजत मैं री।'[2] इस संदर्भ में माँ ने पहली बार एक उपमा का प्रयोग किया—'द्वितिया के ससि लौं बाढ़ै सिपु, देखे जननि जसोइ।'[3] सूर की कल्पना-लता यहाँ तक वात्सल्य के भार से इतनी नत रही कि कोई भी अतिरिक्त भार उसे विच्छिन्न कर सकता था।

पहली झाँकी दँतुलियों वाली है। सूर की उत्प्रेक्षाओं को इस रूप-विकास ने बल दिया : वे कृष्ण के इस नवोदित रूप पर समर्पित होने के लिए मचल उठीं। सूर ने नंद-यशोदा को मौन देखकर कह दिया : 'मनौ कमल पर बिज्जु जमाई।'[4] एक अद्भुत अप्रस्तुत प्रस्तुत हुआ। फिर एक प्रकृत अप्रस्तुत उत्प्रेक्षा का आधार बना : 'मानौ बिधु में बिज्जु उज्यारी।'[5] सूर ने कमल और बिधु से बिजली का नवीन संबन्ध कल्पित किया। पर अनन्तः सूर को हार माननी पड़ी। एक दृष्टान्त से सूर ने अपनी पराजय को स्वीकार किया—'सूर सिंधु की बूँद भई मिलि, गतिमति दृष्टि हमारी।' तब माता ने कृष्ण को दृष्टि-दोष से बचाने के लिए डिठौना लगा दिया—

माई मेरिहि दीठि न लागैं,
तातैं मसिबिंदा दियौ भ्रू पर।'[6]

तब 'सूर' ने भी अपनी अलंकरण वाली दृष्टि को रोक लिया। क्या इस दृष्टि से फिर यशोदा के लाल को देखना चाहिए? और सूर की उत्प्रेक्षा की अद्भुत तरंगें लीन हो गईं। एक और उत्प्रेक्षा ने कल्पना के अनुरोध को माना : 'मनु सीपज घर कियौ बारिज पर।'[7] पर सूर की कल्पना और अलंकरण-वृत्ति को एक मार्ग मिल गया : उनको रूप का स्वाद आने लगा। बालकृष्ण

१. सूरसागर ६६४
२. वही ६७४
५. वही ७०६
७. वही ७११
२. सू० सा० ६७३
४. वही ७००
६. वही ७१०

की छबि उपमा और रूपकों में प्रकट होने लगीं।[१] आगे अलंकरण और चित्रण की प्रवृत्तियों में स्पर्धा होने लगी। कभी चित्रण की वृत्ति रूप-छवि को आँक देती थी, कभी अलंकरण की प्रक्रिया उसे समेट लेती थी। अलंकरण की प्रक्रिया वैदिक काव्य की भाँति दिव्य अप्रस्तुत को लेकर चलती है—बिजली, चन्द्र, ग्रह, तारे। एक ज्योतिष-सदर्भ अप्रस्तुत के लिए बना—

भाल बिसाल ललित लटकन मनि, बाल दसा के चिकुर सुहाए।
मानो गुरु-सनि-कुज आगैं करि, ससिहिं मिलन तम के गन आये।
उपमा एक अभूत भई तब, जब जननी पट-पीत उड़ाए।
नील जलद पर उडुगन निरखत, तजि सुभाउ मनु तड़ित छपाए।[२]

इस प्रकार उत्प्रेक्षाओं में कुछ क्लिष्टता आने लगी। यहाँ अलंकरण और चित्रण में एक संघर्ष सा चल रहा है। जब परिस्थिति में यशोदा होती है, तो सूर की कल्पना साफ-सुथरे चित्र सजाती मिलती है। उसकी अलंकरण-साधना तभी सिर उठाती है, तब यशोदा की आँख बच जाती है। अलंकरण में अंगों और रंगों की संगति एक जटिल अप्रस्तुत को जन्म देती है। सूर की कल्पना उत्प्रेक्षा की योजना सिद्ध उपमानों का प्रयोग करने में झिझकती है। अत: असिद्धास्पद उत्प्रेक्षाओं की योजना में वह प्रवृत्त होती है। इस अलौकिक रूप को सिद्ध उप्रेक्षाएँ कैसे प्रकट कर सकेंगी? सबसे अधिक उलझन सूर को रंगों की संयोजना में होती है। रंग-संयोजना पर सबसे अधिक ध्यान बाल-कृष्ण से संबन्धित उत्प्रेक्षाओं में मिलता है। तिलक, मसिबिंदु, दाँत, पीतपट आदि का रंग-विन्यास ही कम नहीं था, रंग-रँगीली कुलही और आ गई। यहाँ सुर ने इन्द्रधनुप को पकड़ा।[३] उत्प्रेक्षाओं की भारमार वाले भी अनेक पद मिलते है।[४] जैसे सूर ने यशोदा की आँख बचाकर उत्प्रेक्षा-बहुल पदों की एक श्रृंखला ही बना दी। बालछवि वर्णन करने के लिए सूर की अलंकारोन्मुख कल्पना ने संकल्प किया—'हरि जू की बालछवि कहौं बरनि।' सूर की इस अलंकरण वाली दृष्टि से ही बचाने के लिए यशोदा 'अँचरा तर लै ढाँकि, सूर के प्रभु कौं दूध पियावति।' इस प्रकार सूर और यशोदा में लुका-छिपी चलती रही।

२.२ अलंकृत श्रृंगारिक रूप—इस बाल छवि को गोपियाँ भी देखती थीं। ब्रजयुवतियाँ इस छवि को देखकर प्रेम-मग्न होने लगीं। 'निरखति

१. सू० सा० ७११
२. सू० सा० ७२२
३. वही ७२६
४. वही ७२२, ७२५ से ७२८ तक

ब्रज-जुवती सब ठाढ़ी।'[1] और प्रेममगन भई।'[2] जैसी उक्तियों से यह स्थिति प्रकट होती है। सूर ने गोपियों की दृष्टि से कुछ उत्प्रेक्षाएँ कीं। 'कोटि मनोज सोभा हरनि' 'मनहुँ सुभग सिंगार-सिसु तरु' जैसी उत्प्रेक्षाओं से स्पष्ट होता है कि बालकृष्ण अब गोपियों के प्रेम का आलंबन बनने लगा। उत्प्रेक्षाएँ अधिक अनुरंजित और शृंगार-परक होने लगी। गोपियों की क्रियाएँ कैसी होने लगीं, :'कबहुँ हृदय लगाइ हित करि, लेति अंचल डारि।" 'कबहुँ हरि कौं चितै चूमति।'[3] गोपी तो जैसे अब इस रूप-राशि में घुलने लगीं—'जैसे कच्चा घड़ा पानी में घुल जाता है—

पुलकित सुमुखी भई स्याम रस,
ज्यों जल में काँची गागरि गरि।[4]

इस प्रकार रूप-चित्रण का संदर्भ बदल गया। यशोदा के संदर्भ में भाव और अलंकरण का पूर्ण सामंजस्य नहीं हो पाया। भावभूमि से संस्पर्श न रहने के कारण उत्प्रेक्षाओं में असिद्ध अप्रस्तुत की कल्पना ने क्लिष्ट अलंकरण किया। अब इस संदर्भ में भावविकास और अलंकरण साथ चल सकता है। 'उत्प्रेक्षा' का एकाधिकार समाप्त होता है और भाव की भंगियाँ विवध रूपाकृतियों में ढलने लगीं। अलंकार-योजना भी विविध होने लगी। माखनचोरी के प्रसंग में गोपियों की शृंगार-भावना का भी विकास हुआ। रूपमाधुरी का भी। एक रूप गोपियों के सामने घटित हुआ: उलूखल बन्धन के समय कृष्ण की साश्रु झाँकी। गोपियों की मनःस्थिति भी जटिल थी—हमारे ही कारण यह सब हुआ। हमारे उपालंभ तो एक भाव-प्रेरित छलमात्र था। साथ ही कृष्ण की रूप छवि भी जटिल हो गई—सुन्दर आँखें, उनमें बड़े-बड़े आँसू, और कहीं-कहीं लगा हुआ एक माखन-कण। एक उत्प्रेक्षा की संरचना हूई: मानो सुधानिधि उडुगन सहित मोती बरसा रहा हो—

मुख आँसू अरु माखन कनुका, निरखि नैंन छवि देत।
मानो स्रवत सुधानिधि मोती, उड्डगन अवलि समेत।।[5]

अलंकारों की एक झड़ी सी लग जाती।[6] गोपियों की रूप-भावना की तीव्रता ही अलंकारों के आतिशय्य का कारण है। उत्प्रेक्षा के साथ रूपका

---

१. सू. सा. ७२४। २. सू. सा. ७२३।
३. वही ७३६। ४. वही ७३८।
५. वही ६६७। ६. वही ६६८-६७९।

तिशयोक्ति और प्रतीप भी प्रविष्ट हुए। कभी इनका सम्मिलित प्रयोग भी हुआ है।

मुरलीवादन ने तो गोपियों की रूपासक्ति में मधु घोल दिया। उनकी चेतना का संयम और आवरण विवस होकर विदा लेने लगे। कवि की कल्पना रूप की मादकता का साथ देने के लिए गतिशील और अनुरंजित हो उठी। 'प्रतीप' की योजना सौन्दर्य को अद्‌भुत और लोकत्तर सिद्ध करने लगी। चन्द्रमा, कामदेव या अन्य लौकिक उपमान लजाने लगे। उत्प्रेक्षा के आधार पर कृष्ण के रूप-सागर की तरंगें-रूपक बनने लगीं : श्यामतनु= अगाध समुद्र, पीतांबर—तरंगें नयन—मींन, कुंडल—मकर भुजाएँ—भुजंग, मुक्तामाल—दो सुरसरिताएँ, मणिमय आभूषण और श्रमकण—समुद्र मंथन से प्राप्त श्री, सुधा और शशि।[1] इस प्रकार स्फुट उत्तेजनाओं ने कभी आकाश और कभी जलाशय के रूप में सांग-रूपकों की योजना की है।[2] इस प्रकार रूपासक्ति की तीव्रता के साथ सूर की अलंकार-कल्पना भी विशद होती जाती है। प्रबन्धात्मक अलंकार विधान जैसे एक रूपात्मक महाकाव्य की सृष्टि में लगे हों।

अलंकार-विधान की उत्तरोत्तर ऊँचाइयाँ प्रतीक की योजना से प्रकट होती हैं। उममानों का धैर्य समाप्त होगया : कोटिमदन मिलकर भी निर्दल हैं; कुंडल की आभा के बीच सूर्य छिप गया; कहीं नादान कवि में कृष्ण के रूप के लिए उपमान न बनादें, यह सोचकर खंजन, कंज, भौंरे, चन्द्रमा, बिजली बादल और सूर्य कहीं जा छिपे हैं; अधरों की आभा को देखकर विद्रुम शिखर भी बिलाने लगे।[3] अब कवि इन उपमानों के अतिरिक्त उमपानों की खोज करने लगता है। अब सांगरूपक एक-एक वस्तु के बनने लगे : मोतियों की माला को गंगा मानकर सांगरूप खड़ा हो गया।[4] आकाश पर कवि का विश्वास था कि कुछ सामग्री अलंकार विधान के लिये देगा, वह भी अब एक जूठा थाल हो गया।[5] अम्बर की हीनता में एक 'प्रतीप' प्रकट होगया। उत्प्रेक्षा की सामग्री में एक नवीन कान्ति आई : मुरली पर कृष्ण के हाथ, मुख और नयन एक साथ मिले हैं। सूर की कल्पना ने एक सद्य अप्रस्तुत का विधान किया : कमल चन्द्रमा के साथ वैर समझकर उसके वाहनों को

१. सू० सा० १२४६।
।२. सू. सा. १२५३-१२५५।
३. वही २३७४।
४. वही २३७६।
५. वही २४१४।

पुचकारने के लिए नाद करता है। चन्द्रमा अपने रथ के वाहक मृग को चौंकते देखकर कुंचित अलकों का लंगर डाल देता है।[१]

उपमानों की शृंखला अब कवि के ध्यान में आती है। 'संदेह' अपना जादू इस शृंखला पर फैलाने लगता है। प्रतीप भी संदेह को यथा अवसर सहायता देता है। हँसते हुए कृष्ण का एक अलंकृत रूप-चित्र इस प्रकार 'संदेह' को जन्म देता है—मानो नीलमणि पर मोती फैले हों अथवा वज्रकण पर लाल नग जड़े हों; अथवा उस पर मूँगे की पंक्ति हो; अथवा बंधूक सुमन पर जलकण झलक रहे हों; अथवा लाल कमल में सुन्दरता आकर बैठ गई हो।[२] कभी-कभी कवि को विवश होकर कूट' शब्दों पर आश्रित जटिल रूपकातिशयोक्तियों की शरण भी लेनी पड़ी है।

गोपियों की आँखें रूप-रस का पान करते-करते पगला गई हैं। उनकी प्यास तो बुझती ही नहीं। 'संभावना' उनकी न बुझने वाली प्यास को प्रकट करता है। संभावना अलंकार की योजना इन अतृप्त क्षणों का साथ देती है: जिस ब्रह्मा ने हमारे अंगों का सुन्दर विन्यास किया है, कितना अच्छा होता यदि वह हमारे रोम-रोम में आँखें भर देता?[३] संभावना के द्वारा रूप-दर्शन की लालसा भी प्रकट होती है: क्या ही अच्छा होता कि हमें उतनी ही आँखें मिलती जितने रोम हैं? तो हम रूप-दर्शन कर पातीं। यदि रसना की आँखें; और आँखों की रसना और उनके कान होते तो कुछ और ही भावदशा होती।[४] दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा के द्वारा प्यासे नयन और अमितरूप का भी संबन्ध स्थापित किया गया है।[५] रूप संबन्धी चिर अतृप्ति के लिए 'उदाहरण' का भी सुन्दर प्रयोग कहीं-कहीं मिलता है:

हरि दरसन की साध मुई।
उड़ियै उड़ी फिरति नैननि सँग, फर फूटैं ज्यों आक-रुई॥
× × × ×
सूखति 'सूर' धान-अंकुर सी, बिनु बरषा ज्यों मूल तुई॥ (२४७३)

इस प्रकार कृष्ण की रूप-माधुरी का अलंकृत पद्धति से सूर ने पान कराया है। गोपियों की रूपासक्ति के साथ सूर की कल्पना भी अनजानी ऊँचाइयों

१. सू० सा० २४१५
२. सू० सा० २४५०, १२६०
३. वही १२६१
४. वही २४७४-७६
५. वही २४७०

में उड़ती जाती है। न जाने कितने जाने-पहचाने अप्रस्तुत नवीन संकेतों और व्यंजनाओं के पंखों में नवीन उड़ानें भर लेते है। न जाने कितने अछूने उपमान सूर की अलंकार-योजना में स्थान पाने को उत्सुक हैं। फिर भी एक ओर रूप अमित होता जाता है और दूसरी ओर बावरे नयनों की प्यास।

कृष्ण के साथ-साथ राधा और अन्य गोपियों के सौन्दर्य को भी सूर ने एक अलंकृत शैली दी है। दानलीला में तथा राधा-कृष्ण मिलन के अन्य अवसरों पर सूर ने रूपकातिशयोक्तियों के माध्यम से इनके रूप का आकलन किया है। कृष्ण ने गोपियों से दान माँगते समय इसी अलंकार को ग्रहण किया : केवल उपमानों की सूची गिनाकर उनके अंगों की व्यंजना उन्होंने की है। कृष्ण स्पष्ट रूप से अपना अभिप्राय कैसे व्यक्त करें ?[१] राधा के रूप-चित्रण में भी इसी अलंकार के बहुविध प्रयोग किए गये है। कृष्ण और राधा के बीच एक रहस्य-संबन्ध है। इस रहस्यलोक की धूप-छाँह को रूपकातिशयोक्ति ने ही अंकित किया है। रूपकातिशयोक्ति और कूट-शैली विधान इन्हीं अवसरों पर जटिल हो गया है। श्याम-और राधा दोनों विरही है। चन्द्रावली दोनों को मिलाने के लिए प्रयत्नशील है। वह कृष्ण को राधा के रूप का बाग इसी शैली में दिखलाती है।

> अद्भुत एक अनूपम बाग।
> जुगल कमल पर गजबर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।।
> हरि पर सरबर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।।
> रुचिर कपोय वसत ता ऊपर ता ऊपर अमृत फल लाग।।
> फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता सुक, पिक, मृगमद काग।
> खंजन धनुष. चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग।।[२]

इससे आगे पर्यायपरक तथा संख्यापरक शब्दों के द्वारा रूपकातिशयोक्ति की कूटयोजना मिलती है।[३] इनमें चन्द्रावली दूती है। अपने दायित्व के निर्वाह के लिये यह रूपकथन में इस अलंकार-योजना का प्रयोग करती है। एक सखी मानिनी राधा का मान भंग करने के लिए उसके नख-शिख-रूप का वर्णन करती है।[४] रूपकातिशयोक्ति के कूट विधान में एक ओर तो चमत्कार दिखाई पड़ता है, दूसरी ओर राधा के नख-शिख वर्णन के वर्जन का प्रभाव। सूर जिस स्वच्छन्दता से कृष्ण के नख-शिख का वर्णन कर सके, उतनी

१. सू० सा० २०८३, २१६७
२. सू० सा० २७२८
३. वही २७२९-३०
४. वही ३३६४-६८

स्वच्छता राधा के नख-शिख में उन्होंने अनुभव नहीं की। राधा का नख-शिख शास्त्रीय पद्धति से ही उन्होंने संयोजित किया। एक सखी कामदेव से कहती है कि यह अनन्य सुन्दरी है, यह शिव नहीं। व्याजस्तुति के माध्यम से इसमें राधा का सौन्दर्य-वर्णित है। शिव का सांगरूपक भी पीठिका में है।[1] व्यतिरेक के प्रयोग से भी राधा के रूप का तुलनात्मक वैशिष्ट्य प्रकट किया गया है।[2] कहीं-कहीं कवि ने उत्प्रेक्षा के प्रयोग से राधा का रूप चित्रित किया है। राधा ने घूँघट उठाया। सखियों ने उस मुखचंद्र को कृष्ण को दिखलाया। उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लग गई।[3] सूर ने सबसे अधिक अलंकृत रूप-वर्णन सुरतांत और रतिश्रान्ता राधा का किया है। 'कवि ने सुरति के चिह्नों से युक्त राधा के स्वरूप का वर्णन बड़े मनोयोग से किया है। यहाँ उनकी कल्पना में अमित चमत्कार उत्पन्न हो गया है। यद्यपि उपमान प्रचलित और परम्परायुक्त हैं पर सुरति की व्यंजना करने के लिए कवि ने उसमें नये-नये संयोजन कर दिये हैं।'[4] रतिचिह्नों से युक्त राधा का नख-शिख इस प्रकार प्रकट हुआ।[5] उत्प्रेक्षाओं की झड़ियों में चिह्नों का सौन्दर्य देखिए—

उर भुज नील कंचुकी फटी, प्रगटे हैं कुच कोरी।
नव-घन मध्य देखियत मानहुँ, नव ससि की छवि थोरी॥
आनन नैन सिथिल अलकनि बलि, भनि ताटंकनि भोरी।
मानहुँ खंजन, हंस कंज पर, लरत चंचु-पुट तोरी॥
बिथुरी लट लटकी भृकुटी पर, माँग मुनालि नग तोरी।
मानहुँ कर कोदंड काम अलि-सैन, कमल हित जोरी॥
अति अनुराग पियत पियूष हरि, अधर सिंधु हुए फोरी।
सूर सखी निज सँग स्याम के, प्रगट प्रात भई चोरी॥

रात की पीक के निशान राधा की आँखों पर पड़ गये हैं। मानो मरकत-सम्पुट में दो कमल छुप रहे हों।[6] कपोलों पर नख-क्षत है। मानो शिव के सिर

१. सू. सा. २७३९।
२. वही २०६८।
३. वही २७३६।
४. डा० ब्रजेश्वर वर्मा, सूरदास, पृ० ५२०-५२१।
५. सू० सा० १६७४।
६. वही १६८०।

पर अर्द्धचन्द्र हों—'उरज काज मानो शिव सिर पर ससि-सारंग सुभाग री।'[१] एक और चित्रोपम उत्प्रेक्षा यह है। राधा जमुहाई लेती हुई बाँहें ऊँची करके जोड़ती है और फिर एँड़ाते हुई उन्हें अलग कर देती है।[२] मानो दामिनी टूटकर दो टूक हो जाती हैं। इसी प्रकार की अलंकार कल्पनाओं में सूर ने राधा के सुरतांत सौन्दर्य को प्रकट करने की चेष्टा की हैं।[३] राधा के रूप वर्णन में अलंकार प्रयोग के प्रति सूर की दृष्टि में परिवर्तन हुआ है। राधा का शुद्ध नख-शिख गोपनशील अलंकारों के द्वारा वर्णित मिलता है। इस गोपनीयता में सूर की कल्पना शील से प्रभावित प्रतीत होती है। शील की दृष्टि और राधा के उगते-उमगते अंगों के बीच एक-एक स्थिति वहाँ उत्पन्न होती है, जब राधा की माँ उन अंगों को देखती है। वह राधा से कहती है कि अपने उभार को थोड़ा छिपाकर रखे। पर रूपकातिशयोक्ति के अतिरिक्त कोई अलंकार यहाँ शील की रक्षा नहीं कर सकता था। वास्तव में कृष्ण की याद करके राधा का अंग रतिसूचक चिन्हों से भर जाता है। माँ कहती है—'राधे दधि-सुत क्यों न दुरावति।'[४] पर जब राधा का रूप और मद एक लीला का संदर्भ ग्रहण करता है, तो सूर अपनी दृष्टि को सखियों के साथ जोड़ देता है और सखियों से क्या दुराव? यहां शील का झीना आवरण हट जाता है और सूर उत्प्रेक्षाओं की ललित-कमनीय कल्पनाओं में रम जाता है।

इसी प्रकार राधा कृष्ण के युगल-चित्र भी अत्यन्त मादक है। रूपकातिशयोक्ति का सफल प्रयोग यहाँ भी हुआ है।[५] कहीं-कहीं रूपक और उत्प्रेक्षा की योजना भी की गई है। दोनों का मिलन सामान्य रूप से गोपनशील अलंकार-योजना मे ही निवद्ध है। जहाँ संयोग के क्षणों मे परिपूर्णता आती है, वहाँ अलंकार-विधान भी प्रगल्भ और सम्पन्न हो जाता है।

३. अलंकृति गति-व्यापार—

सामान्यतः गति और व्यापार का चित्रण सूर स्वभावोक्ति के माध्यम से करता है। कही-कही व्यापार का वर्णन अलकारों मे विभूषित भी हो

---

१. सू. सा. ३२८०।
२. वहीं ३२८३।
३. वहीं ३२८३-३२८७।
४. वही २३३३२।
५. वही १८१३-१८३१।

गया है। कृष्ण के जन्मोत्सव में व्रजनारियों और गोपों के व्यापार का वर्णन उत्प्रेक्षाओं में अत्यन्त सजीव रूप ग्रहण करता है : व्रजनारियाँ अपने-अपने घरों से निकल पड़ीं—'मनु लाल मुनैयनि पाँति पिंजरा तोरि चलीं।' मंगल-गीत गाती हुई सखियाँ चल रही हैं—'मनु भोर भए रवि देखि, फूलीं कमल कली।' गोप उल्लास में दधि-दूध छिड़क रहे हैं—'मनु बरसत भादौं मास, नदी घृत-दूध बही।' वन्दीजन विरुद कह रहे हैं—'मनु बरसत मास असाढ़ दादुर मोर ररे।'[१] इस प्रकार उल्लास- व्यापारों को कवि ने स्वाभाविक, चित्रोपम उत्प्रेक्षाओं के हवाले कर दिया है। घुटुरन चलते हुए कृष्ण को देखकर एक उत्प्रेक्षा हुई—'जलज संपुट सुभग छवि भरि लेति उर जनु धरनि।'[२] अथवा—

> कनक भूमि पर कर-पग-छाया, यह उपमा इक राजति।
> करि-करि प्रतिपर प्रतिमनि बसुधा, कमल बैठकी साजति ॥[३]

इसी प्रकार कृष्ण के पैरों चलने और डगमगाते हुए पैरों के अलंकृत वर्णन हैं।[४] कृष्ण के रोटी खाते समय एक विराट उत्प्रेक्षा हुई—'मनु, वराह भूधर-सह पुहुमी धरी दसन की कोटी।'[५] कालिय-दमन के समय कृष्ण के पद-विन्यास के वर्णन में भी सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ हैं।[६]

शृंगार-व्यापारों के चित्रण में अपने स्वभाव के अनुसार कल्पना रंजित हो जाती है। कृष्ण राधा की आँखें मूँद रहे हैं। राधा की आँखें तो विशाल हैं ही, हरि के हाथों में नहीं समा सके। उँगलियों के बीच में आतुर नयन दिखलाई देने लगे। मानो मणिधर ने मणि छोड़कर भी उसे फन के नीचे छिपा रखा हो।[७] रति-व्यापार बाल्यकाल से ही चला। कृष्ण ने राधा की नीवी गही। श्रीफल पर सरोज रखा कि यशोदा आ गई।[८] रति-प्रेरित छेड़-छाड़ में कवि ने विशेष रूपकातिशयोक्ति का ही प्रयोग किया गया है।[९] उत्प्रेक्षाओं के प्रयोग से भी सामान्य मिलन-मुद्राओं को चित्रित किया गया है। रतिरण को 'सांगरूपक' से भी प्रकट किया है।[१०] सुरति-वर्णन में उत्प्रेक्षाओं की शृंखला भी मिलती है।[११] राधा कृष्ण से मिलने के लिए

---

१. सू० सा० ६४२
२. सू० सा० ७२७
३. वही ७२८
४. वही ७३२, ७४२
५. वही ७८२
६. वही ११८४
७. वही १२६३
८. वही १३००
९. वही २२८६, २२९८
१०. वही २६०४
११. २७५०

चलती है और सरिता के आधार पर सांगरूपक घटित हो जाता है।[1] सुरति के वर्णन में कवि की अलंकार योजना अत्यन्त समृद्ध हो गई है। कहीं गुप्त अलंकार-योजना इस रति-व्यापार पर आवरण सा डाल देती है और कहीं उत्प्रेक्षा और रूपकों में व्यापार स्पष्ट हो जाता है। रति-व्यापार की लुका छिपी को देखते हुए, इस प्रकार की धूप-छाँहीं अलंकार-योजना साभिप्राय हो जाती है। कवि के मन में एक-संघर्ष भी है, शील और स्वच्छन्दता के बीच। कल्पना की गति में और व्यापार की गति में सदैव सामंजस्य रहता है। कवि की कल्पना का चरमोत्कर्ष उत्प्रेक्षाओं में प्रकट होता है। उसमें संपूर्णता सांगरूपकों के समय आती है। कल्पना का वैचित्र्य रूपकातिशयोक्ति और कूट अलंकार-योजना में प्रकट होता है।

अलंकृत गुण-स्वभाव—गुण और स्वभाव को चित्रण में भी अलंकारों का वैविध्य मिलता है। बाल-स्वभाव में स्वभावोक्ति का अद्वितीय प्रयोग सूर की विशेषता है। वहाँ 'स्वभाव'-चित्रों पर किसी भी प्रकार का आरोपण नहीं है। विरोधाभास के द्वारा बालकृष्ण की अलौकिकता की व्यंजना भी कहीं-कहीं हुई है। भ्रमरगीत प्रसंग में दृष्टान्त, उदाहरण, विषम, या अन्योक्तियों के द्वारा कवि कृष्ण के निष्ठुर स्वभाव की व्यंजना करता है। राधा के स्वभाव को उपमा और रूपकों में प्रकट किया गया है। गोपियों की प्रेम-प्रकृति का वर्णन भी सटीक उपमाओं में हुआ है। आँखों के स्वभाव-वर्णन में चमत्कार-पूर्ण अलंकार-योजना मिलती है। गोपियाँ उद्धव पर एक व्यंग्य करती हैं, अपने को योगिनी के सांगरूपकों में रखकर।[2] इस प्रकार गुण और स्वभाव अलंकृत चित्र सूर-साहित्य में उपलब्ध होते हैं।

अनुप्रास—

अनुप्रास की योजना में कवि कहीं-कहीं रुचि लेता मिलता है। ध्वनि संबन्धी परिज्ञान सूर को अन्धे होने के कारण कुछ अधिक होना स्वाभाविक है। रसों के अनुसार कवि ध्वनि-विधान करने में कुशल है। उग्रता के द्योतन के समय ध्वनि-संयोजन के प्रति कवि अधिक जागरुक हो जाता है। नृत्य आदि के चित्रण में ध्वनि-विधान के द्वारा ताल और गति की व्यंजना कवि ध्वनि-योजना के द्वारा कर देता है।

अनुप्रासों में सूर का प्रिय छेकानुप्रास है। इसकी संरचना सूर के अधिकांश सभी पदों में मिल जाती है। इसके उदाहरण प्रत्येक प्रसंग से दिये

---

१. सू० सा० ३०७२ सू० सा० ४३१२

जा सकते हैं। विनय के पदों में 'ट' पर आधारित छेक का सौन्दर्य दृष्टव्य है—

माया नटी लकुटि कर लीन्हें, कोटिक नाच नचावै।[1]

वृत्त्यनुप्रास की योजना कम तो है, पर इनका सौन्दर्य बड़ा व्यापक है। पूरी की पूरी पंक्ति ही इनसे युक्त मिल जाती हैं। इनका आधार स्वर भी है और व्यंजन भी। 'अ' पर आधारित वृत्त्यनुप्रास से युक्त एक पंक्ति कितनी कोमल है—

अकरम अविधि अज्ञान अवज्ञा अनमारग अनरीति।[2]

'ट' ध्वनि पर आधारित अनुप्रास-योजना नृत्यादि चित्रों में विशेष रूप से मिलते हैं। एक उदाहरण यह है—

धरनि पग पटकि कर झटकि भौंहनि मटकि अटकि मन तहाँ रीझे कन्हाई।
तब चलत हरि मटकि रहीं युवती मटकि लटकि लटकनि छटकि छबि विचारै॥[3]

शृंगार के स्थलों पर र, ल, स, आदि कोमल ध्वनियों के आधार पर रसानुकूल अनुप्रास-योजना मिलती है। श्रुत्यनुप्रास में एक स्थान से उच्चरित होने वाली ध्वनियों का सौन्दर्य रहता है। ये स्थल भी अनेक हैं। लाटानुप्रास में कवि ने कोई रुचि नहीं दिखलाई। अंत्यानुप्रास के बहुविध प्रयोग मिलते हैं।

भय, क्रोध, उद्धतता आदि के व्यंजक प्रसंगों में ध्वन्यनुप्रास की भी सफल योजना मिलती है इस अनुप्रास की योजना के द्वारा अर्थ की व्यंजना भी हो जाती है। ध्वनि-प्रतिध्वनि अर्थ की प्रतीति को सुन्दर बना देती है। नीचे के उदाहरणों से यह बात स्पष्ट है—

१. अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरै पैयां।[4]
२. घटा घनघोर घहरात, अररात, दररात, थररात ब्रजलोग डरपे।[5]

पुनरुक्ति प्रकाश का सौन्दर्य भी सूर-साहित्य में पर्याप्त मिलता है। शब्द या पदों की पुनरावृत्ति से अर्थ-ग्रहण सुन्दर हो जाता है। 'जनम सिरानो अटकै-अटकैं', 'मंद-मंद मुसुक्याति' आदि इसी प्रकार के उदाहरण हैं। एक ही पंक्ति में कई बार भी पुनरुक्तियाँ मिलती हैं—'बार-बार निय देखि-देखि, मुख पुनि-पुनि झुकनि मझावी।[6] 'साहित्य-लहरी' में यमक और श्लेष का चमत्कार विशेष मिलता है। भावात्मक पदों में इन अलंकारों का प्रयोग प्रायः नहीं मिलता है। ध्वनिपरक सौन्दर्य की सृष्टि तो कवि को प्रिय है, पर यमक श्लेष जैसे जटिल अलंकारों का प्रयोग विशिष्ट शैली में ही मिलता है।

---

१. सू० सा० १।४२ २. सू० सा० १।१२६
३. वही १०४१ ४. वही १०।११५
५. वही ८५५ ६. वही १०३७

सोलह

सूर-संदेश : मानववाद

- 'काहे कों रोकत मारग सूधौ ?'

१६ | सूर-संदेश : मानववाद

कुछ आलोचकों ने कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों को समाज-बोध से शून्य माना है। इन्हीं कवियों की श्रेणी में 'सूर' को रखकर तुलसी के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपना मत दिया : 'इन कृष्णभक्त कवियों के संबन्ध में यह कह देना आवश्यक है कि ये अपने रंग में मस्त रहने वाले जीव थे। तुलसीदास जी के समान लोकसंग्रह का भाव इनमें न था। समाज किधर जा रहा है, इस बात की परवा ये नहीं रखते थे।' इस कथन से स्पष्टता तो पर्याप्त है, पर इसकी सत्यता विचारणीय है। इसी प्रकार डा० देवराज जैसे आलोचक ने लिखा : 'समाज शास्त्रीय आलोचना सूर के साहित्यिक महत्व का उद्घाटन नहीं कर सकती' इस कथन का तात्पर्य भी यही प्रतीत होता है कि न तो 'सूर' में सामाजिक चेतना ही थी और न सामाजिक संघर्ष के प्रति वे सजग ही थे। दूसरी ओर कुछ ऐसे आलोचक भी हैं जो इस प्रकार के आरोपों पर ज्यों का त्यों विश्वास कर लेने को तैयार नहीं हैं। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने अपना अभिमत प्रकट किया : 'सचेत रूप से सूर सामाजिक द्वन्द्वों के प्रति उदासीन रहे होंगे, किन्तु उनके काव्य पर समकालीन परिस्थितियों की छाप अवश्य है।' इसका तात्पर्य यह है कि सूर के साहित्य और उनकी कला का मूल्यांकन सामाजिक परिवेश से काटकर नहीं किया जा सकता। डा० सत्येन्द्र ने अपना अभिमत इस प्रकार प्रकट किया : 'सूर के साम्प्रदायिक और आलंकारिक स्वरूप के नकाब को उलट कर देखने से स्पष्ट विदित हो जाता है कि उस युग में भी सूर ने किस प्रकार जन-वाणी को अभिव्यक्त किया।' इससे वह ध्वनि निकलती है कि सूर ने जन-जन की भावना को, जन-जन की वाणी में ही व्यक्त किया है। इस प्रकार सूर की सामाजिक दृष्टि के संबन्ध में दोनों पक्ष स्पष्ट हो जाते हैं।

जो विद्वान 'सूर' में सामाजिक चेतना का अभाव मानते हैं, उनमें से कुछ तो तुलसीवाद के समर्थक और भक्त हैं। उनमें एक दुराग्रह का पूर्वाग्रह सुदृढ़ हो गया है। इसी कारण वे इतिहास की अन्य धाराओं और अभिव्यक्तियों के प्रति न्याय नहीं कर पाये। एक सफल इतिहासकार को जिस सहिष्णुता और तटस्थता की आवश्यकता होती हैं, वे भी रूढ़ आग्रहों के कारण नहीं रह पाईं। दूसरे वर्ग के समाजशास्त्रीय आलोचना का नाम लिया, पर समाज-शास्त्रीय आलोचना के मर्म को स्पष्ट नहीं किया। उनकी दृष्टि प्रगतिवादी दर्शन पर है? या वे सामाजिक आलोचना की बात कर रहे हैं? अथवा उनका तात्पर्य समाज वैज्ञानिक (Sociological) आलोचना से है? आदि प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं : इसके विपरीत यह भी देख लेना होगा कि जो आलोचक सूर की हिमायत कर रहे हैं, वे स्वयं तो किसी भावात्मक प्रतिक्रिया से प्रेरित नहीं हैं? सूर का समर्थन करने में तथ्य का अधिक सहारा लिया गया है, या भावुकता का? सूर के संदेश का परीक्षण एक तथ्य परक पद्धति से होना चाहिए।

सूर और तुलसी की तुलनात्मक आलोचना इस युग की वस्तु नहीं, उसकी परम्परा पहले से चली आ रही है। कुछ कवियों ने इन दोनों की स्थितियों को स्पष्ट करने के लिए कुछ काव्यात्मक उक्तियाँ कीं और वे लोकोक्तियाँ बन गईं। लोकमानस ने उन उक्तियों में अपनी ही भावना की अभिव्यक्ति पाई : अन्यथा लोक उन्हें स्वीकार कैसे करता। कुछ उक्तियों में सूर और तुलसी का साथ-नाम है—

सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास॥

इस उक्ति का रचयिता संभवतः रीतिकाल का कोई अज्ञात कवि होगा। इसका प्रमाण यह है कि इसमें रीतिकाल के प्रवर्तक आचार्य केशवदास का भी नामोल्लेख है। सूर और तुलसी के साथ उनको रखा गया है। साथ ही उक्तिकार अपने युग के कवियों को इनकी तुलना में छोटा मानता है। इससे यह भी प्रकट होता है कि उक्तिकार रीतिकाल का न होते हुए भी भक्ति-साहित्य का समर्थक रहा होगा। केशव में रामकथा के व्याज से उसे कुछ भक्ति का संस्पर्श प्रतीत हुआ और उनको 'उडु' बना दिया। केशव जनकवि नहीं थे। अतः लोक ने इस उक्ति का स्वागत तुलसी और सूर को लेकर ही किया होगा। 'अब के कवि' से तात्पर्य आधुनिक युग के कवियों से नहीं है

क्योंकि भारतेन्दु युग से पूर्व तो यह उक्ति प्रचलित रही। आधुनिक युग के आरम्भ से तो इस उक्ति को सुनते आ रहे है। इस उक्ति में 'सूर' का स्थान अवश्य ही प्रथम माना गया है। इस उक्ति का आधार रूपपरक नहीं। जन-मानस पर उक्त कवियों का सामान्य प्रभाव ही इस कथन के लिए उत्तरदायी है। एक दूसरी उक्ति भी सुनते आ रहे हैं--

तत्त - तत्त सूरा कही, तुलसी कही अनूठी,
बची कुची कबिरा कही, और कही सब झूंठी।

इसमें तीन जन-कवियों का उल्लेख है और रीतिकाल के किसी कवि का नामोल्लेख नहीं है। तीनों ही भक्तकवि है। संभवतः उक्तिकार के मन में वर्ण्य विषय प्रधान था। जीवन का मूल तत्त्व सूर की वाणी में मिलता है। तुलसी ने जीवन-दर्शन को एक अनूठी शैली प्रदान की। कबीर ने भी इसी मार्ग का अनुसरण कर काव्य किया : तत्त्व भी कहा, पर कुछ सीमित रूप में। कुछ-कुछ ऐसा अर्थ इस उक्ति का किया जा सकता है।

एक उक्ति ऐसी भी है, जिसमें तुलसी का नामोल्लेख नहीं है। सूर की कला के मर्म का उद्घाटन ही उस उक्ति में लक्षित है। उत्तम पदरचना, काव्य की सूक्ष्मता और अर्थगांभीर्य, सभी का सामंजस्य सूर की साधना में उक्तिकार ने देखा है—

उत्तम पद कवि गंग के, कविता को बलबीर।
केशव अर्थ गँभीर को, सूर तीन गुन धीर॥

सूर में कुछ केशवत्व भी स्वीकार किया गया है। सूर-साहित्य की मूल-संरचना, को स्पष्ट करने का प्रयत्न कोई अधिक प्रबुद्ध उक्तिकार ही कर सकता था। इसमें भाव या विषयवस्तु पर ध्यान कम लगता है। इसीलिए पहली दो उक्तियों की अपेक्षा इस उक्ति की लोकप्रियता कुछ कम भी नहीं :

तानसेन के नाम से एक और उक्ति प्रसिद्ध है, जिसमें सूर-साहित्य के प्रभाव की गहराई की ओर संकेत किया है :—

किधौं सूर कौ सर लग्यौ, किधौं सूर कौ पीर।
किधौं सूर कौ पद सुन्यौ, वेध्यौ सकल सरीर॥

इस उक्ति पर आकर लोक में प्रचलित सूर-समीक्षा पूर्ण होती है। पहली तीन उक्तियों के रचयिताओं का नाम अज्ञात है। वे किसी श्रेष्ठ नाम के सहारे लोक में स्थान नहीं बनाए हुई हैं : उनमें व्याप्त कथन की सत्यता के साथ लोक-मानस का सामंजस्य है, इसीलिए उनकी लोकप्रियता है। चाहे उनके सत्य को प्रबुद्ध और संस्कृत मानस स्वीकार न करे लोकमानस को वह स्वीकार है।

ये तो कुछ पद्यात्मक उक्तियाँ हुईं। मैंने गाँवों में एक और वार्तालाप सुना है। यह वार्तालाप भी सूर और तुलसी से संबन्धित है। फत्ते गुरु ने मुझे यह सुनाया : एक दिन कुछ भक्त लोग सूर के पास गये। उन्होंने सूरदासजी से कहा कि महाराज, हम सब एक विवाद कर रहे हैं कि सूरदास जी बड़े हैं या तुलसीदास जी। क्या आप इस संबन्ध में हमारे भ्रम का निवारण करेंगे ? सूरदास जी ने हँसकर उत्तर दिया : कविता तो मेरी ऊँचे दर्जे की है। तुलसीदास जी ने काव्य नहीं 'मंत्र' लिखे हैं। इस लोकप्रचलित कल्पित संवाद का तात्पर्य केवल यही प्रतीत होता है कि 'सूरदास' के काव्य की श्रेष्ठता लोक में स्वीकृत थी और तुलसी का शास्त्र-ज्ञान और दर्शन अधिक गंभीर माना जाता था।

इन समीक्षात्मक लोकोक्तियों से केवल इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'सूर' की वाणी जनमानस में गूँजती रही। फिर भी सामान्य जनता में तुलसी के समान उनकी लोकप्रियता नहीं है। इस कारण यह है कि तुलसी की अपेक्षा काव्य की सूक्ष्म ध्वनियों का प्रयोग सूर ने किया है। तुलसी के ध्यान में सदैव लोक रहता है। अतः काव्यगत भंगिमाएँ तुलसी साहित्य में इतनी नहीं आ पातीं कि अर्थबोध दुरूह हो जाये। लोकोक्तियों में सूर के काव्य की सूक्ष्मताओं की ही स्वीकृति विशेष है; अन्य दृष्टियाँ इनमें अधिक मुखरित नहीं हैं।

सूर-पूर्व निर्गुणियां भक्तों ने मानवतावादी स्वर उठाया था। मानवतावाद के विरोधी तत्त्व जाति, और कुलगत अभिजात्य का दर्प माने जाते हैं। इसके आधार पर जब मनुष्य का मूल्यांकन किया जाता है. अथवा इनके आधार पर व्यक्ति की समाज में प्रतिष्ठा या अप्रतिष्ठा होने लगती है, तो मानवता तिरस्कृत हो उठती है। मानव का मूल्यांकन मानव के रूप में ही होना चाहिए, अन्यथा मानवता विक्षुब्ध होकर क्रान्ति के स्वरों को जन्म देगी। 'संतों' ने मानवेतर मूल्यों के आधार पर मानव के मूल्यांकन को स्वीकार नहीं किया। उनकी निषेधात्मक वाणी उग्र हो गई। यदि कोई भी कसौटी मानव की हो सकती है, तो 'भक्ति'—हरि को भजै सो हरि का होई। सगुण भक्त कवियों ने शबरी, गणिका, व्याध, विदुर आदि के उदाहरण देकर भक्ति के मूल्य को सर्वोपरि माना जिसके आधार पर मानव का यथार्थ मूल्यांकन हो सकता था। पर इनके स्वर में निषेधात्मक क्रान्ति इतनी प्रबल नहीं थी। हो सकता है, निर्गुण संत जातीय दृष्टि से निम्नस्तरीय होने के कारण क्रान्ति

को दहका सके हों। 'सूर' में यह मानवतावादी स्वर मिलता अवश्य है, जो निर्गुणियों के स्वर से कुछ कम प्रखर और तुलसी की अपेक्षा कुछ अधिक मुखर है :

१. राम भक्तवत्सल निज बानौ।
जाति, गोत, कुल नाम गनत नहिं, रंक होय कै रानौ ॥

२. काहू के कुल तन न बिचारत।

× × × ×

कौन जाति और पाँति विदुर की, ताही कैं पग धारत।

× × × ×

ऐसे जनम करम के ओछे, ओछेन हूँ ब्यौहारत।

३. 'जन' की और कौन पति राखै।
जाति, पाँति, कुलकानि न मानत, वेद-पुरानन साखै ॥

इस प्रकार 'सूर' की ईश्वर-कल्पना जनवादी हो जाती है। परम्परागत ब्रह्म-कल्पना के प्रति यह एक विद्रोही स्वर ही है। पर इसमें 'विधि' के तत्त्व ही प्रमुख है, 'निषेध' के कम। 'स्याम गरीबनि हूँ के गाहक' तथा 'नाथ अनाथक ही के संगी' जैसे उक्तियों में मानव-प्रेम ही छलका पड़ता है। इनमें आशा और आस्था की किरणों का विलास है। इनमें पीड़ित की हिमायत है, चाहे क्रान्ति के आरोपित स्वर न हों। इस प्रकार की भक्तवत्सलता तो अन्य कवियों में भी मिलती है, पर सूर ने कृष्ण को सख्य भाव के धरातल पर उतार दिया।

'सख्यभाव' के हिन्दी काव्य की सूर पूर्व स्थिति नहीं मिलती। वैसे सख्यभाव 'सखी' और 'सखा' दोनों के ही आश्रय से निष्पन्न और परिपक्व हो सकता है, पर 'सखी' के आश्रय से निष्पन्न सख्यभाग प्रायः सभी कवियों के काव्य में माधुर्य में संक्रमित हो गया हैं। केवल सूर ही 'सखी' के आश्रय से सख्य और माधुर्य का साथ-साथ परिपाक कर सके। 'सख्य' भाव का तात्पर्य है, भगवान को शुद्ध मानवीय धरातल पर उतार लाना : भगवान और मनुष्य के बीच संबन्ध का समान धरातल प्रस्तुत कर देना। 'सूर' का प्रमुख वैशिष्ट्य यही है कि वे 'सख्य' भाव पर प्रथम और इतना उत्कृष्ट काव्य लिख सके। श्रीदामा आदि सखाओं के आश्रय से शुद्ध सख्य का परिपाक हुआ और गोपियों के आश्रय से सख्य स्वतंत्र भी परिपक्व होता रहा और माधुर्य को स्वाभाविकता भी प्रदान करता रहा।

मानव और भगवान के बीच साम्य की स्थापना एक भावात्मक क्रान्ति ही कही जायेगी। 'साम्य' जीवन का सर्वोच्च समाजवादी मूल्य है। वैषम्य के कारण वर्गगत प्रमुख या संबन्धों में निहित रहते हैं। यदि आस्तिकता वैषम्य या वर्गगत प्रमुख को बल देने लगती है, तो साम्य की ओर प्रगतिशील शक्तियाँ उसे समाप्त करके मानववाद की स्थापना करती हैं। समाजवादी युग में आस्तिकता को यह संकट बना रहता है। सूर ने आस्तिकता को सख्य भाव से मंडित करके उसको साम्यवादी मूल्यों का विरोधी नहीं रहने दिया। 'सूर' की विनय संबंधी कल्पना भी भगवान को मानव के समान धरातल पर रख देती है। कवि की निम्न उक्ति में बराबरी की भावना कितनी मुखर है—

आजु हौं एक एक करि टरिहौं।
कै हौं ही कैं तुम ही माधव अपुन भरोसे लरिहौं।

दास्यभक्ति वाले किसी भक्त ने भगवान को लड़ने के लिए इस प्रकार की चुनौती नहीं दी होगी। वह आज अपने भरोसे भगवान से लड़ना चाहता है। इस उक्ति के मन्तव्य को डा० नगेन्द्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है: 'इन पक्तियों को पढ़ते ही पाठक में सबसे पहले भगवान की समानता करने का ही नहीं, उनका सामना करने का भाव उदय हो उठता है।' इस प्रकार की साम्य मूलक आस्तिकता से 'साम्यवाद' की क्या लड़ाई हो सकती है? भगवान के उस विश्वास से उसका विरोध है, जो भगवान और मानव को समान धरातल पर नहीं उतारकर ला सकता। भगवान और मानव के बीच का दास्यपरक वैषम्य अन्ततः धर्माश्रयी उच्चवर्गों को समाज में जन्म देता है और समाज में वर्ग-संघर्ष प्रखर और अवश्यम्भावी हो जाता है। 'सख्य' की स्थापना करने वाले विचारकों के प्रति ये वर्ग असहिष्णु हो जाते हैं: उनको अपने निहित स्वार्थों के संरक्षण के लिए इन बराबरी की बात कहने वाले मनीषियों का दमन करना पड़ता है। 'सूर' ने व्यक्त अव्यक्त रूप से 'सख्य' के आधार पर साम्य मूलक आस्तिकता की स्थापना की।

कृष्ण कथा का नायक एक अत्यन्त साधारण जन-स्तर से अपने जीवन का आरंभ करता है। गोप-ग्वालों की निम्न जाति में उनका चरित्र विकसित होता है। जन्मतः राजवंश से संबंधित यह नायक अपने अभिजात्य से अस्पृष्ट रहता है। अलौकिकता की भी ऊँची-ऊँची लहरें उठकर मानवीय भावनाओं की तुंग तरंगों से होड़ लेती हुई मिलती है। संभवतः

किसी भी अवतार में इतनी छोटी अवस्था में अलौकिकता का इतना घटा टोप नहीं हो गया था। पर 'सूर' ने 'सख्य' और वात्सल्य' की बड़े कौशल से रक्षा की। हनुमान और सुरसा की होड़ के समान दोनों की होड़ चली, पर सूर के द्वारा भावित मानव-मन की शक्तियों की ही विजय रही। न यशोदा ही अलौकिकता से प्रभावित हुईं और न सखा या सखी ही। जब कृष्ण ने एकाध बार अपने आप अपनी अलौकिकता का बखान किया तो भी भावों की सबद तरंगों में, तिनके के समान उनके कथन वह गए। इस प्रकार कृष्ण कथा का पूर्व संस्कार ही जनवादी था, सूर ने उस कथा के साथ अपना मानववादी प्रयोजन संबद्ध कर दिया। बालकृष्ण को सूर के सखा इस प्रकार ललकारते मिलते हैं—

खेलत में को काकौ गुसैयाँ ?

× × ×

अति अधिकार जनावत जाते अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ ?

"तुम्हारे गायें कुछ अधिक हैं, संपत्ति अधिक है, उच्च वर्ग के हो इसलिए अधिकार दिखाते हो ? सूरदास सम्पत्ति के इस विषम बटवारे के महत्त्व को पारस्परिक सामाजिक जीवन में इस पद के द्वारा अमान्य करते हुए मिलते हैं। अंतर इतना ही है कि इसमें अनुभूति मूलक क्रान्ति है। रक्तमयी क्रान्ति नहीं। यह आरोपण नहीं है, अनुभूति की तीव्रता का मर्मोद्घाटन है। कृष्ण को सुबल श्रीदामा आदि खूब चिढ़ाते है : उनसे अपनी गायें घिरवाते है : उनकी 'छाकों' को लूट कर खा जाते हैं। डा० व्रजेश्वर वर्मा इस भाव की स्वच्छता को इस प्रकार व्यक्त करते हैं : "कृष्ण के साथ स्वतंत्रता पूर्वक छाक खाना, गाना, बजाना, गायें घेरना, आदि क्रीड़ाओं में वे कृष्ण को अपने से उच्च जानते हुए भी, अपने को उनसे हीन नही समझ पाते। वन में आस्मिक संकटों के आने पर वे किंचित् भयभीत होते हुए भी निर्भयता का अनुभव करते हैं तथा कृष्ण के अलौकिक कृत्यों को देखकर विस्मित-चकित होते हुए भी तथा कभी-कभी वह संदेह करते हुए भी कि यह कोई अवतारी पुरुष है, वे कभी, संकोच अथवा आत्महीनता का परिचय नहीं देते।" इस प्रकार कृष्ण का आधिभौतिक माहात्म्य एक-एक क्षण में 'सख्य' से हार मानता है।

गोकुल और वृंदावन की साम्य भूमि को छोड़कर कृष्ण मथुरा चले जाते है। वहाँ जाकर वे राजा बन जाते है। गोपियों की साम्य समन्वित,

जनवादी दृष्टि क्षुब्ध हो जाती है। अब कृष्ण सामंतवादी वर्ग से संबद्ध हो गये। मथुरा से लौटकर ग्वालों ने कृष्ण का यह चित्र प्रस्तुत किया—

ग्वारिन कही ऐसीजाइ।
भये हरि मधुपुरी राजा, बड़े बंस कहाइ॥
सूत मागध बदत बिरदनि, बरनि बसुद्यौ सात।
रांजभूषन अंग भ्राजत, अहरि कहत लजात॥

कृष्ण के मन में अब आभिजात्य का गर्व इतना समा गया कि अपने को अहीर कहते हुए भी उन्हें लज्जा होती हैं। गोपियों का व्यंग्य बरस पड़ता है। वे कहती है, अब राजा होगये, यहाँ तो वे गोपाल थे। हमें उनके राजा रूप से कोई संबंध नहीं। उद्धव से भी कृष्ण के राजा रूप को लेकर व्यंग्य किये गये हैं:—

ऊधौ जानी रे मैं जानी—
राजा भए तिहारे ठाकुर, अरू कुबिजा पटरानी॥

गोपियाँ फिर चिढ़कर कहती हैं कि हमने कृष्ण की ठकुराइत तो जान ली!। अव उनसे कहना की गोकुल में दो-चार दिन तो रह जायें। तुम्हारी राजधानी कहीं चली थोड़े ही जायेगी : फिर जाकर सम्हाल लेना—

कहियौ ठकुराइति हम जानि।
अब दिन चारि चलहु गोकुल में, सेवहु आइ बहुरि रजधानी॥

डरो मत। तुम्हारे आभिजात्य को हम आँच नहीं आने देंगे। तुम्हें गाय चराने को अब नहीं कहेंगे! पर, हम राजारूप कृष्ण को देखना नहीं चाहतीं। हमें तो हमारा जनवादी रूप ही चाहिए—

'बारक वह मुख फेरि दिखावहु दुहिपय पिअत पतूखी॥

इस प्रकार महाराज कृष्ण के प्रति अनेक व्यंग्य बाण छोड़े जाते है। न गोपियों का ही 'महाराज कृष्ण' से कोई समझौता होता है, और न सूर की भाव पद्धति का ही। जिस सूर की अजस्र कल्पना कभी थकती नहीं थी व्रज कृष्ण का वर्णन करते हुए, वही कल्पना इस साम्य भूमि से वहिर्गत कृष्ण का थोड़ा भी साथ नहीं दे पाती। संक्षेप में यही कहना है कि सूर का संदेश साम्य और सहज का संदेश है। कृष्ण कथा के साथ उन्होंने इसी प्रयोजन को संलग्न किया है।

'सहज' एक प्राकृतिक मार्ग है। यह विधि-निषेधमय अर्जन-वर्जन की अप्राकृतिक पद्धति में विश्वास नहीं रखता। इस सहज मार्ग में विधि

निषेध, नियम-संयम, और लोक-वेद के मान पर जितनी बाधाएँ आती हैं, उनकी उपेक्षा में ही गोपियों का परम पुरुषार्थ है। कृष्ण को जब वर्गीय दर्शन में बाँधने का प्रयत्न उद्धव करता है। ज्ञान और योग की आरोपित धारणाओं और क्रियाओं से कृष्ण के सहज मानवीय रूप को वह ढँक देना चाहता है। तब गोपियाँ झुँझलाकर कहती हैं—'काहे कों रोकत मारग सूधौ ? गोपियाँ तिरस्कार भरी वाणी में पूछती हैं—'निर्गुण कौन देस कौ बासी ?' और उद्धव अभिभूत हो जाता है। निर्गुण और निराकार वाला दर्शन अंततः इस नाम रूपात्मक जगत को मिथ्या और असार घोषित करता है। मनुष्य का अस्तित्व अपना कोई रूप ही ग्रहण नहीं कर पाता। प्राकृतिक अस्तित्व एक प्रकार से अस्वीकृत कर दिया जाता है और एक वायवी रहस्यात्मक अस्तित्व का उपदेश दिया जाता है। अद्वैत या निर्गुण पर आधारित दर्शन सामान्य जन-जीवन की पहुँच से ऊपर हो जाता है। कुछ ही विद्वान या साधक उस तत्व से अपने को विज्ञ बतलाते हैं। इस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में एक उच्चतर वर्ग जन्म लेता है। अवसर पड़ने पर यह 'पुरोहित' वर्ग सामान्य जन का शोषण करने लगता है। दर्शन सांप्रदायिक या वर्गीय बनने पर 'साम्य' और 'सहज' की शक्तियों का निरादर करता है। सूर की भक्ति गोपी और ग्वालों के द्वारा निरूपित है। 'किसी संत महन्त की भक्ति नहीं।' इसका स्रोत किसी श्रमित दर्शन-साहित्य में नहीं है। निर्गुण दर्शन को शुद्ध मानवीय संदर्भ में पराजित करके 'सूर' ने वास्तव में मानव की विजय की भूमिका प्रस्तुत की है।

सहज मार्ग का दूसरा अवरोधक तत्त्व बाह्याचार है। बाह्याचार या आडंबर रूढ़ होकर जीवन की सहजता को कुचल डालते हैं! वे निर्जीव होकर भी जीवन पर भार बने रहते हैं। तीर्थ, व्रत, संयम आदि बाह्याचारों में आते हैं। 'सूर' ने इनके प्रति भी कोई आस्था नहीं दिखलाई—

> जो सुख होत गोपालहिं गाए।
> सो नहिं होत जप-तप के कीन्हे, कोटिक तीरथ न्हाए॥

इस प्रकार सूर-साहित्य में संतकाव्य की जनवादी धारा, अधिक भावापन्न होकर अभिव्यक्त हुई है। सूर को ज्ञानमार्गी रूढ़ियों में कोई विश्वास नहीं था। योग की जटिल प्रतिक्रियाएँ तो सहज जीवन को घोंट-घोंट देती हैं! इसीलिए साम्य-भूमि-व्रजभूमि की जीवंत शक्तियाँ-गोपियाँ योग का तिरस्कार कर देती हैं—

जोर ठगोरी ब्रज न बिकैहै।
यह ब्यौपार तिहारौ ऊधो, ऐसोई फिरि जैहै॥

कम से कम ब्रज की भूमि पर तो यह यह सब कुछ नहीं चल सकेगा। कंस के साम्राज्यवाद के सामने ग्वालों की ब्रजभूमि कभी झुकी नहीं। अनेक यातनाएँ सहीं, अनेक कर दिए, पर ब्रज की सघन वनस्थली में निवसित इन जातियों का जनवादी संघटन कभी निरस्त नहीं हुआ। कृष्ण ने इसी जाति की क्रान्तिकारिणी पद्धति को ग्रहण करके मथुरा के साम्राज्यवाद पर प्रहार किया था। इस जाति का अपना एक सहज दर्शन था। इस दर्शन में वैदिक मूल्यों की अस्वीकृति और लोक-जीवन की सहजता मान्य है। यहाँ 'योग' या 'अद्वैत पर आधारित दर्शन कैसे स्वीकारा जा सकता है। सूर-साहित्य इसी जनवादी जीवन दर्शन का पोषक है। जगत को मिथ्या मानने वाली धारा सूर-साहित्य में दम तोड़ रही है। जीवन और जगत के प्रति सहज आस्था इसमें प्रमुदित है। सूर-साहित्य जीवन और जगत में जन-मानस की आस्था को सुदृढ़ करता है। जीवन के प्रति जन की भावनाएँ निखरती हैं। राजवंश से संबद्ध और शास्त्रीय पद्धति से ब्रह्म के रूप में निरूपित कृष्ण मथुरा में रह कर भी ब्रज के 'सहज' जीवन के प्रति अपने आकर्षण का अनेक बार कथन करते हैं—

यह मथुरा कंचन की नगरी, मुनि मुक्ताहल जाहीं।
जबहि सरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तन नाहीं॥

मुनि-मानस का प्रतिनिधित्व अक्रूर करता है, जो कृष्ण की ब्रह्मवादी व्याख्या करता है—'प्रभु तुव माया अगम, अगोचर, लहि न सकत कोउ पार।' इस प्रकार बाह्य रूप से भी और मानवादी रूप से भी कृष्ण साम्राज्यवादी या पूँजीवादी व्यवस्था में जकड़ गये थे। आजीवन वे इसी व्यवस्था के साथ संघर्ष करते रहे। मथुरा में 'सख्य' भाव उद्धव में मिला था। पर उसका सख्य पूँजीवादी दर्शन के परिवेश से उन्मुक्त नहीं हो सकता था। अतः उसका नव-संस्कार उसे ब्रज में भेज कर कराया गया। 'सख्य' का एक और प्रतिनिधि 'सुदामा' है, जो द्वारका के कृष्ण से मिलता है। सुदामा का सख्य भी उन्मुक्त नहीं है: वह हीनता और दैन्य से जड़ीभूत है। कृष्ण ने अपने व्यवहार से इसको भी साम्यवादी रूप में ढालने का प्रयत्न किया। कृष्ण ने उसे अपना जैसा बना दिया। सुदामा को आज यह देखकर आश्चर्य हो रहा है—

कहँ हम कृपन, कुचील कुदरसन, कहँ जदुनाथ गुसाँई।
भेंटे हृदय लगाई अंक भरि, उठि अग्रज की नाईं।

'सख्य' की शक्ति ने दरिद्र और दमित मानवता के स्वागत की कितनी विशद योजना की ! महाभारत के युद्ध क्षेत्र में एक और सखा मिलता है—'अर्जुन'। वह अन्तर्द्वन्द में पड़ा है। वह आरोपित दर्शन और विचारधारा से पीड़ित है। 'सहज' कर्म की छाया उसे कृष्ण ने दी और वह यथार्थ सखा बन गया। उसे गोपियों की सहजता मिली, और वह जीवन के मर्म को समझ गया और शुद्ध सखा बन गया। इस प्रकार 'साम्य' के प्रतीक 'सख्य' भाव की व्यापकता सूर-साहित्य में आद्यंत है। सख्य केवल साम्य का नहीं, सहज का भी प्रतीक है। 'साहिब' भाव के स्थान पर 'सखा' भाव की प्रतिष्ठा एक प्रकार से 'साम्य' और सहज की ही प्रतिष्ठा है।

'लीला' शब्द स्वयं सहज का प्रतीक है। यदि गीता की भाषा में कहें तो 'लीला' निष्काम कर्म है। निष्काम कर्म में और सहज कर्म में कोई अन्तर नहीं। कर्म जब फलाश्रित सुख-दुख के द्वन्द्व से ऊपर उठ जाता है, तब निष्काम कहा जाता है। इसी प्रकार लीला भी द्वन्द्व रहित होकर कर्म के आनंद मूलक अनुष्ठान का उपक्रम है। लीला सोद्देश्य भी हो सकती है, पर उद्देश्यवाद उसका विधायक नहीं होना चाहिए। उद्देश्य लीला से सहज रूप में विकसित होना चाहिए। लोकमंगलकारी लीलाओं की योजना में उद्देश्य इतना प्रकट हो जाता है, कि लीला का लीला के रूप में आस्वादन होना संभव नहीं रहता। उसकी फल-निरपेक्षता वाधित हो जाती है। रामकथा की समस्त लीलाएँ लोकमंगल के उद्देश्य में अपनी सहजता खो बैठती हैं। इसी कारण से 'चरित्र' 'गाथा या कथा के रूप में उस उद्देश्य विजड़ित लीली का अवतरण होता है। कृष्ण कथा में लोकमंगलकारी लीलाओं का नितांत अभाव नहीं है : लोक जीवन की विरोधी शक्तियों का नाश कृष्ण बाल्यकाल से ही करने लगते हैं। इस विनाश लीला पर देवता फूल भी बरसाते हुए मिलते है और देवताओं की प्रशस्ति मूलक स्तुतियाँ भी सुनाई पड़ती हैं। पर राम की विनाशात्मक लीलाओं और कृष्ण की इस प्रकार की लीलाओं में एक अन्तर प्रतीत होता है। राम की लीला में उद्देश्य आरंभ से ही स्पष्ट हो जाता है : उद्देश्य एक योजना-बद्ध कार्य व्यापार का रूप ग्रहण करता है। इस कार्य-व्यापार या योजना की सफलता उद्देश्य की महानता और उदात्तता के कारण अवश्यभावी हो जाती है। इस प्रकार लीला का विकास एक

सफल योजना में हो जाता है। 'योजना' में मानवीय बौद्धिकता भी प्रकट होती है और अलौकिकता योजना के द्वारा कुंठित स्थलों पर प्रकट होकर योजना को कुछ क्षणों के लिए स्तब्ध करती है। इस विधान में अलौकिकता मानवता से और मानवता अलौकिकता से संबद्ध होकर दोनों की ही सहजता को प्रभावित करती हैं। अलौकिकता की सहजता इसमें है कि अनायास ही दुष्ट शक्तियों का नाश करके और मानवीय सहजता यह है कि अलौकिकता से प्रभावित न हो। सूर-साहित्य में दोनों ही अपने सहज रूप में हैं। अलौकिक शक्ति की सहजता पूतना, तृणावर्त आदि के वध में प्रकट होती है : मानवीय धरातल पर इस प्रकार की लीला संभव नहीं है। अलौकिकता अपने शुद्ध रूप में वहाँ रही। मानवीय सहजता इसमें है कि यशोदा सखा और गोपियों की भाव-लीलाओं पर इन शुद्ध अलौकिक सहज लीलाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ा! इस प्रकार दोनों की सहजता एक प्रकार से अक्षुण्ण बनी रही। अन्त में अलौकिक लीलाओं की न्यूनता होती गई, और मानवीय भाव लीलाओं की सहजता का विलास-विकास तीव्र होता गया। जहाँ अलौकिकता ने मानवय भाव लीलाओं पर आरोपित होने का दुस्साहस किया वहाँ भाव और बुद्धि की समन्वित व्यंग्य-योजना ने उसको पराजित कर दिया। इस प्रकार कृष्ण की लीलाओं में मानव-मन के भावों की सहज आकृतियाँ अधिक देखने को मिल जाती हैं। इन लीलाओं में भी अलौकिक प्रयोजन का सन्निवेश कुछ कवियों ने किया। पर सूर ने सदैव उनकी सहजता को सद्य और सरल बनाए रखा। इस सहज की सिद्धि के लिए सूर ने सभी भावों के निरूपण मे एक सूत्र को अविच्छिन्न रखा : उपालम्भ, व्यंग्य और विनोद का सूत्र सभी स्थलों पर सहजता का पोषण और उन्नयन करता हुआ मिलता है। सहजता को बाधित करने वाले तत्त्व व्यंग्यों से प्रताड़ित होकर विलीन हो जाते हैं। 'उपालंभ' अलौकिकता को आवृत कर देते हैं। 'विनोद' मनुष्य की एक सहज वृत्ति है ही। इन तत्त्वों से अनुप्राणित होकर मानवीय भावों की सहजता अपना लीला-विस्तार करती है।

मानवीय भावों की सहजता को प्रकट करने वाली लीलाओं का सूर-साहित्य में आधिक्य है। जहाँ तुलसी मे लोक-मंगलकारी सोद्देश्य लीलाओं का अत्यधिक विस्तार हुआ है, वहाँ सूर मे वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भावों की लीलाओं का आधिक्य है। इनके बीच-बीच में आने वाली अलौकिक लीलाएँ मानवोचित भावनाओं को 'सुरक्षा' की प्रवृत्ति से उत्तेजित ही करती

है : उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं बन पाता। यदि इनका स्वतंत्र अस्तित्व बनता भी है तो स्वर्गलोक या आकाश में ही, मानवीय भूमि पर नहीं। तुलसी-साहित्य में मानवीय भावलीलाओं की विस्तृति अपना स्वतंत्र अस्तित्व ही ग्रहण नहीं कर पाती। सूर के भाव अधिक मानववादी और जनवादी बने रहते हैं। सूर का मानवीय व्यक्तित्व आरोपित भक्त के व्यक्तित्व से एक क्षण भी अभिभूत नहीं हो जाता। इसीलिए मानवीय भाव कहीं घुटन का अनुभव नहीं करते।

जीवन की मार्मिक अनुभूतियों के आधार पर सूर ने निष्कर्ष भी कहीं-कहीं दिये हैं ये निष्कर्ष बौद्धिक नहीं है। भोगी हुई स्थितियों से सहज रूप में विकसित हैं। सूर के सभी पात्र अपनी भाव-स्थितियों का सम्पूर्ण भोग करते हुए मिलते हैं। भोग की प्रक्रिया सर्वाङ्ग होती है। परिस्थिति धीरे-धीरे संदर्भ बन जाती है। संदर्भ अस्तित्व को व्यक्तित्व के रूप में परिणत कर देता। व्यक्तित्व अपने सहज द्वन्द्वपरक विकलन या संघर्ष में होता हुआ निष्कर्षों तक पहुँचता है—प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।' अथवा 'ऊधौ विरही प्रेम करै।' इस प्रकार के निष्कर्ष आरोपित नहीं, सहज हैं। सामान्यतः सूर निष्कर्ष-कथन को अनावश्यक मानते हैं : उनकी व्यंजना ही अधिक प्रभाव-शाली होती है। मार्मिक अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति ही अधिक संकेतपूर्ण होती है।

कुछ आलोचक सूर-साहित्य में समग्र मानव के चित्रण का अभाव मानते हैं। मानव जीवन की जितनी अवस्थाओं और परिस्थितियों का चित्रण तुलसी-साहित्य में मिलता है, उतना सूर-साहित्य में नहीं। सूर के द्वारा चित्रित मानव वात्सल्य और शृंगार के संदर्भों में ही पूर्ण है। वास्तव में पूर्णता एक सापेक्षिक शब्द है। अवस्थाओं की दृष्टि से मानव-जीवन की अन्तिम अवस्था वृद्धावस्था होती है। सूर ने बाल्यकाल, किशोरावस्था और यौवन का तो चित्रण पूर्ण बताया ही है। चाहे व्रजलीलाएँ किशोरावस्था पर आकर ठहर जाती हों, पर उन लीलाओं में यौवन अपने पूर्ण उद्दाम रूप में मिल जाता है। वृद्धावस्था को सूर ने छोड़ दिया है। शायद तुलसी ने भी वृद्धावस्था को अपने साहित्य के प्रमुख भाग में स्थान नहीं दिया। वृद्धावस्था केवल वैराग्य की विनयोक्तियों में मुखर मिलती हैं। सूर की वैराग्यपरक उक्तियों में भी वृद्धावस्था की झलक मिल जाती है–'सबै दिन जात न एक समान' और—

भक्ति कब करिहौ जनम सिरानौ ?
बालापन खेलत ही खोयौ, तरुवाई गरवानौ ॥

वास्तव में सारे ससार के साहित्य में प्राधान्य तरुण्य का ही मिलता है। वाल्यकाल मनुष्य-जीवन का उपोद्‌घात है और वृद्धावस्था उपसंहार। वाल्य-काल संभावनाओं और भावी आशाओं से पूर्ण होने के कारण कुछ आकर्षक रहा है। वृद्धावस्था पर संसार में बहुत ही कम साहित्य रचा गया है। जो साहित्य रचा गया है, उसमें 'प्रार्थना' का स्वर ही अधिक है, जीवन्त स्वर जैसे क्षीण हो जाता है। इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि सूर का जीवन-फलक सीमित या खंडित है। वाल्यकाल और तारुण्य की जितनी भावस्थितियाँ हो सकती हैं, सभी को सूर-साहित्य में पूर्ण स्फीति मिली है। बाह्य परिस्थितियों को भी प्रायः पूर्ण बनाया गया है। यदि मानव-मन की सम्पूर्ण भाव-छायाओं को पूर्ण विस्तार का अवसर किसी काव्य या साहित्य में मिल जाये, तो बाह्य परिस्थियियों की कुछ अपूर्णता खटकती नहीं है। यों, सूर ने मानव-जीवन की बाह्य परिस्थितियों का भी पूर्ण चित्रण किया है।

भारतीय मेधा ने मानवीय अस्तित्व को पाँच कोप-संदर्भो में रखकर देखा है। अन्नमय कोप से लेकर आनंदमय कोष तक मानव का अस्तित्व व्याप्त माना गया है। कोपों के विकास के अनुसार डा० सत्येन्द्र ने सूर-साहित्य का विश्लेषण किया है : 'उनके समग्र काव्य में हमें अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोप, विज्ञानमय कोप और आनंदमय कोप की विविध वैज्ञानिक स्थितियों के दर्शन होते हैं। कृष्ण के जन्म-संस्कारों में अन्नयम कोप का स्थूल, भव्य किन्तु प्रतिभापूर्ण चित्रण है।......यह सब अन्नमय कोप की सामग्री है, जिसे कवि ने उसके समस्त मनोविज्ञान के साथ प्रस्तुत कर दिया है।......वाल्यावस्था को पार कर किशोर अवस्था में पदार्पण करने पर कृष्ण की जो क्रीड़ाएँ दिखलाई पड़ने लगती है वे कितनी प्राणवान हैं। उनके वास्तविक सौन्दर्य का साक्षात्कार प्राणतत्त्व के सौन्दर्य का साक्षात्कार है। प्राणतत्त्व ही लीलाकार है।......काम की भूमि पर पहुँच कर राधातत्त्व और गोपीतत्त्व से समन्वित होने ही प्राणमय कोप कीं लीलाएँ ज्ञानमय कोप की प्रक्रिया में परिणति पाने लगती हैं।......संयोग की समस्त स्थिति इसी ज्ञान-मय कोप की मनोवैज्ञानिकता उसे प्रकट करती है।......वियोग की स्थिति में विज्ञानमय कोप का तत्त्व प्रस्तुत हो जाता है। कृष्ण अब साकार रूप में गोपियों और राधा के समक्ष नहीं है। अब उसकी उपलब्धि शरीर, प्राण और

मन से नहीं हो सकती। यह उपलब्धि तो अत्र विज्ञानयम कोष से ही संभव है। इस विज्ञानमय कोष में ही वे तत्त्व होते हैं जो मनोपरि अनुभूति से संबद्ध हैं।.......और तब वियोग समाप्त और गोपियों का आनन्दकोष उभर पड़ता है, जिसका चरम वहाँ पहुँचता है जहाँ राधा 'हरि' बन जाती है। साकार का साकार में यह सायुज्य भक्ति के सायुज्य का सुन्दर काव्यमय प्रतीक है।" इस प्रकार विद्वान लेखक ने भारतीय पद्धति से मानवीय अस्तित्त्व और व्यक्तित्व की पूर्णता सूर-साहित्य में सिद्ध करने की चेष्टा की है। 'जैसे प्रत्येक शरीर में पाँचों कोषों की स्थिति है, उसी प्रकार अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, तात्पर्य और अनुभूति—इन पाँचों सीढ़ियों से प्रत्येक पद ने परिपूर्ण दिखाई पड़ता है।' सूर की विशेषता इस बात में है कि उनकी कल्पना जिस समय एक कोष के चित्रण की योजना करते समय पूर्ण रूप से उसके लिए समर्पित रहती है। साथ ही निम्नतर स्थितियों की अपेक्षा और हीनता कहीं प्रकट नहीं होती। सभी कोष एक दूसरे से संबद्ध और अनुप्राणित हैं। आरोपित आदर्शवाद विज्ञानमय कोष को अधिक महत्व देकर, इनके बीच सहज रूप से व्याप्त सामंजस्य-सूत्र को विच्छिन्न कर देता है। कोष-विकास की सहज पद्धति के क्रम में पूर्वस्थितियाँ आगे की स्थितियों को उपजीव्य सामग्री-बिंब, शक्ति, तीव्रता, क्षिप्रता आदि प्रदान करती रहती हैं। उनकी अनुपस्थिति कभी नहीं होती। रक्त की पुकार आत्मा की तुकार से तात्त्विकरूप से भिन्न नहीं : भिन्नता सांदर्भिक या औपचारिक हो सकती है। एक आदर्शवादी की भाँति सूर ने प्रेम की आध्यात्मिक छबियों को कभी अन्न, प्राण और मन की स्थितियों से निरपेक्ष नहीं होने दिया। यही कोष-विकास की सहज पद्धति है। डा० सत्येन्द्र ने सूर-साहित्य को इकाई मान कर मानवीय अस्तित्व की विकासात्मक परिणतियों की पूर्णता का प्रतिपादन किया है। मेरे विचार से सूर के प्रत्येक पात्र, उस पात्र की प्रत्येक स्थिति, उस स्थिति के प्रत्तेक क्षण और खंड में भी यह पूर्णता देखी जा सकती है। तात्पर्य यह कि कोषगत पूर्णता का बिन्दु-विकास भी मिलता है और सेवा-विकास भी।

मानव-मन के संघर्ष की भी सभी स्थितियाँ 'सूर' में मिल जाती हैं। मानव-मन सहज मार्ग पर चलना चाहता है। विधि-निषेधमय व्यवस्था सहजता को बाधित करती है और मन की सहज स्थिति असाधारण (Abnormality) स्थिति में आ जाती है। मन का संघर्ष कई शक्तियों से होता है। सबसे पहले अति मानवीय या परामानवीय तत्त्वों से उसका

संघर्ष होता है। परामानवीय तत्त्व संस्कार के रूप में सामूहिक अवचेतन में जम जाते हैं। विभिन्न परिस्थितियों में, विभिन्न रूपों में इनका उदय होता है और मन की सहजगति विस्मित और चकित हो जाती है। इस संघर्ष की मूल भूमि सामूहिक अवचेतन होती है। इस संघर्ष की काव्यात्मक अभिव्यक्ति सूर-साहित्य में मिल जाती है।इन्द्र और गोवर्धन का संघर्ष इसी का द्योतक है। आरोपित परामानवीय शक्ति का निराकरण और सहज मानवीय प्रतीक की स्थापना गोवर्धन-लीला का रहस्य है। अव्यक्त सत्ता की भीति, व्यक्त प्रतीक भी श्रद्धा में परिणत होकर इस संघर्ष का निवारण करती है।

व्यक्तिगत अवचेतन का संघर्ष द्विविध रूप से चलता है : एक ओर शास्त्र-मर्यादा होती है और दूसरी लोकलाज। शास्त्र वस्तुतः मानवीय सृष्टि है। इसका एक छोर विधि है और दूसरा निषेध। इस 'शास्त्र' को प्रामाण्य देने के लिए और इसके प्रति मनुष्य की तर्कबुद्धि की प्रतिक्रिया का शमन करने के लिए इसे ईश्वरीय विधान घोषित कर दिया जाता है। यह व्यवस्था अनुल्लंघ्य और अतर्क्य करदी जाती है। इसकी विषछाया अव्यक्त सत्ता के मुनिमानसीय व्यक्त संकेतों से बल ग्रहण करके मानव-मन की सहजता को द्वैत के दलदल में फँसा देती है। इसका शमन करके मानव-मन की सपजता की स्थापना जो करता, वह 'पूर्ण अवतार' होता है। इस संघर्ष और इसके क्रमशः समापन की स्थितियाँ सूर-साहित्य में मिल जाती हैं। संभवतः इसी सहजता की प्रतिष्ठा सूर-साहित्य का मूल अभिप्राय है।

लोकलाज कभी तो उक्त शास्त्रीय व्यवस्था के कारण होती है : लोक एक शास्त्रीय व्यवस्था की रक्षा भी करना चाहता है। साथ ही 'सृजन' की प्रक्रियाओं से संबन्धित क्रियाएँ गुरुजनों की मर्यादा के कारण गुप्त भी रखी जाती हैं। एक ओर एक निश्चित विधि से इनका प्रतिफलन समाज को अभीष्ट होता है, दूसरी ओर मन की सहज गति की दूसरी संभावनाओं को अस्वीकृत और विक्षुब्ध कर दिया जाता है। मानसिक द्वन्द जटिल हो जाता है। गोपन और अभिव्यक्ति की शक्तियों में संघर्ष चलता है। व्यक्तित्व हीन हो जाता है।
और अभिव्यक्ति की शक्तियों में संघर्ष चलता है। व्यक्तित्व ही हो जाता है।
पर्याप्त उभार दिया है और अनन्तः मानव-मन की सहजता की विजय घोषित की है। इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता है कि सूर में मानव-मन की प्रतिक्रियाओं का पूर्ण आकलन नहीं है।

भाग्य की बात यह है कि 'सूर' जिस संप्रदाय में दीक्षित थे, उस संप्रदाय ने भी सूर की सहज साधना को कुण्ठित नहीं किया। संप्रदाय के तत्त्व सूर-साहित्य में खोजने पर ही दिखाए जा सकते है। कभी उन तत्त्वों का बोझ सूर-साहित्य ने अनुभव नहीं किया। संप्रदाय सूर को विनय और दास्य के आरोपित बन्धनों से सूर के 'विनोदी' व्यक्तित्व को मुक्त करता है। वल्लभाचार्य जी स्वयं उन्हें 'लीला' (=सहज व्यापार) का तत्त्व सुनाते हैं। सूर को वैष्णव ब्रह्म की मानवीय लीलाओं के गायन की प्रेरणा संप्रदाय से ही मिलती है : सांप्रदायिक अनुष्ठानों की भूमि भौतिक चर्या के संकेत मात्र है। उन अनुष्ठानों की मानवीय भूमि को भावगीतों में परिणत करने का दायित्व ही संप्रदाय ने सूर को सौंपा था। इस प्रकार सांप्रदायिक तत्त्व सार्वजनीत तत्त्वों से अभिन्न हो गये।

संक्षेप में सूर का यही मानववाद है। यह मानववाद लोकजीवन के तत्त्वों और जनवाणी के माध्यम से प्रकट हुआ है। शास्त्रीय उपकरणों का प्रभाव तो नहीं है, पर लोकजीवन के सहज उपकरणों के साथ उनकी प्रगाढ़ मैत्री है। 'सहज' और 'साम्य' सूर के मानववाद के प्रमुख स्तम्भ है। सूर-साहित्व में पूर्ण मामव की प्रतिष्ठा है। इसकी खंड झाँकियाँ भी कम मनोरम नहीं।

परिशिष्ट

पठनीय सामग्री :

१. अष्टछाप – संपादक, डा० धीरेन्द्र वर्मा, रामनारायणलाल, प्रयाग (१९३९)।
२. अष्टछाप परिचय—प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, २००६ वि०।
३. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय (१,२)—डा० दीनदयालु गुप्त, हि० सा० सम्मेलन, प्रयाग, २००४ वि०।
४. भक्त-शिरोमणि महाकवि सूरदास—श्री नलिनी मोहन सान्याल, १९३८ ई०।
५. भ्रमरगीत-सार—रामचंद्र शुक्ल, साहित्य-सेवासदन, काशी, १९८३ वि०।
६. महाकवि सूरदास—आचार्य नंददुलारे बाजपेयी, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, १९५२ ई०।
७. सूरदास - डा० ब्रजेश्वर वर्मा, हि०प०,वि० विद्यालय,प्रयाग, १९५०ई०।
८. सूरदास—आ० रामचंद्र शुक्ल, सरस्वती मंदिर, बनारस, २००६ वि०।
९. सूरसाहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यभारत, हि० सा० समिति १९९३ वि०।
१०. सूर-निर्णय—द्वारकाप्रसाद पारीख, प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, २००६ वि०।
११. सूर की झाँकी—डा० सत्येन्द्र, शिवलाल अग्रवाल, आगरा. १९५६ ई०।
१२. सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंशलाल शर्मा, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, १९५४ ई०।
१३. सूर-सौरभ (१,२)—डा० मुंशीराम शर्मा, आचार्य शुक्ल साधना मंदिर, कानपुर, २००२ वि०।
१४. सूर-साहित्य की भूमिका डा० रामरतन भटनागर, वाचस्पति पाठक, १९४५ ई०।
१५. सूरदास—डा० जनार्दन मिश्र।
१६ सूर-समीक्षा—डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', १९५३ ई०।
१७. सूर. एक अध्ययन—श्री शिखरचन्द जैन, १९३८ ई०।
१८. सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९५८ ई०।
१९. सूर की भाषा—डा० प्रेमनारायण टंडन, हिंदी साहित्य भंडार, लखनऊ।
२०. १६वीं शती के हिन्दी और वैष्णव कवि–भारती साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली, १९५६ ई०।
२१. सूर की काव्य-कला—डा० मनमोहन गौतम, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली, १९५८ ई०।